आदर्श नगर-व्यवस्था

अर्थात्

प्लातौन की "पौलितेइया" (रिपब्लिक) नामक पुस्तक का
मूल ग्रीक भाषा से हिन्दी अनुवाद

अनुवादक
श्रीभोलानाथ शर्मा, एम० ए०
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, बरेली कालेज, बरेली

"ऊ गार् प्रो गै तीस् अलीथैइयास् तिमीतैयॉस् अनीर्"
[सत्य से अधिक किसी व्यक्ति का सम्मान नहीं करना चाहिए]
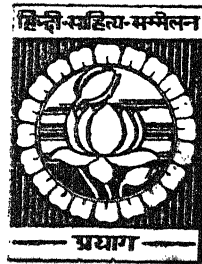
२००७
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

समर्पण

दिवंगता सुशीला देवी शर्मा को

जो

शेष मेरे जीवन के दिवस

सुवासित सुरभित स्मृति से बना

'अमर-नगरी' को गईं; विवश

छोड़ मुझको जग का सपना।

"If we judge greatness by vitality and creative influence, the four greatest works in the field of thought are Plato's Republic, Descartes, Method and Meditations, Locke's Essay, and Kant's Critique of pure Reason. The two greatest are the Republic and the Critique. If asked which is the greatest single work in the whole range of thought, many present day thinkers would name the Critique. I should myself name Plato's Republic."

Rupert Lodge : The Great Thinkers.
(From the Preface)

प्रकाशकीय

प्लातोन की पॉलितेइया (प्लेटो का रिपब्लिक) ग्रंथ विश्व साहित्य के श्रेष्ठ ग्रंथों में से एक है। यह ग्रंथ ग्रीक भाषा में लिखा गया था। इसका अनुवाद संसार की प्रायः सब भाषाओं में हो चुका है। हिंदी में इसका अच्छा अनुवाद अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था। बरेली कालेज के श्री भोलानाथ जी शर्मा ने इस कमी की अब पूर्ति कर दी है।

आदर्श नगर व्यवस्था' में प्लातोन का तत्त्वज्ञान, प्लातोन की समाज-नीति, शिक्षा पद्धति, मनोविज्ञान, न्याय का विवेचन, सुख-प्राप्ति का रहस्य इत्यादि गहन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें साहित्य, राजनीति और दर्शनशास्त्र तीनों विषयों का समावेश है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि अनुवाद अँग्रेजी से न हो कर मूल ग्रीक भाषा से किया गया है और जहां तक हो सका है मूल लेखक के भावों की पूर्ण रूप से रक्षा की गई है।

सम्मेलन विश्व साहित्य के सर्वोत्तम ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करा-कर हिन्दी साहित्य की इस कमी की पूर्ति करने का इच्छुक है। आशा है, हिंदी संसार इस उत्तम पुस्तक का उचित आदर करेगा और भारत के विश्वविद्यालयों के अधिकारी, प्लेटो की रिपब्लिक नामक अंग्रेजी पुस्तक के स्थान पर इस हिंदी पुस्तक को अपने पाठ्य ग्रंथों की सूची में स्थान दे कर, सम्मेलन को इसी प्रकार के अन्य ग्रंथों को प्रकाशित करने का सुअवसर देंगे।

सम्मेलन कार्यालय
सौर १५ माघ २००७

दयाशंकर दुबे
साहित्य मंत्री

विषय-सूची

पृष्ठ

इस धृष्टता के विषय में क-च

भूमिका

१—इस पुस्तक का महत्त्व १
२—प्लातौन से पूर्व का यूनानी साहित्य ४
३—प्लातौन से पूर्व ग्रीक दर्शन ११
४—सॉक्रातीस् २१
५—प्लातौन के समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दशा २८
६—प्लातौन का संक्षिप्त जीवन-चरित्र ३४
७—प्लातौन की रचनाएँ ५३
८—प्लातौन के विचारों का संक्षिप्त परिचय ५९
९—पौलितेइया अथवा रिपब्लिक ६९

आदर्श नगर-व्यवस्था

प्रथम पुस्तक ७५
द्वितीय पुस्तक १४०
तृतीय पुस्तक १९३
चतुर्थ पुस्तक २५९
पाँचवी पुस्तक ३१५
छठी पुस्तक ३८४
सप्तम पुस्तक ४४४

पृष्ठ
आठवीं पुस्तक ५०२
नवीं पुस्तक ५६०
दसवीं पुस्तक ६०९

टिप्पणियाँ ६६७

प्लातौन और पौलितेइया विषयक साहित्य ७०९

इस धृष्टता के विषय में।

मैं इस बात को भली-भाँति जानता हूँ कि प्लातोन् की पॉलितेइया (लैटिन नाम रिपब्लिक) का यह मूल ग्रीक भाषा से हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मैं अनेक प्रकार की धृष्टता कर रहा हूँ। मेरी जानकारी में इस कार्य को अधिकारपूर्वक संपादित कर सकने वाले व्यक्ति योगिराज अरविंद घोष, प्रो० रानडे या डा० बटकृष्ण घोष सरीखे ही हो सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश इन महानुभावों में से किसी की मातृभाषा हिन्दी नहीं है। अतएव मैंने जो धृष्टता की है उसका विवरण उपस्थित करना मेरा कर्तव्य है।

सन् १९२८ में जब मैं बी० ए० कक्षा में पढ़ता था तो मैंने जर्मन दार्शनिक डायसैन् की मेटाफ़िज़िक्स की पुस्तक पढ़ी। डायसैन् उपनिषदों और अद्वैतवाद का भी पंडित था। उसकी उपर्युक्त पुस्तक में परिशिष्ट रूप में उसका एक भाषण भी छपा हुआ था जो कि उसने भारत-यात्रा के समय बम्बई में दिया था। इस भाषण में उसने प्लातोन् (ग्रीक) शंकर (भारतीय) और काण्ट (जर्मन) को संसार भर के दार्शनिकों में श्रेष्ठ बतलाया था और अन्त में काण्ट की उसने कुछ और भी प्रशंसा की थी। बी० ए० में फ़िलासफ़ी और संस्कृत मेरे अध्ययन के विषय थे—दासता के भार अंग्रेज़ी का तो नाम लेना भी आवश्यक नहीं है। उपर्युक्त पुस्तक पढ़ कर यह आकांक्षा हुई कि प्लातोन्, शंकर और काण्ट के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करना चाहिए। आज जो यह धृष्टता हिन्दी पाठकों के समक्ष उपस्थित है इसका बीज इस ३० वर्ष पुराने स्वप्न में है।

लगभग इसी समय के कुछ पहले डा० गंगानाथ झा (जो कि तब तक सर् नहीं हुए थे) ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि यदि हम लोग

पाश्चात्य दर्शनों आदि का अध्ययन करना चाहें तो हमको उनका अध्ययन मूल ग्रंथों द्वारा करना चाहिए न कि अंग्रेजी अनुवादकों के सहारे। अतएव मेरे स्वप्न का रूप बना—प्लातोन्, शंकर, और काण्ट के दार्शनिक विचारों का अध्ययन उनकी मूल रचनाओं के द्वारा करना चाहिए। समय-समय पर इस स्वप्न को वास्तविकता प्रदान करने में सहायक साधन बड़े विचित्र और नाटकीय ढंग से जुटते गए—अन्यथा बरेली कालेज के विद्यार्थी और तत्पश्चात् अध्यापक के लिए ऐसा स्वप्न देखना, झोपड़ी में रहते हुए स्यात् इन्द्रपुरी के प्रासादों का स्वप्न देखना होता। धीरे-धीरे पहले जर्मन और तत्पश्चात् ग्रीक का परिचय और अध्ययन चल पड़ा—और 'बाँभन' के बेटे के लिए संस्कृत के विषय में कोई कैफियत पेश करने की क्या आवश्यकता। यह कलिकाल की 'अन्-अर्थकरी' विद्या तो मैंने एम० ए० तक पढ़ी। दूसरी ओर धीरे-धीरे उपर्युक्त दार्शनिकों की रचनाओं का मूल भाषाओं में संग्रह करना भी आरंभ कर दिया। शंकर और काण्ट का तो संग्रह पूरा हो गया पर प्लातोन् का संग्रह युद्धजनित पुस्तकों के दुर्भिक्ष में अधूरा ही रह गया।

मैं अपने स्वभाव की मंथर गति से चला जा रहा था कि मैंने देखा कि प्लातोन् की रिपब्लिक का अनुवाद गुजराती और उर्दू में निकल गया। इससे हृदय को ठेस लगी। पर जब देखा कि ये अनुवाद अंग्रेजी अनुवादों के सहारे (जौवेट के अनुवाद के सहारे) प्रस्तुत किए गए हैं तो थोड़ी तसल्ली हुई। फिर देखा कि डा० आबिद हुसैन ने Kant काण्ट के सुप्रसिद्ध ग्रंथ Critique of Pure Reason का भी मूल जर्मन से उर्दू अनुवाद प्रस्तुत कर दिया तब तो धैर्य स्खलित होने लगा। पर फिर भी मेरी इच्छा बहुत बारीक पीसने की थी इसलिए थोड़ा धैर्य को और सँभाला। किन्तु लगभग तीन वर्ष पूर्व मेरा स्वास्थ्य एकदम इतना गिर गया कि सारे स्वप्नों के विलीन होने की नौबत आ पहुँची। जैसे-तैसे, जब बरेली के

वैद्यराज पं० राजाराम शर्मा बी० ए० के हाथों प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा कुछ जीवन की आशा बँधी तो यह विचार कर कि "समय न वारंवार" मैं कार्य में जुट गया तथा जिस कार्य को 'पहलवान' टालता चला आ रहा था उसको अर्धमृत व्यक्ति ने आरंभ किया। प्लातोन् की रिपब्लिक का अनुवाद १९४७ के आरम्भ में पूर्ण हो गया। काण्ट की क्रीटीक का अनुवाद भी आरंभ कर दिया गया है।

मैं अभी तक यह निर्णय नहीं कर पाया कि मेरा झुकाव साहित्य की ओर अधिक है अथवा दर्शन की ओर। यही कारण है कि यद्यपि जर्मन भाषा का अध्ययन मैंने काण्ट के निमित्त आरंभ किया था पर पहले शिलर के Wilhelm Tell और गेटे के फ़ाउस्ट के प्रथम भाग का अनुवाद प्रस्तुत कर सका। फ़ाउस्ट के प्रथम भाग का अनुवाद तो प्रकाशित हो चुका है। प्लातोन् की रिपब्लिक तो उस विचित्र श्रेणी की पुस्तक है जिसको साहित्य, राजनीति, दर्शनशास्त्र इत्यादि न जाने कितने विषय अपना सगोत्र मानते हैं। अतएव जब पुस्तक का अनुवाद प्रस्तुत हो गया तो प्रकाशन की समस्या सामने आयी। मैं इसको स्वयं प्रकाशित करना चाहता था पर कागज कहाँ से आता और आज्ञा कैसे मिलती? इसी दुविधा में समय बीतता गया।

सौभाग्य से इधर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन बरेली कालेज की हिन्दी-प्रचारिणी-सभा के निमंत्रण को स्वीकार कर बरेली पधारे और उन्होंने पूछा कि बरेली में हिन्दी की सेवा के लिए क्या हो रहा है! मैंने दूसरे दिन प्रातःकाल 'रिपब्लिक' के अनुवाद की पाण्डुलिपि उनके समक्ष प्रस्तुत कर दी और प्रकाशन सम्बन्धी समस्या की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने मुझे पुस्तक को साहित्य सम्मेलन को भेज देने का आदेश दिया। प्रयाग लौट कर तो उन्होंने इस कार्य में इतनी रुचि प्रदर्शित की कि न केवल इस पुस्तक के

प्रकाशन का प्रबंध साहित्य सम्मेलन की ओर से करा दिया बल्कि मुझे आदेश दिया कि मैं अपना शेष जीवन प्लातोन्, अरस्तू और हीरोदौतम् के ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने में लगा दूँ और साहित्य सम्मेलन इन ग्रंथों को प्रकाशित करेगा। जब मैंने कहा आजकल इन लेखकों की मूल रचनाएँ पुस्तकों के दुर्भिक्ष के कारण नहीं मिल रही हैं तो राहुल जी ने प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर श्री क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय जी से प्लातोन् और अरस्तू के मूलग्रंथ (लेटिन अनुवाद सहित) साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय के लिए प्राप्त करके मेरे पास भेज दिए। पर मेरे लिए यह घटना परम कृतज्ञता का विषय होते हुए भी आश्चर्य-जनक नहीं है क्योंकि मेरे जर्मन और ग्रीक ग्रंथों का संग्रह आरंभ से ही कुछ विचित्र संयोगों से बन पड़ा है। इस कारण यह आस्था भी बनती जा रही है कि अदृष्ट मेरे जीवन से यही कराना चाहता है।

परन्तु यह सब कुछ कहने से मेरा तात्पर्य किसी को यह धोखा देने का नहीं है कि मैं संस्कृत, ग्रीक और जर्मन भाषाओं और दर्शनों का प्रकाण्ड पंडित हो गया हूँ। अनेकों भाषाओं से छेड़-छाड़ करने के फल-स्वरूप मैं यह बात भली-भाँति जान गया हूँ कि किसी भी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना खेल नहीं है और उपर्युक्त तीनों भाषाएँ कोई सरल भाषाओं में से तो हैं नहीं। जब प्रथम बार उपर्युक्त लेखकों की रचनाओं में से चुनी हुई रचनाओं का हिन्दी-रूपान्तर करने का मैंने निश्चय किया तो अनेकों 'अच्छे' समझे जाने वाले प्रकाशकों का द्वार मैंने खटखटाया। परन्तु पता चला कि हिन्दी में मौलिक रचनाएँ चाहियें अनुवाद तो बहुत हो चुके ! अतएव अपने में मौलिकता का अभाव देख कर मैं अपने निर्धारित किये मार्ग पर उतने ही उत्साह के साथ चल सका जितना कि परिस्थितियों और अवकाश ने प्रदान किया। परिणामतः मेरा उपर्युक्त भाषाओं का ज्ञान प्रकाण्डता से बहुत दूर है। यदि अब से पर्याप्त समय पूर्व कोई प्रकाशक

थोड़ा प्रोत्साहन देते तो वह और आगे बढ़ सकता था। पर मेरे हृदय को यह देख कर खेद होता था कि उर्दू तक तो ऐसे ग्रंथों के प्रकाशन में हिन्दी से बाज़ी मार जाय और हम इस दिशा में कुछ न करें। अतएव मैं तो इस निश्चय पर दृढ़ रहा कि मैं इन ग्रंथों का अनुवाद करूँगा फिर चाहे प्रकाशक मिले या न मिले——कम से कम हिन्दी भाषा को तो इन ग्रंथों के अनुवादों के अभाव का दोष कोई नहीं लगा सकेगा।

और क्या यह कहना ठीक है कि हिन्दी में अनुवाद बहुत हो चुके। यदि हम संसार को आधुनिक बंगाल तक ही सीमित न मानें तब तो अभी विश्व-साहित्य के अनुवाद का हमारे यहाँ कोई गंभीर उद्योग नहीं हुआ है। क्या यह लज्जा का विषय नहीं है कि छोटी-छोटी जन-संख्या वाली भाषाएँ तो ऐसे विद्वान् उत्पन्न कर सकें जो संसार की सभी भाषाओं के अधिकारी पंडित हों, यूरोप का प्रत्येक देश संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के सैकड़ों ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद प्रस्तुत कर सके, रूस तक में रामचरितमानस और महाभारत के अनुवाद हों, परन्तु २० करोड़ से अधिक हिन्दी-भाषा-भाषी बंगला से अनुवाद कर के और अंग्रेजी भाषा की दलाली से अन्य भाषाओं और साहित्यों से परिचय प्राप्त करके कृत-कृत्यता का अनुभव करें? विश्व-साहित्य मानव-मात्र की बपौती है और हिन्दी की बहुत कुछ जड़ता मूल भाषाओं का अध्ययन करके उनके ग्रंथों को हिन्दी में अनुवाद करने से ही दूर होगी। अभी तो हमने अपने देश की सब प्राचीन और आधुनिक भाषाओं के ही सार-साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत नहीं किया है, अन्य साहित्यों की चर्चा तो दूर की बात है।

प्रस्तुत अनुवाद के संबंध में दो बातें और कह कर अनुवादरूपी बड़ी धृष्टता की पूँछ इस छोटी धृष्टता को समाप्त कर दूँ। रिपब्लिक जैसे महान् ग्रंथ का प्रथम अनुवाद एक नयी परम्परा का आरंभ मात्र है। अत-एव इसमें जौवेट के अनुवाद की-सी रमणीयता खोजना व्यर्थ होगा।

जौवैट का अनुवाद उतना मूलानुसारी है भी नहीं। फिर मैं जौवैट के सदृश् ग्रीक भाषा का ज्ञाता भी नहीं हूँ। उस प्रकार की परम्परा स्थापित होने में समय लगेगा। पर मुझे जौवैट की अपेक्षा एक सुविधा भी है। ग्रीक भाषा संस्कृत भाषा से सजातीयता रखती है अतएव मैं अनेकों अवसरों पर कुछ शब्दों को, उनके संस्कृत भाषा के संबंध के कारण एक नयेप्रकार से ही समझ सका जो कि यूरोपीय अनुवादकों के अनुभव से परे की बात है। इसका कुछ आभास टिप्पणियों में मिल सकेगा।

भूमिका में जो कुछ लिखा गया है वह केवल परिचय मात्र है। मैं उपर्युक्त अनुवाद कार्य के अतिरिक्त प्लातोन्, शंकर और काण्ट के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर रहा हूँ और यथासमय इस विषय पर अलग अधिक विस्तार के साथ लिखूँगा। प्रस्तुत अनुवाद के पश्चात् राहुल जी के आदेशानुसार अरस्तू की 'राजनीति' का अनुवाद आरंभ कर दिया गया है। उस अनुवाद के प्रकाशित होने पर पता चलेगा कि आदर्शवादी और यथार्थवादी की राजनीति में क्या अंतर होता है।

इस अनुवाद की त्रुटियाँ जितनी मुझे विदित हैं उतनी स्यात् दूसरों को विदित न हो सकेंगी। पर इस त्रुटिपूर्ण अनुवाद को इसी आशा में प्रकाशित किया जा रहा है कि इसको देख कर अधिक अधिकारी और योग्य व्यक्ति इस दिशा में ध्यान देंगे और हिन्दी साहित्य के एक अत्यन्त आवश्यक अंग—विश्व-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रंथों के अनुवाद—को संपन्न बनाने की ओर अग्रसर होंगे।

बरेली
३०–४–४८

भोलानाथ शर्मा

भूमिका

१–इस पुस्तक का महत्व।

प्लातोन् की पौलीतेइया नामक पुस्तक, जो कि लैटिन नाम रिपब्लिक के द्वारा अधिक परिचित है, विश्व-साहित्य की अमर विभूतियों में से है। उसकी रचना हुए २३०० वर्ष से अधिक हो चुके हैं। इतने सुदीर्घ काल में न जाने संसार ने कितने उत्थान-पतन के दृश्य देखे। स्वयं ग्रंथकार की जन्म-भूमि अथेन्स् नगर और यूनान देश कितने विनाशों और विप्लवों के हाथों दुर्दशा को प्राप्त हुए—यहाँ तक कि वहाँ का प्राचीन धर्म केवल इतिहास का विषय रह गया, साहित्य और कला केवल अंशतः ही बच सके, शेष विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए—तथापि इस महान् ग्रंथ का महत्व नित्य बढ़ता ही रहा। प्राचीन यूनानी भाषा एक कठिन भाषा है तथापि उसका अव-शिष्ट साहित्य अनेक दृष्टियों से इतना महत्वपूर्ण है कि उसका अध्ययन अनेक मनीषी सर्वदा से करते आए हैं। यूनानी साहित्य में इस अकेले ग्रंथ का जितना गौरव है उतना स्यात् ही किसी अन्य ग्रंथ का हो। यूरोप की सभी आधुनिक भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद प्रस्तुत हो चुके हैं तथापि अभी उनका क्रम अ-विच्छिन्न बना हुआ है। प्रायः प्रत्येक युग में एक नया अनुवाद प्रकाशित होता है जो कुछ न कुछ विशेषता रखता है।

इस गौरव का क्या कारण है? अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है, परन्तु एक वाक्य में इस प्रश्न का कोई भी समाधान-कारक उत्तर नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार भारतवर्ष में प्रायः प्रत्येक युग के महात्माओं, मनीषियों एवं कर्मयोगियों ने गीता के उपदेश का आश्रय लेकर नवीन धर्मपथों और कर्मपथों की उद्भावना की उसी प्रकार यूरोप में इस ग्रंथरत्न से सब युगों के महापुरुषों ने स्फूर्ति ग्रहण की है। स्वयं ईसाई धर्म प्लातोन् के विचारों से अत्यधिक प्रभावित रहा है। अनेक

स्वतंत्र विचारकों ने तो यहाँ तक कहा है कि ईसाई धर्म के उदय में यूनानी वैज्ञानिक विचारधारा के प्रवाह में जो व्यवधान पड़ा उससे यूरोप के विकास में कुछ विलम्ब ही हुआ एवं पन्द्रहवीं शताब्दी में यूनानी विद्या के पुनरुद्धार से ही यूरोप पुनः अन्धकार युग से निकल कर प्रकाश एवं प्रगति के पथ पर आरूढ़ हुआ। आज बीसवीं शताब्दी में भी जो विचारधाराएँ राजनीति एवं समाजनीति के क्षेत्र में सारे संसार में उथल-पुथल मचाए हैं उनका मूल बीज निभ्रान्तिरूपेण रिपब्लिक में सन्निहित है। अनेक दृष्टिकोणों से यह ढाई हजार वर्ष पुरानी पुस्तक आश्चर्यजनक रूप में आधुनिकतापूर्ण है। ऐसा तो नहीं रहा है कि प्लातोन् और उसके विचारों की नित्य प्रशंसा ही हुई हो। जहाँ कि प्लातोन् के भक्तों ने श्रद्धावेश में उसको धूप-दीप-नैवेद्य से पूजा है वहाँ कतिपय कटु आलोचकों ने उसकी भरपेट निन्दा भी की है। परन्तु इतने सुदीर्घकाल में प्लातोन् और रिपब्लिक की उपेक्षा कोई नहीं कर सका है।

अत्यन्त संक्षेप में रिपब्लिक के प्रभावशाली महत्व के निम्नलिखित कारण निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। (१) प्लातोन का तत्त्वज्ञान, (२) प्लातोन की समाजनीति, (३) शिक्षापद्धति, (४) मनोविज्ञान, (५) न्याय का विवेचन, (६) सुखप्राप्ति का रहस्य, (७) तथा प्लातोन की अनन्यसामान्य गद्य-शैली। दूसरे दृष्टिकोण से इसकी महत्ता का मुख्य कारण इसमें दो महान् व्यक्तियों का संगम भी है; वे हैं सौक्रातेस् और प्लातोनके व्यक्तित्व। जिस प्रकार गीता में भगवान् श्रीकृष्ण और कृष्णद्वैपायन व्यास के अनुपम व्यक्तित्व-संगम ने गीता को अमरता प्रदान की है तथैव इस ग्रंथ में भी सौक्रातेस् और प्लातोन के व्यक्तित्व ने ऐसा ही परिणाम उत्पन्न किया है। सौक्रातेस् के व्यक्तित्व के विषय में इस अवसर पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसके प्रभाव ने प्लातोन के युवा जीवन को एक अप्रत्याशित दिशा

में प्रवाहित कर दिया अन्यथा कवि और क्रियात्मक राजनीतिक जीवन का स्वप्न देखने वाला यह युवा अमर तत्त्ववेत्ता न बना होता। सत्यान्वेषण की तत्परता, एवं सद्वृत्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानने की संलग्नता ने अथेन्स के मध्यम श्रेणी के इस साधारण से भौंड़े दिखलायी देने वाले व्यक्ति सॉक्रातेस् को वह दिव्यता प्रदान की है कि महात्मा गाँधी ने भी उसके जीवन की अत्यधिक प्रशंसा की है। अतएव इस अनुपम ग्रंथ में चिरन्तन विचार, असामान्य व्यक्तित्व की छाप, और श्रेष्ठ गद्य-शैली का एकाधारमिलन होने से रत्न-काञ्चन-समागम घटित हुआ है।

परन्तु विश्व की महान् साहित्यिक कृतियाँ जिस देश-काल के संदर्भ में उत्पन्न होती हैं वे उससे कुछ ऐसी संश्लिष्ट भाव से गुथी रहती हैं कि विदेशी भाषा में उनका अनुवाद उनकी एक धुँधली छाया मात्र उपस्थित कर सकता है। एवं उस धुँधली छाया का तात्पर्य समझना भी कोई सरल कार्य नहीं होता। हम इस धुँधली छाया से लेखक के भावों की महत्ता, उसके द्वारा निबद्ध पात्रों के व्यक्तित्व की महक एवं उसकी शैली के लावण्य की झलक पा सकें, इसके लिए लेखक के जीवन और विचारों के देश-काल संबंधी पारिपार्श्विक की समधिक जानकारी आवश्यक होगी। प्लातोन के दर्शनशास्त्र का अनुशीलन करने वाले विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि उसके विचारों में पूर्ववर्ती समग्र यूनानी चिन्तन के सूत्र समन्वित और सम्मिलित हैं। यूनानी साहित्य के विद्यार्थी यह भी भली-भाँति जानते हैं कि प्लातोन अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था और यदि उसको सौक्रातीस् का सम्पर्क प्राप्त न हुआ होता तो वह प्रथम कोटि का कवि और नाटककार हुआ होता, न कि तत्त्वदर्शी दार्शनिक। ऐसी स्थिति में प्लातोन के विचारों को हृदयंगम करने के लिए, उसके पूर्ववर्ती साहित्य और तत्त्वदर्शन से संक्षिप्त रूप में परिचित होना परमावश्यक है। सौक्रातीस् के व्यक्तित्व को समझे बिना भी प्लातोन

के व्यक्तित्व और विचारों को समझ लेना संभव नहीं है अतएवं भूमिका में सौक्रातेस् का संक्षिप्त परिचय भी सम्मिलित होना चाहिए।

२–प्लातोन से पूर्व का यूनानी साहित्य।

समग्र यूनानी साहित्य चार कालों में विभक्त किया जाता है। प्रथम युग इयौनियन (यवन) युग कहलाता है। इसका समय ई० पू० १००० से ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक है। दूसरा युग अट्टिक युग कहलाता है जो कि ई० पू० ४७० से ई० पू० चतुर्थ शताब्दी की समाप्ति तक चलता है। तीसरे युग का नाम अलक्ज़ान्द्रियन युग है और इसकी अवधि ई० पू० ३०० से ई० पू० १५० तक है। चतुर्थ युगको यवन- रोमन युग कहते हैं और इसकी सीमा ई० पू० १५० से ५०० ई० तक है। इसके पश्चात् का साहित्य बीज़ान्तियन साहित्य कहलाता है जो ५२९ ई० से १४५३ तक चलता है। इस समग्र साहित्य में प्रथम दो युगों का साहित्य ही वास्तव में मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य है। शेष साहित्य तो अवनतिकालीन साहित्य है और विशेष महत्त्व नहीं रखता। इसके अतिरिक्त हमको तो यहाँ केवल प्लातोन के समय के साहित्य की ही रूपरेखा प्रस्तुत करनी है।

जिस जाति को सभ्य जगत् ग्रीक या यवन जाति कहता है उसका अपना नाम हैलेनैस था और उनके देश का नाम हैलास्। रोमन लोगों ने इनको और इनके देश को क्रमशः ग्रीक और ग्रीस नाम दिया तथा भारत के वासियों ने इनको यवन कहा। अरब लोगों ने इनके देश को यूनान और जाति को यूनानी नाम प्रदान किया। यह जाति आर्यपरिवार की ही एक शाखा है। यवन शब्द का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी तक में मिलता है। संस्कृत भाषा और प्राचीन यवन भाषा में विलक्षण साम्य देखने में आता है। दोनों भाषाओं में सहस्रावधि शब्द एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इन दोनों भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ही आधुनिकभाषा-शास्त्र का जन्म हुआ।

यह हैलेनेस् जाति अत्यन्त प्राचीनकाल में लघु एशिया के पश्चिमी-सागर के तट पर, उसके आसपास के द्वीपों में और ग्रीस देश में वसी थी। यहीं से यह जाति पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ती गयी और स्थान स्थान पर उपनिवेश वसाती गयी। एक समय ऐसा आया कि यह जाति भूमध्यसागर के चारों ओर उपनिविष्ट हो गयी। एक लेखक ने मजाक में इन उपनिवेशों को एक तालाब के चारों ओर किनारों पर बैठे हुए मेंढकों से उपमा दे डाली है।

इस जाति का प्राचीनतम साहित्य इयोनिया प्रदेश में रचा गया था। लघु एशिया के पश्चिमी समुद्रतट और उसके समीपवर्ती द्वीपों को इयोनिया कहते हैं। होमर (होमेरॉस्) यवन साहित्य का वाल्मीकि है। इसके रचे हुए दो महाकाव्य और कुछ स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। होमर जन्म ही से अन्धा था। आधुनिक आलोचकों के मत में होमर के पूर्व भी महा-काव्यों की रचना की परम्परा रही होगी; परन्तु उसके इलियड् और ओडिसी काव्यों के सौष्ठव के कारण पुराने काव्य विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए। इनमें से कुछ के खंडावशेष अब तक मिलते हैं। स्यात् इनमें सब से प्रसिद्ध थेबाइस् था। इलियड् में एक महायुद्ध का वर्णन है जिसके कुछ अंशों में रामायण की कथा से समानता मिलती है। ओडिसी में युली-सिस् अथवा ओडिसियस् नामक चतुर योद्धा की साहसिक यात्राओं और युद्धों का वर्णन है। यह दोनों काव्य लगभग १००० ई० पू० अपने प्रस्तुत रूप को प्राप्त हो चुके थे। यूरोप में यह रचनाएँ स्वाभाविक महाकाव्य का सर्वोत्तम निदर्शन मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई एक रचनाएँ भी होमर की कृतियाँ मानी जाती हैं जिनमें से कुछ हास्यरस की रचनाएँ हैं। स्तोत्र तो विविध देवताओं की प्रशंसा में रचे गए हैं और संभवतया महाकाव्यों के पीछे की रचनाएँ हैं।

होमर के पश्चात् दूसरा प्रसिद्ध कवि हीसियड् (हेसियोडोस्) है।

इसकी दो रचनाओं के नाम 'कर्म और दिवस' (ऐर्गा कै हेमैराइ) तथा 'देवजन्म' (थियौगॉनी) हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार दूसरी रचना किसी अन्य कवि की कृति है। 'कर्म और दिवस' में कृषक-जीवन से संबंध रखने वाली बातों का वर्णन है। इस काव्य में कवि ने स्वयं अपने अनुभव के आधार पर बहुत कुछ लिखा है और उसका व्यक्तित्व इस रचना में भली-भाँति प्रकट हुआ है। 'देव जन्म' में देवताओं की पौराणिक शैली की कथाएँ वर्णित हैं और प्राचीन काल में इसका जनता में बहुत प्रचार था। प्लातौन इन दोनों कवियों की रचनाओं से भली-भाँति परिचित था एवं उसके संवादों में इनके बहुत से उद्धरण मिलते हैं। हीसियड का समय ८०० ई० पू० है।

यद्यपि इन दोनों कवियों के उपरान्त अनेकों अनुकरण करने वाले कवि महाकाव्यों की रचना करते रहे परन्तु उनकी कृतियां होमर के प्रतिभाशाली काव्यों के समक्ष टिक नहीं सकीं। मौलिक कवियों ने अन्य नवीन शैलियों का आविष्कार किया और विशेष ख्याति पाई। इन नवीन शैलियों में एक शैली मुक्तक सूक्तियों अथवा सुभाषितों की है। यवन कवियों के अधिकांश मुक्तक लोकोक्तिपरक अथवा हास्यरसमय हैं। फोकिलिदेस् इस शैली का सर्वश्रेष्ठ कवि है। इसकी रचना प्रायः द्विपदियों में है और प्रत्येक द्विपदी में उसने हिन्दी के अनेकों दोहों के रचयिताओं के समान अपना नाम सम्मिलित कर दिया है। हीसियड् की रचनाओं में भी इस प्रकार की सूक्तियाँ मिलती हैं। उपदेशात्मक काव्य अथवा नीतिपरक काव्य भी इसी शैली से कुछ मिलता-जुलता है। ऑर्फिक धर्म के आरंभिक आचार्यों की बचीखुची रचनाएँ इस शैली के सबसे पुराने उदाहरण हैं। अन्य नीति-काव्य-लेखकों में खेनोफनीस् तथा एम्पीडॉक्लीस् के नाम उलेखनीय हैं। खेनोफनीस् ने बहुदेववाद की निंदा और एकेश्वरवाद का समर्थन किया है।

अत्यंत गंभीर भावुकता की अभिव्यक्ति के लिये गीति-काव्य की शैली का प्रयोग किया जाता था परन्तु साधारण भावुकता को प्रदर्शित करने के लिये ऐलिगी-शैली का उपयोग हुआ है। इस शैली का काव्य प्रायः प्रोत्साहन और उद्बोधन की भावना से ओतप्रोत है। युद्ध में वीरों को उत्साहित करने के लिये कालीनस्, निर्तेइयस्, सोलॉन इत्यादि अनेक कवियों ने इस शैली में काव्य रचना की है। मिम्नर्मस, थियॉग्निस् और सोलॉन ने इस शैली का उपयोग अन्य विषयों की अभिव्यक्ति के लिये भी किया है। सोलॉन को तो यूनान का मनु कहा जा सकता है क्योंकि वह उस देश का प्रथम स्मृतिकार है।

व्यंगात्मक रचना इयाम्बिक शैली में की जाती थी। इस प्रकार की रचनाओं का मूल आदर्श होमर का 'मार्गीतैस' नामक विलुप्त काव्य माना जाता है। 'मार्गस्' का अर्थ विदूषक होता है अतएव इस विलुप्त काव्य में व्यंग और हास्य की ही अभिव्यक्ति हुई थी। इयाम्बिक शैली के कवियों में 'आर्खिलॉकस्' का नाम अत्यंत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि इसके व्यंग में इतनी विषाक्त कटुता थी कि जब इसके प्रत्याशित श्वशुर ने अपनी कन्या का विवाह इसके साथ नहीं किया तो इसने पिता और पुत्री दोनों पर ऐसे व्यंग बाणों की वर्षा की कि वे दोनों फांसी लगाकर मर गये। एलिगी और इयाम्बिक शैली की कविताएं इन नामों से प्रसिद्ध छन्दों में रची जाती थी।

परन्तु महाकाव्यों की रचना के उपरान्त जब तक नाटकों का उदय नहीं हुआ तब तक अन्य किसी काव्य शैली को इतनी ख्याति प्राप्त नहीं हुई जितनी गीति-काव्य अथवा लीरिक को। लीरिक उन गीतात्मक कविताओं का नाम है जो एक अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा वाद्यों के साथ (विशेष कर 'लिरा' नामक तन्त्री के साथ) गायी जाती थीं। जो गीत एकाधिक व्यक्तियों द्वारा मिलकर गाये जाते थे उनको 'कॉरस' (—

कोरस्) कहा जाता था। अतएव यवन गीति-काव्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१ व्यक्ति-गीत २—मण्डली-गीत। प्रथम कोटि के गीतों की रचना करने वाले कवियों में सप्फ़ो (पुष्पा) अल्कइयस् तथा अनाक्रेयन् के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। सप्फ़ो को ग्रीस देश की मीरा कहना चाहिये। कहते हैं प्लातौन् ने सप्फ़ो के प्रेम-प्रसंग के विषय में फाऑन (भावन ?) नामक नाटक की रचना की थी। आलोचकों का कहना है कि सप्फ़ो का प्रेम-काव्य संसार में स्यात् बेजोड़ है। अल्कइयस के गीत-काव्य में प्रेम का प्राधान्य होते हुए भी अन्य विषयों का समावेश भी हुआ है। अनाक्रेयन् प्रेम-काव्य की रचना में परम प्रवीण था। परन्तु उसकी रचनाओं में पश्चात्कालीन तुच्छ कवियों की रचनाएँ मिल जाने के कारण उसकी ख्याति को भारी धक्का पहुँचा है। उपर्युक्त तीनों कवियों की रचनाएँ ग्रीक-साहित्य के अत्यंत उज्वल अध्याय हैं।

मंडली-गीतों में कुछ प्रसिद्ध बालकों और बालिकाओं के गीतों के रचयिताओं के नाम का कुछ पता नहीं चलता। इस प्रकार के गीतों का सबसे प्राचीन लेखक स्पार्टा का निवासी अल्कमान् था। दूसरा नाम स्तेसरिखोरस् का है। इसकी रचनाओं में प्रायः पुरानी कथाओं की ओर संकेत मिलते हैं। अन्य मण्डली-गीतों के रचयिता इबीकस तथा सिमौनीदीस् हैं। सरल सौष्ठव के चित्रण में सिमोनीदीस् बेजोड़ है। इन सुविख्यात गीति-काव्य रचयिताओं की परम्परा का अन्त 'पिण्डार' नामक कवि के साथ होता है जिसकी ओड् (संस्कृत—वद् ?) नामक रचनाएँ आदर्श मानी जाती हैं। उपर्युक्त सभी कवियों का रचना काल ६०० ई० पू० तक समाप्त हो जाता है। ये कवि लोग प्रायः इयोनिया, सिकेलिया (सिसिली) तथा अन्य यवन उपनिवेशों के निवासी थे। इनके पश्चात् ग्रीक साहित्य का अथेन्स-युग आरंभ होता है।

ई० पू० पाँचवीं और चौथी शताब्दी का साहित्य दो कारणों से अथेन्स

युग का साहित्य कहलाता है । प्रथम तो इस युग के अधिकांश लेखक अथेन्स के निवासी थे । दूसरे इन दोनों शताब्दियों के लेखकों में अथेन्स की भावना सर्वतोभावेन विद्यमान थी । इस भावना के अन्तर्गत सत्य, सौंदर्य, स्वातन्त्र्य और न्याय की उपासना मुख्य-रूप से पाई जाती है । इन बातों की छाप अथेन्स के साहित्य में मुख्यतया दृष्टिगोचर होगी । इस नगर में यवन-साहित्य का सर्वोत्तम अंग त्रागेदी (ट्रैजेडी) विकसित हुआ । त्रागेदी की उत्पत्ति दियोनीसस संबंधी मंडली-गीतों से हुई जो कि इस देवता के उत्सवों पर गाये जाते थे । थैस्पिस अथवा अरियॉन ने इन गीतों के विराम-स्थलों में कथानक कहनेवाले अभिनेता को बढ़ा दिया । अइस्खीलस् ने एक और अभिनेता की वृद्धि की तथा सॉफ़ाक्लीस् ने एक तीसरा और जोड़ दिया । चौथे अभिनेता का उपयोग तो त्रागेदी में अत्यंत विरल पाया जाता है । शनैः-शनैः गीतात्मक भाग का आकार और महत्व घटता गया एवं कथावस्तु का महत्व और विस्तार बढ़ता गया । इनका अभिनय अक्रोपोलिस (गढ़) के दक्षिण-पूर्व में स्थित दियोनीसस की ढालू रंगस्थलि (थियेतर) में होता था । प्रति वर्ष नाटकों की प्रतिस्पर्धा में भाग लेने के लिये तीन कवियों को चुना जाता था और प्रत्येक कवि तीन त्रागेदी और एक वीभत्स भाव का रूपक प्रस्तुत करता था । इस अंतिम रूपक में मंडली-गायन अर्द्धपशु-रूप 'सातिरॉस' द्वारा गाया जाता था जो कि दियोनीसस् के उपासक और सहचर माने जाते थे । सबसे प्रथम त्रागेदी-लेखक फ़्रीनिखस था । इसके उपरान्त इस दुःखान्त नाटक क्षेत्र में अयस्खिलस, सॉफ़ॉक्लीस और यूरीपिदीस के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं । इन कवियों के पश्चात् की त्रागेदियों में कला का क्रमशः ह्रास होता चला गया । यद्यपि प्राचीन काल में असंख्यों त्रागेदियाँ लिखी गयीं परन्तु अब केवल मुट्ठी भर शेष बची हैं जिनमें से ७ अइस्खीलस् ७ सॉफ़ॉक्लीस् तथा १८ यूरीपिदीस् की रचनाएँ हैं । अन्य लेखकों तथा उपर्युक्त लेखकों की कुछ अवशिष्ट रचनाओं के खंड तथा उद्धृतांश ही उपलब्ध होते हैं ।

सुखान्त नाटक अथवा कॉमेदी को सरकारी प्रतिष्ठा त्रागेदी की अपेक्षा वहुत पीछे से मिली। इसका प्रारंभिक इतिहास अस्पष्ट है। आरंभ से ही कॉमेदी में राजनीतिक प्रहसन, गीति-काव्य का सौंदर्य तथा कुछ अश्लीलता का समावेश हो गया था। त्रागेदी के समान ही अनेकों कवियों ने बहुत सी कॉमेदियों की रचना की थी। परन्तु आज तो केवल अरिस्तोफनीस और मीनान्द्रॉस की ही कुछ कॉमेदियाँ उपलब्ध होती हैं। प्लातोन के समय से पूर्व के कॉमेदी-लेखकों में अरिस्तोफनीस की ही कुछ कॉमेदी अवशिष्ट रह गयी हैं। यह लेखक इसलिये भी प्रसिद्ध है कि इसने प्लातोन के गुरु सॉक्रेतीस के विषय में अनेकों स्थलों पर व्यंग्यात्मक आलोचना प्रस्तुत की है जिससे यह पता चलता है कि सॉक्रेतीस के विषय में अथेंस के एक विशिष्ट जन समुदाय का क्या मत था।

साहित्य के उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र और इतिहास का भी विकास प्लातोन के पूर्व वहुत कुछ हो चुका था। इतिहास के विषय में सबसे प्रथम उल्लेखनीय नाम हीरोदोतस् का है जो यूरोप में इतिहास-विद्या का पिता माना जाता है। हीरोदोतस के इतिहास का विषय क्रोएसस् के समय से लेकर क्षरक्षस् के समय तक फारस और ग्रीस देश का कलह है। परन्तु इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में बहुत सी इधर-उधर की अनेकों कथाएँ, भौगोलिक जानकारी और जनकथाएँ भी सन्निविष्ट हैं। दूसरा सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक थूकिदिदीस है। इसने पैलॉपौनेशियन युद्ध का इतिहास लिखा है। यद्यपि हीरोदोतस् का इतिहास पर्याप्तरूपेण रोचक है परन्तु थूकिदिदीस् के हाथ में इतिहास विद्या और भी अधिक विकसित, वैज्ञानिक और विशद हो गयी है। उसका इतिहास शैली, सत्यान्वेषण, सारगर्भित अभिव्यंजना इत्यादि अनेक दृष्टियों से एक अमर रचना है। इन्हीं कारणों से यवन इतिहास लेखकों से यूरोप में एक ऐसी परम्परा आरंभ हुई जो आज तक साहित्य में एक परम आदरणीय

स्थान ग्रहण किये हुए है। दुर्भाग्यवश हमारे देश में प्राचीनकाल में इस प्रकार की इतिहास-लेखन की पद्धति स्थापित नहीं हुई थी।

प्लातोन अत्यन्त प्रतिभाशाली एवं बहुश्रुत युवा था। उसने पूर्व-कालीन साहित्य का बड़े मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया था और उस समय के साहित्य की छाप उसकी रचनाओं पर पड़ी है। इतना ही नहीं, उसने स्वयं भी लीरिक और त्रागेदी विभागों में कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की थी एवं प्रश्नोत्तर अथवा संवाद-साहित्य को उसने ही प्रवर्त्तित किया था। इस शैली का अनुसरण अनेकों पश्चात्कालीन लेखकों ने किया है। तथापि प्लातोन् का नाम संसार में दार्शनिक के ही रूप में ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। अतएव ग्रीस जाति के प्रारंभिक दार्शनिक विचारों से संक्षिप्त रूप में परिचय कर लेना आवश्यक है।

३—प्लातोन से पूर्व ग्रीक दर्शन

प्लातोन् के पूर्ववर्ती दार्शनिक विचारों से परिचित होना एक और कारण से भी अनिवार्य हो गया है। कहा जाता है कि प्लातोन् के दर्शन में पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिक-विचार-सूत्रों का समग्रतया संग्रह हुआ है। अतएव कौन-सा विचार-सूत्र कहाँ से आया है यह जानने के लिये भी पूर्व-वर्ती विचारकों के विचारों को जानना चाहिये। भारतवर्ष के समान ही यवन जाति में भी सप्तर्षियों की परम्परा का उल्लेख मिलता है परन्तु इन सप्तर्षियों की नामावली के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। सप्तर्षियों में विचारकों, स्मृतिकारों, तथा नेक शासकों का समावेश है। हमको इस समय केवल विचारकों की चर्चा करनी है।

यवन देशों में दार्शनिक विचारों का सूत्रपात लघु एशिया के मीलेतस नामक नगर में हुआ। इस नगर का थलीस नामक मनीषी प्रथम यवन दार्शनिक था। इसकी गणना सप्तर्षियों में की जाती है। इसने मिश्र

देश की यात्रा की थी तथा ज्यौतिष और भूमिति शास्त्र का भी विकास किया था; एक ग्रहण की भविष्यवाणी करने के कारण इसके जीवन का समय निश्चित प्रकार से निर्णय किया जाता है। दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में इसका विचार यह था कि संसार की सब वस्तुएँ एक नित्य एवं अविनाशी पदार्थ के विकार मात्र हैं और वह नित्य एवं अविनाशी पदार्थ जल है।

थलीस् के शिष्य अनाक्षीमन्दर ने विश्व के मूल तत्व का नाम 'अपैइरॉन' असीम, अनन्त बतलाया। उसके मतमें संसार के सीमित पदार्थ इसी तत्त्व से पृथक् होकर उत्पन्न होते हैं। यही असीम अनन्त ईश्वर है। सान्त और सीमित का अनन्त से पृथक् होना ही उनका स्वार्थमय अधर्म है जिसका फल उनको एक दिन नष्ट होकर उसी में लय होकर मिलता है। मीलेतस् का तीसरा दार्शनिक अनक्षीमैनीस् था। इसके मत विश्व का मूलाधारतत्त्व वायु था। इसी मूल तत्व से सान्द्रीकरण द्वारा विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। इन तीनों दार्शनिकों के विचारों में एक साम्य पाया जाता है। इन्होंने अपना चिन्तन इस प्रश्न को दृष्टि के समक्ष र ते हुए किया कि "संसार क्या है ?" अर्थात् "संसार किस तत्त्व से बना है ?"

लगभग इसी समय हेराक्लीतस् का भी जन्म हुआ माना जाता है। वह ऐफैसस् का रहने वाला था। उसके मत में सब वस्तुओं का मूल भूत तत्व अग्नि है। परन्तु अग्नि से उसका तात्पर्य अग्नि; अग्निशिखा, उष्णता, तथा ज्वाला एवं जलना सभी कुछ था। वह अग्नि को अभौतिक तत्त्व मानता था। उसके मतानुसार सभी वस्तुएँ निरन्तर परिवर्त्तनशील हैं मात्र "पान्ता रइ"। यह मत बहुत कुछ "यत् सत् तत्क्षणिकम्" वाले सिद्धान्त से मिलता जुलता है। केवल ईश्वर मात्र स्थायी है—वही विश्व अथवा प्रकृति का मानस है और ज्वलन स्वरूप है। मनुष्यों की मूढ़ता पर नित्य कुढ़ते रहने के कारण हेराक्लीतस् "रोता हुआ

तत्वज्ञानी,कहलाता था । यवन साहित्य में वह प्रारंभिक गद्य लेखकों में से है । हेराक्लीतस् की शैली सूत्रमय होने के कारण अधिक स्पष्ट नहीं है इसलिये उसको 'अस्पष्ट दार्शनिक' भी कहा जाता है । प्लातोन ने हेराक्लीतस् के दर्शन का अध्ययन क्रातीलस नामक दार्शनिक से किया था । क्रातीलस का समय हेराक्लीतस से लगभग १०० वर्ष पीछे है और उसको हेराक्लीतस् के सिद्धान्तों के विशदीकरण का श्रेय दिया जाता है । सॉक्रातेस् के प्रभाव में आने के पूर्व प्लातोन अपनी युवावस्था में क्रातीलस के सम्पर्क से बहुत प्रभावित हुआ था । परन्तु अन्त में उसको नित्य-परिवर्त्तनवाद से असन्तोष हुआ और उसने सॉक्रातेस् द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों की दिशा में अपने विचारों को विकसित किया ।

प्लातोन के पूर्ववर्ती दार्शनिकों में सबसे अधिक विख्यात नाम पिथागोरास् का है । इसका समय ५८० ई० पू० माना जाता है । यह सामॉस् नामक स्थान का रहने वाला था । मिश्र इत्यादि देशों में सुदीर्घकालीन प्रवास के पश्चात् इसने इटली के क्रोतोना नामक स्थान में एक भ्रातृ-मंडली की स्थापना की जिसका उद्देश्य शास्त्राध्ययन और पवित्र जीवन व्यतीत करना था । इस मंडली को आरंभ में कुछ राजनीतिक महत्त्व भी प्राप्त हुआ परन्तु शीघ्र ही इसको दमन-चक्र का भी शिकार बनना पड़ा । परन्तु पिथागोरास् के दार्शनिक विचार कई शताब्दियों तक यूनानी जगत् को प्रभावित करते रहे । ऐसा प्रतीत होता है कि पिथागोरास् का व्यक्तित्व और चरित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक था । पिथागोरास् के सिद्धान्त आरम्भ में अलिखित थे और उनको उपर्युक्त मण्डली में दीक्षित सज्जनों को ही बतलाया जाता था । आगे चलकर फिलॉलाउस् नामक दार्शकि ने इन सिद्धान्तों को लिपिबद्ध किया ।

उसके सिद्धान्तों में से सबसे अधिक प्रसिद्ध सिद्धान्त पुनर्जन्मवाद का था। कुछ आलोचकों का कहना तो यहाँ तक है कि यह सिद्धान्त पिथा-

गोरास् ने भारतीय ब्राह्मणों से ग्रहण किया था। इस सिद्धान्त पर आश्रित दूसरा सिद्धान्त यह था कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है वह पूर्व जन्म के संचित ज्ञान की स्मृति मात्र है। इन्हीं सिद्धान्तों से इतिहास की पुनरावृत्ति का सिद्धान्त भी निष्पादित होता है यद्यपि पिथागोरास् ने इस सिद्धान्त का स्पष्ट कथन कहीं नहीं किया है। ऐसा भी कहा जाता है कि पिथागोरास् के शिष्य मांसाहार से भी विरत रहते थे।

पिथागोरास् अपने समय का विख्यात गणितज्ञ और भौतिकशास्त्र-वेत्ता भी था। भूमितिशास्त्र का विख्यात प्रमेय कि समकोणत्रिभुज के करण का वर्ग शेष भुजाओं के वर्ग के योगफल के बराबर होता है पिथा-गोरास् द्वारा उत्पन्न माना जाता है। परन्तु संख्याओं, मानों, वर्गों, घनों इत्यादि का संबंध मानवीय गुणों से जोड़ कर उसने एक संख्यात्मक रहस्य-वाद को जन्म दिया जिसके विचित्र पोषक आज भी भाग्य और इतिहास की नाना गुत्थियों को संख्याओं के रहस्य से संबद्ध मानते हैं। उसके सम्प्रदाय में संख्या को ही विश्व का मूल तत्त्व माना जाता था। संख्याओं के आधार पर इन लोगों ने जो कल्पनाएँ की हैं वह रोचक और रहस्यात्मक हैं। प्लातोन स्वयं गणितज्ञ था और इन संख्याओं में उसकी रुचि बहुत अधिक थी। रिपब्लिक (पॉलितेइया) में उसने उत्तम सन्तान प्राप्ति का उपाय संख्याओं के आधार पर बतलाया है परन्तु वह एक ऐसी पहेली है जिसको आज तक कोई सन्तोषजनक प्रकार से नहीं सुलझा पाया है। तथापि इसमें किंचि-न्मात्र भी सन्देह नहीं प्लातोन पर पिथागोरास् का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। उसने पिथागोरास् के सिद्धान्तों का ज्ञान फिलॉलाउस् की पुस्तक और आर्खितास् नामक दार्शनिक के व्यक्तिगत सम्पर्क से प्राप्त किया था।

खैनोफनीस् नामक दार्शनिक का समय ५४० ई० पू० माना जाता है। आरंभ में यह लघु एशिया में कौलॉफ़न नामक स्थान का रहने वाला

था परन्तु युवावस्था के पश्चात् उसको प्रायः घूमना और भटकना ही पड़ा। इसने दीर्घकालीन जीवन पाया। प्लातोन के पूर्ववर्ती साहित्य के संक्षिप्त विवरण में इसका उल्लेख किया जा चुका है। खैनोफनीस ने अपने विचारों को कविता के रूप में व्यक्त किया। उसने होमर और हीसियड् के बहुदेववाद का खंडन किया और इसके स्थान पर एकेश्वरवाद की पुष्टि की है। उसने बहुदेववाद का खंडन जिन तर्कों द्वारा किया है उनकी विशद प्रतिध्वनि हम प्लातोन की पॉलितेइया में भी पाते हैं। एक समय खैनोफनीस् ऐलियाटिक् स्कूल का आदि प्रवर्त्तक माना जाता था परन्तु अब इस तथ्य का अधिक समर्थन नहीं किया जाता। विज्ञान के क्षेत्र में उसके विचार बहुत पिछड़े हुए थे। वह पृथ्वी को सपाट मानता था और सूर्य तथा चन्द्रमा को ज्वलनशील मेघ अतएव विज्ञान के क्षेत्र में उसके विचार प्रायः प्रतिगामी थे।

खैनोफनीस के पश्चात् पार्मैनिदीस् का समय आता है। प्लातोन् ने उसके नाम से एक सुप्रसिद्ध संवाद लिखा है। पार्मैनिदीस् ऐलिया नगर का निवासी था तथा उसने अपने नगर के लिये एक स्मृति की रचना की थी। प्लातोन् के संवाद से पता चलता है कि वह लगभग ६५ वर्ष की अवस्था में अथेन्स नगर में आया था तथा जब सॉक्रेतीस और पार्मैनिदीस की भेंट हुई तो सॉक्रेतीस् निपट युवा था और उसने पार्मैनिदीस की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। पार्मैनिदीस ने अपने दार्शनिक विचारों को एक काव्य के रूप में प्रस्तुत किया था जिसमें एक रूपकात्मक प्रस्तावना के अतिरिक्त दो खण्ड और थे जिन में से एक में वास्तविक सत्ता और दूसरे में माया अथवा छल का वर्णन था। दुर्भाग्यवश इस ग्रंथ के खण्ड ही उपलब्ध होते हैं। इन अवशिष्ट खण्डों से पता चलता है कि वह यूनान का मायावादी अद्वैतिन् था। उसने अपने पूर्ववर्ती परिवर्तनवादियों और पिथागोरास् के अनुयायियों का खंडन किया था। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं

हो सकती यह सिद्धान्त उसके विचारों का आधार था। उसके मत में वास्तविक विश्व एक, अविभाज्य, शाश्वत, तथा सर्वांग सम्पूर्ण सत्ता है जिसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। इसके विपरीत परिवर्त्तनशील, नश्वर और गतिवान वस्तुएँ माया मात्र हैं नाम मात्र हैं। प्रो० गिलबर्ट मरे ने तो भारतीय अद्वैतवाद के साथ इन विचारों की समानता का स्पष्टतया उल्लेख किया है। परन्तु यह समानता है आंशिक ही।

ऐम्पैडॉक्लीस सिकैलिया (सिसिली) द्वीप के अक्रागास् नामक नगर का एक संभ्रान्त नागरिक था। इसका समय प्लातोन् से कुछ ही पूर्व का है। वह दार्शनिक भी था और वैज्ञानिक भी परन्तु पिथागोरास् की भाँति वह गणितशास्त्रवेत्ता नहीं था। उस की रुचि आयुर्वेद और शरीर-शास्त्र की ओर अधिक थी। पिथागोरास् और ऐम्पैडाक्लीस् का संबंध बहुत कुछ ऐसा ही था जैसा कि आगे चल कर प्लातोन और अरस्तू में हुआ। ऐम्पैडॉक्लीस को पार्मैनिदीस का सिद्धान्त बहुत कुछ मान्य था। परन्तु वह उसके मायावाद से चार मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण बच गया। उसके द्वारा स्वीकृत चार मूल भूत तत्त्व भू, वायु, अग्नि और जल थे। इन्हीं के संयोग और वियोग से सब वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश होता रहा है। संयोग और वियोग के लिये उसने प्रेम और विग्रह नामक दो अन्य तत्त्वों को भी स्वीकार किया। इन दोनों तत्त्वों की प्रक्रिया को उसने मनुष्यों के हृदय की गति और विश्व विराट के जीवन में भी स्वीकार किया। जल-घड़ी की प्रक्रिया से उसने वायु की भौतिकता को सिद्ध किया। उसकी विश्व-रचना-संबंधी विचारधारा कुछ अस्पष्ट और उलझी हुई है। दार्शनिक एवं वैज्ञानिक होने के साथ ही साथ वह एक उच्चकोटि का कवि भी था। उसके काव्य की तुलना में पार्मैनिदीस कीं रचनाएँ नीरस तुकबन्दियाँ जैसी लगती हैं। उसने 'भूतप्रकृति' और 'शोधन' विषय पर दो काव्य-ग्रंथ लिखे थे। अन्त में उसने ऐटना नामक ज्वालामुखी के मुख-

गह्वर में कूद कर प्राण दे दिये। कुछ लोगों का मत है कि उसने अपना देवत्व सिद्ध करने के लिए ऐसा किया था।

अब तक जिन विचारकों की चर्चा की गयी उनमें से कोई भी अथेन्स का रहने वाला नहीं था। क्लाज़ोमैनाय नगर का रहने वाला अनक्षगोरास् नामक दार्शनिक सब से प्रथम चालीस वर्ष की अवस्था में अथेन्स में आकर बसा और तीस वर्ष तक वहाँ रहा। उसके इस दीर्घनिवास के फलस्वरूप अथेन्स में भी दर्शनशास्त्र की जड़ जम गयी। तत्कालीन शासक पैरीक्लीस से अनक्षगोरास् की मित्रता हो गयी। कई अन्य दार्शनिकों के समान वह विज्ञानवेत्ता भी था। उसने 'प्रकृति' के विषय में एक ग्रंथ की रचना की। आधुनिक रसायनशास्त्र के समान वह मूलतत्त्वों की बहुलता को मानता था। बहुसंख्यक तत्त्वों के विविध मिश्रणों से ही विश्व की नाना वस्तुएँ बनी हैं। इनके अतिरिक्त उसने मनस्तत्व के अस्तित्व को भी माना है जो कि विभिन्न तत्वों में क्रम और व्यवस्था स्थापित करने वाला है। विज्ञान के क्षेत्र में उसने सूर्य और चन्द्रमा को पत्थर और मिट्टी का गोला बतलाया और सूर्य उसके मत में अत्यन्त विशालकाय था—इतना बड़ा जितना कि पैलौपौनेसस् प्रायद्वीप! तथापि उसने ही सबसे पहले सूर्यग्रहण की ठीक ठीक व्याख्या की थी। अन्त में अनक्षगोरास् को आरोपित नास्तिकता के कारण अथेन्स से निर्वासित कर दिया गया और उसके मित्रों को भी एक सीमा तक निन्दा सुननी पड़ी।

अब्देश का निवासी देमॉक्रीतस्, ल्यूकिप्पस् का शिष्य था। हेराक्लीतस को रोने वाला विचारक कहा गया है। देमॉक्रीतस् हँसने वाला दार्शनिक कहलात है। यवन विचारकों में वह प्रथम अणुवादी है। उसके मत में अणु वह छोटे से छोटा तत्वखंड है जिसको काटा नहीं जा सकता—और छोटे खंड नहीं किये जा सकते। सारा विश्व उसके मत में 'सत्' और 'शून्य' दो भागों में विभक्त है। सत् से उसका तात्पर्य भौतिक तत्त्वों

से है जिनका सूक्ष्मतम रूप अणु हैं। अणु हैं तो सब एक ही प्रकार के पर उनके माप, तौल और आकृति में भेद है। आत्मतत्त्व उसके मत में अग्नि का एक सूक्ष्म रूप है और अग्नि स्वयं अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं का संघात है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान बाह्य परमाणुओं तथा आत्मा के परमाणुओं के सम्पर्क से उत्पन्न होता है और इन्द्रियाँ इन परमाणुओं के लिये खोखले मार्ग मात्र हैं। ज्ञान दो प्रकार का होता है सज्जात (सत्य-जात) और जारजन्मा। इन्द्रिय जन्य-ज्ञान को वह जारजन्मा मानता है परन्तु जब आत्मा के अणुओं का बाह्य-अणुओं से अपरोक्ष सम्पर्क होता है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सज्जात कहलाता है। आचार के क्षेत्र में उसका मत यह था कि मनुष्य को 'कल्याण' अथवा सुख की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिय परन्तु इस कल्याण अथवा सुख को वह आत्मा की अवस्था मानता है। गणित और ज्यौतिष इत्यादि के क्षेत्र में भी उसने कुछ विचार अवश्य प्रस्तुत किये थे परन्तु उनके विषय में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। पृथ्वी को वह एक आवरण के सदृश थाली जैसा मानता था। देमॉक्रीतस् ने बहुत कुछ लिखा था और उसकी शैली प्लातोन की शैली के समान अत्यन्त उदात्त थी परन्तु दुर्भाग्यवश अब उसकी रचनाओं के केवल बिखरे हुए कुछ वाक्य मात्र उपलब्ध होते हैं।

कालक्रम पर दृष्टि रखते हुए तो देमॉक्रीतस् के पूर्व प्रोतगोरास का नाम आना चाहिये, परन्तु प्रोतगोरास् उस विशिष्ट वर्ग का विचारक था जो सॉफ़िस्तीस् अथवा सॉफ़िस्ट कहलाते हैं। हम इस समग्रवर्ग का संक्षिप्त विवरण एकत्रित उपस्थित करना उचित समझते हैं। ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के मध्य भाग से सॉफ़िस्ट-युग का आरंभ माना जाता है। सॉफ़िस्ट शब्द का अर्थ है 'ज्ञानी'। भारतवर्ष में हम लोग फ़ारसी सूफ़ियों से परिचित ही हैं। बहुत संभव है कि इन सूफ़ियों का यवन सॉफ़िस्ट से संबंध रहा हो, यद्यपि सूफ़ और सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न प्रकार से की जाती

है। सॉफ़िया शब्द का अर्थ ग्रीक भाषा में ज्ञान अथवा विद्या है। इस अर्थ में आरंभ के सप्तर्षि भी सॉफ़िस्ट कहे गये हैं और हेरोदोतस् ने पिथागोरास् को भी सॉफ़िस्ट कहा है। परन्तु ई० पू० चौथी शताब्दी में और उसके पश्चात् यह शब्द कुछ निन्दापरक हो गया। संकुचित अर्थ में यह शब्द उन विचारकों और शिक्षकों के लिये प्रयुक्त हुआ है पाँचवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सॉक्रेतीस, प्लातोन, और अरस्तू के समय तक अथेन्स के धनी युवकों को शिक्षा दिया करते थे तथा शिक्षा के बदले में शुल्क लिया करते थे।

इस समय प्रायः सभी ग्रीक नगरों में जनतंत्र शासन स्थापित हो चुका था। ऐसी स्थिति में धनपात्रों की अपेक्षा बुद्धिमानों की प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गयी थी। जो व्यक्ति वाक्चातुर्य से सम्पन्न होता था वह अधिक शक्तिशाली बन जाता था और कोरे धनपात्रों की दशा अच्छी न थी। परिणाम यह हुआ कि धनिकों ने भी इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि उनको अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये अधिक वाक्-निपुण होना चाहिये जिससे वे ज्ञान का संपादन करके दूसरों को अपने से सहमत कर सकें। इसके अतिरिक्त उस समय का अथेन्स अत्यन्त समृद्धिशाली नगर था और व्यापार का भी बड़ा भारी केन्द्र था अतएव देश-विदेश के व्यापारी एवं विद्वान् सभी इस नगरी में अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिये आते थे।

यद्यपि अथेन्स के इस समय के इतिहास में बहुत से सॉफ़िस्टों का उल्लेख मिलता है तथापि उनमें प्रमुख नाम प्रोतगोरास्, गौर्गियास्, हिप्पियास,- एवं प्रॉडिकस् इत्यादि हैं। सॉफ़िस्ट गणित, ज्यौतिष्, इतिहास, आयुर्वेद, एवं- विवाद शास्त्र की शिक्षा दिया करते थे। कुछ मल्लविद्या इत्यादि व्यवहारिक ज्ञान तथा अरैते—आर्यत्व (अं० . virtue) की शिक्षा देना। इस शिक्षण का उद्देश्य नितान्त व्यवहारिक था। कुछ

सॉफ़िस्ट तो स्पष्ट ही ज्ञान को और आर्यत्व को असंभव मानते थे। कुछ का विचार था कि दोनों संभव हैं पर शिक्षा द्वारा इन दोनों का अन्य व्यक्ति में संचार कर देना संभव नहीं है। कुछ इनमें से एक का सिखाना संभव और दूसरे का सिखाना असंभव मानते थे। पर इतना सब मानते थे कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य को इस प्रकार वाक्‌कुशल और व्यवहार-कुशल बनाया जा सकता है कि वह दूसरों को समझा-बुझा कर अपने मतानुकूल बना सके और न्यायालयों में अनुकूल न्याय प्राप्त कर सके। पूर्ववर्ती दार्शनिकों से यह इस बात में भिन्न थे कि यह विश्व की रचना और उसके कारण इत्यादि के विषय में विचार करना उचित नहीं समझते थे क्योंकि इस विषय में एक तो कोई निश्चित एवं सर्वमान्य सिद्धान्त स्थापित करना संभव नहीं था; दूसरे इस चिन्तन का व्यवहारिक जीवन में कोई उपयोग नहीं था।

ऊपर जिन प्रमुख चार सॉफ़िस्टों का उल्लेख किया गया है उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उन्होंने अपनी कला के सहारे बहुत कुछ धन-संपत्ति और ख्याति पाई। उनके शिक्षण के फल-स्वरूप अथेन्स का बुद्धि-वैभव और कला-कौशल बहुत बढ़ गया। मनुष्यों के विचारों में तीक्ष्णता और स्पष्टता आई। प्रश्न यह है कि ऐसा होते हुए भी प्लातोन और अरस्तू के ग्रंथों में सॉफ़िस्टों के प्रति हीन-भावना क्यों प्रदर्शित हुई है? अरस्तू ने सॉफिस्ट की परिभाषा में कहा है कि "सॉफिस्ट वह है जो प्रातिभासिक ज्ञान (के शिक्षण) से धन कमाता है।" इस स्थिति के कई कारण तो हैं। प्रथम यह बात है कि सॉफिस्ट सभी विदेशी थे और विदेशियों के प्रति विद्वेष की भावना स्वाभाविक ही है। दूसरी बात यह है कि कुछ व्यक्तिवाद तो जनतंत्रशाशन के कारण फैला और कुछ उसको इन लोगों की शिक्षा ने और भी बढ़ा दिया। इस व्यक्तिवाद का परिणाम आगे चल-कर अथेन्स की राजनीति और समाज के लिये हितकर नहीं हुआ। तीसरे इन शिक्षकों के कारण साधारण जनता में अनेकों उच्च शब्दों का बहुत

कुछ दुरुपयोग होने लगा। चौथे प्लातोन और अरस्तू के समय तक सॉफ़िस्ट वर्ग का पतन भी हो चुका था अतएव उन्होंने सॉफ़िस्तों के विषय में जो कुछ लिखा वह अपने समय के अनुभव के आधार पर लिखा है। सॉफ़िस्तों के श्रेष्ठ शिक्षण का परिणाम तो पेरीक्लीस का स्मृद्धिशाली अथेन्स था। प्रौ० गिल्बर्टमरे ने सॉफ़िस्तों के निन्दकों को चुनौती दी है कि जो उनकी निन्दा करते हैं वे पहले फिर से पेरीक्लीस के स्मृद्धिशाली-युग की रचना करके तो दिखलायें।

इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं कि सॉफ़िस्तों में सभी प्रकार के व्यक्ति थे---अच्छे भी बुरे भी। सॉक्रेतीस् स्वयं सॉफ़िस्त कहलाता था। इन की शिक्षा के कारण अवश्यमेव विचार-वैविध्य मानसिक अस्थिरता का कारण बन गया। मानसिक अस्थिरता से सामाजिक संघटन में शिथिलता आ गयी और अथेन्स की राजनीतिक स्वतंत्रता नष्ट हो गयी। परन्तु स्वतंत्रता खोकर अथेन्स ने जो मानसिक और आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित किया--- उसको ज्ञान, विज्ञान, कला, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में यूरोप का नेतृत्व प्राप्त हुआ इसका श्रेय पर्य्याप्ति मात्रा में उस विचारान्दोलन को है जिकास जन्म सॉफ़िस्तों की शिक्षा के कारण हुआ था। उन्होंने जो विचार प्रवाह आरंभ किया था उसके बिना सॉक्रेतीस प्लातोन और अरस्तू के विचार संभव न होते। खेद का विषय यह है कि इन लोगों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती। इन के विषय में जो कुछ जानकरी प्राप्त होना संभव है वह उनके प्रतिपक्षियों से मिलती है।

४---सॉक्रातीस

कबीर के विषय में यह कहा जाता है कि उसने "मसि कागद छूवो नहीं कलम गही नहिं हाथ।" यही बात अक्षरशः सॉक्रातीस् के विषय में भी सत्य है। जिन दार्शनिकों का विवरण हम उपस्थित कर चुके हैं उनके

विषय में परम्परा से यह बात प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये गद्य अथवा पद्य में ग्रंथ रचना की थी। दुर्भाग्य-वश उन रचनाओं में से अब बिखरे हुए वाक्य मात्र ही उपलब्ध होते हैं। सॉक्रातीस् के विषय में ऐसी कोई परम्परा नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि उसको पुस्तकों से विरक्ति थी। तथापि यवन दर्शन का कोई भी विवरण और प्लातोन की कोई भी चर्चा सॉक्रातीस् के विवरण के बिना अधूरी है। प्लातोन के समग्र संवादों में (केवल एक को छोड़ कर) वह मुख्य वक्ता है। प्लातोन के समग्र दार्शनिक विचार की मूल प्रेरणा उसी से प्राप्त हुई है। सॉक्रातीस् के पथ प्रदर्शन के बिना भी प्लातोन एक अमर लेखक अथवा कवि होता—स्यात् अमर विचारक और दार्शनिक न हो पाता। प्लातोन की प्राञ्जल प्रतिभा ने सॉक्रातीस् के व्यक्तित्व को दिव्य अमरता प्रदान की, सॉक्रातीस् की प्रखर परीक्षण पद्धति ने प्लातोन को अमर दार्शनिक बना दिया। इन दोनों में "को बड़ छोट कहत अपराधू" वाली उक्ति चरितार्थ होती है। सॉक्रातीस् के पश्चात् प्रायः समग्र ग्रीक दर्शन उसके शिष्यों और प्रशिष्यों की परम्परा से व्याप्त हो जाता है।

सॉक्रातीस् के पिता का नाम सोफ्रॉनिस्कस् था और वह एक साधारण मूर्त्तिकार था। उसकी माता फ़ायनरैती नामक धात्री थी। देखने में सॉक्रातीस अत्यन्त कुरूप था। उसने युद्धों में भाग लिया था एवं असाधारण शौर्य और धैर्य का परिचय भी दिया गया था। युवावस्था में उसका स्वभाव बड़ा उग्र था परन्तु उसने आजीवन किसी को हानि नहीं पहुँचायी उसके जीवन की कथा उसके शिष्यों की रचना के सहारे ही जानी जा सकती है। अथेन्स की सड़कों में उसकी आकृति एक अति परिचित वस्तु रही होगी। सॉक्रातीस् अपना समय अपने घर पर बहुत कम व्यतीत करता था—प्रायः वह अन्य लोगों से बातचीत करने में ही गँवा देता था। कुछ लोगों का अनुमान है कि उसकी पत्नी रवन्थिप्पी बहुत चिड़चिड़े

स्वभाव की स्त्री थी। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी स्त्री के चिड़चिड़े पन के कारण घर से दूर भागता था अथवा उसके घर-गृहस्थी के प्रति उदासीन होने के कारण उसकी स्त्री का स्वभाव कर्कश हो गया था। इतना निर्विवाद है कि सॉक्रातीस् जानबूझ कर निर्धनता को वरण किया था और सत्य की खोज को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। यद्यपि वह अत्यन्त कुरूप था परन्तु उसके व्यक्तित्व में असाधारण आकर्षण था अतएव अथेन्स के अनेकों धनीधोरी युवक उसके पास से शिक्षा प्राप्त करने में गौरव का अनुभव करते थे। शिक्षक होने के कारण वह सॉफ़िस्त भी कहलाता था। परन्तु उसमें अन्य सॉफ़िस्तों से विशेषता यह थी कि वह अपनी शिक्षा के लिये कोई शुल्क नहीं लेता था। उसके शिष्य उसको जो कुछ उपहार स्वेच्छा से दे देते थे उनको भी वह कभी कभी अकारण ही अस्वीकार कर देता था। निर्धनता की यह दशा थी कि वह प्रायः नंगे पैरों ही घूमा करता था और उसके वस्त्रादि भी उसकी अल्प-वित्तता को ही प्रकट करते थे। उसका स्वास्थ्य अत्यन्त अच्छा था तथा शीतोष्ण को सहने की क्षमता उसमें असाधारण मात्रा में विद्यमान थी। अपने ऊपर उसको इतना अधिक अधिकार था और आत्म-संयम उसमें इतना था कि एक रात्रि भर मदिरापान करते हुए भी वह पूर्णतया प्रकृतिस्थ रह कर प्रेम और सौन्दर्य के विषय में अनुपम विचारों को व्यक्त करता रहा और प्रभात होने पर जब दूसरे बड़े-बड़े पियक्कड़ औंधे मुँह पड़े हुए थे वह पूर्णतया स्वस्थ भाव से भोज में से उठ कर चल दिया।

सॉक्रातीस् को किसी भी व्यक्ति से बातचीत करने में संकोच नहीं था। न तो वह बड़े-बड़े विख्यात विद्वान से संकोच अथवा झेंप का ही अनुभव करता था और न अपने विषय में अहंकार को ही प्रदर्शित करता था। लम्बे-लम्बे भाषणों और पुस्तकों से उसको विरक्ति थी। सत्य

की शोध के लिए उसने प्रश्नोत्तर मार्ग को स्वीकार किया था। उस समय में न्याय सौन्दर्य, भलाई, इत्यादि शब्दों का प्रयोग जनता में अन्धा-धुन्ध किया जाता था। सॉक्रातीस् इन शब्दों के प्रयोक्ताओं से परि-प्रश्न करके प्रायः यह सिद्ध करने में सफल हो जाता था कि प्रयोक्ता को स्वप्न-युक्त शब्दों का ठीक-ठीक निर्भ्रान्त अर्थ ज्ञात नहीं है। अन्त में जब स्वयं उससे इन शब्दों का अर्थ पूछा जाता तो वह सदा अपनी अज्ञता की दुहाई देता और अपने को ज्ञानी नहीं बल्कि जिज्ञासु मात्र प्रकट करता था। जब उससे दैल्फ़ी की दैववाणी का उल्लेख करके यह पूछा जाता कि देववाणी ने तुमको सब मनुष्यों से अधिक बुद्धिमान और ज्ञानी घोषित किया है तब तुम अज्ञानी क्यों बनते हो, तब वह यह उत्तर देता कि अज्ञानी तो सभी हैं परन्तु मुझको अपने अज्ञान का ज्ञान है अन्य लोग अपने अज्ञान के विषय में भी अज्ञान हैं। सॉक्रातीस् के प्रश्नोत्तरों में सरलता, व्यंग्य, पुनरावृत्ति, अपनी अज्ञता की स्वीकृति इत्यादि विविध प्रकार की बातें पाई जाती हैं। अपनी युवावस्था में सॉक्रातीस् विज्ञान और दर्शन का अध्ययन करके वास्तविकता को समझने का प्रयत्न किया, परन्तु जब देववाणी ने उसको सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी घोषित कर दिया तब से उसने अपने जीवन का लक्ष्य या तो अपने से अधिक ज्ञानी को खोज कर—(देवावणी को असत्य सिद्ध करके)—उससे ज्ञान प्राप्त करना, अथवा दूसरे मनुष्यों को उनका अज्ञान बतलाकर सबको अपने समान ज्ञानी बना देना बना लिया। इस लक्ष्य-साधन में वह इतना तन्मय हो गया कि उसकी आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी।

उसके जीवन में एक ओर वास्तविकता की भावना अत्यन्त प्रबल थी तो दूसरी और रहस्यमयता भी कम न थी। वह आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में दृढ़ विश्वास करता था। इस प्रकार के विश्वासों का आधार वह प्राचीन लोगों के आप्त-वाक्यों को मानता। अपने पूर्ववर्ती

प्राय: सभी दार्शनिकों, कवियों, सन्तों और सिद्धों के ज्ञान का उसने अपनी तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया था और सार को ग्रहण करके असार को त्याग दिया था।

धीरे-धीरे उसके साथियों अथवा शिष्यों का समूह विस्तृत होता गया। उसकी ख्याति इतनी फैली कि अथेन्स से बाहर तक के लोग उसके शिक्षण से लाभान्वित होने के लिये उसके पास आने लगे। उसके शिष्य उसको बहुत स्नेह करते थे। वे उसकी प्रतिभा से अत्यन्त मुग्ध थे और उसके अलौकिक आचरण से अत्यधिक प्रभावित। प्लातोन् जिस समय सॉक्रातीस के प्रभाव में आया उस समय सॉक्रातीस् की अवस्था बहुत अधिक हो चुकी थी। धीरे-धीरे सॉक्रातीस् की विलक्षण प्रश्नोत्तर वाली पद्धति से कुछ लोग अप्रसन्न होगये। राजनीतिक क्षेत्र में उसको कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी अतएव जब अथेन्स के विधान के अनुसार उसको राजनीतिक सत्ता का पद प्राप्त हुआ तो उसने स्वतंत्रता पूर्वक न्याय के पक्ष का हीं समर्थन किया और जनता के पक्ष का विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि उस समय जनता के दोनों दल उसके विरुद्ध होगये। अन्ततो गत्वा उसके विरुद्ध एक अभियोग चलाया गया जिसमें दो अपराध उस पर-आरोपित किये गये; एक यह कि वह पुराने देवताओं का अपमान करके नवीन देवताओं की आराधना का प्रचार करना चाहता है और दूसरे यह कि वह नवयुवकों को चरित्र-भ्रष्ट करने का अपराधी है।

इस समय स्थिति का अध्ययन अत्यन्त बारीकी के साथ किया जा चुका है और जो निष्कर्ष निकला है वह यह है उपर्युक्त आरोप पूर्णतया निराधार न होते हुए भी केवल प्रतिभासिक मात्र थे। वास्तविक बात यह थी कि कुछ बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति सौक्रातीस से चिढ़ गये थे तथा जनता नगर की राजनीतिक-व्यवस्था से ऊब चुकी थी और जनसाधारण अपनी झुँझलाहट किसी पर उतारना चाहते थे। सॉक्रातीस् ने इन

आरोपों का खंडन इस प्रकार से किया कि पहले तो कुछ मामला सुलझता हुआ प्रतीत हुआ परन्तु पहले निर्णय के उत्तर में उसने इतनी अधिक स्पष्टवादिता दिखलाई कि अन्त में उसको विष का प्याला पीकर मरने का दण्ड दिया गया। प्लातोन् ने इस विषय पर जो संवाद लिखे हैं वह विश्व-साहित्य की अमर-निधि हैं। अन्तिम परिणाम यह हुआ कि ई० पू० ३९९ में सॉक्रातीस् ७० वर्ष की अवस्था में विष का प्याला पी कर परम-गति को प्राप्त हुआ। अन्त समय में उसने जो धैर्य और स्थिरप्रज्ञता प्रदर्शित की वह निरुपम है। विश्वविदित बात यह है कि सॉक्रातीस् विष पान करके अमर हो गया है।

सॉक्रातीस् के दार्शनिक विचार क्या थे, यह एक समस्या है। उसके अनेकों शिष्यों ने उसके नाम पर विभिन्न प्रकार के वादों का प्रचलन किया है। स्वयं प्लातोन् ने अपनी रचनाओं में अपने विचारों को पूर्णतया सॉक्रातीस् के विचारों के साथ इस प्रकार तदाकार कर दिया है कि यह कहना कठिन है कि कौन-सा विचार सॉक्रातीस् का है तथा कौन-सा प्लातोन् का। तथापि योग्य विद्वानों ने सदियों के परिश्रम से छानबीन करके कुछ विचार निश्चित रूप सॉक्रातीस् द्वारा स्थापित किये खोज निकाले हैं, यद्यपि इस विषय में पूर्णतया निर्भ्रान्ति ऐकमत्य संभव नहीं है। सॉक्रा-तीस् की सब से बड़ी देन उसकी परीक्षण पद्धति है जो दियालेक्ति की अथवा वाकोवाक कही जा सकती है। इस पद्धति के कारण यूनान की दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार-सरणी में क्रान्ति उपस्थित होगयी। सॉक्रातीस् कुछ मसखरा भी था। अपनी माता की धात्री-वृत्ति को स्वीकार करते हुए वह अपनी इस प्रश्नोत्तर पद्धति के कारण अपने विचारों को जन्म दिलानेवाली पुरुष-धात्री कहा करता था। स्वयं नवीन विचारों की उद्भावना का गौरव लूटना उसको रुचिकर न था। वास्तव में उसने नवीन विचारों का आविष्कार करने की अपेक्षा अपनी इस विलक्षण

पद्धति से त्रुटिपूर्ण और अस्पष्ट विचारों के खंडन का ही कार्य अधिक किया। अपने प्रतिपक्षियों को नित्यप्रति के व्यवहार के शब्दों की नपी-तुली परिभाषा (लक्षण) बतलाने के लिये विवश करके उसने सब से परिभाषा अथवा लक्षण का स्वरूप स्थिर किया। किसी पदार्थ के अनेकों उदाहरणों का परीक्षण करके सार को ग्रहण करते हुए लक्षण को प्राप्त करना उसकी पद्धति की विशेषता थी और निस्सन्देह यह क्रान्तिकारी विशेषता थी।

पुराने दार्शनिकों की भाँति उसने विश्व और प्रकृति के स्वरूप के विषय में अधिक विचार नहीं किया। मनुष्य के आचरण के विषय में उसने विशेष ध्यान दिया और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि ज्ञान ही आदर्श आचरण है। पुराना कथन "आत्मानं विद्धि" उसको मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्रतीत हुआ। उसका विश्वास था कि सच्चे ज्ञानी का आचरण कदापि बुरा नहीं हो सकता। मनुष्य अज्ञानवश ही बुराई करता है। वह आजीवन स्वयं ज्ञान की खोज में ही तल्लीन रहा और अपने बिचार के अनुसार दूसरों की भी उसने इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता की। बर्नेट के मत में "आइडिया का सिद्धान्त" (theory of ideas) भी सॉक्रातीस् से संबंध रखता है। प्लातोन ने उसका अधिक विकास मात्र किया है। परिदृश्यमान परिवर्त्तनशील भवत् (becoming) से परे आदर्श सत् (being) जगत् है। यह भवत् उस सत् की कभी पूर्णता को न प्राप्त होने वाली प्रतिकृति मात्र है। सत् जगत् "बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्" है परन्तु भवत्-जगत् "अनित्यमसुखम्" है; इसके थपेड़ों से मनुष्य सत् के चिन्तन और मनन से ही मुक्त हो सकता है।

धार्मिक क्षेत्र में आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में उसका विश्वास था यह बात कही जा चुकी है। विश्व की सुव्यवस्था को देख कर उसने यह भी अनुमान किया था कि सारा विश्व एक दिव्य आत्मा से अनुप्राणित

है। स्वतः अपने में वह एक अन्तर्यामी की सत्ता मानता था जो बाल्यकाल से ही उसको बुरे कार्य करने से रोकता रहा था। अरस्तू ने मुख्य दार्शनिक तत्वों का श्रेय उसको प्रदान किया है (१) विनगमनर्तक और (२) सार्वत्रिक लक्षण या परिभाषा (inductive argument and universal definiation). सच तो यह है कि सॉक्रातीस् ने विचार जगत् में जो क्रान्ति प्रस्तुत की उसका थोड़े से शब्दों में वर्णन कर सकना असंभव है।

५—प्लातोन के समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दशा

अब तक प्लातोन के पूर्व की साहित्यिक और दार्शनिक परम्पराओं का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया गया जिससे कि हम उसके मानसिक गठन को समझ सकें। अब इस बात की आवश्यकता है कि हम उन सामाजिक परिस्थितियों को भी समझ लें जिनमें प्लातोन का जीवन व्यतीत हुआ। महान् से भी महान् व्यक्ति अपनी चतुर्दिक् परिस्थिति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता एवं उसके जीवन को समझने के लिये उन परिस्थितियों को समझना अनिवार्य होता है।

प्लातोन का जीवन काल ई० पू० ४२७ से ई० पू० ३४७ तक माना जाता है। इस ८० वर्ष के दीर्घकाल में वह तीन अथवा चार बार अथेन्स से बाहर गया। एक बार तो उसकी यात्रा दो तीन वर्ष लम्बी चली। फिर भी उसके जीवन का पारिपार्श्विक अथेन्स के ही जीवन से ही निर्मित था। उसके जीवन के आरंभिक वर्ष तो अथेन्स और स्पार्टा के उस घातक युद्ध के समय में कटे जिसने अथेन्स की राजनीतिक महत्ता की कमर ही तोड़ दी। यह युद्ध ई० पू० ४३१ से ई० पू० ४०४ तक चला। इसके पश्चात् यद्यपि अथेन्स ने अपनी पूर्वकालीन महत्ता को प्राप्त करने के

लिये अनेकों यत्न किये, तथा कई बार ऐसा भी प्रतीत होने लगा कि स्यात् वह पुनः अपना पुराना गौरव प्राप्त कर ले, पर यह सब अन्त में दुराशा मात्र सिद्ध हुई। प्लातोन की जीवन के संध्या काल में कुछ-कुछ सँभलती हुई अथेन्स की राजनीतिक शक्ति मकैदोनिया के राजा फिलिप के समक्ष झुकना पड़ा। अतएव राजनीतिक दृष्टि से यह ८० वर्ष का समय अथेन्स के जीवन का मध्याह्नोत्तर काल है।

वास्तव में अथेन्स के इतिहास का स्वर्ण-युग बीत चुका था। वह भयंकर महामारी जो कि अथेन्स के सहस्त्रों निवासियों के प्राण ले चुकी थी ई० पू० ४२९ में नगर के श्रेष्ठ नेता पैरीक्लीस को भी उठा ले गयी। नगर की दशा ऐसी होगयी जैसी कि उस नौका की हो जिसका पोतनायक खो गया हो और जिसके खेने वालों की संख्या घट गयी हो। परन्तु बाहर से देखने में नगर के वैभव में कोई कमी नहीं आयी थी। पेरीक्लीस के द्वारा बनवाए हुए विशाल प्रासाद अब भी नगर की शोभा बढ़ा रहे थे। यद्यपि प्लातोन के बाल्यकाल और आरंभिक यौवन में युद्धजनित असुविधाएँ और कष्ट बढ़ते जा रहे थे तथापि नगर का सांस्कृतिक और मानसिक जीवन अब भी पूर्ण स्फूर्ति और सक्रियता के साथ गतिशील था। अब भी प्रतिवर्ष दियौनीसिस के उत्सवों पर प्रमुख कवि नाटकों की प्रतियोगिता में पूर्ववत् भाग लेते थे। विवाद या शास्त्रार्थ कला (Rhetoric) का उत्तरोत्तर अधिक अनुशीलन और विकास हो रहा था, इसी के परिणाम स्वरूप अत्तिक (ग्रीक) भाषा की गद्यशैली अपनी परिपूर्ण उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई। उदाहरण स्वरूप कीदिदीस् का सुविख्यात इतिहास जो कि गद्य-शैली में आदर्श माना जाता है।

परन्तु इस युद्ध ने अथेन्स के आध्यात्मिक जीवन की जड़ें कितनी खोखली कर दी थीं इसका पता भी हमको उपर्युक्त इतिहास के पृष्ठों से ही चलता है। युद्ध के प्रारंभिक वर्षों में जब कि अथेन्स विजयी हो

रहा था पेरीक्लीस ने युद्ध मे मरे हुए वीरों की प्रशंसा में एक भाषण दिया था जिसमें अथेन्स के आदर्श जीवन का स्तुति-गान किया गया है ।इस भाषण का सार यह है कि अथेन्स नगरी और यहाँ का जीवन स्वतंत्र है, आदर्श है, समृद्ध है, दुनियाँ के मनुष्यों को इसका अनुकरण करना चाहिये; स्वयं अथेन्स को किसी का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं, इसके थोड़े ही समय पश्चात् थूकीदिदीस् के इतिहास की तीसरी पुस्तक में अथेन्स का जो चित्र अंकित किया गया है वह पूर्ण आध्यात्मिक दिवालियेपन को सूचित करता है। सर्वत्र प्रवंचना, अवसरवादिता, तुच्छ स्वार्थ-परता, विश्वासघात इत्यादि का बोलबाला था। सुरक्षितता नाममात्र को भी न रह गयी थी। दुर्भिक्ष फैला हुआ था। राजनीतिक दलबन्दी घोर उग्र रूप धारण कर रही थी। न वचनों का विश्वास था न शपथों की प्रतीति। भय के कारण कायरता और क्रूरता में वृद्धि हुई थी। उत्तम बुद्धिवालों, सदाचार में विश्वास रखने वालों की अपेक्षा मध्यम और निकृष्ट बुद्धि एवं आचरण वाले लोग अधिक सफल हो रहे थे। पराजयोन्मुख युद्ध किसी जाति को कितना पतित बना देता है इसका उदाहरण उस समय का अथेन्स का समाज था। इस युद्ध में प्लातोन और उसके भाइयों ने भी सक्रिय भाग लिया था।

नगर की राजनीति में दो दल थे एक अल्पसंख्यक कुलीनों का दल दूसरा जनतंत्रवादी दल। पैलोपौनीशियन युद्ध में अथेन्स की पराजय के उपरान्त 'तीस' के दल का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हुआ। इसमें प्लातोन के निकट संबंधी लोग सम्मिलित थे और उन्होंने उसको राजकार्य में सहयोग देने के लिये निमंत्रित किया भी। पर सॉक्रातीस् के प्रभाव के कारण उसने कोई विशेष पद स्वीकार नहीं किया। इस 'तीस' के दल के शीघ्र ही हट जाने के पश्चात् प्रजातंत्रवादी दल सत्तारूढ़ हुआ। इस दल ने ई० पू० ३९९ में सॉक्रातीस् को प्राणदण्ड दिया और नगर की

स्थिति सॉक्रातीस् के शिष्यों के लिये इतनी भयावह हो उठी कि प्लातोन इत्यादि को नगर से भाग कर मैगारा में शरण लेनी पड़ी। परिस्थिति शान्त होने पर वह लौट आया परन्तु सॉक्रातीस् की हत्या करने वाले दल के साथ शासन कार्य में भाग लेना उसको उचित नहीं प्रतीत हुआ। यद्यपि प्लातोन को राजनीतिक सुधारों में आजीवन रुचि बनी रही—कुलपरम्परा से भी वह राजनीति में भाग लेने की प्रवृत्ति रखता था, परन्तु अथेन्स में उसने इसके पश्चात् किसी राजनीतिक आकांक्षा को अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। इसके विपरीत उसने अपने जीवन को सॉक्रातीस् के सिद्धान्तों का औचित्य प्रदर्शित करने में लगा दिया। हाँ, अपने नगर से बाहर सिराक्ज़ में उसने अपने राजनीतिक विचारों को तीन बार व्यवहृत करने का उद्योग किया।

अथेन्स की सामाजिक स्थिति का उस समय का चित्र विद्वानों द्वारा बड़े परिश्रम और शोध द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अथेन्स और अत्तिका की जनसंख्या उस समय तीन श्रेणियों में विभक्त थी। (१) नागरिक लोग जो कि जनतंत्रात्मक शासन में भाग लेने के अधिकारी थे। इनकी संख्या लगभग ४०००० थी जिनमें वय:प्राप्त नागरिक लगभग ४०००० थे (२) विदेशी लोग संख्या में लगभग ७०००० थे। यह धनवान व्यापारी इत्यादि थे। इनको नगर में भूमि मोल लेने और शासनकार्य में भाग लेने का अधिकार तो नहीं था पर अन्यथा यह लोग अत्यधिक प्रभावशाली थे। परन्तु जनता के अधिकांश भाग थे (३) दास जिनकी संख्या डेढ़ लाख से लेकर चार लाख तक कूती गयी है। इस प्रकार अथेन्स की प्रजातंत्रात्मक शासनपद्धति बहुत कुछ सीमित थी। अथेन्स नगर का पत्तन (बन्दरगाह) पिरायस था। वास्तव में तो इन दोनों नगरों को दो पृथक् नगर ही मानना चाहिये। नागरिक लोग दश गणों में विभक्त थे। प्रत्येक गण ३ त्रिकों और कम से कम १० उपभागों में विभक्त थे।

१७ वर्ष की अवस्था में वयस्कता प्राप्त होती थी। नगर के अधिकारी लोग चार भागों में विभक्त थे (१) सेनाधिकारी (२) कोषाधिकारी या अर्थाधिकारी (३) न्यायाधिकारी और (४) नगर-रक्षाधिकारी। शासनकार्य पर विचार करने वाली निम्नलिखित सभाएँ थीं:— (१) एक्लीसिया—समग्र वयःप्राप्त पुरुष नागरिक इसके सदस्य होते थे और नियम पास करने का अधिकार केवल इसी को था। (२) बूलै—इसके सदस्यों की संख्या ५०० थी। यह नियमों को तैयार करके एक्लीसिया के विचार के लिये प्रस्तुत करती थी। (३) ५० सदस्यों की एक उपसमिति जो कि (२) में से लिये जाते थे। (४) धर्म समिति। (५) नियमविचार समिति—इसके १००० सदस्य होते थे और यह प्रस्तावित नियमों पर विचार किया करते थे। अधिकारी वर्ग कुछ तो लाटरी (पर्ची) द्वारा नियुक्त किये जाते थे और कुछ चुनाव द्वारा। दास लोगों के दो वर्ग होते थे (१) व्यक्तिगत दास (२) सार्वजनिक दास। अथेन्स की पुलिस में एक (सिथियन) दास ही थे।

यद्यपि ग्रीक संस्कृति विश्व भर की संस्कृतियों में अत्यधिक प्रभावशाली संस्कृति थी। परन्तु इसका देशगत और कालगत विस्तार अधिक नहीं था। इसके स्वर्ण युग का विस्तार ई० पू० छठीं शताब्दी के मध्य से ई० पू० चौथी शताब्दी के मध्य तक माना जा सकता है। अथेन्स में यह संस्कृति सर्वोच्च स्थिति को पहुँची। यद्यपि प्लातोन के जीवन काल में ही अथेन्स की भौतिक समृद्धि का ह्रास आरंभ हो गया था। परन्तु मानसिक और सांस्कृतिक जगत में उसका नेतृत्व दीर्घकाल तक बना रहा और एक सीमा तक आज भी लुप्त नहीं हुआ है।

शिक्षा के क्षेत्र में अथेंस प्लातोन के समय में भी बहुत बढ़ा हुआ था। परन्तु अधिकांश शिक्षा मौखिक थी। पुस्तकें लिखी अवश्य जाती थीं परन्तु लेखन सामग्री का बाहुल्य न होने के कारण शिक्षा में पुस्तकों का

अधिक उपयोग नहीं होता था। अथेन्स में व्याख्यान-कला और शास्त्रार्थ-कला की शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया जाता था। अच्छे वक्ता अथेन्स के जीवन में अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति माने जाते थे। स्पार्टा में शारीरिक शिक्षा अथेन्स की अपेक्षा अच्छी दी जाती थी। प्लातोन अपने नगर की शिक्षा से अधिक सन्तुष्ट नहीं था अतएव उसने अपने विख्यात ग्रंथ रिपब्लिक में एक सर्वांगपूर्ण शिक्षा की योजना प्रस्तुत की।

प्लातोन के जीवन का कुछ अंश सिसिली (ग्रीका सिकालिया) द्वीप के सिराक्ज़ नगर में भी व्यतीत हुआ। इस नगर में एकतंत्र शासन था और कुछ सामन्तशाही पद्धति भी चलती थी। प्लातोन ने इस राज्य को दार्शनिक तंत्र में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इसमें वह सफल नहीं हुआ, प्रत्युत उसको अपने जीवन को ही संकट में डालना पड़ा।

प्लातोन के समय में अथेन्स की आर्थिक स्थिति अवनति की ओर अग्रसर होने लगी थी। अब अथेन्स साम्राज्य और साम्राज्य के बढ़ते हुए व्यापार का केन्द्र नहीं रह गया था। वास्तव में कौरिन्थ और अथेन्स की व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा पैलोपौनीशियन युद्ध का एक प्रमुख कारण थी। अथेन्स भक्ष्य पदार्थों के लिये अन्य स्थानों पर निर्भर था। अतएव युद्धकाल में उस को दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। परन्तु सामुद्रिक व्यवसाय का विकास करने के कारण अथेन्स के पास एक उत्तम समुद्री बेड़ा था जिस पर अथेन्स को गर्व था तथा जिस पर अथेन्स के आधीन राज्यों की रक्षा का भार था। पर ई० पू० ४१५-१३ में सिसिली के अभियान में इस बेड़े का भी सर्वनाश हो गया। इसके पश्चात् अथेन्स ने फिर एक बेड़ा तैयार किया परन्तु यह उतना प्रबल नहीं था। स्वयं प्लातोन की आर्थिक स्थिति अच्छी प्रतीत होती है। उसने जो विद्यालय स्थापित किया उसकी भूमि इत्यादि का मूल्य उसने स्वयं ही चुकाया था।

धार्मिक स्थिति में प्लातोन के समय में पर्याप्त आलोचनात्मक उथल-

पुथल मची हुई प्रतीत होती है। यों तो सर्वसाधारण में अनेकों देवी-देवताओं की उपासना का प्रचलन था और पौराणिक गाथाओं में लोग विश्वास करते थे। पर सॉक्रातीस् और प्लातोन ने एक प्रबल सुधार के आन्दोलन को जन्म दिया। सॉक्रातीस् को धार्मिक क्रान्ति का नेतृत्व करने का मूल्य अपने प्राणों की बलि देकर चुकाना पड़ा।

जिस अथेन्स ने भावी जगत् की सभ्यता और संस्कृति पर इतना व्यापक और स्थायी प्रभाव डाला वहाँ के सर्वसाधारण की दशा कैसी थी? कुछ लोगों का अनुमान है कि अथेन्स के स्वर्ण-युग के मनुष्य कुछ अलौकिक रहे होंगे। पर यह कोरी कल्पना मात्र है। थूकीदिदीस् का साक्ष्य पहले उपस्थित किया जा चुका है। वास्तविक बात यह है कि ग्रीक लोग अन्य किसी प्रभावशाली सभ्यता के प्रतिनिधियों के समान समग्र जीवन को प्रेम करने वाले और उपभोग करने वाले जीव थे। दूसरी सभ्य जातियों में पाये जाने वाले सद्गुण और दुर्गुण उनमें भी पाये जाते थे। वे अन्य जातियों से विलक्षण जाति नहीं थे तभी तो उनके दर्शन, विज्ञान, कला, नीति अन्य मनुष्यों को रुचिकर और प्रभावशाली प्रतीत होते हैं।

६—प्लातोन का संक्षिप्त जीवन चरित्र।

प्लातोन ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। परन्तु उसके लिखे १३ पत्रों का एक संग्रह उसकी रचनाओं में मिलता है। एक समय इन पत्रों को जाली माना जाता था। अब केवल प्रथम और बारहवें पत्र को छोड़ कर शेष ११ पत्र प्लातोन की ही रचना माने जाते हैं। इन पत्रों से प्लातोन की जीवन की घटनाओं पर बहुत प्रकाश पड़ता है। स्वयं ग्रीक भाषा में उसके तीन जीवन चरित्र मिलते हैं। इनके लेखक अपूलेइयम्, दियौगैनीस्, लाएर्तियस और औलिम्पियौडोरस् हैं। यह तीनों जीवन चरित्र अलौकिक और अतिरंजित कथाओं से परिपूर्ण होने के कारण विश्वास के योग्य नहीं हैं। आधुनिक इंग्लिश, जर्मन, एवं फ्रेंचविद्वानों

ने बड़े परिश्रम से प्लातोन के जीवन के विश्वासयोग्य तथ्यों का संग्रह किया है। सबसे अधिक परिश्रम जर्मन विद्वानों ने किया है। इन्हीं का अनुसरण करते हुए प्लातोन के जीवन चरित्र का सार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

अलैक्जैंड्रिया के विद्वानों की गणना के अनुसार प्लातोन का जन्म ८८वें औलिम्पियड् (चौकड़ी) के थार्गेलियोन् मास में हुआ था। आधुनिक गणना के अनुसार यह समय ई० पू० ४२८-२७ का मई-जून मास ठहरता है। भारतीय गणना के अनुसार लगभग वैशाख मास रहा होगा। कुछ लेखकों के मत में उसका जन्मकाल सम्भवतया एक दो वर्ष और भी पूर्व हट सकता है। महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुए अर्द्धशताब्दी से अधिक समय व्यतीत हो चुका था और अलक्ज़ैन्दर-सिकन्दर——(जिसने लगभग एक शताब्दी के उपरान्त भारत पर आक्रमण किया) का जन्म होने में ७० वर्ष से अधिक की देरी थी। पैरीक्लीस् की मृत्यु लगभग एक वर्ष पूर्व हो चुकी थी। उसने अथेन्स के राजनीतिक महत्त्व को बढ़ाने का स्तुत्य उद्योग किया पर वह असफल रहा। प्लातोन ने अपनी रचनाओं, दार्शनिक विचारों, एवं अकादीमी नामक विद्यालय की स्थापना के द्वारा अथेन्स को भूमण्डल में सर्वदा के लिये अमर कर दिया।

जिस कुल में प्लातोन का जन्म हुआ वह अथेन्स में चिरकाल से विख्यात था। उसके पिता का नाम अरिस्तौन् और माता का नाम पैरिक्तियौने था। पितामह और मातामह का नाम क्रमशः अरिस्तौक्लीस् और ग्लौ-कौन् था। पितृकुल की वंशावली अथेन्स के प्रचीन राजाओं में होती हुई देवता पोसीदन् तक पहुँचती थी। मातृकुल विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से पितृकुल की अपेक्षा अधिक स्पष्टतया ख्याति प्राप्त किये था। इसका संबंध अत्ययन्त प्राचीन काल में महापुरुष सौलौन तक से था। इससे भी पूर्व इस कुल के एक द्रौपिदीस् नामक पुरुष ई० पू० ६४४ में अथेन्स के

आर्खन् (संस्कृत्-अर्हन) रहे थे। स्वयं पेरिक्तियौने का सगा भाई खर्मिदीस् और चचेरा भाई क्रितियास् प्लातोन् के समय की राजनीति में बहुत प्रसिद्ध रहा। इनके पूर्वज भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। प्लातोन के दो बड़े भाई थे अदैइमान्तस् और ग्लौकौन (जो कि रिपब्लिक के संवाद में प्रमुख भाग लेते हैं) तथा एक बहन थी पोतोने। कहते हैं कि हमारे चरित नायक का माता-पिता का दिया हुआ नाम अरिस्तौक्लीस् था जो कि उसके पितामह का भी नाम था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि माता-पिता की अपेक्षा उसके मल्लगुरु की वाणी में अधिक सिद्धि थी। उसके सुदृढ़ पीवरांस शरीर को लक्ष्य करके उसके मल्लगुरु ने उसको प्लातोन नाम दे डाला था। यह नाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि माता-पिता का दिया हुआ नाम विशेषज्ञों की चर्चा का विषय रह गया। प्लातोन शब्द का अर्थ है चौड़ा-चकला।

पिता का शरीरान्त प्लातोन के बाल्यकाल में ही हो गया था। उसकी विधवा माता ने कुछ समय उपरान्त अपने मामा पिरीलम्पीस् के साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार का विवाह अथेन्स के समाज में वैध समझा जाता था। पिरीलम्पीस् पैरिक्लीस की नीति का समर्थक था और उसके पूर्व विवाह से भी दीमस् नामक एक परम रूपवान पुत्र था। पेरिक्तियौने से भी उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम अन्तिफ़ौन् था। देलियम् के युद्ध में ई० पू० ४२४ में पिरीलम्पीस् आहत हुआ। इसके पश्चात् उसका कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है कि आघातों से उसकी मृत्यु हो गयी।

प्लातोन का बाल्यकाल एक ऐसे कुटुम्ब में व्यतीत हुआ जिसके सदस्य कई पीढ़ियों से अथेन्स की राजनीति में प्रमुख भाग लेते रहे थे। एक प्रकार से इस कुटुम्ब का व्यवसाय ही सार्वजनिक कार्यों का संचालन करना था। अतएव जीवन के आरंभ से ही उसकी शिक्षा-दीक्षा अवश्य ऐसे प्रकार की

हुई होगी कि जिससे वह भविष्य में अथेन्स के सार्वजनिक जीवन में उच्च पद ग्रहण कर सके। जब कि आगे चल कर प्रोढ़ावस्था में उसने दार्शनिक की चिन्तनपरायण चर्या को स्वीकार कर लिया तब भी उसका विश्वास यही रहा कि आदर्श दार्शनिक को भी अवसर मिलने पर, विचारमग्नता के आनन्द को त्याग कर मानव जाति की सेवा के लिये शासक की चर्या स्वीकार करनी चाहिये। अतएव प्रश्न यह है कि जब प्लातोन की शिक्षा-दीक्षा भी सार्वजनिक जीवन ग्रहण करने की योग्यता सम्पादन करने के लिये ही हुई थी, और उसका व्यक्तिगत झुकाव भी उसी ओर था तब वह शान्तिप्रिय दार्शनिक कैसे बन गया ?

कौटुम्बिक वातावरण से प्राप्त होने वाली शिक्षा के अतिरिक्त प्लातोन की शिक्षा और किस प्रकार से हुई इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। परम्परागत जीवनियों में इस विषय पर जो कुछ कहा गया है उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। अरस्तू ने कहा है कि सॉक्रातीस् के प्रभाव में आने के पूर्व प्लातोन ने क्रातीलस् से हेराक्लीतस् के दर्शन का अभ्यास किया था। बहुत संभव है कि यह कथन कोरा अनुमान मात्र हो। प्लातोन की शिक्षा और मानसिक विकास के संबंध में निर्भ्रान्त सत्य यह है कि उस पर सबसे प्रबल प्रभाव सॉक्रातीस् का पड़ा। कुछ लेखकों का विचार है कि वह १८ या २० वर्ष की अवस्था में सॉक्रातीस् के सम्पर्क में आया। स्वयं प्लातोन की रचनाओं से यह पता चलता है कि ई० पू० ४३१ में सॉक्रातीस ने उसके मामा खर्मिदीस् से घनिष्ट परिचय प्राप्त किया तथा उस समय भी क्रितियास् से उसका परिचय था। यह दोनों ही प्रतिष्ठित व्यक्ति प्लातोन के निकट संबंधी थे और इनके घर पर उसका आना-जाना होता ही रहता था। अतएव यह कहा जा सकता है कि जब से प्लातोन ने होश सँभाला तभी से वह सॉक्रातीस से परिचित था। साथ ही साथ वह कभी भी सॉक्रातीस् का चेला नहीं बना क्योंकि सॉक्रातीस् दीक्षापूर्वक किसी को

चेला नहीं बनाता था। जैसे-जैसे प्लातोन की समझ बढ़ती गयी वह सॉक्रातीस् के व्यक्तित्व और विचारों से अधिकाधिक प्रभावित होता गया। इधर ई० पू० ४०४-४०३ में अथेन्स का शासन-सूत्र उसके निकट संबंधियों (खर्मिदीस्, क्रितियास इत्यादि) के हाथ में आ गया और उन्होंने प्लातोन को भी उसकी आयु और प्रतिष्ठा के अनुरूप कोई उच्च पद स्वीकार करने के लिये निमंत्रित किया। (कुछ विद्वानों के मत में प्लातोन ने उस पद को स्वीकार भी कर लिया)। परन्तु जब उसने इस उच्चवंशीय शासक-मंडल के कार्यकलापों को देखा तो उसकी आखें खुल गयीं। उसकी अवैध हिंसावृत्ति के प्रदर्शन से प्लातोन को घोर विरक्ति हो गयी। इसके पश्चात् इसी शासक-वर्ग ने एक निरपराध नागरिक की सम्पत्ति हड़पने के लिये सॉक्रातीस् को भी साथी बनाना चाहा; तब तो प्लातोन की विरक्ति घृणा में बदल गयी।

शीघ्र ही इस शासक-मंडल को जनतंत्र के समर्थकों ने उखाड़ दिया। अब प्लातोन ने इन जनतंत्रवादी शासकों की शासनपद्धति का अध्ययन करना आरंभ कर दिया। पर इन्होंने तो अश्रद्धा के तुच्छ से आरोप के बहाने श्रेष्ठ मानव सॉक्रातीस् के प्राण ही ले लिये। यह सब कुछ देख कर यदि प्लातोन को अपने समय के राजनीतिक जीवन से घोर विरक्ति हो गयी हो तो कौन से आश्चर्य की बात है। उसने सोचा कि सफल सार्वजनिक जीवन के लिये किसी न किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित होना आवश्यक है, पर उसकी दृष्टि में कुलीनवर्ग और जनतंत्रवर्ग दोनों ही दोषों की दलदल में फँसे हुए थे। सॉक्रातीस् के प्राणान्त से उसकी नींद टूट गयी और उसने अपने नगर की राजनीति में क्रियात्मक भाग लेने का विचार सर्वदा के लिये त्याग दिया। यद्यपि यौवन के आरंभ में अपने अन्य पूर्वजों एवं कुटुम्बीजनों की भाँति राजनीति में भाग लेते हुए सामाजिक एवं वैधानिक सुधारक बनने की महत्त्वाकांक्षा उसके हृदय में थी; तथापि

परिस्थिति एवं उसकी न्याय-परायण आत्मा ने उस धाँधली के समय अपने को व्यर्थ की झंझटों से तटस्थ रहने के लिये विवश कर दिया। कुछ आलोचकों का विचार यह भी है कि वह क्रियात्मक जीवन के लिये स्वभावतः अक्षम था। पर यह सत्य नहीं है; क्योंकि भविष्य में जब कभी उसको अभीष्ट परिस्थिति का आभास तक मिला तभी वह कार्यक्षेत्र में कूद पड़ने के लिये प्रस्तुत हो गया। युवावस्था में प्लातोन को काव्य-रचना में भी कुछ रुचि थी। उसने कुछ काव्य-रचना की भी थी; सुप्रसिद्ध कवयित्री साफ़ों के प्रेम-प्रसंग पर उसने एक नाटक भी लिखा था। पर सॉक्रातीस् के प्रभाव से उसको काव्य-रचना से अरुचि हो गयी और उसने अपनी कविता नष्ट कर दी। ढलती अवस्था में तो उसको काव्य-रचना काव्य से इतनी घोर विरक्ति हो गयी कि उसने अपने आदर्श नगर से कवियों को वहिष्कृत कर दिया। तथापि उसकी कविता के कुछ अवशेष अब भी मिलते हैं। इसके लिये The Oxford Book of Greek verse में ४४२-४५० संख्यक कविताएँ देखनी चाहिये।

ई० पू० ३९९ में सॉक्रातीस् के मृत्युदण्ड के उपरान्त उसके मित्रों के लिये संकटकाल आ उपस्थित हुआ। स्वयं प्लातोन ने मैगरा नगर में यूल्केद के घर पर कुछ अन्य मित्रों के सहित शरण ली। युक्लेद भी सॉक्रातीस् के मित्रों में से था पर पार्मेनिदीस् के सिद्धान्तों को मानता था। एक जनश्रुति के अनुसार प्लातोन ने कुछ समय तक तो मैगरा में प्रवास किया, इसके पश्चात् सुदीर्घकाल तक वह ईजिप्त, कौरीनी, इटली और सिसिली इत्यादि देशों में भ्रमण करता रहा। कहते तो यहाँ तक हैं कि इसी सिलसिले में उसने भारतवर्ष तक की यात्रा की। इस जनश्रुति के अनुसार वह २८ वर्ष की अवस्था से लेकर ४० वर्ष की अवस्था तक—१२ वर्ष तक—देशदेशान्तरों में घूमते हुए मत-मतान्तरों का अध्ययन करता रहा और परिपक्व ज्ञान का सम्पादन करके ४० वर्ष की अवस्था में अथेन्स लौटा।

पर आलोचकों को इस जनश्रुति की सत्यता पर विश्वास नहीं है। अधिक संभावना इस बात की है कि सॉक्रातीस् की मृत्यु के उपरान्त संकटकाल को टालने के लिये वह मेगरा तो अवश्य गया था पर जब थोड़े समय उपरान्त अथेन्स का वातावरण अनुकूल हो गया तो वह घर लौट आया और सावधानी से नगर की राजनीतिक दशा का अवलोकन करता रहा। लगभग ४० वर्ष की अवस्था में उसने सिसिली और इटाली की यात्रा की। इस यात्रा में वह पहले तो ईजिप्त गया इसके पश्चात् कोरीनी जहाँ कि उसने थियोदोरॉस् नामक गणितवेत्ता से भेंट की। तत्पश्चात् वह पिथागोरॉस के सिद्धान्तों के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करने और दार्शनिकों का शासनकार्य देखन के लिये इटाली और सिसिली भी गया। तरास् नामक स्थान पर उस समय अर्खितास् नामक दार्शनिक का शासन था। सिसिली द्वीप के सिराकूज नामक नगर में उसकी वहाँ के राजा दियौनीसियस् (प्रथम) के जामाता दियौन् से भेंट हुई। यह अत्यन्त संस्कारवान् युवक था और इसने प्लातोन् का परिचय राजा से करा दिया और प्लातोन् ने दियौनीसियस् को दार्शनिक शासक बनाने का कार्य आरंभ कर दिया। परन्तु प्लातोन के राजनीतिक सिद्धान्तों और राजदरबार के व्यसनपूर्ण जीवन के विरोध करने के कारण उसका वहाँ ठहरना लोगों को अखरने लगा। राजा ने अप्रसन्न होकर उसको दास रूप में बेंच डालने के लिये स्पार्टा के राजदूत पोलिस् को सौंप दिया। पोलिस उसको इगिना ले गया, वहाँ के दास-बाजार में अनीकैरिस् नामक सज्जन ने धन देकर प्लातोन को स्वतंत्र कर दिया और अथेन्स भिजवा दिया। अथेन्स में उसके भक्तों ने अनीकैरिस् का धन लौटाना चाहा परन्तु उसने धन की अपेक्षा यश को वरण किया। प्लातोन के मित्रों ने इस इकट्ठे किये धन से उसके लिये अकादीमस् की वाटिका मोल ले ली और इसी वाटिका में अकादीमी के नाम से यूरोप का सर्वप्रथम विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। अनेकों आलो-

चकों के मत में प्लातोन के बेचे जाने की कथा निराधार है। पर इतना अवश्य सत्य है कि सिसिली की यात्रा से लौटने के पश्चात् लगभग ४० वर्ष की अवस्था में उसने अकादीमी की स्थापना की थी।

इस शिक्षण संस्था की स्थापना प्लातोन के जीवन और यूरोप के मानसिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। सिसिली और सिराकूज़ की यात्रा में प्लातोन ने जो कुछ देखा तथा उससे पूर्व उसने अथेन्स में जो कुछ अनुभव किया उससे उसकी दृढ़ धारणा वन गयी कि मानव जाति के कल्याण एवं आदर्श-शासन के लिये यह आवश्यक है कि या तो राजा अथवा शासक लोग विचारक और दार्शनिक हों अथवा शासनसूत्र दार्शनिकों के हाथों में आ जाये। अकादीमी की स्थापना का एक उद्देश्य यह भी था कि वह शासन-कला में निपुण दार्शनिक प्रस्तुत। कर सके उसकी सम्मति में यह उद्देश्य शिक्षा का एक महान् उद्देश्य था। यदि हमारे आधुनिक विश्वविद्यालय इसको दृष्टि में रक्खें तो अच्छा हो।

जिस स्थान पर अकादीमी की स्थापना हुई वह पुरातन वीर पुरुष अकादीमस् का उपवन कहलाता था। यह अथेन्स नगर के बाहर उत्तर-पश्चिम की ओर ऐल्यूसिस को जाने वाली सड़क पर स्थापित था। यह बड़ा सुहावना स्थान था और यहाँ के वृक्ष जलस्रोतों से सिञ्चित होकर हरे-भरे बने रहते थे। इसके मध्यभाग में एक मल्लशाला (गिम्नासियुम्) भी थी। यह प्रथम विश्वविद्यालय यूरोप के लिये आदर्श शिक्षण संस्था हो गयी। प्लातोन के जीवनकाल में इस संस्था का वातावरण आदर्शवाद और धार्मिक भावना से व्याप्त रहा। यह ज्ञानपिपासुओं के सम्मिलन का स्थान थी और प्लातोन इसका प्रधान था। अरस्तू के साक्ष्य से पता चलता है कि प्लातोन मौखिक व्याख्यान द्वारा भी उपदेश किया करता था एवं उसके मौखिक व्याख्यान उसकी रचनाओं से कुछ भिन्न थे। पर इन व्याख्यानों के विषय कुछ निश्चित पता नहीं चलता। अकादीमी की

शिक्षा की विशेषता यह थी कि यहाँ की शिक्षाविधि में गणित एवं विज्ञान को प्रमुखता दी जाती थी। इसॉक्रातीस् नामक एक और विद्वान् ने भी (जो कि प्लातोन का समकालीन और मित्र था) अकादीमी की स्थापना से कुछ समय पूर्व एक विद्यालय की स्थापना की थी। सॉक्रातीस एक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् था और स्वयं सॉक्रातीस ने उसकी प्रशंसा की थी। उसके विद्यालय की विशेषता यह थी कि उसमें लेखन और भाषण-कला के विषय की ही शिक्षा दी जाती थी। परिमार्जित शैली के संबंध में उसने अनेक नियम निर्धारित किये थे। स्वयं प्लातोन की अन्तिम रचनाओं में इसॉक्रातीस् के शैली संबंधी सिद्धान्तों का प्रभाव लक्षित होता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नवीन तथ्यों और नियमों की खोज करना इस विद्यालय की शिक्षा प्रणाली का अंग नहीं था। पूर्वकालीन विद्वानों द्वारा आविष्कृत तथ्यों एवं सूक्तियों का अध्ययन करके प्रबन्ध-पटुता प्राप्त कर लेना ही इसॉक्रातीस् की शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य था।

इसके विपरीत प्लातोन की अकादीमी का उद्देश्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नवीन शोध करना था। अकादीमी के विद्यार्थी एक विद्वान् मनीषी की अध्यक्षता में नवीन तथ्यों के आविष्कार में निरत रहते थे। वह पूर्वाचार्यों की रचनाओं की उपेक्षा नहीं करते थे पर पिष्टपेषण मात्र से भी सन्तुष्ट रहने वाले नहीं थे। स्वयं प्लातोन ने गणित एवं विज्ञान के क्षेत्र में अधिक शोध और आविष्कार नहीं किये। पर शनैः-शनैः अकादीमी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के मिलन का केन्द्र हो गयी। इसकी बढ़ती हुई ख्याति से प्रभावित होकर क्नीदस्-निवासी यूदौक्षस्, जो उस समय का श्रेष्ठ गणितज्ञ था, अपने सब शिष्यों सहित अथेन्स में आकर बस गया।

प्लातोन् और इसॉक्रातीस् के विद्यालयों के प्रभाव से अथेन्स नगर विद्या के क्षेत्र में अग्रणी बन गया। इन लोगों के बाल्यकाल में विदेशी शिक्षक अथेंस में बालकों को पढ़ाने के लिये नियुक्त किये जाते थे। अकादीमी

की संघटना के पश्चात् यूरोप और उत्तर आफ्रीका के सभ्य देशों के विद्यार्थी युवक शिक्षा प्राप्ति के लिये अथेन्स की यात्रा करने लगे। पैरिक्लीस् इत्यादि राजनीतिक नेताओं ने अथेन्स को यूनानी साम्राज्य का केन्द्र बनाना चाहा था। उनके प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप जो युद्ध आरंभ हुए उनसे अथेन्स का राजनीतिक महत्त्व मिट्टी में मिल गया। पर प्लातोन ने जो शिक्षा संबंधी नेतृत्व अथेन्स को प्रदान किया वह लगभग ९०० वर्ष तक बना रहा। यह अकादीमी ई० पू० ८६ तक तो उसी स्थान पर स्थित रही जहाँ पर प्लातोन ने उसकी स्थापना की थी। पर जब ई० पू० ८६ में सुल्ला नामक रोमन् विजेता ने अथेन्स पर आक्रमण किया तो अकादीमी नगर के भीतर आ गयी। कहते हैं सुल्ला ने सारे हरेभरे वृक्ष कटवा डाले। ई० सन् ५२९ में सम्राट् जस्टिनियन् ने अकादीमी को मिलने वाली सहायता बन्द कर दी। तदनन्तर यूरोप का यह प्रथम विश्वविद्यालय बन्द हो गया।

अकादीमी की स्थापना से यूरोप में विद्वज्जनों के सहयोग की परम्परा प्रारंभ हुई। यह सहयोग की भावना समधिक मात्रा में तब से अब तक बनी रही है। प्रथम विश्वविद्यालय का अन्त हो गया पर विश्वविद्यालय की आत्मा यूरोप की भूमि में मध्ययुग में पुनः अवतीर्ण हुई और आधुनिक विश्वविद्यालयों की नींव पड़ी। स्वयं प्लातोन की अकादीमी ने गणित एवं विधान रचना की उन्नति की दिशा में विशेष कार्य किया। अनेकों ग्रीक राज्यों ने समय-समय पर अकादीमी से अपने लिये विधान निर्माण करने की प्रार्थना की एवं अपने यहाँ की शासन-व्यवस्था का सुधार करने के लिये यहाँ के विशेषज्ञों को निमंत्रित किया।

अकादीमी की स्थापना के समय प्लातोन की अवस्था लगभग ४० वर्ष की थी। यह तो ठीक पता नहीं चलता कि उसने ग्रंथ-रचना कब आरंभ की पर इतना निश्चय है कि विद्यालय की स्थापना के समय तक वह अनेकों 'वार्त्तालापों' की रचना कर चुका था। विद्यालय की स्थापना के लगभग

२० वर्ष पश्चात् तक वह उसके संघटन और व्यवस्था के कार्य में इतना संलग्न रहा कि ग्रंथ-रचना का कार्य एक प्रकार से रुक-सा गया। जब अकादीमी का कार्य संतोषप्रद ढंग से चल पड़ा तो उसने ग्रंथ-रचना की ओर पुनः ध्यान दिया। इस बीस वर्ष के व्यवधान का प्रभाव उसकी पूर्वकालीन एवं उत्तरकालीन रचनाओं से स्पष्ट प्रकट हो जाता है। इन दोनों कालों की रचनाओं की शैली और विचार सरणी में पर्याप्त अन्तर है।

ई० पू० ३६७ में सिराकूज़ का शासक दियौनीसियस् प्रथम अपनी एक साहित्यिक विजय के उपलक्ष में बहुत अधिक मदिरा पी जाने से मर गया। उसके स्थान उसका पुत्र दियौनीसियस् द्वितीय शासक बना। उसकी शिक्षा के विषय में बहुत असावधानी बरती गयी थी। तथापि वह एक नेक युवक था और इस समय उसकी अवस्था लगभग ३० वर्ष की थी। उसके बहनोई दियौन ने अवसर पाकर उसको यह सम्मति दी कि वह प्लातोन को निमंत्रित करके उससे राजकार्य संबंधी शिक्षा ग्रहण करे; क्योंकि दियौन स्वयं प्लातोन के व्यक्तित्व एवं सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित हो चुका था। अतएव उसने सोचा कि यदि दियौनिसियस द्वितीय प्लातोन की शिक्षा के अनुसार शासन कार्य चलायेगा तो दार्शनिक-शासक की कल्पना वास्तविक रूप ग्रहण कर सकेगी। बस वह स्वयमेव प्लातोन को अथेन्स से लिवा लाने के लिये प्रस्तुत हो गया। प्लातोन को जब यह निमंत्रण मिला तो उसने अपनी सफलता के विषय में संशयालु होते हुए भी आदर्श और व्यवहार दोनों ही के अनुरोध से जाने का निश्चय किया। उसने सोचा कि यदि वह इस निमंत्रण को अस्वीकार करता है तो वह और उसका विद्यालय दोनों ही स्वप्नदृष्टा और अव्यवहारिक समझे जायेंगे। आलोचक यही कहेंगे कि प्लातोन की शासकों को दार्शनिक बनाने की योजना केवल काल्पनिक है क्योंकि जब एक शक्तिशाली शासक ने उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिये उसको आमंत्रित किया तो उसने निमंत्रण स्वीकार

नहीं किया। इसके अतिरिक्त एक बात और भी थी। प्लातोन ने यह भी सोचा कि यदि उसके सिसिली जाने से वहाँ सब ग्रीक बस्तियाँ सिराकूज़ की अध्यक्षता में परस्पर संबद्ध हो सकीं तो कार्थेज की वह शक्ति उनकी स्व-तंत्रता का अपहरण नहीं कर सकेगी जो कि उस समय उनकी स्वाधीनता को दबा रही थी। इस प्रकार ग्रीक जाति के हितों की रक्षा का भाव दृष्टि में रखते हुए वह सिराकूज़ के राजदरबार में पहुँचा।

प्रारंभ में तो शासक को दार्शनिक बनाने की प्रक्रिया सफलता पूर्वक चली। प्लातोन ने दियौनिसियस को भूमितिशास्त्र पढ़ाना आरंभ किया। वह भूमितिशास्त्र की शिक्षा को दार्शनिकों के लिये परमावश्यक समझता था। अकादीमी के द्वार पर एक वाक्य लिखा हुआ था "जो भूमिति-शास्त्र न जानते हों प्रवेश न करें।" यहाँ राजा की देखादेखी सारा दरबार भूमिति-विद्या का भक्त बन गया। उस समय में भूमिति की आकृतियाँ रेती में बनायी जाती थीं। आलोचकों ने परिहास में कहा है कि भूमिति-भक्ति का दरबार में ऐसा बवण्डर उठा कि सारा वातावरण धूलि-सघन हो उठा। पर दियौनिसियस् द्वितीय की प्रारम्भिक शिक्षा इतनी अव्यवस्थित रही थी कि उसमें स्थिर-चित्तता का नितान्त अभाव था। साथ ही साथ चाटु-कारों ने उसको उसके बहनोई दियौन् के विषय में भी सशंक बना दिया था। अतएव थोड़े ही दिनों में प्लातोन के प्रति राजा का रुख बदल गया। परिणामतः दियौन को निर्वासित होना पड़ा और प्लातोन को अथेन्स लौट आना पड़ा। तथापि गुरु और शिष्य दोनों में संबन्ध-विच्छेद अभी पूर्णतया नहीं हुआ। दियौनिसियस् बराबर पत्र-व्यवहार द्वारा प्लातोन से अपने अध्ययन के विषय में परामर्श करता रहा; इधर प्लातोन अध्ययन संबंधी सम्मति देने के साथ ही साथ दियौन और दियौनिसियस के मनमुटाव को दूर करने के लिये भी अनुरोधपूर्ण प्रयत्न करता रहा। पर उन दोनों के बीच की खाई पटने के स्थान पर अधिक चौड़ी होती गयी। बात यहाँ तक बिगड़ी

दियौनिसियस् ने अपने बहनोई की भूमिका संबंधी आय को जब्त कर लिया और उसकी पत्नी को अन्य व्यक्ति के साथ ब्याह दिया। तथापि प्लातोन ने ई० पू० ३६१ में तीसरी और अन्तिम बार सिराकूज़ की यात्रा की और इस बैर-भाव को मिटाना चाहा। इस बार पश्चिमीय यूनानी नगरों के प्रस्तावित संघ के विधान-निर्माण का कार्य आरंभ किया गया। पर पुरानी नीति के पक्षपातियों ने प्लातोन की कुछ भी न चलने दी। धीरे-धीरे उसकी स्थिति एक सम्भ्रान्त बन्दी की जैसी हो गयी। एक बार तो उसके प्राणों तक का संकट आ उपस्थित हुआ। परन्तु तरैन्तम् के शासक अर्खीतास् के बीच में पड़ने पर जैसे-तैसे उसको ई० पू० ३६० में अथेन्स आने की अनुमति प्राप्त हुई।

इसके पश्चात् उसने सिराकूज़ की राजनीति में कोई भाग नहीं लिया। दियौन् और दियौनिसियस् का द्वन्द्व तो चलता ही रहा। प्लातोन की मध्यस्थता असफल हो जाने के उपरान्त दियौन ने बलप्रयोग द्वारा अपना अधिकार हस्तगत करने का प्रयत्न किया। विदेश में रहते हुए उसने सैन्य संचय किया और इस कार्य में अकादीमी के सदस्यों ने भी उसकी सहायता की। इस सेना ने दियौनिसियस को परास्त करके भगा दिया। दियौन के शासक हो जाने पर प्लातोन ने उसको बधाई का पत्र लिखा पर साथ ही साथ उसको चेतावनी भी दी कि अब उसको धैर्य और शान्त-चित्तता से काम लेना चाहिये। वह समझता था कि यदि दियौन् ठीक प्रकार से शासन नहीं करेगा तो उसकी तथा अकादीमी दोनों की ही निन्दा होगी। दियौन् ने शासनकार्य में कठोरता से काम लिया और एक उच्च पदाधिकारी की हत्या हो जाने दी। सिराकूज़ के उपद्रव धीरे-धीरे बढ़ते ही गये और ई० पू० ३५७ में कलिप्पस् नामक एक व्यक्ति ने दियौन् के प्राण ले लिये। कहते हैं कि यह कलिप्पस प्लातोन की अकादीमी का विद्यार्थी था; यद्यपि प्लातोन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है। दियौन् की मत्य

के उपरान्त प्लातोन ने उसके बचे-खुचे साथियों को दो पत्र लिखे जिनमें उसने दियौन् की नीति का समर्थन करते हुए उनको उसी की नीति का अनुसरण करने को कहा है। इसके साथ ही साथ उसने सिसिली के विभिन्न ग्रीक राज्यों को परस्पर मेल करने का आदेश किया था परन्तु उसकी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। प्रौ० बर्नट् ने बतलाया है कि यद्यपि सिराकूज़ और सिसिली में प्लातोन् की सम्मति को सब ने ठुकराया पर प्लातोन् के शेष जीवन के विषय में निश्चित जानकारी बहुत कम मिलती है। वह अपने सहाध्यायियों को पढ़ाता तो रहा ही होगा। अरस्तू ई० पू०-३६७ में,प्लातोन की वृद्धावस्था में अकादीमी में प्रविष्ट हुआ था; उसका कहना है कि प्लातोन अकादीमी के विद्यार्थियों को मौखिक उपदेश दिया करता था। सिराकूज़ से अन्तिम बार लौट आने पर उसने ग्रंथ रचना के कार्य को भी पुनः आरंभ कर दिया। इस कार्य को स्थगित किये बहुत समय बीत चुका था। अतएव प्लातोन ने इस समय जिन ग्रंथों की रचना की उनकी शैली उसके यौवनकाल की रचनाओं से बिलकुल भिन्न है। उसके जीवन के कई अन्तिम वर्ष 'नियम' (Laws, लैटिन Legib·u) नामक ग्रंथ के प्रस्तुत करने में व्यतीत हुए। यह उसकी सबसे बड़ी रचना है। वह इसकी रचना तो सम्भवतया समाप्त कर चुका था पर भाषा का परिमार्जन एवं संशोधन नहीं कर पाया था कि उसकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। कहते हैं कि अकादीमी के एक विद्यार्थी ने उसको अपने विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये निमंत्रित किया था। बहुत रात तक विवाह की धूमधाम मची रही। रात्रि अधिक हो जाने पर वृद्ध दार्शनिक घर के एक शान्त कोने में थोड़ा विश्राम करने के लिये कुर्सी पर लेट गया। प्रभात काल में जब लोग उसे जगाने आये तो उन्हें पता चला कि वह तो स्वल्पविश्राम के बहाने अनन्तविश्राम की गोद में पहुँच चुका है। समस्त अथेन्स निवासियों ने उसके अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होकर उसको

अपनी श्रद्धाञ्ज़लियाँ अर्पित कीं। उसकी समाधि अकादीमी के कुञ्ज के समीप थी। मृत्यु के समय (ई० पू० ३४७ में) उसकी आयु ८० वर्ष से ऊपर थी।

शारीरिक स्वास्थ्य और आकृति की सुन्दरता में प्लातोन की आकर्षता सर्वमान्य है। प्राचीन लेखकों ने उसके आकृति-लावण्य और निर्मल बुद्धि के कारण उसको सूर्यदेव का पुत्र कहा है। उसके मल्लगुरु ने उसके स्वास्थ्य के कारण उसको प्लातोन् (पीवरांस) नाम दिया था। उसकी कार्य-क्षमता, कष्ट-सहिष्णुता और दीर्घायु भी उसके सुदृढ़ स्वास्थ्य के द्योतक है।

प्लातोन के चरित्र के विषय में प्राचीन-काल से ही मतभेद चला आता है। अनेकों लेखकों और नाटककारों ने उसके आचरण पर छींटे फेंके हैं। यह सब आरोप दो प्रकार के हैं—कुछ आरोपों का विषय उसका व्यक्तिगत जीवन और शेष का लक्ष्य उसके दार्शनिक विचार हैं। वास्तव में जिन महापुरुषों को महत्ता प्राप्त होती है वह अपनी महत्ता के अनुरूप ईर्ष्या के भी पात्र हो जाते हैं। भरत का वाक्य "महिमामृगी कौन सुकृती की खलवचविसिखिनि बाँची" लब्ध-प्रतिष्ठ महापुरुषों के विषय में अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। प्लातोन के व्यक्तिगत एवं राजनीतिक जीवन के विषय में जो दोषारोपण किये जाते हैं, वे यदि सत्य हों तो अवश्य ही उसका जीवन गर्हणीय माना जाना चाहिये। आत्मश्लाघा, गुरुद्रोह, विश्वास-घात, ग्रंथापहरण, अप्राकृतिकप्रेम, लोलुपता, चाटुकारिता, इत्यादि अनेकों लाञ्छन उसके चरित्र पर लगाये गये हैं। इसके विपरीत जब हम उसकी रचनाओं का अध्ययन करते हैं तो उसकी शैली एवं विचारों का साक्ष्य उसके चरित्र की उज्ज्वलता और उदारता को घोषित करता है। त्सैलर (Zeller) नामक सुविख्यात जर्मन विद्वान का कहना है कि प्लातोन के चरित्र पर जो आरोप लगाये गये हैं उनकी समीक्षा करने पर कुछ तो नितान्त निराधार सिद्ध होते हैं और कुछ के लिये जो साक्ष्य उपस्थित किये

गये हैं वह इतने निर्बल है कि उनके कारण उसके प्रति हमारी श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी नहीं आनी चाहिये।

उसके चरित्र की विवेचना करते समय हमको यह स्मरण रखना होगा कि वह अथेन्स के एक सम्पन्न, संस्कृत एवं सम्भ्रान्त कुल में उत्पन्न हुआ था। उसके जन्म के समय अथेन्स की दशा परम अशान्तिमय थी। उसके निकट संबंधियों ने उस समय की राजनीति में आकण्ठ निमग्न रह कर अपना जीवन व्यतीत किया था। उनकी कीर्ति अथवा अपयश की छाया उस पर पड़ना स्वाभाविक ही था। बहुत सम्भव था कि यदि उस पर सॉक्रातीस् का प्रभाव न पड़ा होता तो वह भी क्रितियास् और खर्मि-दीस् की भाँति दूषित राजनीति के दलदल में फंस गया होता। क्योंकि उसने ऐसा नहीं किया अतएव कुछ लोगों का कहना है कि वह स्वभाव से ही अकर्मण्य था। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। वह अत्यन्त निर्मल-दृष्टि और दूर तक सोचने वाला था। यदि वह अथेन्स की राजनीति में भाग लेता तो बहुत सम्भव यह था कि उसको असमय और अकारण ही अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ते। जब कभी उसको ऐसा सूझ पड़ा कि उसके किये कुछ हो सकता है तो उसने घोर व्यक्तिगत कष्टों की अवहेलना करके यथाशक्ति स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। उसके समग्र जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि वह सक्रिय आदर्शवादी था।

कुछ आलोचकों ने उसके चरित्र पर यह आक्षेप भी किया है कि यद्यपि वह आजीवन अपनी रचनाओं में सॉक्रातीस् के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का स्वाँग भरता रहा पर उसके अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने गुरु के सदृश् सरलता और तपस्या का अभाव था। प्लातोन का जन्म एक समृद्ध एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न परिवार में हुआ था और सॉक्रातीस् एक परम साधारण स्थिति का मनुष्य था। दोनों के जीवन की परिस्थितियों में बहुत अन्तर

था । सॉक्रातीस् के व्यक्तिगत जीवन की कठोरता प्लातोन में ढूँढ़ना व्यर्थ है । सत्यान्वेषण की लगन दोनों में समान है । पर हमको यह नहीं भूल जाना चाहिये कि विज्ञान के परम उपासक होने के साथ ही साथ प्लातोन ने एक कवि-हृदय भी पाया था । विज्ञान एवं कवित्व के समन्वय की दृष्टि से हम चाहें तो एक हद तक उसकी तुलना गेटे से कर सकते हैं । अन्तर इतना ही है कि प्लातोन का स्वभाव दर्शन और विज्ञान की ओर अधिक झुकता हुआ था और गेटे का साहजिक झुकाव कवित्व की ओर अधिक था । दार्शनिक सूक्ष्मेक्षा एवं कवित्व शक्ति के संयोग की दृष्टि से प्लातोन और आचार्य शंकर की समानता आश्चर्यजनक है । आचार्य की पद्यबद्ध रचनाओं एवं काव्यमय स्तोत्रों से काव्य-रसिक सैकड़ों वर्षों से मुग्ध होते चले आये हैं। प्लातोन की भी थोड़ी पद्यबद्ध रचनाएं उपलब्ध हैं उसके पूर्वार्द्ध जीवन की रचनाएँ भी परम कवित्वमय हैं । कवि-हृदय होने के कारण प्लातोन कला-प्रिय भी था । उसके स्वभाव में निरर्थक शुष्कता की अपेक्षा सरसता अधिक थी ।

उसके ग्रंथों के पढ़ने से एक ओर तो वह ऐसा समाजवादी प्रतीत होता है कि विवाह और सन्तान तक के क्षेत्र में पूर्ण सामाजिकता का पोषण करता है दूसरी ओर ऐसा भासता है कि वह जनतंत्रवाद का विरोधी है । पर सर अर्नैस्ट बार्कर और बर्नैट ने बतलाया है कि प्लातोन पर जनतंत्रवाद के विरोध का आरोप लगाये जाने का कारण उसका क्रितियास् का संबंधी होना है । स्वयं प्लातोन के परिवार की राजनीति क्रितियास् की नीति से भिन्न थी । जहाँ तक उसकी रचनाओं से पता चलता है वहाँ तक यह कहना ठीक नहीं कि वह जनतंत्रात्मक-शासन प्रणाली के शुद्ध एव उपयोगी रूप का विरोधी था । पर उसको यह भी ज्ञात था कि एक समय के जनतंत्रात्मक शासकों ने विश्व भर के श्रेष्ठ पुरुष को (सॉक्रातीस् को) हलाहल पिलाकर उसके प्राण ले लिये थे ।

अतएव वह जनतंत्रात्मक पद्धति की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से नहीं कर सकता था। तथापि उसकी अन्तिम रचनाओं में जनतंत्र शासन की भलाइयों का विवेचन मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह सौलॉन द्वारा प्रतिपादित जनतंत्रवाद का समर्थक और पैरिक्लीस् द्वारा प्रवर्त्तित जनतंत्र शासन का कटु आलोचक था एवं जिस जनतंत्र ने सॉक्रातीस् के प्राण लिये थे उससे घृणा करता था -- उससे तो स्वयं उसको अपने प्राणों तक की रक्षा के लिये पलायन करना पड़ा था। घर और बाहर के शासनकर्ताओं के घनिष्ट सम्पर्क से वह इस निर्णय पर पहुँचा कि जनशासन का कार्य सब कलाओं से श्रेष्ठ और सब कलाओं से कठिन है अतएव इसके लिये सुदीर्घकालीन तैयारी और शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। अतएव सुशासन की समस्या वास्तव में मानव शिक्षा की समस्या है। इसी का समाधान करने के लिये उसने आजीवन प्रयत्न किया।

प्लातोन के जीवन-काल में ही उसकी मान्यता बहुत होने लगी थी। उसका व्यक्तित्व और शिक्षा-प्रणाली दोनों ही आकर्षक थे। वह आजीवन अविवाहित रहा अतएव उसके कोई सन्तान नहीं थी। उसके पश्चात् अकादीमी का अध्यक्ष उसकी बहिन का पुत्र सचूसिप्पस हुआ। उसकी अकादीमी ने ८, ९ शताब्दियों तक उसके नाम को अमर बनाये रक्खा। उसका भी अन्त हो जाने पर उसके रचनाओं के कारण उसका नाम अमर हो रहा है। प्रत्येक युग के विद्वान् उसके विचारों और शैली से मुग्ध होते रहे हैं। अरस्तू उसका अत्यन्त तर्कनिष्ठ और वास्तविकतावादी शिष्य था और वह व्यर्थ के शब्दाडम्बर से बहुत दूर रहता था। उसने प्लातोन की प्रशंसा निम्नलिखित पंक्तियों में की है:--

"वह नर था, दुर्जन को करना जिसका नामोच्चार नहीं,
और प्रशंसा का भी जिसकी है उनको अधिकार नहीं।
वाचा और कर्मणा जिसने प्रथम व्यक्त यह किया विचार,

जो है साधु सुखी है सोई, और सभी निष्फल निःसार ॥
हाय नहीं कोई हम में है उसकी समता करने योग्य ॥

गिल्बर्ट मरे,(जो कि इस पीढ़ी के अंग्रेजों में ग्रीक भाषा के श्रेष्ट ज्ञाता हैं) के मत में प्लातोन त्रिकाल के गद्य लेखकों में श्रेष्ठ है । कान्स्तान्तिन् रिट्टर इस युग का श्रेष्ठ जर्मन प्लातोनी विद्वान है उसने अपने Kerugedauken der plantonischen Philosophie (प्लातोन के दर्शन का सार) नामक ग्रंथ के अन्त में लिखा है "मेरे लेखे वह (प्लातोन्) किसी दार्शनिक से दूसरे स्थान पर नहीं आता (अर्थात् दार्शनिक के रूप में उसका स्थान विश्व-भर में सर्वोपरि है); वह प्रथम श्रेणी का कलाविद् है; मनुष्य रूप में भगवान् की उस पर इतनी अनुकूलता थी जितनी दूसरे थोड़े ही व्यक्तियों को प्राप्त हुई होगी; वह सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा; वह उन आध्यात्मिक शक्तियों को मुक्त करने वाला है "जो कि अनेकों के लिये वरदान स्वरूप सिद्ध हुई हैं और सर्वदा वरदान बनी रहेंगी।" इसी प्रकार La Pensee Greeque के लेखक लियों रोबिन नामक फेंच दार्शनिक ने भी अपनी उपर्युक्त पुस्तक में प्लातोन् के संबंध एक बड़ा अध्याय लिखा है । उसके अन्त में उसने मानव जाति के सौभाग्य की सराहना की है कि प्लातोन् की रचनाएँ कराल काल के गाल में समाने से बच गयीं ।

इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर आज तक के चोटी के विद्वानों के प्रशंसात्मक वाक्यों से इस छोटे से निबंध का कलेवर बढ़ जाने का भय यदि न होता तो अन्य लेखकों की सम्मति भी प्रदर्शित की जाती । पर इस समय तो इतना ही बस समझना चाहिये । भारतवर्ष में प्लातोन् के नाम का अरबी रूपान्तर 'अफ़लातून' बहुत समय से प्रसिद्ध है और कुशाग्रबुद्धि व्यक्तियों के लिये प्रायः प्रयुक्त होता रहता है; यद्यपि उसके द्वारा द्योतित अर्थ में कुछ वाचालता के भाव का भी पुट रहता है ।

७—प्लातोन की रचनाएँ

यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य की भाँति ग्रीक साहित्य को भी अनेकों संकटों का सामना करना पड़ा, और अनगिनती ग्रंथों का पता अवशिष्ट साहित्य में उद्धृत अवतरणों और नामोल्लेखों से ही चलता है, तथापि प्लातोन् के ग्रंथों के प्रति भाग्य का विशेष अनुग्रह रहा है। अवशिष्ट ग्रीक साहित्य में उसके किसी ऐसे ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता जो उसके नाम से प्रचलित ग्रंथ संग्रहों में विद्यमान न हो। भाग्यदेवता को अन्धा मानने वाले यूनानियों को उसकी इस गुण-ग्राहिता पर आश्चर्य हो सकता है। प्लातोन् के ग्रंथों के द्विविध संग्रहों का पता प्राचीन रचनाओं से चलता है। तीसरी शताब्दी (ईसवी) के अन्त में बिज़ान्तियम् के अरिस्तौफ़नीस ने उसकी रचनाओं (के एक भाग) को पाँच तिकड़ियों (trilogies) में क्रमबद्ध किया था। इस को दो सौ वर्ष पश्चात् प्रासीलस ने प्लातोन की समग्र रचनाओं को नौ चौकड़ियों (tetralogies) में क्रमबद्ध रूप दिया और यही संग्रह आगे चल कर मान्य हुआ। प्रौ० बर्नैट का प्लातोन् की मूल रचनाओं का विख्यात संस्करण जो कि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के मुद्रणालय से प्रकाशित हुआ है इसी क्रम का अनुसरण करता है। जर्मनी में भी कई सम्पूर्ण संस्करण प्रकाशित हुए हैं। बैकर का संस्करण लैटिन भाषा के अनुवाद सहित है। स्टाल्बौम् के संस्करण में भूमिका और टिप्पणियाँ लैटिन में हैं तथा बेटर-औरैल-विंकिलमान् का संस्करण भी प्रसिद्ध है।

ब्रनैट् और बैकर के संस्करणों के अनुसार प्लातोन् के ग्रंथों की तालिका इस प्रकार है:—(१) यूथीफ़ौन (Euthyphron) (२) अपौलौगिया (Apologia) (३) क्रितौन् ((Criton) फएदौन (Phaedon) (५) क्रातीलस् (Cratylus) (६) थियातैतस् (Theatetus) (७) सौफ़िस्तीस (Sophistes) (८) पौलि-

टिकस् (Politicus) (९) पार्मेनिदीस (Parmenides) (१०) फिलैबस् (Philebus) (११) सिम्पौसियॉन् (Symposion (१२) फ़एद्रस् (Phaedrus१३) अल्किबियादीस प्रथम (Alcibiades I) (१४) अल्किबियादीस द्वितीय (Alcibiades II) (१५) हिप्पार्खस् (Hipparchus) (१६) अमातौरीस् (Amatores) (१७) थियागीस् (Theages) (१८) खर्मिदीस् (Charmides) (१९) लाखैस् (Laches) (२०) लीसिस् (Lysis) (२१) यूथैरीमस् (Euthedemus) (२२) प्रौतागोरास् (Protagoras) (२३) गौर्गियास् (Gorgias) (२४) मैनोन् (Menon) (२५) हिप्पियास् बड़ा (Hippias Major) (२६) हिप्पियास् छोटा (Hippias Minor) (२७) इयौन् (Ion) (२८) मैनैक्षैनस् (Menexenus) (२९) क्लितोफ़ौन् (Clitophon) (३०) पौलितैइया (Politeia) (३१) तिमएस (Timaeus) (३२) क्रितियास् (Critias) (३३) मिनौस् (Minos) (३४) नोमोइ (Nomoi) (३५) ऐपीनौमिस् (Epinomis) (३६) एपिस्तोलाए (Epistolae) (३७) परिभाषाएँ (Definitions) (३८) नक़ली ग्रंथ (Spuria).

इन ग्रंथों में से ३६ ग्रंथ थ्रासीलस् की ९ चौकड़ियों के अन्तर्गत आते हैं। शेष दो संख्याएँ किसी प्रकार प्लातोन् की रचनाओं में सम्मिलित हो गयी हैं। वास्तव में नकली ग्रंथों की संख्या ७ या इससे भी अधिक है। उनके नाम इस प्रकार हैं (१) तिमाएओ तो लोक्रौ (Timaio to Lokro) (२) अक्षियौखस् (Axiochus) (३) पैर दिकायौन् (Peri Dikaion) (४) पैरि अरैतीस् (Peri Aretes) (५) दीमौदौकस् (Demodokus) (६) सिसिफ़स (Sisyphus) (७) ऐरिक्षियास (Eryxias), इन ग्रंथों के अतिरिक्त प्रौ०

ने अपने प्लातोन् विषयक ग्रंथ में (जो कि अंग्रेजी में इस विषय की सर्वोत्तम रचना है) परिशिष्ट में और भी दो तीन नकली ग्रंथों, कविताओं और उत्तराधिकार-पत्र का वर्णन दिया है। कुछ कविताओं और उत्तराधिकार-पत्र को प्रौ० टेलर प्लातोन् की रचनाएँ मानने को तैयार हैं।

उपर्युक्त सूचियों में ग्रंथों के मूल ग्रीक नामों को ही स्वीकार किया गया है, लैटिन अथवा अंग्रेजी नामों को नहीं। पर क्योंकि कुछ ग्रंथों के लैटिन और अंग्रेजी नाम अधिक प्रसिद्ध हैं अतएव उनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। संख्या तीस की पुस्तक का लैटिन नाम 'रिपब्लिक' इतना प्रसिद्ध है कि साधारणतया पढ़े-लिखे लोग यही समझते हैं कि प्लातोन् ने अपनी पुस्तक को यही नाम दिया होगा, जब कि सत्य बात यह है कि रिपब्लिक अथवा रैस्-पब्लिका शब्द ग्रीक भाषा का शब्द ही नहीं है और प्लातोन ने अपनी पुस्तक का नाम पौलितेइया रक्खा था। हिन्दी में इस तथ्य का उल्लेख इसलिये लाभदायक प्रतीत होता है कि यदि हम चाहें तो हम इसको इसके सजातीय संस्कृत शब्द 'पौरत्य' अथवा 'पुरता' के भाई के रूप में पहचान सकते हैं। इसी प्रकार प्लातोन की अन्तिम रचना (जिसका उल्लेख (३४) संख्या पर हुआ है) का अंग्रेजी नाम Laws अधिक प्रचलित है, पर इसके भी मूल ग्रीक नाम 'नौमोइ' का उल्लेख इसलिये उचित प्रतीत होता है कि हम इससे अपने 'नियम' शब्द का संबंध जोड़ सकते हैं। शेष रचनाओं के नाम व्यक्तिपरक हैं अतएव संस्कृत शब्दों के साथ उनका साम्य दिखाने का कोई प्रयोजन नहीं है। यह सभी ग्रंथ वार्त्तालाप स्वरूप हैं और (३४) वें ग्रंथ को छोड़ कर शेष सब में प्रमुख पात्र सॉक्रातीस् है। सॉक्रातीसे के अतिरिक्त अन्य प्रमुख पात्र के नाम पर ही इन ग्रंथों का नामकरण हुआ है। एक-दो ग्रंथों के नाम ही इस नियम का अपवाद हैं।

यद्यपि थ्रासीलस् ने ३६ ग्रंथों का संग्रह प्लातोन के नाम से किया है

तथापि आधुनिक आलोचक इन सब को भी उसकी रचना नहीं मानते। नौ चौकड़ी रचनाओं में से वास्तव में प्लातोन की रचनाएँ कितनी हैं और उनका क्रम क्या है इस विषय को लेकर विद्वानों ने कितना परिश्रम और विचक्षता प्रदर्शित की है उसको देखते हुए चकित हो जाना पड़ता है; साथ ही साथ इससे यह भी सिद्ध होता है कि पाश्चात्य विद्वत्समाज उसकी रचनाओं को कितना महत्त्वपूर्ण समझता है। लुटॉसलास्की नामक विद्वान् ने तो उसकी रचनाओं की प्रामाणिकता और क्रम का परीक्षण करने के लिए स्टाइलोमेट्री नामक शैलीमापक पद्धति का ही प्रचलन कर दिया। प्राचीन भारतीय साहित्य के संबंध में भी अब इस पद्धति का उपयोग होने लगा है और भारतीय विद्वानों में डा० बैल्वल्कर ने इस दिशा में अच्छी प्रगति की है। इन विशेषज्ञों की सूक्ष्म समीक्षाओं का सविस्तार उल्लेख अनावश्यक समझते हुए हम उनके निर्णयों का ही संक्षेप देना आवश्यक समझते हैं। टेलर (इंगलैण्ड), रिटर (जर्मनी) और लियों रोबिन (फ्रांस) प्लातोन के दर्शन और उसकी रचनाओं के विषय में आधुनिकतम प्रकाण्ड विशेषज्ञ हैं। इनके मत में प्लातोन की निम्नलिखित रचनाएँ ही प्रमाणिक हैं; शेष रचनाएँ अज्ञात लेखकों की कृतियाँ हैं जो शैली की बाह्य-समानता के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से उसकी रचनाओं में भ्रमवश सम्मिलित हो गयी हैं। (१) अपौलौगिया (२) क्रितौन् (३) यूथीफ्रौन (४) प्रौतागौरास् (५) इयौन् (६) हिप्पियास् छोटा (७) हिप्पियास् बडा (८) लाखस् (९) लीसिस् (१०) खर्मिदीस् (११) गौर्गियास् (२१) मैनैक्षैनस् (१३) मैनौन् (१४) यूथीदीयस् (१५) क्रातीलस् (१६) सिम्पौसियौन् (१७) फएदौन् (१८) पौलिते-अर्थात् रिपब्लिक (१९) फएद्रौस् (२०) थियैतैतॉस (२१) पार्मेनि-दीस् (२२) सौफ़िस्तीस् (२३) पौलितिकॉस् (२४) क्रितियास् (अपूर्ण) (२५) तिमायस् (२६) फ़िलीवॉस् (२७) नौमौइ

अर्थात् लाज़् (२८) पत्रसंग्रह । इनके अतिरिक्त कुछ पद्य संग्रह और उत्तराधिकार-पत्र भी प्रामाणिक रचनाएँ हो सकती हैं। पिछली पीढ़ी के त्सैलर, विलामौवित्स्, गौम्पर्त्स इत्यादि विद्वान भी इस मत से बहुत कुछ सहमत हैं। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ अनुवादक जौवैट् ने प्रायः इन्हीं ग्रन्थों को प्रामाणिक मानकर इनका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था।

बर्नेट और बैकर के संग्रहों की तालिका से उपर्युक्त तालिका की तुलना करने पर पता चलता है कि लगभग १० या १५ ग्रंथ ऐसे हैं जो प्लातोन् के रचना संग्रहों में भ्रमवश सम्मिलित हो गये हैं। तो क्या इनके परित्याग से प्लातोन के महत्त्व में कुछ कमी नहीं आती ? नहीं, बिलकुल नहीं। इस विषय में जौवेट ने बतलाया है कि आधुनिक शोधों के निर्णय-स्वरूप प्लातोन की जिन रचनाओं को त्यागना पड़ा है वह उसकी समग्र रचनाओं का लगभग बीसवाँ भाग हैं। आकार एवं वर्णित विषय के महत्त्व की दृष्टि से परित्यक्त रचनाएँ ऐसी नहीं हैं कि उनके निकल जाने से प्लातोन की महत्ता में किसी प्रकार की कमी आ सके। सच तो यह है कि भ्रमवश ही क्यों न हो, प्लातोन् के नाम के महत्त्व से इन रचनाओं की भी रक्षा हो-गयी, नहीं तो ऐसे छोटे छोटे अनगिनती ग्रंथ असावधानी एवं काल की करालता के कारण विलुप्त हो गये।

प्लातोन के विचारों के विकास का अध्ययन करने के लिये उसकी रचनाओं के प्रकाशन का क्रम जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह प्रश्न अत्यन्त विवादग्रस्त है। इन रचनाओं का सुनिश्चित कालक्रम तो अज्ञात ही है। तथापि इसके जीवन की प्रमुख घटनाओं से संबंध रखने वाले रचना समूहों का स्थूल विभाजन किया जा सकता है। सॉक्रातीस् की मृत्य, अकादीमी की स्थापना, एवं सिराक्स की अन्तिम यात्रा यह उसके जीवन की प्रमुख घटनाएँ हैं। कहा जाता है कि लिखने का अभ्यास तो उसको सॉक्रातीस् की मृत्यु से पहले से ही था; सम्भवतया वह गद्य और

पद्य दोनों में ही लिखा करता था। तथापि इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसकी प्रतिभा का सम्यक् स्फुरण सॉक्रातीस् की मृत्यु के आस-पास से ही आरंभ होता है। अन्तिम रचना नौमौइ को छोड़ कर उसका कोई ग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें सॉक्रातीस् प्रमुख पात्र न हो। उपर्युक्त घटनाओं की दृष्टि में रख कर आलोचकों ने प्लातोन की रचनाओं की तीन गुच्छकों में विभाजित किया है। यह तीन गुच्छक इस प्रकार है (१) युवाकाल की रचनाएँ—इस विभाग में उसकी प्रामाणिक रचनाओं की तालिका में से प्रथम १०,११ रचनाएँ आती हैं। इनके अतिरिक्त पौलितेइया की प्रथम पुस्तक भी इसी काल की रचना है। इन रचनाओं के पश्चात् वह अकादीमी की स्थापना और व्यवस्था में इतना व्यस्त रहा कि लगभग २० वर्ष तक उसने कुछ नहीं लिखा। जब २० वर्ष के अजस्र परिश्रम से अकादीमी का कार्य सुचारु रूप से चल निकला तो उसने पुनः लेखनी उठाई। इस समय की रचनाएँ (२) प्रौढ़ अथवा परिपक्व काल की रचनाएँ कहलाती हैं। इस गुच्छक में लगभग २१,२२वीं संख्या तक की रचनाएँ आती हैं। सिराक्स की अन्तिम यात्रा एवं दियौन् और दिथौनिसियस् में मेल कराने के प्रयत्न पुनः उसके ग्रंथ-लेखन-कार्य में व्यवधान डाल देते हैं। इन झमेलों से यथाकथाञ्चित छुटकारा पाकर जब फिर उसने लेखनी उठायी तो वह वृद्ध हो चुका था। परन्तु ग्रंथ-रचना कार्य से वह मृत्यु-पर्यन्त विरत नहीं हुआ। इस समय की रचनाएँ वृद्धकाल की रचनाएँ कहलाती हैं। पत्रों को छोड़ कर प्रामाणिक रचनाओं में से शेष रचनाएँ इसी काल की हैं। पत्र संग्रह में १३ पत्र हैं जो एक समय अप्रमाणिक माने जाते थे पर अब प्रामाणिक माने जाते हैं। यह पत्र तो समय-समय पर लिखे गये होंगे। प्लातोन के जीवनचरित्र के संबंध में इन पत्रों का महत्त्व असाधारण है।

उपर्युक्त २८ प्रामाणिक ग्रंथ आकार में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं।

एक ओर तो रिपब्लिक और नौमौइ जैसे विशालकाय ग्रंथ हैं दूसरी ओर 'इयौन्' जैसे छोटे-छोटे वार्त्तालाप भी हैं। समग्र ग्रंथमाला के आकार का कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि बर्नैट का ऑक्सफोर्ड वाला संस्करण २६६२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। परन्तु इसमें अप्रामाणिक ग्रंथ भी सम्मिलित हैं। बैंजामिन् जौवेट ने केवल प्रामाणिक ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है और यह अनुवाद बड़े आकार के १६०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्लातोन के प्रामाणिक ग्रंथों का आकार तुलसीदास जी की रचनाओं के दुगने से कुछ अधिक होगा।

प्लातोन की गद्यशैली को आलोचक 'न भूता न भविष्यति' मानते हैं। पर यह अपूर्व गद्यशैली द्वितीय गुच्छक तक दिखलायी देती है। वृद्ध-काल की रचनाओं में शैली का आकर्षण शनैः-शनैः शिथिल पड़ने लगता है। अन्तिम ग्रंथ 'नौमौइ' में उसकी शैली सर्वथा आकर्षण-शून्य हो गयी है। उसके नाम से प्रचलित कुछ पद्य भी उसके योग्य कहे जा सकते हैं।

८—प्लातोन के विचारों का संक्षिप्त परिचय

प्लातोन के उपर्युक्त ग्रंथों में क्या है ? क्या वे केवल दार्शनिक विचारों से ठसाठस भरे हुए ग्रंथ हैं जिनको पढ़ने वालों को 'अकल अजीरन रोग' हो जाने का डर है ? क्या वे एक प्रकार के नाटक मात्र हैं जो अभिनय के लिये नहीं, पढ़ने के लिये लिखे गये थे ? क्या वे पुरातन-काल के जर्नलिज्म के उदाहरण मात्र हैं जिनमें पुराने अथेन्स के विषय में गप्पें भरी हुई हैं ? क्या वे सॉक्रातीस् के वार्त्तालापों का यथातथ्य विवरण हैं अथवा प्लातोन ने अपने विचारों को सॉक्रातीस् के माथे मढ़ने का प्रयत्न किया है ? यदि वे सॉक्रातीस् के ही विचारों का विवरण मात्र हैं तो प्लातोन की ख्याति का क्या कारण है ? क्या वास्तव में प्लातोन-वाद (Platonism) कोई सुव्यस्थित विचार संस्थान है (System) जो इन विविध रचनाओं में एक सूत्रता स्थापित करता है ? इत्यादि अनेकों रोचक किन्तु गम्भीर

प्रश्न इन ग्रंथों के विषय में हो सकते हैं। विद्वानों ने इन विषयों के विवेचन में बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे हैं। यहाँ तो प्लातोन के विचारों का केवल अत्यन्त संक्षिप्त सूत्ररूप विवरण मात्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्लातोन को आदर्शवादी दार्शनिक कहा जाता है और उसके दार्शनिक सिद्धान्त को "थियौरी आफ़ आइडियाज़" (Theory of Ideas) कहा जाता है। यह 'आइयिया' शब्द भली-भाँति समझ लेना चाहिये। यह एक अत्यन्त प्राचीन शब्द है और कालान्तर में विभिन्न भाषाओं में इसके अर्थ भिन्न होते गये हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्र से पता चलता है कि इस शब्द का संबंध वैदिक भाषा के 'विद्=जानना', 'विद्या=ज्ञान' इत्यादि शब्दों से है। प्लातोन ने इस शब्द का प्रयोग नानात्वमय परिदृश्यमान जगत् के विभिन्न परिवर्त्तनशील पदार्थों में रहने वाले बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय, एकरस तत्त्वों के लिये किया है। उदाहरणार्थ संसार में असंख्यों गौएँ पायी जाती हैं और भूत काल में भी थीं तथा भविष्य में भी होंगी। यह गौएँ अवस्था, रंग, स्वभाव, अवान्तर भेद इत्यादि में परस्पर भिन्न हैं और इनमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन होते रहते हैं प्रत्येक भाषा में इन गौओं की ओर संकेत करने के लिये पृथक् शब्द का व्यवहार होता है। परन्तु इतनी सब भिन्नताओं के होते हुए भी गौएँ त्रिकाल में गौएँ ही हैं। अतएव आदर्श गो-स्वरूप है जो सब प्रकार के भेदों और परिवर्त्तनों से परे और स्वतंत्र हैं। प्रत्यक्षानुभव में आने वाली गौएँ इस आदर्श गोस्वरूप की अधूरी अनुकृति (Copy) मात्र हैं। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ गाय भी इस आदर्शगोस्वरूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचने वाली अनुकृति मात्र है; उसके साथ एकाकार अभिन्न नहीं है। आपकी हमारी सब गायें इस आदर्शगोस्वरूप में अंशभाक् है (Partake in the idea), इसी लिये वे गायें हैं। यदि ऐसा न होता तो वे गौएँ न होकर कुछ और होतीं। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के आदर्शस्वरूप को भी समझना चाहिये। इन आइडि-

याज़ की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। इनका दूसरा नाम आर्केटाइप Archetype (मूल ग्रीक शब्द अर्खैतिपॉन् है) है जिसका अर्थ श्रेष्ठ-आकार होता है। प्लातोन् प्रत्येक पदार्थ-जाति के लिये एक पृथक् आदर्श स्वरूप मानता है। गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि के आदर्श स्वरूप पृथक्-पृथक् हैं। यह आदर्श स्वरूप अपनी स्वतंत्र दुनियाँ में रहते हैं; इस दुनिया को आदर्श-जगत् कहते हैं। हमारा क्षणभंगुर संसार इस नित्य आदर्श जगत् की अनुकृति, प्रतिलिपि अथवा छाया-मात्र है। आदर्श जगत् के आदर्श स्वरूपों में भी ऊँच-नीच का कोटि क्रम है। आदर्श जगत् का सर्वोच्च स्वरूप सत् का स्वरूप (the form or idea of good) है। प्लातोन् ने इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। यह परम सत् का स्वरूप सूर्य के समान है जो कि इन्द्रियग्राह्य जगत् में दृक्शक्ति और विकास दोनों का कारण है यद्यपि स्वयमेव वह इन दोनों में से एक भी नहीं है। सूर्य के समान ही यह परम सत् का स्वरूप ज्ञान और सत्ता का कारण है यद्यपि स्वयमेव अपने प्रकाश और शक्ति में वह इन दोनों से कहीं अधिक परे है। अन्य सब आदर्श स्वरूप इसी के प्रकाश से हैं। इस परम सत्-स्वरूप से युक्त आदर्श जगत् का स्वतंत्र अस्तित्व प्लातोन को मान्य है और इस आदर्श जगत् का चिन्तन ही दार्शनिक का लक्ष्य होना चाहिये।

कुछ आलोचकों का कहना है कि इस "थियौरी आफ़ आइडियाज़"—आदर्श स्वरूप के सिद्धान्त का संबंध सॉक्रातीस् से है तथा प्लातोन इसको अपने आरंभिक और मध्यकाल के ग्रंथों में तो मानता है पर अन्त में इसका परित्याग कर देता है। पर अधिकांश आलोचकों के मत में यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रवर्त्तक तो सॉक्रातीस् ही था तथापि प्लातोन् ने ही इसका अधिक विकसित रूप प्रस्तुत किया और किसी समय भी इसका परित्याग नहीं किया।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि परम

सत् का स्वरूप और ईश्वर दोनों एक और अभिन्न तत्त्व नहीं हैं। ईश्वर तो प्लातोन के मत में आत्मा (परम+आत्मा) है आदर्श स्वरूप अथवा आइडिया नहीं हैं; जब कि परम सत् का स्वरूप एक आइडिया है। परम सत् के स्वरूप की कोटि ईश्वर से भी ऊपर है।

वास्तविक जगत् अर्थात् इन्द्रियग्राह्य जगत् उपर्युक्त आदर्श जगत् की छाया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्द्रियग्राह्य जगत् छल है, माया है अथवा असत् है। यह इन्द्रियग्राह्य जगत् जिस मात्रा में आदर्श जगत् के समीप पहुँचता है, जिस मात्रा में उसका अंशभाक् है उतनी ही मात्रा में सत् है, इससे अधिक सत् नहीं है।

सत्य ज्ञान तो आदर्श जगत् का ही ज्ञान हो सकता है। इन्द्रियग्राह्य जगत् में जो ज्ञान इंद्रियों द्वारा प्राप्त होता है वह तो परिवर्त्तनशील होता है। इसको ज्ञान कहना ठीक नहीं, यह तो केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मात्र है। इस पर विचार और विमर्श करने से ज्ञान की उपलब्धि होती है। परन्तु जब तक विचार और विमर्श से स्वतंत्र ज्ञान की कोई अन्य कसौटी न हो तब तक विचार और विमर्श से उपलब्ध ज्ञान को भी निभ्रान्त ज्ञान किस प्रकार माना जा सकता है; क्योंकि विचार और विमर्श में भी दोष की संभावना बनी रहती है। प्लातोन् ने इस समस्या का समाधान अपने पुनःस्मरण के सिद्धान्त द्वारा किया है। वह मनुष्य की आत्मा को अमर मानता है और उसका कहना है कि मर्त्यलोक में जन्म लेने के पूर्व पहले मनुष्य की आत्मा आदर्शलोक में निवास करती थी। मर्त्यलोक में जन्मग्रहण करने के उपरान्त यहाँ के इन्द्रियग्राह्य पदार्थ हमको आदर्श जगत् के आदर्श स्वरूपों की धुंधली-सी स्मृति करा देते हैं। हमारा शरीर जो कि हमारी आत्मा के लिए मृण्मय कारागार के समान है हमको आदर्शलोक की विस्मृति करा देता है। इस विस्मृति के अन्धकार के मध्य में जब इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा आदर्श-जगत् के आदर्श स्वरूपों की क्षीण-सी स्मृतिरेखा जाग उठती

है तो फिर विचार, मनन, मीमांसा, विमर्श इत्यादि के द्वारा उसको उद्दीप्त करके हम स्पष्ट से स्पष्टतर बना लेते हैं। इस प्रकार ज्ञान-इन्द्रिय प्रत्यक्ष और विचार दोनों के सहयोग से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान की कसौटी आदर्श जगत् का ज्ञान है।

आदर्श जगत् की ओर जब तक मनुष्य की दृष्टि नहीं मुड़ती उस समय तक की दशा का वर्णन प्लातोन ने गुहाबद्ध बन्दियों की अन्योक्ति द्वारा किया है। इसको पाठक यथा स्थान पढ़ेंगे। संक्षेप में, वहाँ पर यह बतलाया गया है कि गुहाबद्ध बन्दियों की दृष्टि के लिये छाया जगत् से निकल कर एक दम परम सत् रूपी सूर्य का प्रत्यक्ष करना भी ठीक नहीं हो सकता—संभव भी नहीं है। इसलिये यद्यपि विचारवान् मनुष्य का ध्येय तो सत् के आदर्श स्वरूप का चिन्तन ही हो सकता है, तथापि इसके लिये उसको शनैः-शनैः अपनी दृष्टि को अभ्यस्त करना होगा। इस अभ्यास-क्रम का नाम प्लातोन ने दियालैक्तिकी (वाद, शास्त्रार्थ अथवा परी-क्षण) बतलाया है। किसी भी विषय में हमने जो धारणाएँ बना रक्खी हैं उनको परीक्षण की अग्नि में तपा कर शुद्ध ज्ञान के रूप में बदल देना चाहिये। ऐसा करने से मान्यताएँ मिट कर शुद्ध विश्वास के योग्य ज्ञान की उपलब्धि होगी तथा इस मीमांसापद्धति का अन्तिम परिणाम होगा सत् के आदर्श-स्वरूप की उपलब्धि। हमारी मान्यताओं और धारणाओं में जो कुछ सत्य है उसका मूल उद्गम यही सत् का आदर्श स्वरूप है। इस प्रकार यह दियालैक्तिकी बिचारक की ज्ञान-साधना का प्रधान उपकरण है। इस उपकरण का ठीक-ठीक प्रयोग करने के लिये साइंस का ज्ञान आवश्यक है। प्लातोन विज्ञान की उन्नति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील था। उसके विद्यालय में विज्ञान की वृद्धि और शिक्षा के लिये अत्यधिक समय दिया जाता था। तथापि बह विज्ञान को सत्य की उपलब्धि का साधन नहीं मानता। विचारक के लिये भी वह साइंस का जानना इसीलिये आवश्यक

मानता था क्योंकि विज्ञान की आधार-भूत मान्यताओं का परीक्षण करके सत्यज्ञान की ओर अग्रसर हुआ जा सकता था ।

प्लातोन के उपर्युक्त विचारों से उसके शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों का भी घनिष्ट संबंध है । शिक्षा के क्षेत्र में प्लातोन का स्थान प्राचीन काल के विचारकों में सर्वोपरि है । शिक्षा का कोई अंग ऐसा नहीं है जिसमें उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत न किये हों । छोटे बच्चों की शिक्षा से लेकर प्रौढ़ मनुष्यों तक की शिक्षा तक पर उसने विचार किया था । फिर शिक्षा में उसके विचार केवल विचारों की सीमा तक सीमित नहीं रहे; उसने अपने जीवन के परिपक्व अंश को सक्रिय शिक्षण के ही लिये अर्पित कर दिया । उसके मत में, आदर्श व्यक्तिगत जीवन, आदर्श समाज और आदर्श शासन इत्यादि सभी की नींव आदर्श शिक्षा पर स्थापित की जानी चाहिये । अतएव उसकी पौलितेइया अथवा रिपब्लिक एक साथ आदर्श राजनीतिक और आदर्श-शिक्षा-पद्धति दोनों का ही विवेचन करती है । प्रारंभ में बच्चों के शारीरिक स्वास्थ्य के लिये व्यायाम और आध्यात्मिक कल्याण के लिये संगीत की शिक्षा दी जानी चाहिये । परन्तु प्लातोन के समय में संगीत अथवा मूसीकी का अर्थ अधिक व्यापक था । पढ़ना, लिखना, गिनना, सितार बजाना इत्यादि बातों का संगीत में समावेश होता था । पढ़ने की पुस्तकों में पुराने कवियों के काव्य—विशेष कर होमर के काव्य—का विशेष स्थान था । प्लातोन ने इन काव्यों के पढ़ाने का विरोध किया । एक तो यह काव्य देवताओं के विषय में बहुत कुछ ऊटपटाँग बातें बतलाते हैं; दूसरे वे इन्द्रियग्राह्य जगत् की अनुकृति मात्र हैं और यह इन्द्रियग्राह्य-जगत आदर्श जगत् की अनुकृति हैं । इस प्रकार यह आदर्श जगत् की नकल की नक़ल होने के कारण भी त्याज्य हैं । फिर यह कवि लोग स्वयं काव्य-रचना की कोई बोधगम्य व्याख्या भी प्रस्तुत नहीं कर सकते । इन सब कारणों से काव्यों के स्थान पर आदर्श आचरण की शिक्षा देने वाले ग्रंथ पढ़ाये

जाने चाहिये । प्लातोन के आदर्श नगर में कवियों के रहने का निषेध है। इस प्रकार आरंभिक शिक्षा पूर्ण हो जाने के पश्चात् विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिये और सबके पश्चात् दियालेक्तिकी की शिक्षा । समय-समय पर इन विद्यार्थियों का कठोर परीक्षण होना चाहिये तथा योग्य विद्यार्थी ही अन्तिम श्रेणी में लिये जाने चाहिये । किसी भी राष्ट्र का भला तभी हो सकता है जब कि इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करके सत् के आदर्श स्वरूप को उपलब्ध करने वाला श्रेष्ठ विचारक उसका शासक बनाया जाय। प्लातोन् शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री और पुरुषों को बिलकुल समान सुविधाएँ देने का समर्थन करता है। उसके मत में राष्ट्र के रक्षक और शासक बनने का अधिकार भी स्त्री और पुरुषों को समान रूप से प्राप्त होना चाहिये ।

प्लातोन के शिक्षा विषयक विचारों को पढ़ ऐसा लग सकता है कि उसकी शिक्षा पद्धति में आचरण संबंधी शिक्षा की अवहेलना की गयी है तथा शारीरिक और बौद्धिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। सॉक्रातीस् और प्लातोन के मत में साधुता और ज्ञान दोनों अभिन्न है। उनके मत में जिस व्यक्ति को सत् के आदर्श-स्वरूप का ज्ञान नहीं है वह साधु जीवन व्यतीत नहीं कर सकता । साधु परम्परा अथवा नेक विश्वासों के आधार पर आश्रित साधु जीवन भी सर्वदा साधु रहेगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता । सच्ची साधुता और स्थायी साधु जीवन तो सत् के आदर्श स्वरूप की उपलब्धि पर ही निर्भर है। साधुता अथवा Virtue के लिये ग्रीक भाषा में अरैती शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि योगिराज अरविंद घोष (जो कि ग्रीक भाषा के प्रकाण्ड पंडित हैं) के मत में वैदिक अर्य, आर्य इत्यादि का सजा-तीय शब्द है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्लातोन की शिक्षा पद्धति का लक्ष्य श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ जीवन दोनों ही है। प्लातोन ने इसी संबंध में एक और बात का भी निरूपण किया है और वह है विविध प्रकार की

साधुताओं कीएकता। ग्रीक लोगों में साहस, संयम, बुद्धिमत्ता और न्याय यह चार प्रधान साधुता के प्रकार माने जाते थे, इनके अतिरिक्त और भी छोटे बड़े बहुत से सद्गुण साधुता कहलाते थे। प्लातोन ने साधुता के सब प्रकारों में एकता प्रतिपादन किया और इनका मूलोद्गम परम सत् के आदर्श स्वरूप का ज्ञान माना। अकादीमी में मनुष्य की परिभाषा थी "शरीर का उपयोग करने वाली आत्मा"। प्लातोन की शिक्षा पद्धति इसी आत्मा की वास्तविक उन्नति का साधन है। उसके पूर्व के विचारक साधुता को शिक्षा द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं मानते थे; परन्तु प्लातोन का कथन है साधुता को शिक्षा के द्वारा समझ-बूझ कर स्थायी प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

प्लातोन की समाजनीति और राजनीति का स्वरूप भी उसके दार्शनिक विचारों पर ही निर्भर है। वह व्यक्ति और राज्य में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव देखता है। राज्य, स्टेट अथवा पौलिस (सं. पुर) उसके मत में मानव व्यक्ति का ही विराट स्वरूप है। अतएव उसका कहना है कि वही राष्ट्र श्रेष्ठ और सुखी होगा जिसका कर्णधार पूर्ण ज्ञानी शासक होगा। समग्र समाज में नागरिक तीन वर्गों में विभक्त होंगे रक्षक, योद्धा और कलाविद् (पेशेवर लोग)। राष्ट्र-पुरुष के यह तीन अंग व्यक्ति के स्वभाव के तीन अंगों के अनुरूप हैं जो कि उसके मत में विवेक, उत्साह और काम हैं। प्रौ० उरविक ने अपनी पुस्तक में यह बतलाया है कि प्लातोन ने त्रैवर्गिक समाज का विचार भारतीय वर्ण-विभाग से प्रभावित होकर प्रतिपादित किया है। प्लातोन की शिक्षा-पद्धति में विशेष जोर रक्षकों और योद्धाओं के तैयार करने पर दिया गया है। इन लोगों की संख्या समाज में अपेक्षा कृत थोड़ी ही हो सकती है। प्लातोन ने इन लोगों के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति का निषेध किया है। स्त्री और पुरुष दोनों को ही समान रूप से रक्षक और योद्धा पद पर आरूढ़ होने का अधिकार है। इन लोगों को व्यक्तिगत परिवार

बनाने का भी अधिकार नहीं दिया गया है। इन लोगों का यौन-संबंध भी सुनिर्दिष्ट परिस्थितियों में ही हो सकता है। इनकी सन्तान राष्ट्र द्वारा पोषित की जानी चाहिये। प्लातोन ने देखा था कि आर्थिक और पारिवारिक संबंध शासकों के पतन का प्रमुख कारण हैं। अतएव उसने आदर्श-नगर के शासकों और रक्षकों के लिये यह दोनों प्रकार के प्रलोभन दूर कर देने की योजना की। स्पष्ट है कि उसका समाजवाद या साम्य-वाद बहुत कुछ सीमित था। सामान्य पेशेवर लोगों का शासन कार्य में कोई भाग नहीं था। डॉ० लेड्लर ने प्लातोन की आदर्श शासन-प्रणाली को उत्तम लोगों का साम्यवाद अथवा दार्शनिक साम्यवादियों का एकाधिपत्य कहा है। प्लातोन ने यह भी बतलाया है कि इस उच्च आदर्श के विकृत होने पर शासन प्रणाली, समाजव्यवस्था, और व्यक्तियों में कैसे-कैसे विकारों का प्रवेश होगा। इन सब विषयों का वर्णन रिपब्लिक में विस्तार के साथ मिलेगा। जीवन के अन्त की ओर प्लातोन ने 'नियम' नामक जो राजनीति की पुस्तक लिखी थी उसमें उसके विचार अत्यन्त कठोर हो गये थे।

आत्मा और परमात्मा के संबंध में प्लातोन के विचारों का थोड़ा बहुत विवरण यत्र-तत्र दे दिया गया है। वह आत्मा की अमरता में विश्वास रखता था। इस विश्वास के लिये एक युक्ति तो यह है कि द्वन्द्वों का पर्याय-क्रम अविनाशी है अतएव मृत्यु के पश्चात् जीवन और जीवन के पश्चात् मृत्यु का क्रम भी अविनाशी है दूसरी युक्ति यह है कि आत्मतत्त्व ही संसार में ऐसा तत्त्व है जो स्वतः गतिशील है। अन्य पदार्थों में स्वयंगति-शीलता नहीं है। अतएव आत्मा की सत्ता शरीर से पूर्व है और आत्मा अमर है। शरीर की कारा में आबद्ध होकर आत्मा की स्थिति एक बन्दी के समान हो जाती है। इस कारा से मुक्त होने का उपाय पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षदायक ज्ञान का संपादन करना है। परन्तु ज्ञान-संपादन की पद्धति में प्लातोन ने संसार से विरत हो जाने का नहीं बल्कि

संतुलित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया है।

ईश्वर के विषय में प्लातोन का विचार है कि ईश्वर श्रेष्ठ (परम ?) आत्मा है। वह विश्व की सुव्यवस्थित गति और योजना का कारण है। श्रेष्ठ आत्मा होने के कारण वह किसी बुराई का कारण नहीं हो सकता। आदर्श जगत के आदर्श-स्वरूपों को इन्द्रियग्राह्य जगत् में पुनरुत्पन्न करना उसी का काम है। इस विश्व की उत्पत्ति ईश्वर अभौतिक आदर्श-रूपों और भौतिक तत्त्वों से की है। विश्व के सभी पदार्थ इन्हीं दो के विविध संम्मिश्रणों से निर्मित हुए हैं। यद्यपि प्लातोन का ईश्वरवाद अनेकों प्रश्नों का समाधान नहीं करता तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने सबसे प्रथम दार्शनिक धर्मशास्त्र का शिलान्यास किया है।

दर्शनशास्त्र में अनेकों शाश्वत प्रश्न ऐसे हैं जिनका पूर्णतया संतोष-प्रद समाधान आज तक नहीं हो पाया है। प्लातोन ऐसे प्रश्नों का विवेचन अपनी परीक्षण पद्धति के अनुसार बहुत दूर तक युक्तियों द्वारा किया है परन्तु अन्त में उसने अनेकों स्थानों पर पौराणिक कथाओं का प्रयोग किया है। "अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केयोजयेत्" के अनुसार जहाँ तर्क की गति पंगु हो गयी है वहाँ उसने कल्पना की सहायता ली है। साहित्य की दृष्टि से तो इन कथाओं का महत्त्व असंदिग्ध है ही परन्तु नाटकीय प्रश्नोत्तरी पद्धति में विचारों की श्रृंखला में जिस स्थान पर इनका प्रयोग किया गया है वहाँ युक्ति रूप में भी वह एक संतोषजनक प्रभाव उत्पन्न करती है। इन दृष्टान्त स्वरूप कथाओं का महत्त्व दार्शनिक उपपत्ति का स्थान ग्रहण करने में नहीं है। प्लातोन का भाव कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ युक्तियाँ मौन हो जाती हैं वहाँ की स्थिति संभवतया ऐसी हो सकती है जैसी कि यह कथा सूचित करती है। इस प्रकार की कथाएँ उसकी कई एक रचनाओं में मिलती है। रिपब्लिक की अन्तिम कथा इस प्रकार की कथाओं में बहुत विख्यात है। इसको अपने यहाँ के

गरुड़ पुराण का स्थानीय मानना चाहिये ।

प्लातोन के विचारों का जो संक्षिप्त रूप ऊपर प्रस्तुत किया है वह कदापि भी संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता । विस्तारभय से भारतीय विचारों की समानता का उल्लेख भी नहीं किया जा सका है । यदि कभी आगे अवकाश मिला तो प्लातोन के समग्र साहित्य और दार्शनिक विचारों पर एक विशद ग्रंथ की रचना करने का विचार है । यहाँ तो यह संक्षेप में इसलिये प्रस्तुत किया गया है कि इसके सहारे रिपब्लिक के विचारों को समझने में सहायता मिले और प्लातोन के विषय में अधिक जानने की रुचि जाग्रत् हो ।

६—पौलितेइया अथवा रिपब्लिक

पौलितेइया अथवा रिपब्लिक की रचना कब हुई और प्लातोन की रचनाओं में इसका क्या स्थान है इतना बतला कर इस भूमिका को समाप्त कर दिया जायेगा । बिज़ान्तियम् के अरिस्तौफनीस् ने सबसे प्रथम प्लातोन की रचनाओं का पाँच तिकड़ियों में संग्रह किया था । उसकी प्रथम तिकड़ी में पौलितेइया, तिमाएस् और (अपूर्ण) क्रितियास् इन तीन वार्त्तालापों को सम्मिलित किया गया था । 'तिमाएस्' में 'पौलितेइया' के ही विषय को चालू रक्खा गया है और ऐसा भाव प्रकट किया गया है कि 'पौलितेइया' के दूसरे दिन ही 'तिमाएस्' नामक वार्त्तालाप घटित हुआ । इस दूसरे वार्त्तालाप के आरंभ में पिछले दिन के वार्त्तालाप का संक्षेप सार भी दिया हुआ है ।

इस वार्त्तालाप का स्थान तो स्वयं इसी के आरंभ में स्पष्टतया निर्दिष्ट कर दिया गया है । अथेन्स से पाँच मील दूर दक्षिण-पश्चिम में पिरेयस् नामक बन्दरगाह के निवासी धनी व्यापारी कैफालस् के घर पर, बेंदिस् अथवा अथीमा देवी के उत्सव की रात्रि को यह वार्त्तालाप हुआ था । परन्तु प्रोक्लस नामक प्राचीन विद्वान् पिरेयस् को नहीं बल्कि अथेन्स को ही

इस वार्त्तालाप का श्रेय देता है। उसके मत में बन्दरगाह का तुमुलनादमय वातावरण इस गम्भीर वार्त्तालाप के लिये उचित स्थान नहीं हो सकता। परन्तु क्या रणक्षेत्र गीता के उपदेश के लिये उचित ही स्थान था ? अतएव स्वयं वार्त्तालाप में निर्दिष्ट स्थान को ही स्वीकार करना चाहिये।

प्लातोन के वार्त्तालापों के काल-निर्धारण की समस्या दोहरी है। प्रथम तो यह निश्चित करना होता है कि कोई वार्त्तालाप किस समय हुआ और तत्पश्चात् यह निर्णय करना पड़ता है कि प्लातोन ने उसको ग्रंथ-बद्ध कब किया। बौएख नामक जर्मन विद्वान् ने इस वार्त्तालाप को ई० पू० ४११ में हुआ माना है परन्तु टेलर ने ई० पू० ४११ को इस वार्त्तालाप के लिये सबसे बुरा साल बतलाया है। उसके मत में ई० पू० ४२२ या ४२१ अधिक समीचीन समय प्रतीत होता है। प्रथम मत के अनुसार इस वार्त्तालाप के समय प्लातोन की अवस्था लगभग १५ या १६ वर्ष की रही होगी तथा दूसरे मत के अनुसार वह केवल ५ या ६ साल का बालक रहा होगा। यद्यपि इस विषय में निश्चयपूर्वक तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता तथापि प्रौ० टेलर की सम्मति अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है क्योंकि पौलितेइया में पिरेयस् एवं अथेन्स की राजनीतिक और सामाजिक दशा का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह इसी समय की ओर संकेत करता है।

इस वार्त्तालाप के प्लातोन द्वारा लिपिबद्ध किये जाने का समय निर्धारित करना और भी कठिन है। इतना निश्चित है कि यह वार्त्तालाप ग्रंथ-बद्ध उस समय हुआ जब कि प्लातोन की विचारपद्धति और लेख शैली दोनों ही परिपक्वता को प्राप्त कर चुकी थी। प्रौ० लियौं रोबिन् ने इस ग्रंथ की चर्चा प्लातोन् की परिपक्वावस्था के सिद्धान्तों की विवेचना के सिलसिले में की है तथा प्रौ० टेलर ने यह माना है कि इस ग्रंथ के गम्भीरतम दार्शनिक अंश की रचना ई० पू० ३८८-७ तक हो चुकी थी।

पौलितेइया का मुख्य विषय क्या है ? इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं कि इसमें प्लातोन के (१) आचरण, (२) शिक्षा, (३) समाज-शास्त्र और (४) राजनीति संबंधी-प्रौढ़ विचारों का समावेश उपलब्ध होता है। इस कारण तत्वज्ञान, आचारशास्त्र और राजनीति के विद्वान् इसको प्रमुखरूपेण अपने विषय का ही ग्रंथ मानते हैं। स्वयं प्लातोन ने इस ग्रंथ के दो नाम रक्खे हैं (१) पौलितेइया (२) (इ) दिकाएग्रस् पोलितिकॉस् अर्थात् (१) "पौरशास्त्र अथवा (२) राजनीतिक न्याय शास्त्र।" इन कारणों से यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि इस ग्रंथ का आधिकारिक विषय आचार शास्त्र है अथवा राजनीति।

परन्तु यह अड़चन बहुत कुछ आधुनिक विचार-पद्धति के कारण उत्पन्न हुई है; आधुनिक जीवन में आचारशास्त्र और राजनीति का वह विच्छेद बहुत कुछ पूर्णता को पहुँच चुका है जिसको मैकियावली ने आरंभ किया था। परन्तु प्लातोन के समय में यह विच्छेद घटित नहीं हुआ था। अतएव उसने आचारशास्त्र और राजनीति का एक साथ विवेचन किया है। आज विश्व की शान्ति और मानवीय संस्कृति की रक्षा के लिये चिन्तित विचारक इन दोनों चिन्तन धाराओं के एक दूसरे से विच्छिन्न हो जाने से दुःखी हैं और उनको इन दोनों के संगम में ही दुनियाँ की शान्ति का उपाय सूझ पड़ रहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर आज भी प्लातोन के विचारों का अध्ययन अन्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ग्रंथ के आरंभ में न्याय के स्वरूप की चर्चा छिड़ने पर प्राचीन कवि सिमौनीदीस और थ्रासीमाखस् की परिभाषाएँ परीक्षण में पूरी नहीं उतरतीं तब सॉक्रातीस् स्वयं न्याय के स्वरूप का निरूपण करता है जो कि प्रथम पुस्तक के अन्त तक चलता है। परन्तु द्वितीय पुस्तक के आरंभ में अदेइमान्तस् और ग्लौकौन् दोनों पुनः सॉक्रातीस् के मत पर आक्षेप करते हैं और यह जानना चाहते हैं कि मनुष्य की आत्मा में न्याय का स्वरूप

क्या है। विषय जटिल और सूक्ष्म होने के कारण सॉक्रातीस् इसको एक विशाल और व्यापक पृष्ठभूमि पर आरोपित करके समझना और समझाना उचित समझता है। इसलिये एक काल्पनिक नगर की स्थापना की जाती है। यदि नगर राज्य में न्याय का रूप समझ लिया गया तो व्यक्ति में भी उसको समझना आसान होगा। नगर राज्य व्यक्ति का बिस्तीर्ण रूप है अथवा "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।" इससे स्पष्ट है कि पौलितेइया का राजनीति संबंधी अंश आचार संबंधी तत्त्वों को ठीक-ठीक समझाने के लिये प्रस्तुत किया गया। प्लातोन ने मानव स्वभाव के तीन अंग माने हैं—विवेक, उत्साह और काम। सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से इस सिद्धान्त का समधिक साम्य स्पष्ट ही है। बड़े मानव अर्थात् राष्ट्र में इनके अनुरूप तीन वर्ग हैं, (१) शासक वर्ग, (२) योद्धा वर्ग और (३) सामान्य पेशे वाले लोगों का वर्ग। इन तीनों अंगों से संबंध रखने वाली आचरण की साधुताएँ क्रमशः (१) बुद्धिमत्ता, (२) सत् साहस और (१) संयम हैं। समग्र अवयवी आत्मा की आचरण संबंधी साधुता का नाम न्याय है जो कि उपर्युक्त तीनों साधु-ताओं में एकता और समन्वय स्थापित करती है तथा उन सब को, सम्मिलित होकर, सर्वोच्च साधुता अर्थात् पूर्णज्ञान के स्वरूप को प्राप्त करने के योग्य बनाती हैं। "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते।"

व्यक्ति जिस शिक्षा के द्वारा इस प्रकार आदर्श व्यक्ति बन सकता है उसका वर्णन भी आवश्यक हो जाता है तथा सर्वोच्च ज्ञान का स्वरूप समझने के लिये आदर्श स्वरूपों के सिद्धान्त का भी विवेचन करना पड़ता है। आदर्श ज्ञान अथवा सत् के आदर्श स्वरूप का वर्णन तो प्रायः नेति-नेति कह कर ही किया गया ह। भाषा में उसका वर्णन करने की अपनी अस-मर्थता का वर्णन सॉक्रातीस् स्पष्ट शब्दों में कर दिया है परन्तु उसको सूर्य के तुल्य सब ज्ञानों का अवभासक माना है। वही राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र हो सकता है जिसको इस प्रकार के आचरण और ज्ञानवाला शासक प्राप्त हो।

उसी राष्ट्र में अन्य मनुष्यों को भी इस प्रकार की उन्नति करने की सुविधाएँ उपलब्ध हो सकती हैं, अन्य राष्ट्रों में नहीं। जिन राष्ट्रों के शासक इस विशेषता से किसी मात्रा में हीन होते हैं उनकी नीति का तथा उनमें बसने वाले मनुष्यों के स्वभाव और दशा का वर्णन भी प्लातोन् ने विस्तार के साथ किया है।

अन्त में साधुतामय और न्यायपरायण जीवन के लाभों का वर्णन आत्मा की आमुष्मिक (पारलौकिक) स्थिति के द्वारा किया गया है। प्लातोन आत्मा को अमर मानता है, अतएव परलोक में भी उसका विश्वास है। इस पारलौकिक जीवन का वर्णन वह एक पौराणिक कथा के आधार पर करता है जो इस ग्रंथ के अन्त में दी गयी है। इस संक्षिप्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रंथ का मुख्य विषय आदर्श मानव आचरण है। प्लातोन के मत में उसकी प्राप्ति मानव समाज में रह कर हो सकती है। अतएव समाजनीति और राजनीति का विवरण भी इस ग्रंथ में स्वाभाविकतया आ गया है।

यद्यपि प्लातोन का आदर्श नगर कल्पना से उतर कर वास्तविकता में अवतीर्ण नहीं हो सका तथापि उसने आजीवन उसको वास्तविक बनाने का प्रयत्न किया—अपने प्राणों को संकट में डाल कर भी। प्लातोन् के पश्चात् उसकी अकादीमी अवश्य एक बहुत छोटे पैमाने पर एक ऐसा नगर रही। पर पीछे का सारा यूरोपीय साहित्य इस रचना से प्रभावित हुआ है। इसके अनेकों अनुकरण और अनुवाद अन्य भाषाओं में हुए हैं। अनुकरणों में सेंट ऑगस्तीन की पुस्तक 'प्रभु का नगर' और मोर की पुस्तक 'उटोपिया' विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में श्री राहुल सांस्कृत्यायन की "बाइसवीं सदी" नामक पुस्तक भी कुछ इसी प्रकार की है।

आदर्श नगर व्यवस्था

पौलितेइया

(नागरिक न्याय के विषय में)

प्रथम पुस्तक

संवाद के पात्र

सॉक्रातीस्, ग्लौकोन्, पॉलीमार्कस्, थ्रासीमाकस्, अदैमान्तस्, कैफालस्

१—मैं कल अरिस्तोन के पुत्र ग्लौकोन के साथ देवी की पूजा करने के लिये पाइरियस् गया था, और क्योंकि इस उत्सव का समारंभ ही उस दिन होने वाला था, अतः मेरी यह भी देखने की इच्छा थी कि लोग इसको कैसे मनाते हैं। (अथिस) के नागरिकों का प्रयाणोत्सव मुझे बहुत अच्छा लगा, परन्तु थ्राक के निवासियों के दल के प्रयाण के प्रदर्शन से यह कुछ अधिक अच्छा नहीं था ।

जब हम प्रार्थना समाप्त कर चुके और उत्सव भी देख चुके तो हम नगर की ओर लौट रहे थे कि घर की ओर शीघ्रता से जाते हुए हम पर दूर से कैफालस के पुत्र पॉलीमार्कस की दृष्टि पड़ी, और उसने अपने नौकर से दौड़ कर हम लोगों को ठहर जाने को कहने की आज्ञा दी जिससे कि हम उसकी प्रतीक्षा कर सकें। नौकर ने पीछे से आकर मेरे अंगरखे को पकड़ लिया और बोला "पॉलीमार्कस चाहते हैं कि आप तनिक ठहर जाएँ।"

मैंने मुड़कर उससे पूछा कि उसके स्वामी कहाँ हैं।

उसने कहा, "वह देखिये न आपके पीछे, इधर ही चले आ रहे हैं। उनकी प्रतीक्षा कीजिये ।"

ग्लौकोन ने कहा "अच्छा हम ठहरते हैं।" इसके थोड़ी सी देर पीछे पॉलीमार्कस आ पहुँचे; ग्लौकोन का भाई अदैमान्तस् और निकियास् का पुत्र निकेरातस् तथा कुछ और आदमी जो कि उत्सव से लौटते प्रतीत होते थे उनके साथ थे।

पॉलीमार्कस ने आते ही कहा, "तुम लोग तो निःसंदेह हमको छोड़ कर नगर की ओर जाते दिखलाई पड़ते हो।"

"तुम्हारा अनुमान अनुचित नहीं है।" मैंने उत्तर दिया।

वह बोला "परन्तु यह तो देखो कि हम लोग कितने हैं?"

मैंने कहा "निश्चय ही देख रहा हूँ।"

"तो भाई या तो अपने को बलवत्तर पक्ष सिद्ध कर दिखाओ या जहाँ के तहाँ ठहर जाओ।"

मैंने कहा "क्या एक और उपाय यह शेष नहीं रह गया है कि हम आपको मना लें कि आप को हमें जाने देना चाहिये।"

वह बोला, "यदि हम आपकी बात सुनना ही स्वीकार न करें तो भला आप हमको कैसे मना सकेंगे?"

ग्लौकोन ने कहा, "कैसे भी नहीं।"

"तो आप अपने मन में विश्वास रखिये, हम आपकी एक भी न सुनेंगे।" इसी बीच में अदैमान्तस् बोल पड़ा "क्या आप लोगों ने नहीं सुना है संध्या के समय देवी की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में घुड़सवारों की मसाल-दौड़ होगी।"

मैंने कहा, "घोड़ों पर मसालें? यह तो नयी सूझ है। तो क्या वे लोग मसालें लिये होंगे और जब कि घुड़दौड़ हो रही होगी तो मसालों की अदला-बदली करेंगे? या तुम्हारा अभिप्राय किसी अन्य प्रकार से है?"

पॉलीमार्कस् ने उत्तर दिया "हाँ, ऐसे ही। इसके अतिरिक्त रात्रि को भी एक उत्सव होने वाला है जो कि देखने के ही योग्य होगा। संध्या

के भोजन के पश्चात् उठ कर हम उत्सव देखने चल देंगे और वहाँ तमाशा देखेंगे और बहुत से युवकों से मिलेंगे तथा उनसे खूब बातें होंगी। बस हमारा कहा मानिये और ठहर जाइये।"

ग्लौकोन बोला, "समझ पड़ता है कि हमको ठहरना ही पड़ेगा।"

मैंने कहा, "यदि ऐसा है, तो यही सही।"

२—अतः हम पॉलीमार्कस के साथ उसके घर पहुँचे; वहाँ हमको उसके दोनों भाई लीसियस् तथा यूथीडेमस्, और उनके साथ खाल्केडॉनिया का थ्रासीमाकस्, पैयानिया का कार्मान्तिदेस् एवं अरिस्तोनीमस् का पुत्र क्लैतॉफोन भी उपस्थित मिले। पॉलीमार्कस् के पिता कैफालस् भी घर पर ही थे। मैंने उनको चिरकाल के पश्चात् देखा था अतः मुझे ऐसा लगा कि वह बहुत बूढ़े हो गये हैं। वह एक प्रकार की गद्देदार कुर्सी पर बैठे हुए थे, और उनके मस्तक पर एक माला पड़ी हुई थी क्योंकि वह अभी आँगन में यज्ञ समाप्त कर चुके थे। बस हम लोग जाकर उनके आस-पास बैठ गये क्योंकि कुर्सियाँ गोल पंक्ति में उनके पास रक्खी हुई थीं। कैफ़ालस ने मुझको देखते ही मेरा स्वागत किया और कहने लगे "सॉक्रातीस! तुम तो बहुत कम दर्शन देते हो। हमसे मिलने को तुम्हारा पाइरियस् आना जितनी बार होना चाहियें उतनी बार नहीं होता। पर यह उचित नहीं। यदि मैं अब भी नगर की यात्रा सरलता से करने में समर्थ होता तो तुम्हारे यहाँ आने की कोई आवश्यकता न पड़ती, हम लोग ही तुमसे मिलने चले जाया करते। पर अब जैसी अवस्था है इसमें तुमको अपनी भेंटों के बीच में अधिक विलंब नहीं करना चाहिये। क्योंकि मैं तुमको यह बता देना चाहता हूँ कि, जैसे-जैसे मेरी शरीर संबंधी तृप्तियाँ क्षीण होती जाती हैं उसी मात्रा में सद्वार्ता (या सत्संभाषण) की मेरी इच्छा और उससे प्राप्त होने वाला आनन्द-आमोद बढ़ता जाता है। अतः तुमको मेरी प्रार्थना अस्वीकार नहीं करनी चाहिये; बल्कि हमारे घर पर पधार

कर इन लड़कों को अपनी संगति का लाभ देना चाहिये और हमको परम सुहृत् और अंतरंग मित्र ही मानते रहना चाहिये ।"

मैंने उत्तर दिया "बिल्कुल ठीक ! और मुझे तो बड़े-बूढ़ों से बातें करने में बड़ा आनन्द मिलता है । क्योंकि मेरी समझ में तो वे लोग उस यात्री के समान हैं जो उस पथ पर आगे पहुँच चुके हैं जिस पर स्यात् हमको भी किसी समय चलना पड़े; अतः हमको उनसे जानना चाहिये कि यह पथ कैसा है—दुर्गम है अथवा सुगम । क्योंकि आप उस अवस्था को पहुँच चुके हैं जिसको कवियों ने 'बुढ़ापे की ड्योढ़ी' (दहलीज) कहा है, इसलिये मैं आपसे इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहता हूँ कि "क्या इस अवस्था में जीवन दुर्भर हो जाता है, अथवा इस विषय में आपका विचार कुछ भिन्न है ?"

३—उसने कहा, "सॉक्रातीस, इस विषय में मेरा जो अनुभव है, मैं तुम्हें बतलाता हूँ । प्रायः ऐसा होता है, "जैसे को तैसा मिले" इस पुरानी कहावत की सचाई को सिद्ध करते हुए, लगभग समान अवस्था के हम कुछ बूढ़े लोग एकत्रित हो जाते हैं । इन सम्मेलनों में, हम में से प्रायः लोग यौवन के खोये हुए सुखों के लिये लालायित होकर, मन में सुरा, सुन्दरियों, भोजों तथा इन्हीं से संबंध रखने वाली अन्य वस्तुओं के आनन्द का मन में ध्यान करके निश्वास लिया करते हैं; वे इसी विश्वास में दुःखी हुआ करते हैं कि उत्तम सुख तो उनसे सब छिन गये; तब जीवन आनन्दमय था; अब का जीना तो बिलकुल निकम्मा है । उनमें से कुछ को यह शिकायत है कि उनके बन्धु-बांधव वृद्धावस्था का तिरस्कार करते हैं और इसीलिये वह उन सब यातनाओं की नाम-माला दीनता भरे स्वर में सुनाने लगते हैं जो कि बुढ़ापे के दोष (या जिनके लिये बुढ़ापा दोषी या अपराधी है) से पैदा होती हैं । पर, सॉक्रातीस्, मेरी सम्मति में यह लोग सच्चे कारण को तो दोष देते नहीं । क्योंकि यदि ऐसा होता तो बुढ़ापे के संबंध से

मुझे इन सब असुविधाओं का अनुभव हुआ होता, और उन सब अन्य लोगों को भी हुआ होता जो जीवन में इस अवस्था को पहुँचे हैं। पर सच तो यह है अब से पहले मुझे कई ऐसे लोग मिले हैं जिन्होंने इस विषय में अपना दूसरा ही प्रकार का अनुभव प्रकट किया है। विशेष प्रकार से मुझे याद है कि एक बार मैंने कवि सॉफॉक्लीस से एक आदमी को प्रश्न करते सुना था "कहो सॉफॉक्लीस सुरति सेवन की बात कहो—क्या इस बुढ़ापे में भी मनोवेग कुछ नहीं घटा ?" और उसने उत्तर दिया था "चुप रहो जी, जिसकी तुम चर्चा करते हो उससे पिंड छूटने का मुझे बड़ा हर्ष है, मैं तो मानों एक ऐसे मालिक से छूट कर भाग आया हूँ जो कि नितांत रोषपूर्ण जंगली पशु के तुल्य था।" उस समय भी मैंने इस उत्तर को परम बुद्धिमत्तापूर्ण समझा था और अब तो मैं इसको और भी अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण समझता हूँ। क्योंकि निश्चय ही बुढ़ापे में इस विषय में सचमुच एक बड़ी शांति और मंगलमय मुक्ति का अनुभव होता है। जब कि मनोवेगों और कामनाओं की दारुण खींचातानी ढीली पड़ जाती है तब सॉफॉक्लीस के वचन की सत्यता प्रत्यक्ष स्वीकार की जाती है, और ऐसा लगता है कि हम एक नहीं, न जाने कितने विक्षिप्त स्वामियों से मुक्ति पा गये हैं। परन्तु लोगों की (उपर्युक्त) शिकायतों के विषय में, और बन्धु-मित्रों के संबंध में सच्चा कारण एक है, और सॉक्रातीस्! वह कारण बुढ़ापा नहीं, मनुष्यों का अपना चरित्र और स्वभाव है। क्योंकि यदि मनुष्य संयत और सुखी स्वभाव होते हैं तो बुढ़ापा भी सामान्य-भार सा प्रतीत होता है। परन्तु यदि इसके विपरीत हुआ तो, सॉक्रातीस्! ऐसे स्वभाव वालों के लिये जैसी जवानी वैसा बुढ़ापा, दोनों ही कठिन भार हैं।"

४—उसके इन वचनों को सुनकर मेरा हृदय उसकी प्रशंसा से भर गया और इसलिये कि उसकी बातचीत चालू रहे मैंने उसको उकसाते हुए कहा, "पर कैफ़ालस, मुझे तो ऐसा लगता है कि जब तुम इस प्रकार

की बातें करते हो तो लोगों को इसका विश्वास नहीं होता; वह यह सोचते हैं, कि बुढ़ापा तुमको भार स्वरूप नहीं प्रतीत होता इसका कारण तुम्हारा चरित्र नहीं बल्कि तुम्हारी संपत्ति है और यह बात तो सर्वविदित है कि संपत्तिशाली को बहुत से सुख प्राप्त होते हैं।

उसने उत्तर दिया "तुम ठीक कहते हो। वे लोग मेरी बात का विश्वास नहीं करते; और जो कुछ वह कहते हैं उसमें कुछ तथ्य है अवश्य, पर उतना नहीं जितना कि वह कल्पना कर लेते हैं। इस विषय में तो उनके लिये वही उत्तर उचित होगा जो कि थैमिस्टॉक्लीस ने सैरिफ़स निवासी एक आदमी को दिया था; जब कि वह आदमी गाली-गलौज करते हुए यह कहने लगा कि तुम्हारी ख्याति स्वयं अपने कारण नहीं, अथेन्स निवासी होने के कारण है, तो थैमिस्टॉक्लीस ने उत्तर दिया था कि न तो मैं तुम्हारे छोटे से द्वीप में उत्पन्न होकर ख्याति पा सकता था, और न तुम अथेन्सवासी होकर प्रसिद्धि पा सकते हो। यही बात उन लोगों के विषय में भी भली-भाँति लागू होती है जो निर्धन होते हुए बुढ़ापे को भार समझते हैं, क्योंकि न तो निर्धनता सहित बुढ़ापे को सज्जन पुरुष नितान्त सरलता से सहन करने के योग्य पाते हैं और न धन की उपलब्धि से अविवेकी दुर्जनों को आत्मसंतोष और आनन्दी स्वभाव की प्राप्ति हो सकती है।"

मैंने कहा, "कैफालस, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अपनी संपत्ति तुमने उत्तराधिकार में पाई है अथवा स्वयं उपार्जित की है?"

वह कहने लगा "क्या मैंने कमाई है, सॉक्रातीस! यह पूछते हो? धन कमाने में तो मेरा स्थान मेरे पितामह और पिता के बीच में है; क्योंकि मेरे नाम-राशि पितामह ने उत्तराधिकार में लगभग इतनी संपत्ति पाई थी जितनी का अब मैं स्वामी हूँ और उसको कई गुना बढ़ा गये थे; मेरे पिता लिसानियास ने उसको घटाकर वर्तमान मात्रा से भी कम कर दिया। और मैं तो इतने ही से संतोष कर लूँगा कि (जो) इन लड़कों के लिये

उत्तराधिकार में पाई संपत्ति से कम नहीं वल्कि थोड़ी मात्रा में अधिक संपत्ति छोड़ सकूँ ।"

मैंने कहा, "मेरे इस प्रश्न करने का कारण यह है कि तुम मुझे अत्यधिक धनलोलुप प्रतीत नहीं होते । और यह लक्षण उन लोगों का है जो अपना धन स्वयं नहीं कमाते हैं । परन्तु जो लोग अपनी संपत्ति स्वयं उपार्जन करते हैं वह दूसरे लोगों की अपेक्षा उसको अधिक प्रेम करें तो इसमें दुगुना औचित्य है । क्योंकि जिस प्रकार कविगण अपनी कविता के विषय में आत्मतृप्ति का अनुभव करते हैं, और पिता अपने पुत्रों के विषय में, ठीक इसी प्रकार जो लोग स्वयं धन कमाते हैं, वे इस धन को अपनी सृष्टि समझते हुए भी गंभीरतापूर्वक देखते हैं एवं अन्य पुरुषों के समान उसकी उपयोगिता के कारण भी उसका मूल्य समझते हैं । अतः ऐसे लोग संगति-संलाप के भी काम के नहीं होते क्योंकि वे धन को छोड़कर अन्य किसी वस्तु की प्रशंसा करना जानते ही नहीं ।"

५—उसने उत्तर दिया, "तुम ठीक कहते हो ।"

मैं बोला, "सचमुच ऐसा ही है । पर मुझे इसके अतिरिक्त इतना और बतलाइए कि संपत्ति के स्वामी होने से आपकी समझमें आपको कौन सा सबसे महान् लाभ प्राप्त हुआ है ।"

उसने कहा, "वह कुछ ऐसी वस्तु है कि यदि मैं उसको दूसरे को बतलाऊँ तो उनको उस पर विश्वास नहीं आयेगा । सॉक्रातीस ! मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि जब किसी आदमी को यह विश्वास हो जाता है कि उसका मृत्यु-काल समीप आ गया है तो वह उन विषयों के भय और चिंताओं से आकुल हो जाता है जो इसके पूर्व उसको कभी न सूझे थे । अधःलोक के विषय में जो कथाएँ कही जाती हैं, और वहाँ पर कुकर्म करने वालों को वहाँ किस प्रकार दण्ड भरना पड़ता है, इन सब बातों को वह पहले हँसी में उड़ा देता रहा हो पर अब उसका मन इस शंका से यंत्रणा भोगा करता

है कि कहीं यह कथाएँ सत्य न हों। इसके अतिरिक्त भी, या तो वृद्धावस्था की दुर्बलता के कारण, अथवा संभवतया परलोक की स्थिति की समीपता के कारण उसको इन विषयों में निर्मल दृष्टि प्राप्त हो जाती है। कारण कुछ भी हो, वह बेचारा, शंका, निराशा और भय से अभिभूत होकर गणना और विचार करने लगता है कि उसने कभी किसी का बुरा तो नहीं किया है। जिसके जीवन के लेखे में अनेकों दुष्कर्मों की गणना निकलती है वह सोते हुए बार-बार डर के मारे बच्चों के समान स्वप्न में चौंका करता है और उसके जीवन के दिन बुरे भविष्य के भय की पूर्व चिन्ता से आविष्ट रहते हैं। पर जिस मनुष्य की आत्मा दुष्कर्मों के विषय में अनजान होती है उसके बुढ़ापे में मधुर आशा, पिण्डार कवि के शब्दों—दयालु धाय के समान, नित्य उसके साथ रहती है। सॉक्रातीस्, वास्तव में कवि के वे शब्द बड़े ही सुन्दर हैं जिनमें उसने कहा है कि जब कोई मनुष्य अपना जीवन न्याय और श्रद्धा के साथ बिताता है तो "उसके हृदय को आह्लादित करने के लिये और बुढ़ापे का पोषण करने के लिये आशा सहचरी संगिनी के समान नित्य उसके साथ रहती है—वही आशा जो कि मनुष्यों के चंचल मन पर शासन करती है।" यह अत्यंत उत्तम और प्रशस्य उक्ति है। इसीलिये तो मेरा कहना है कि धन का स्वामी होना हर एक-एक मनुष्य के लिये नहीं, केवल सज्जनों के लिये अत्यंत मूल्यवान् है। धन पास होने का फल यह होता है कि किसी आदमी को हम अनजाने में भी न ठगें और न धोखा दें, किसी देवता के पूजन न करने से और मनुष्यों का उनका पावना न चुकाने से ऋणी न रहें जिससे परलोक गमन में भय न हो। उसके और भी बहुत लाभ हैं। परन्तु सब की परस्पर तुलना करके मैं तो यही निष्कर्ष निकालूँगा कि समझदार आदमी के लिये तो धन की मुख्य उपयोगिता यही है।"

मैंने कहा, "कैफालस्, तुम्हारी भावना स्तुत्य है। परन्तु यह जो तुमने

न्याय के विषय को छेड़ा है, क्या उसका तात्पर्य केवल "सत्य बोलना और पावना चुकाना" इतना ही है ? इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं ? या यह कार्य भी कभी न्याय और कभी अन्याय हो सकते हैं ? उदाहरणार्थ, मैं समझता हूँ कि यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि, यदि कोई आदमी अपने स्वस्थ्य-चित्त मित्र से अस्त्र ले और तदुपरान्त अस्त्र देने वाला विक्षिप्त हो जाये और उन अस्त्रों को वापस माँगे तो ऐसी अवस्था में हमको उनको नहीं लौटाना चाहिये, और जो ऐसी अवस्था में उनको लौटायेगा न्याय करने वाला नहीं कहा जा सकता और न वह मनुष्य ही न्याय करने वाला माना जायगा जो कि ऐसी दशा वाले मनुष्य से पूर्ण एवं केवल सत्य बात कहेगा ।

उसने उत्तर दिया "तुम ठीक कहते हो ।"

"तब तो, सत्य बोलना और पावने को चुका देना, न्याय की ठीक-ठीक परिभाषा नहीं है ।"

पॉलीमार्कस ने बीच में बात काटकर कहा, "नहीं, सॉक्रातेस्, यदि हम सिमोनिदेस् का कुछ भी विश्वास करते हों तो, यही परिभाषा ठीक है ।"

कैफालस ने कहा, "बहुत अच्छा, लो, मैं यह सारा शास्त्रार्थ तुम्हें सौंपता हूँ; क्योंकि मुझको अब यज्ञ की देखभाल करनी है ।"

मैं बोला "ठीक, क्या पॉलीमार्कस तुम्हारे सर्वस्व का उत्तराधिकारी नहीं है ?"

उसने हँसते हुए कहा "निःसंदेह"; और यज्ञशाला की ओर चला गया ।

६—"शास्त्रार्थ के उत्तराधिकारी महाशय, अब मुझे बतलाइये कि सिमोनिदेस् ने न्याय के विषय में क्या कहा है जो कि तुम्हारी राय में ठीक है ?"

उसने उत्तर दिया, "यही कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना ऋण चुका देना न्याय है, और मैं समझता हूँ कि उसका ऐसा कहना ठीक है ।"

मैंने कहा, "यह तो मुझे मानना ही चाहिये कि सिमोनिदेस् के वचन का विश्वास न करना सरल काम नहीं है; क्योंकि वह इतना बुद्धिमान अथच अन्तःप्रेरणा वाला मनुष्य है । परन्तु उसके इस कथन का ठीक तात्पर्य क्या है, यह पॉलीमार्कस्, तुम्हारी समझ में भले ही आता हो, मेरी समझ में तो नहीं आता । यह तो स्पष्ट ही है कि उसका तात्पर्य हमारे वर्तमान वार्तालाप के विषय में ऐसा नहीं हो सकता कि हम किसी भी व्यक्ति को उसकी धरोहर लौटा दें जब कि वह उसको विक्षिप्त मनोदशा में वापस माँगें । और तो भी किसी व्यक्ति की धरोहर उसका पावना तो है ही न ?"

"हाँ !"

"परन्तु जब वह व्यक्ति स्वस्थ मनोदशा में न होते हुए उसको वापस माँगता है तब तो वह वस्तु उसको किसी भी प्रकार के उपायों से नहीं लौटायी जानी चाहिये, न ?"

उसने कहा, "सत्य है ।"

"तब तो जब वह यह कहता है कि पावना चुका देना न्याय है तो ऐसा लगता है कि सिमोनिदेस् का अभिप्राय इससे कुछ भिन्न होना चाहिये ।"

उसने उत्तर दिया, "भिन्न तो वास्तव में होना ही चाहिये, क्योंकि उसका विश्वास है कि मित्र का मित्र के प्रति कर्तव्य भलाई करना है, बुराई करना नहीं ।"

मैंने कहा, "मैं समझता हूँ कि तुम्हारा मतलब यह है कि यदि दो व्यक्ति मित्र हों और उनमें से एक दूसरे को उसकी स्वर्ण (धन) की धरोहर लौटा दे और पाने वाले को लौटाने से हानि पहुँचे तो लौटाने वाले ने

अपना उचित (मित्रता का) ऋण नहीं चुकाया । तुम, सिमोनिदेस् का तात्पर्य ऐसा था, यही कहते हो, न ?"

"ठीक यही ।"

"अच्छा; और क्या शत्रुओं का जो कुछ उचित पावना हमारे प्रति चाहिये वह उनको नहीं चुकाना चाहिये ?"

वह बोला, "अवश्य चुकाना चाहिये; और शत्रु को शत्रु से भी वही मिलना चाहिये जो कि उनमें परस्पर एक दूसरे के प्रति उचित है---अर्थात बुराई ।"

७---तब तो ऐसा लगता है कि कवियों की भाँति सिमोनिदेस् ने न्याय की परिभाषा क्या बतलाई है, एक पहेली का प्रयोग किया है; क्योंकि वास्तव में तो न्याय से उसका तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति के प्रति वह देना है जो कि उसके प्रति उचित है और इसको उसने नाम दिया ऋण या पावना । उसने कहा, "इससे भिन्न उसका और तात्पर्य तुम क्या समझते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "नारायण ! नारायण ! अच्छा कल्पना करो कि कोई उससे यह प्रश्न पूछता है कि 'सिमोनिदेस्, यदि ऐसा है तो यह बतलाओ कि निगदतन्त्र (वैद्यक शास्त्र) किसी के प्रति क्या उचित वस्तु प्रदान करता है, और उसका पाने वाला कौन होता है ?' तो तुम्हारी समझ में वह क्या उत्तर देता ?"

उसने कहा, "स्पष्ट ही है कि वह यह उत्तर देता कि निगदतन्त्र मानव-शरीरों को, औषधि, भोजन और पीने की वस्तुएँ देता है ।"

"व्यंजन-निर्माण कला नामक विद्या किसके प्रति क्या उचित वस्तु प्रदान करती है ?"

"भोजन को स्वादिष्टता ।"

"बिल्कुल ठीक; अच्छा तो अब यह बतलाओ कि न्याय कहलाने वाला तन्त्र किसके प्रति क्या प्रदान करता है ?"

"सॉक्रातीस्, यदि हम पूर्वोक्त उदाहरणों का अनुसरण करें तो न्याय-तन्त्र वह कला कही जायगी जो मित्रों तथा शत्रुओं के प्रति पर्याय से लाभ और हानि प्रदान करती है ।"

"तो उसका अभिप्राय यही हुआ न, कि मित्रों के प्रति भलाई करना और शत्रुओं के प्रति बुराई करना न्याय है ?"

"मैं तो यही समझता हूँ ।"

"और रोग तथा स्वास्थ्य के विषय में, यह बतलाओ कि रोगी होने पर मित्रों के प्रति भलाई और शत्रुओं के प्रति बुराई करने के सबसे अधिक योग्य कौन हो सकता है ?"

"वैद्य ।"

"समुद्र यात्रा की जोखिम में सबसे योग्य व्यक्ति कौन है ?"

"निर्यामक ।"

"अच्छा ! तो न्याय करने वाला मनुष्य किस व्यापार में और किस प्रयोजन के निमित्त अपने मित्रों की भलाई और शत्रुओं की बुराई करने में सबसे अधिक योग्य होता है ।"

"मेरा अनुमान है कि युद्ध-व्यापार में एक का सहायक (और दूसरे का विरोधी) बन कर ।"

"बहुत अच्छा ! प्रिय पॉलीमार्कस, यदि मनुष्य रोगी न हों तो वैद्य उनके लिये व्यर्थ है ।"

"निःसंदेह ।"

"और इसी प्रकार जो लोग समुद्रयात्रा नहीं कर रहे हों उनके लिय निर्यामक ।"

"हाँ ।"

"तो क्या हम यह भी कह सकते हैं जब मनुष्य परस्पर न लड़ रहे हों तो न्यायपरायण मनुष्य व्यर्थ हो जाता है ?"

"ऐसा तो मैं कदापि नहीं सोच सकता ।"

"तब तो शांतिकाल में भी न्याय की कुछ उपयोगिता है। क्यों ?"

"हाँ, वह उपयोगी है ।"

"और ऐसे ही कृषिकर्म (खेती-बाड़ी का धन्धा) भी उपयोगी है या नहीं ?"

"हाँ, है ।"

"अर्थात्, फसल की प्राप्ति के लिये ।"

"हाँ ।"

"और फिर, इसी प्रकार चर्मकार का कार्य भी उपयोगी है या नहीं ?"

"हाँ, है ।"

"मैं अनुमान करता हूँ कि तुम कहोगे जूते प्राप्त करने के लिये ।"

"निश्चय ही ।"

"तो अब मुझे यह बतलाओ कि तुम्हारी सम्मत्ति में, न्याय शान्तिकाल में किस उपयोगिता अथवा किस वस्तु की प्राप्ति के लिये लाभप्रद है ?"

"नियुक्ति लेखों और व्यवहारों में, सॉक्रातीस् ।"

"और व्यवहारों से, तुम्हारा अभिप्राय समितियों और साझेदारियों से है या कुछ और ?

"निश्चय ही साझेदारियों से है ।"

"तो ड्राफ्ट के खेल में कौन अधिक अच्छा साझी होगा, न्यायी मनुष्य या ड्राफ्ट का चतुर खिलाड़ी ?"

"खिलाड़ी ।"

"और ईंटों और पत्थरों की चुनाई करने में क्या न्यायी मनुष्य स्थपति की अपेक्षा अधिक अच्छा साझी होगा ?"

"कदापि नहीं ।"

"तो फिर कौन सी साझेदारी में न्यायी मनुष्य उसी अर्थ में एक सारंगी बजाने वाले से बढ़ कर होगा, जिस अर्थ में सारंगी बजाने की कला में सारंगी बजाने वाला न्यायी आदमी से बढ़ कर होता है ?"

"मैं समझता हूँ धन-दौलत की साझेदारी में।"

"स्यात् उन अवसरों को छोड़कर जब कि धन को कार्य में लगाना हो। उदाहरणार्थ घोड़े के खरीदने का ही विषय लीजिये; तब तो मैं समझता हूँ कि घोड़ों के विषय में जानकारी रखने वाला मनुष्य अधिक अच्छा होगा न ?"

"यह तो प्रत्यक्ष ही है।"

"और यदि कहीं नाव का सौदा हो रहा हो तब नाव बनाने वाला या निर्यामिक अधिक अच्छा रहेगा !"

"मालूम तो ऐसा ही पड़ता है।"

"यदि ऐसा है तो (साझियों के) सोने-चाँदी के संयुक्त उपयोग का वह अवसर कब उपस्थित होता है जब कि न्यायी मनुष्य उपर्युक्त पेशेवरों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होता है ?"

"सॉक्रतीस्, वह अवसर तब आता है जब कि तुम अपने धन की धरोहर किसी को सौंप कर सुरक्षित रखना चाहते हो।"

"अर्थात जब कि धन का कोई उपयोग न हो और वह व्यर्थ पड़ा हो ?"

"ठीक यही बात।"

"तब तो जब धन बेकार पड़ा हो तभी न्याय उसके विषय में उपयोगी होता है।"

"प्रतीत तो ऐसा ही होता है।"

"इसी प्रकार जब कि एक हँसिये को सुरक्षित रखना हो तो न्याय व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिये उपयोगी होता है, परन्तु जब उससे काम

लेना हो तो द्राक्षालता को कतरने वाले की कला उपयोगी होती है ?"

"स्पष्ट बात है ।"

"इसी प्रकार तुमको यह भी कहना पड़ेगा कि जब कि ढाल और वीणा को बिना उनसे कोई काम लिये रखना हो तो न्याय लाभदायक होगा, पर जब उनका उपयोग करना हो तो युद्धकला और संगीतकला उपयोगी होंगी ।"

"अवश्य ही ।"

"और अन्य सब वस्तुओं के विषय में भी यही ठीक है कि जब कोई वस्तु बेकार हो न्याय उपयोगी होता है, परन्तु जब वही वस्तु प्रयोग दशा में हो तो न्याय बेकार हो जाता है ?"

"मालूम तो ऐसा ही देता है ।"

८——यदि न्याय उपयोग-रहित वस्तुओं के विषय में ही उपयोगी हो तब तो हे मित्र, वह कोई अधिक मूल्यवान वस्तु नहीं है । परन्तु आओ इस विषय पर और विचार कर लें । जो मनुष्य मुष्टिक-युद्ध में अथवा अन्य किसी प्रकार के द्वन्द्व में आघात करने में निपुण होता है, क्या वही विपक्षी के आघात को निष्फल करने में भी अत्यंत निपुण नहीं होता?"

"निःसंदेह होता है ।"

"क्या यह भी सत्य नहीं है कि वह मनुष्य जो किसी रोग से बचने और उसके निराकरण का उपाय जानता है, उस रोग को दूसरों में उत्पन्न करने में भी नितान्त निपुण होता है ?"

"मेरा भी यही विचार है ।"

"(परन्तु) और फिर वही मनुष्य अपनी सेना की रक्षा करने की क्षमता रखता है जो कि शत्रु की सब योजनाओं और चालों की चोरी करे उन पर पानी फेर सकता है ।"

"निश्चय ही ।"

"तब तो जिस किसी वस्तु का कोई आदमी निपुण रक्षक होता है उसी का वह चतुर चोर भी होता है ?"

"ऐसा ही प्रतीत होता है ।"

"तो यदि न्यायी मनुष्य धन की रक्षा करने में निपुण है तो वह उसको चुराने में भी होशियार होगा ।"

"इस युक्ति का संकेत तो निश्चय ही इस ओर है ।"

"तब तो अन्ततोगत्वा न्यायी मनुष्य एक प्रकार का चोर सिद्ध हुआ, मालूम पड़ता है। और तुमने यह विचार, स्यात् होमर से ग्रहण किया है। क्योंकि वह ओडीसियस् के मामा औतॉलिकस् को अपना प्रिय पात्र मानता है और उसका वर्णन करते हुए कहता है कि वह चोरी करने और झूठ बोलने में सब मनुष्यों को मात करता था। अतः तुम्हारे और होमर और सिमोनिदेस् के अनुसार न्याय एक प्रकार की चौर विद्या है, यद्यपि उसका उद्देश्य मित्रों की भलाई और शत्रुओं की हानि करना है। क्या तुम्हारा मतलब यही था न ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, भगवान् की दुहाई कदापि नहीं ! परन्तु मुझे अब तो यह भी नहीं जान पड़ता कि मेरा तात्पर्य क्या था। तथापि मेरा यह विश्वास अभी तक अडिग है कि न्याय मित्रों की भलाई और शत्रुओं की हानि करता है ।"

"अच्छा, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि मित्रों से तुम्हारा तात्पर्य ऐसे मनुष्यों से है जो कि योग्य मालूम पड़ते हैं अथवा उनसे है जो वास्तव में मित्र हैं चाहे वैसे मालूम न पड़ते हों; और इसी प्रकार शत्रुओं के विषय में भी ?"

उसने कहा, "यह तो निश्चित है कि मनुष्य जिनको नेक समझेंगे उनको स्नेह करेंगे और जिनको बुरा समझेंगे उनसे घृणा करेंगे ।"

"क्या मनुष्य इस विषय में प्रायः भ्रान्त नहीं हो जाते, और भ्रान्ति के कारण क्या उनको बहुत से आदमी जो कि भले नहीं हैं भले नहीं प्रतीत होने लगते, और इसके विपरीत बहुत से मनुष्य जो कि बुरे नहीं हैं, बुरे नहीं मालूम पड़ने लगते ?"

"मनुष्य ऐसी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं।"

"तब तो जो इस प्रकार भ्रान्त हो गये हैं, भले आदमी उनके शत्रु हैं और बुरे उनके मित्र, क्यों ?"

"निश्चय।"

"परन्तु तो भी ऐसी अवस्था उनके लिये बुरे के प्रति भलाई करना और भले के प्रति बुराई करना न्याय होगा ?"

"मालूम तो ऐसा ही देता है।"

"पर, फिर भी सत्पुरुष न्यायी होते हैं और अन्याय करने के अयोग्य होते हैं।"

"सत्य है।"

"तब तो तुम्हारी तर्कणा के अनुसार उन मनुष्यों के प्रति अन्याय करना न्याय है, जो स्वयं अन्याय नहीं करते।?"

उसने कहा, "नहीं, सॉक्रातेस, नहीं। यह सिद्धान्त असत्-सिद्धान्त है।"

मैंने कहा, "तब अन्यायी की हानि करना और न्यायी की भलाई करना न्याय है ?"

"पहले की अपेक्षा यह अधिक अच्छा निष्कर्ष प्रतीत होता है।"

"तब तो पॉलीमार्कस, उन बहुत से मनुष्यों के पक्ष में जो कि भ्रान्त हैं इसका परिणाम यह होगा कि मित्रों को हानि पहुँचाना न्याय है, क्योंकि उनके मित्र बुरे हैं; और शत्रुओं के प्रति भलाई करना न्याय है, क्योंकि उनके शत्रु भले हैं। और यदि ऐसा है तब तो हमारा यह कथन उस कथन

का बिलकुल उलटा है जिसको हमने सिमोनिदेस् का तात्पर्य माना है ।"

उसने कहा, "निश्चय ही, यही परिणाम होगा । पर हमको अपनी स्थिति में थोड़ा परिवर्त्तन कर लेना चाहिये; क्योंकि हमारी मित्र और शत्रु विषयक धारणा गलत हो गयी प्रतीत होती है ।"

"कौन सी धारणा, पॉलीमार्कस् ?"

"यही कि जो मनुष्य भला दिखलाई देता है मित्र है ।"

मैंने कहा, "और अब हमारी नवीन सुधरी हुई धारणा क्या होगी ?"

"यह, कि मित्र वह मनुष्य है जो कि मालूम भी भला पड़ता है और वास्तव में भी वैसा ही है परन्तु वह मनुष्य वास्तव में मित्र नहीं है जो दिखलाई तो भला देता है पर वास्तव में भला नहीं है। यही बात शत्रु की धारणा के विषय में भी कहनी है ।"

"तुम्हारे कहने का तात्पर्य यह है कि भले आदमी सर्वथा मित्र हैं और बुरे आदमी शत्रु ।"

"हाँ ।"

"अतः तुम यह चाहते हो कि हम न्यायी मनुष्य की पूर्व धारणा में कुछ और जोड़ कर उसको विशिष्टता युक्त बना दें । पहले हमने यह कहा था कि मित्रों के प्रति भलाई और शत्रुओं के प्रति बुराई करना न्याय है, पर अब हमको इसमें कुछ वृद्धि करके यों कहना चाहियें कि यदि मित्र भले हों तो उनके प्रति भलाई करना, और यदि शत्रु बुरे हों तो उनके प्रति बुराई करना न्याय है ?"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक । मुझको भी यही कथन सत्य मालूम पड़ता है ।"

९—मैंने पूछा, "तो क्या भले आदमी का काम किसी को भी हानि पहुँचाना है ।"

उसने उत्तर दिया "निःसन्देह, जो बुरे भी हैं और शत्रु भी, उनको

तो हानि पहुँचानी ही चाहिये ।"

जब घोड़ों को चोट पहुँचती है तो वह सुधरते हैं या बिगड़ते हैं ?"

"बिगड़ते हैं ।"

"घोड़ों की उत्तमता की दृष्टि से बिगड़ते हैं या कुत्तों की ?"

"घोड़ों की ।"

"और इसी प्रकार चोट पहुँचने पर कुत्ते भी कुत्तों की उत्तमता की दृष्टि से, न कि घोड़ों की उत्तमता की दृष्टि, से बिगड़ जाते हैं न ?"

"अवश्य ।"

"तो प्यारे मित्र, क्या हमको यह नहीं कहना चाहिये कि मनुष्य भी मानवीय गुणों की दृष्टि से, हानि पहुँचाये जाने पर पतित हो जाते हैं ?"

"निश्चय ही ।"

"और क्या न्याय ही मनुष्य का विशिष्ट गुण नहीं है ?"

"यह भी स्वीकार करना पड़ेगा ही ।"

"तब तो मित्र, यह भी मानना पड़ेगा कि जिन मनुष्यों को हानि पहुँचायी जाती है, वह अपेक्षाकृत अधिक अन्यायी हो जाते हैं ।"

"प्रतीत तो ऐसा ही होता है ।"

'पर क्या संगीतविद् अपनी कला से मनुष्यों को असंगीतविद् बनाते हैं ?'

"ऐसा नहीं हो सकता ।"

"अथवा क्या अश्वकोविद अपनी कला से मनुष्यों को अश्वविद्या में अनिपुण बना सकते हैं ?"

"नहीं ।"

"तो क्या न्याय के द्वारा न्यायी मनुष्य दूसरों को अन्यायी बनाते हैं, अथवा संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भले आदमी सद्गुणों से दूसरों को बुरा बनाते हैं ।"

"नहीं, यह असंभव है ।"

"सच है। क्योंकि मेरी सम्मति में वस्तुओं को शीतल करना उष्णता का कार्य नहीं है बल्कि उष्णता के विरोधी शीत का कार्य है।"

"हाँ।"

"और गीला करना शुष्कता का नहीं प्रत्युत उसके विरोधी का गुण है।"

"निश्चय ही।"

"और न, हानि पहुँचाना ही भले आदमियों का गुण है प्रत्युत उनके विरोधियों का है।"

"यह तो प्रत्यक्ष ही दिखलाई देता है।"

"और न्यायी मनुष्य सज्जन तो होता ही है न ?"

"अवश्य।"

"तब तो पॉलीमार्कस्, मित्र अथवा अन्य किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाना न्यायी मनुष्य का कार्य नहीं है, प्रत्युत उसके विरोधी, अर्थात् अन्यायी मनुष्य का कार्य है।"

"मैं समझता हूँ कि सॉक्रातेस् तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है।"

"तो, यदि कोई मनुष्य यह कहे कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उचित व्यवहार करना न्याय है और इस कथन से उसका तात्पर्य यह हो कि न्यायी मनुष्य का कार्य शत्रुओं को हानि पहुँचाना और मित्रों को लाभ पहुँचाना है तो ऐसा कहने वाला मनुष्य कदापि बुद्धिमान नहीं है। क्योंकि यह असत्य सिद्धान्त है। यह बात हमको स्पष्टतया विदित हो गयी कि किसी भी अवस्था में किसी को हानि पहुँचाना न्याय नहीं है।"

उसने कहा, "मैं इसको स्वीकार करता हूँ।"

"तब तो हम और तुम दोनों एक साथ कटिबद्ध होकर उस मनुष्य से जूझेंगे जो कि सिमोनीदेस्, बियास् या पित्ताकॉस अथवा अन्य किसी बुद्धिमान व्यक्ति या ऋषि पर ऐसे सिद्धान्तों को करेगा।"

उसने कहा "जहाँ तक मेरा संबंध है मैं तुम्हारे साथ लड़ाई में जुटने के लिये तैयार हूँ ।"

मैंने कहा, "क्या तुम्हें यह पता है कि मेरी समझ में इस कथन का कि 'मित्रों के प्रति भलाई करना और शत्रुओं को हानि पहुँचाना न्याय है', कर्ता कौन है ?"

उसने कहा "कहिये कौन है ?"

"मैं समझता हूँ यह उक्ति पैरियान्दर, अथवा पैर्डिक्कॉस्, अथवा क्षैरक्षस् अथवा थेबेस् निवासी इस्मेनियास् अथवा किसी अन्य ऐसे धनी मनुष्य की है जिसको अपनी कल्पनाशक्ति का बड़ा गर्व था ।"

उसने कहा "यह परम सत्य है ।"

मैं कहा "बहुत अच्छा । जब कि यह स्पष्ट हो गया कि न्याय और न्यायी की यह परिभाषा ठीक नहीं है तो अब उसके विषय में कौन सी अन्य परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है ।?"

१०—जब कि हमारा यह संवाद चल रहा था तभी बीच में कई बार थ्रासीमाकस् यह चेष्टा कर रहा था कि वह विवाद सूत्र को अपने हाथ में पकड़ ले परन्तु दूसरे लोग जो वहाँ बैठे हुए थे और इस संवाद को अन्त तक सुनना चाहते थे उसको रोके हुए थे । परन्तु मेरे इस अन्तिम कथन के पश्चात् ज्यों ही हम थोड़ी देर के लिये थमे वह अपने को शान्त नहीं रख सका । बनैले पशु के समान सिमट कर वह हम पर इस प्रकार टूटा मानों हमको टूक-टूक कर डालेगा । पॉलीमार्कस् और मैं दोनों ही उसको देख कर भयभीत होकर घबड़ा गये ।

सारे एकत्रित समाज में उसने गरज कर कहा, "सॉक्रातेस् ! यह क्या मूर्खता भरी बातचीत चल रही है, और तुम लोग सिलबिलेपन से क्यों मनमोदक खाते हुए गधे बने जा रहे हो ? परन्तु, सॉक्रातेस् यदि तुम वास्तव में यह जानना चाहते हो कि न्याय क्या है, तो केवल प्रश्न ही न पूछते रहो

और उत्तरों का खण्डन मात्र करके गौरव का अनुभव न करो—(क्योंकि तुम्हारी सूक्ष्म बुद्धि को यह सूझ गया है कि उत्तर देने की अपेक्षा प्रश्न करना सरलतर काम है) बल्कि स्वयं भी तो उत्तर दो और हमको बतलाओ कि तुम किसको न्याय कहते हो। और इस विषय में मैं तुमको सचेत किये देता हूँ कि मुझे यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि न्याय कर्तव्य है, भलाई लाभदायक है, नफ़ा देने वाला है, सुविधाजनक है प्रत्युत तुम जो कुछ भी कहो वह स्पष्ट और नपातुला होना चाहिये, क्योंकि मैं तुमसे ऐसी हलकी और तुच्छ बातें सुनना नहीं सह सकता।"

और मैं, मैं तो उसकी गर्जना को सुनकर सन्न रह गया, और उसकी ओर देख कर भय से स्तम्भित हो गया, और मेरा विश्वास है कि यदि उसको अपने ऊपर दृष्टि डालने से पहले ही मैंने न देख लिया होता तो मैं मूक हो गया होता। परन्तु हुआ यह कि जब वह हमारे संवाद से झुंझला कर क्रोध में भरने लगा था तभी मैंने उसको देख लिया था अतएव अब भी मैं उत्तर देने के योग्य था।

और तनिक काँपती हुई वाणी से मैंने कहा "थ्रासीमाकस्, हमारे प्रति इतने कठोर मत बनो। यदि मैंने और मेरे मित्र ने इस प्रश्न के विवेचन में गल्तियाँ की हों तो विश्वास रखिये कि वह गल्तियाँ अनिच्छापूर्वक ही बन पड़ी हैं। क्योंकि तुमको निश्चय ही यह नहीं मान लेना चाहिये कि जब यदि हम स्वर्ण की खोज में होते तब तो हम कदापि भी परस्पर एक दूसरे की हाँ में हाँ मिलाते हुए उस खोज में स्वर्ण पाने के अवसर को नष्ट नहीं करते, तो जब कि हम न्याय का अन्वेषण कर रहे हैं, जो कि उत्तमोत्तम स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान् है तो हम ऐसी मूर्खता करेंगे कि एक दूसरे की बात को आत्मतोष के लिये स्वीकार करते हुए न्याय के निरूपण के लिये गम्भीरतम चेष्टा नहीं करेंगे? प्रिय मित्र, तुमको ऐसा विचार कदापि नहीं करना चाहिये। परन्तु यह तो आप देख ही रहे हैं कि दोष

है यदि उसको वे दोनों समान प्रतीत होती हों, तो, क्या तुम समझते हो कि चाहे तुम या मैं उसको मना करें या न करें, वह उस प्रश्न का उत्तर वही नहीं देगा जो उसको उचित मालूम पड़ेगा ?"

उसने कहा "तब तो तुम्हारा ऐसा करने का विचार है ? क्या तुम निषिद्ध उत्तरों में से ही कोई उत्तर देना चाहते हो ?"

मैंने कहा "यदि चिन्तन करने पर मुझको यही ठीक प्रतीत हुआ, तो ऐसा करने पर मुझको कुछ भी आश्चर्य नहीं होगा।"

उसने कहा, "यदि न्याय विषयक प्रश्न पर मैं इन सब उत्तरों से भिन्न और उत्तम उत्तर दूँ तो कैसा ? तब बतलाओ कि तुम किस दण्ड के भागी ठहरोगे ?"

मैं बोला, "क्यों, और क्या, वही दण्ड योग्य है जो कि अज्ञान मनुष्यों को भोगना चाहिये ? मेरी समझ में उसको ज्ञानवान् व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। मेरा प्रस्ताव है कि मुझको यही दण्ड भोगना चाहिये।"

उसने कहा "तुम्हारी सरलता तो मुझे भाती है, परन्तु शिक्षा ग्रहण करने के साथ ही साथ तुमको धन का भी दण्ड भरना पड़ेगा।"

"मैंने कहा "अच्छा, जब मेरे पास होगा, तब धन भी दूँगा।"

ग्लौकोन बोला, "धन तो तुम्हारे पास है ही, सॉक्रातेस्। थ्रासीमाकस्, यदि धन की रुकावट है तब तो तुम अपना कथन चालू रक्खो। हम सब लोग सॉक्रातेस् की ओर से पत्ती डाल कर पैसा भर देंगे।"

उसने कहा "हाँ, अवश्य; जिससे सर्वदा के समान, स्वयं उत्तर देने से पिण्ड छुड़ाने की सॉक्रातेस् की चाल सफल हो जाय पर वह दूसरे मनुष्य के उत्तरों का परीक्षण करके उनका खण्डन कर सके।"

मैंने कहा "क्यों, ऐसा कैसे ? अरे भाई भला, यदि कोई पहले तो कुछ जानता ही न हो, और न जानने का दम भरता हो और दूसरे यदि उसको

अधिकृत विषय में कुछ सूझ बूझ हो भी पर किसी गम्भीर विद्वान् ने उसको अपनी कल्पित धारणा को उत्तर रूप में उपस्थित करने को मना कर दिया हो तो वह कैसे उत्तर दे सकता है। नहीं, अधिक युक्तिपूर्ण बात यही है कि आप को बोलना चाहिये, क्योंकि तुम्हारा कहना है कि तुम इस विषय के ज्ञाता हो और तुमको जो कुछ आता है उसको कह भी सकते हो। अतः अब हमारी प्रार्थना अस्वीकार नहीं होनी चाहिये; मुझ पर आग्रह करके अपनी बुद्धिमत्ता को छिपाइये नहीं; ग्लौकोन और शेष सब मण्डली को शिक्षा दीजिये।"

१२—जब मैं इस प्रकार कह चुका तो ग्लौकोन और अन्य सब ने उससे मान जाने के लिये निवेदन किया। यह सब को स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि थ्रासीमाकस् बोलने के लिये उधार खाये बैठा है कि जिससे वह प्रशंसा का भाजन बन सके क्योंकि उसका विश्वास था कि हमारे प्रश्न का सर्वोत्तम उत्तर उसको ज्ञात है। पर आरंभ में वह हीले करता रहा और इस हठ पर अड़ा रहा कि मैं उत्तर दाता बनूँ। पर अन्त में वह मान गया और बोला "सॉक्रातेस् की बुद्धिमत्ता को तो देखो, स्वयं तो किसी को कुछ सिखाना नहीं और दूसरों से सीखते फिरना तथा इसके लिये धन्य-वाद तक न देना!"

मैंने कहा "थ्रासीमाकस्, यह तो तुमने सत्य कहा कि मैं दूसरों से सीखता फिरता हूँ। पर इसके लिये मैं उनको धन्यवाद तक नहीं देता, तुम्हारा यह कथन सत्य नहीं है। मैं अपनी सामर्थ्यानुसार उनको अवश्य सब कुछ देता हूँ, धन तो मेरे पास है नहीं अतः मैं उनकी प्रशंसा कर अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। तो उसकी प्रशंसा के लिये मैं कैसा तैयार रहता हूँ, (यदि मेरी समझ में कोई अच्छी बात कहता है) इसका पता तुमको उत्तर देने पर शीघ्र ही चल जायगा; क्योंकि मेरा अनुमान है कि तुम बहुत अच्छा बोलोगे।"

वह बोला, "अच्छा तो सावधान हो कर सुनो। मेरा कहना यह है कि न्याय अधिक शक्तिशाली व्यक्ति के स्वार्थ (सुविधा) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लो अब मेरी प्रशंसा क्यों नहीं करते। नहीं, ऐसा तो तुम कभी नहीं करोगे।"

मैंने कहा, "पहले मुझे अपनी बात तो समझ लेने दो; यह अभी तक मेरी समझ में नहीं आई। तुम्हारा कहना है कि न्याय अधिक शक्तिशाली व्यक्ति का स्वार्थ है, पर इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है, थ्रासीमाकस् ? मैं ख्याल करता हूँ कि तुम्हारा इससे यह अभिप्राय तो हो नहीं सकता कि यदि मल्ल पॉलीडामस् हमसे अधिक शक्तिशाली है, और यदि शारीरिक-शक्ति बढ़ाने के लिये गोमांस खाना उसके लिये हितकर है तो ऐसा ही भोजन खाना हम दुर्बलों के लिये भी हितकर होगा अत: न्याय्य भी होगा।"

"सॉक्रातेस, तुम तो पशु तुल्य विदूषक ही जो ठहरे; तुमने मेरा कथन का ऐसा अर्थ समझा है कि जिससे उसको बड़ी सरलता से हानि पहुँचायी जा सकती है।"

मैंने कहा, "प्रिय मित्र, ऐसा तो कदापि नहीं है। मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ कि आप अपना अभिप्राय और अधिक स्पष्ट कर दें।"

उसने कहा, "अच्छा तो क्या तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि कुछ नगरों पर स्वेच्छाचारी शासकों का शासन है, कुछ पर प्रजातंत्र प्रणाली का और कुछ पर कुलीनों का ?"

"क्यों नहीं ?"

"और क्या प्रत्येक नगर में शासकदल में ही बढ़ कर शक्ति केन्द्रित नहीं है ?"

"निश्चय ही ऐसा है।"

"और फिर प्रत्येक सरकार ऐसे कानून बनाती है जो उसके स्वार्थ के अनुकूल होते हैं; प्रजातंत्रात्मक शासक, प्रजातंत्रात्मक कानून बनाते

हैं, स्वेच्छाचारी तानाशाह तानाशाही कानून बनाता है और शेष शासक भी ऐसा ही करते हैं। इस प्रकार के कानून बना कर वह यह घोषणा करते हैं कि जो कुछ उन शासकों के लिये सुविधाजनक है वही उनकी प्रजाओं के लिये न्याय है; और जो कोई व्यक्ति इस कानून का उल्लंघन करता है वही कानून का भंग करनेवाला और अन्यायी ठहराया जाता है और दंडित होता है। समझे श्रीमान्, इसलिये मैं समझता हूँ सब राष्ट्रों में न्याय का एक ही सिद्धान्त बरता जाता है—अर्थात् स्थापित सरकार का स्वार्थ। और मेरा ख्याल है कि बढ़ कर शक्ति शासक पक्ष में ही रहती है। अतः युक्तिसंगत तर्क का केवल एक ही निष्कर्ष हो सकता है कि सर्वत्र एकमेवाद्वितीय वस्तु—अर्थात् अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ—न्याय है।"

मैंने कहा, "तुम्हारा अभिप्राय तो अब मेरी समझ में आ गया, पर अब मैं यह जानने का प्रयत्न करूँगा कि यह सत्य है या नहीं। न्याय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में, थ्रासीमाकस्, तुमने स्वयं 'स्वार्थ' शब्द का प्रयोग किया है यद्यपि तुमने मुझको किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करने को मना कर दिया था। यह सत्य है कि तुमने उसके साथ "अधिक शक्तिशाली व्यक्ति का" यह शब्द और बढ़ा दिये हैं।"

उसने कहा "स्यात् तुम इसको एक तुच्छ-सी वृद्धि समझते हो।"

"यह देखना तो अभी शेष है कि यह वृद्धि तुच्छ है अथवा महत्त्व-पूर्ण। पर इतना स्पष्ट है कि तुम्हारे कथन की सत्यता का परीक्षण हमको अवश्य करना है। क्योंकि यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि न्याय किसी प्रकार का स्वार्थ है, पर तुम इसमें कुछ और शब्द जोड़ कर न्याय को अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ बतलाते हो, जिसके विषय में मुझे कुछ निश्चित ज्ञान नहीं है, अतः हमको इस शोध का आगे अनुसरण करना चाहिये।"

उसने कहा, "कीजिये न।"

१३—मैंने कहा' "ऐसा ही करूँगा। अच्छा तो यह बतलाइये कि

आप यह भी मानते ही हैं न, कि प्रजाओं को शासकों की आज्ञा मानना न्याय है ?"

"हाँ ।"

"क्या विभिन्न नगरों के शासक गलतियों से मुक्त हैं अथवा उनसे गलती होना सम्भव है ?"

उसने उत्तर दिया "अवश्य ही उनसे गलती होना सम्भव है ।"

"तब तो कानून बनाने के कार्य में वह कुछ कानून ठीक बनाते होंगे और कुछ ठीक नहीं बनाते होंगे । क्यों, ऐसा ही है न ?"

"हाँ मैं ऐसा ही समझता हूँ ।"

"और ठीक बनाने से अभिप्राय अपने स्वार्थ के अनुकूल, और ठीक नहीं बनाने से अभिप्राय उसके प्रतिकूल समझना चाहिये ? तुम यह मानते हो ?"

"हाँ ।"

"पर वह जो भी कानून बना दें प्रजाओं को उसको पालना चाहिये और यही न्याय है ?"

"निःसन्देह ।"

"तब तो तुम्हारे तर्क के अनुसार केवल अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ ही न्याय नहीं है बल्कि उसका उल्टा भी—अर्थात् वह भी जो कि उसके स्वार्थ के विरुद्ध है—न्याय है ।"

उसने उत्तर दिया "तुम यह क्या कह रहे हो ?"

"मेरा विचार है कि मैं वही कह रहा हूँ जो तुमने स्वयं कहा है । पर आओ इस विषय पर और सूक्ष्मता से विचार कर लें ।

"क्या हम इस बात पर सहमत नहीं हो चुके हैं कि शासक गण शासितों को आज्ञा देने में अपने हित के विषय में गलती कर सकते हैं, और शासक लोग प्रजा के लिये जो भी आज्ञा करें प्रजा के द्वारा उसका पालन किया

जाना न्याय है ? यह मान लिया गया है या नहीं ?"

उसने उत्तर दिया "हाँ, मैं समझता हूँ कि यह मान लिया गया है।"

मैंने कहा "जब कि तुम यह कहते हो कि प्रजाओं को शासकों की आज्ञा पालन करना न्याय है तब तो, उस दशा में जब कि शासक अनजाने में अपने हित के विरुद्ध आज्ञा करें, तुमको यह समझना ही होगा कि तुमने यह स्वीकार कर लिया है कि शासकों अर्थात् अधिक शक्तिशालियों के हित के विरुद्ध कार्य करना भी न्याय है। इस प्रकार, हे मतिमानों में श्रेष्ठ थ्रासीमाकस् ! क्या यह निष्कर्ष अनिवार्यरूपेण नहीं निकलता कि तुम्हारे कथन के नितान्त उलटा करना न्याय है ? क्योंकि उपर्युक्त अवस्था में निर्बलों को ऐसा कार्य करने की आज्ञा दी जाती है जो कि अधिक शक्तिशाली अथवा ऊँचे व्यक्तियों के हित के विरुद्ध है।"

पॉलीमार्कस बोला "भगवान् की सौगन्द, सॉक्रातेस् ! यह बात नितान्त स्पष्ट है।"

क्लाइतॉफोन ने कहा "अवश्य, यदि तुमको इसका साक्षी बनाया जाय।"

पॉलीमार्कस् ने कहा, "इसमें साक्षी की क्या आवश्यकता है ? थ्रासीमाकस् स्वयं मान चुके हैं कि शासक लोग कभी-कभी ऐसी आज्ञाएँ करते हैं जो उनके हित के विरुद्ध हैं, और तिस पर कहते हैं प्रजाओं के लिये ऐसा करना न्याय है।"

पॉलीमार्कस्, इसका कारण तो यह है कि थ्रासीमाक्स् ने यह सिद्धान्त बतलाया है कि शासकों की आज्ञा पालन करना न्याय है।"

"हाँ, क्लाइताफ़ोन, यह ठीक है; पर उन्होंने इस स्थिति को भी तो स्वीकार किया है कि अधिक शक्तिशाली का हित न्याय है। इन दो बातों को मान कर आगे चल कर उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कभी-कभी अधिक शक्तिशाली अपने से दुर्बलों और प्रजाओं को ऐसी आज्ञाएँ

करते हैं जो कि शासकों के लिये अहितकर हैं। इन सब स्वीकारोक्तियों का निचोड़ यह है कि अधिक शक्तिशालियों का हित उनके अहित की अपेक्षा अधिक न्याय नहीं है।"

क्लाइतॉफोन ने कहा, "क्या खूब, अधिक शक्तिशाली के स्वार्थ से उसका अभिप्राय वह बात थी जिसको शक्तिशाली व्यक्ति स्वयं अपना स्वार्थ मानता हो। छोटे लोगों को यही करना चाहिये, यही न्याय है। थ्रासीमाकस् की यह स्थिति है।"

पॉलीमार्कस् ने उत्तर दिया, "पर उसने जो कुछ कहा है वह यह तो नहीं है।"

मैंने कहा, "पॉलीमार्कस्, इससे क्या, यह तो व्यर्थ की बात है; पर यदि, अब उसका अभिप्राय यही है तो अब हम थ्रासीमाकस् के कथन को इसी अर्थ में स्वीकार किये लेते हैं।"

१४—"अच्छा थ्रासीमाकस्, मुझे बतलाइये कि क्या तुम्हारा यह अभिप्राय था कि जो अधिक शक्तिशाली को अपने लिये हितकर प्रतीत हो वही न्याय है, चाहे वह वास्तव में हितकर हो या न हो? क्या हम इसी को तुम्हारा तात्पर्य समझें?"

उसने उत्तर दिया "नहीं, कदापि नहीं, क्या तुम यह समझते हो कि मैं उस आदमी को जो कि गलती करता है, गलती करते समय अधिक शक्तिशाली कहूँगा ?

मैंने उत्तर दिया "हाँ, क्यों नहीं; जब तुमने यह मान लिया कि शासक गलती करने से मुक्त नहीं हैं बल्कि कभी-कभी गलती कर बैठते हैं, तब मैंने यही समझा कि तुम्हारा अभिप्राय लगभग यही है।"

"तुम्हारे ऐसा समझने का कारण यह है कि सॉक्रातेस्, शास्त्रार्थ में तुम चुगलखोर हो। क्या तुम रोग के विषय में गलती करने वाले मनुष्य को इसलिये वैद्य कहोगे कि उसने रोग के विषय में गलती की है, अथवा गणना

में गळती करने वाले को गळती करते समय उस गलती के लिये गणक कहोगे ? शब्दशः तो हम अवश्य ही यह कहते हैं कि वैद्य ने अथवा गणक ने अथवा बैयाकरण (लेखक या पाठशालाध्यापक) ने गलती की । पर मैं समझता हूँ कि यथार्थ बात यह है कि वैयाकरण अथवा अन्य कोई व्यक्ति जहाँ तक उसके नाम की सार्थकता है कभी गलती नहीं करता । क्योंकि शब्दों के नपे-तुले प्रयोग के विषय में तुम बहुत सावधान रहते हो। अतः बिलकुल नपी-तुली भाषा में यह कहा जा सकता है कि कोई चतुर शिल्पी गलती नहीं करता । गलती करने वाले गलती तब करते हैं जब उनकी विद्या उनका साथ नहीं देती—अर्थात् जब कि वह सच्चे अर्थ में शिल्पी नहीं रह जाते । अतः जब तक कोई शिल्पी, बुद्धिमान व्यक्ति अथवा शासक अपने नाम को सार्थक बनाने वाला रहता है कदापि गलती नहीं करता, यद्यपि सामान्यतः सभी लोग रात-दिन की बोल-चाल में कहा करते हैं कि अमुक वैद्य ने गलती की, अथवा अमुक शासक से गलती हुई । मेरे अभी-अभी दिये हुए उत्तर को तुम्हें इस प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा से व्यक्त होने वाले अर्थ में समझना चाहिये । पर बिलकुल नपी-तुली भाषा में कहा जाय तो कह सकते हैं कि शासक जब तक यथार्थ में शासक रहता है गलती नहीं करता और बिना गलती किये हुए वह जो कुछ कानून बनाता है वह उसके अपने स्वार्थ के लिये होता है, तथा प्रजा को उसी कानून का अनुसरण करना पड़ता है । अतः जैसा मैंने प्रारंभ में कहा था उसी को पुनः दुहराता हूँ, कि न्याय अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ है ।"

१५—मैंने कहा "बहुत अच्छा, थ्रासीमाकस्; तो क्या तर्क करने में, मैं तुमको पत्तेबाज़ प्रतीत होता हूँ ?"

उसने कहा "अवश्य ।"

"तो क्या तुम यह समझते हो कि मैं तुमसे यह प्रश्न छलने के विचार से पूछ रहा हूँ कि जिससे मैं बेईमानी से तुमको विवाद में परास्त कर सकूँ ?"

उसने कहा "समझना क्या, यह तो मैं निश्चितरूपेण जानता हूँ। फिर भी इन चालों से तुमको कुछ भी लाभ नहीं होगा; तुम्हारी प्रवञ्चना मुझ पर चल नहीं सकती और खुली युक्तियों से मुझे परास्त करने की शक्ति तुम में है नहीं।"

"प्रिय मित्र, भगवान् तुम्हारा भला करें, मैं तो ऐसी चेष्टा करने का विचार तक नहीं कर सकता! परन्तु आगे चल कर हमारे बीच इस प्रकार बुरी भावना उत्पन्न न हो इसलिये यह स्पष्ट बतला दो कि जब तुम यह कहते हो कि निर्बलों के लिये वही करना न्याय है जो कि शासक के स्वार्थानुकूल हो क्योंकि वह अधिक शक्तिशाली है तो तुम 'शासक' और 'अधिक शक्तिशाली' इन दो शब्दों का प्रयोग सामान्य व्यवहारिक अर्थ में करते हो अथवा उस नपे-तुले अर्थ में जिसके विषय में तुम अभी संकेत कर रहे थे।"

उसने कहा, "मैं 'शासक' शब्द का प्रयोग नितान्त नपे-तुले अर्थ में कर रहा हूँ। तुमसे जितनी पत्तेबाजी और कुटिलता बन पड़े कर लो; मैं दया की भीख नहीं माँगता। पर तुमको सफलता तो कदापि नहीं मिल सकती।"

मैं बोला, "अरे आप ऐसा विचार भी क्यों करते हैं कि मैं शेर की दाढ़ी पर हाथ डालने अथवा थ्रासीमाकस् के साथ पत्तेबाजी करने का पागलपन प्रदर्शित करूँगा?"

उसने कहा, "अभी क्षण भर पूर्व तुमने यही तो किया था, क्यों! ओछे ही ठहरे न। पर रहे बिलकुल असफल।"

मैंने उत्तर दिया, "अच्छा अब बस करो भाई! मुझे यह बतलाओ कि जिस वैद्य को तुम यथार्थ वैद्य कहते हो वह धनोपार्जक है या रोगियों को नीरोग करने वाला? यह याद रखना कि जो कुछ कहो वह वास्तविक वैद्य के विषय में हो।"

उसने उत्तर दिया, "रोगियों को नीरोग करने वाला ।"

"और निर्यामक—अर्थात् सच्चा निर्यामक ? वह केवल नाविक होता है या नाविकों का मुखिया ?"

"नाविकों का मुखिया ।"

"मैं ख्याल करता हूँ कि उसके विषय में यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि वह जहाज में रहता भी है या नहीं और न उसको नाविक का व्यपदेश ही दिया जाता है; क्योंकि वह जहाज में सवार होने के नाते निर्यामक नहीं कहलाता, बल्कि अपनी कला और नाविकों का शासक होने के कारण निर्यामक कहलाता है ।"

उसने कहा, "बिलकुल सत्य ।"

"तो क्या इनमें से प्रत्येक के लिये अपना-अपना स्वार्थ नहीं है ?"

"क्यों नहीं, अवश्य है ।"

मैंने कहा, "क्या यह सच नहीं है कि कला की सत्ता ही इस निमित्त है कि वह इनमें से प्रत्येक के स्वार्थ का आविष्कार करके उसकी उपलब्धि कराए ?"

"हाँ, कला का उद्देश्य यही है ।"

"तब क्या पृथक्-पृथक् कलाओं का हित अपनी परिपूर्णता की प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ और भी है ?"

"इस प्रश्न से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?"

मैंने कहा, "मान लो कि तुम मुझसे पूछो 'क्या शरीर के लिये शरीर होना पर्याप्त है अथवा उसको किसी अन्य वस्तु की भी आवश्यकता होती है' और मैं उत्तर दूँ 'उसको अवश्य अन्य वस्तु की भी आवश्यकता होती है । इसी कारण तो वैद्य-विद्या का अविष्कार हुआ है, क्योंकि शरीर दोषपूर्ण है और उसका दोष दुःखदायी होता है । अतः जो कुछ शरीर के हित के लिये वाञ्छनीय हो उसकी उपलब्धि के उद्देश्य के लिये ही आरोग्य-

कला बनी है।" तुम्हारे विचार में मेरा यह उत्तर देना ठीक होगा या नहीं ?"

उसने कहा, "ठीक होगा।"

"जिस प्रकार नेत्र की दृष्टि में दोष हो जाता है और कानों के सुनने की शक्ति में दोष उत्पन्न हो जाता है तथा इन इन्द्रियों के लिये ऐसी कला की आवश्यकता होती है जो इनके विषय में खोज करके इनकी शक्तियों को पुनः प्राप्त करा दे, इसी प्रकार क्या आरोग्य कला भी त्रुटिपूर्ण अथवा दोषपूर्ण है, अथवा क्या अन्य किसी भी कला को किसी गुण, शक्ति अथवा उत्तमता की आवश्यकता पड़ती है ? मैं पूछता हूँ कि क्या स्वयं कला में कोई त्रुटि होती है जिससे कि प्रत्येक कला को अपने हित-चिन्तन के लिये दूसरी कला की आवश्यकता पड़ती है और दूसरी को तीसरी की और इसी प्रकार अनन्त कलाओं तक क्रम चलता रहता है ? अथवा कला अपने हित का अन्वेषण स्वयं कर लेती है ? अथवा क्या यह तथ्य की बात है कि उसको अपने हित-चिन्तन और त्रुटि-मार्जन के लिये स्वतः अपनी अथवा अन्य किसी कला की आवश्यकता नहीं है ? क्योंकि किसी कला में कोई त्रुटि या दोष नहीं पाया जाता। और न किसी कला को अपने विषय को छोड़ अन्य किसी विषय का हित-चिन्तन ही करना उचित है। क्योंकि जब तक कोई कला यथार्थतया और पूर्णतया अपने स्वरूप को सुरक्षित रखती है तब तक वह सब विघातों और दोषों से मुक्त रहती है। इस प्रश्न पर शब्दों के नपे-तुले अर्थ में विचार कीजिये और कहिये कि ऐसा है अथवा नहीं ?"

उसने उत्तर दिया, "ऐसा ही प्रतीत होता है।"

मैंने कहा, "तो आरोग्यकला स्वयं आरोग्यकला के स्वार्थ का चिन्तन नहीं करती प्रत्युत शरीर के हित का चिन्तन करती है ?"

"हाँ।"

"और न अश्वारोहणकला स्वयं अश्वारोहणकला के स्वार्थ का चिन्तन करती है प्रत्युत अश्वों के स्वार्थों का, इसी प्रकार अन्य कोई कला भी अपने स्वार्थों पर दृष्टिक्षेप नहीं करती---क्योंकि उसको इसकी आवश्यकता ही नहीं होती---बल्कि अपने विषय के स्वार्थ का विचार करती है।"

उसने उत्तर दिया, "प्रतीत तो ऐसा ही होता है।"

"पर थ्रासीमाकस्, निश्चयरूपेण ही कला अपने विषय पर शासन करती है और उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है।"

उसने इस बात को स्वीकार तो किया पर यह बड़ी कठिनाई से उसके गले उतरी।

मैंने कहा, "तब तो कोई भी कला अधिक शक्तिशाली के हित का चिन्तन या आदेश नहीं करती प्रत्युत अपने से कम शक्तिवाले अपने विषय के हित का चिन्तन या आदेश करती है।"

उसने इस कथन पर भी बहुत कुछ विरोध खड़ा किया पर अन्ततोगत्वा यह भी उससे स्वीकार करवा लिया गया। जब वह मान गया, तो मैंने कहा "तब क्या हम यह बात अस्वीकार कर सकते हैं कि कोई भी वैद्य---यदि वह सच्चा वैद्य है---वैद्य के हित का अन्वेषण अथवा आदेश नहीं करता बल्कि रोगी के हित का करता है? क्योंकि इस बात पर तो हम सहमत हो चुके हैं कि वास्तव में वैद्य कहलाने का अधिकारी व्यक्ति शरीरों का शासक और नियन्ता होता है न कि धनोपार्जक। क्यों, हम इस विषय में एकमत हैं या नहीं?"

उसने इसको स्वीकार कर लिया।

"और इसी प्रकार निर्यामक कहलाने के योग्य व्यक्ति नाविकों का नियन्ता होता है न कि स्वयं नाविक।"

"यह बात भी मान ली गयी है।"

"तो इस प्रकार का निर्यामक और शासक स्वयं निर्यामक के हित का

विचार और आदेश नहीं करेगा प्रत्युत नाविकों के हित का विचार करेगा जो कि उसके अनुशासित हैं ।"

इस कथन को भी उसने कुछ आनाकानी करते हुए स्वीकार कर लिया।

मैंने कहा, "तब तो, थ्रासीमाकस्, शासकपदाधिरूढ़ कोई भी व्यक्ति, यदि वह यथार्थ में शासक है, अपने हित का विचार अथवा आदेश नहीं करता प्रत्युत उसके हित का चिन्तन करता है जिस पर वह शासन करता है और जिसके लिये वह अपने कौशल का प्रयोग करता है, तथा अपनी सारी कथनी एवं करनी में वह अपनी दृष्टि सर्वदा उस पर तथा उसके हित पर लगाय रहता है ।"

१.६.—जब कि हम शास्त्रार्थ में इस स्थल तक आ चुके थे, और प्रत्येक व्यक्ति को यह स्पष्ट भास रहा था कि उसकी न्याय की परिभाषा बिल्कुल उलट दी गयी है तब थ्रासीमाकस ने मेरी युक्ति का उत्तर न दे कर यह कहा "सॉक्रातेस्, तुम्हारे कोई धाय है ?"

मैंने कहा, "क्यों ? इस प्रकार की पूछगछ करने से अच्छा तो यह है कि तुम मेरे तर्क का उत्तर दो ।"

उसने कहा, "क्योंकि वह तुम्हारी नाक पोंछे बिना ही तुमको भिन-भिनाने को निकल जाने देती है, यद्यपि तुमको इस सफाई की बड़ी आवश्यकता है; उसकी असावधानी का परिणाम यह हुआ है कि तुम भेड़ और भेड़ चराने वाले तक का अन्तर नहीं समझते ।"

मैंने कहा, "तुम ऐसा किस कारण से सोचते हो ?"

"क्योंकि तुम सोचते हो कि गड़रिये और ग्वाले भेड़ों और डंगरों के हित का चिन्तन किया करते हैं और अपने मालिकों के और अपने लाभ की दृष्टि त्याग कर उन भेड़-बकरियों की भलाई के लिये उनको पुष्ट करते और चराते हैं; और इसी प्रकार मालूम पड़ता है कि तुम्हारा विचार

यह भी है कि हमारे नगरों के शासक—मेरा तात्पर्य वास्तविक शासकों से है—अपने शासितों के प्रति वैसी दृष्टि नहीं रखते जैसी कि भेड़ों का स्वामी अपनी भेड़ों के प्रति रखता है, और वह रात और दिन अपने हित-साधन के अतिरिक्त किसी अन्य बात का ही चिन्तन किया करते हैं। और न्यायी और न्याय तथा अन्यायी तथा अन्याय के विषय में तुम्हारी धारणा इतनी वितथ है कि तुमको इतना भी पता नहीं कि न्याय तो पर का—अर्थात् अधिक शक्तिशाली और शासक का हित है; और अपने लोगों की जो कि प्रजा और सेवक हैं हानि है। अन्याय इसका उलटा है। क्योंकि वह उन लोगों पर शासन करता है जो कि सच्चे अर्थ में सीधे साधे और न्यायी हैं जिससे कि उनको प्रजा रूप में वही करना पड़ता है जिससे कि अन्यायी मनुष्य का जो कि अधिक शक्तिशाली है हित हो और अपनी सेवाओं से उसके ही सुख को परिवर्द्धित करना पड़ता है और उनको अपने सुख को तनिक भी नहीं प्राप्त कर मिलता। भोलेभाले सॉक्रातेस्, इस विषय में तो तुमको इस प्रकार से विचार करना चाहिये कि अन्यायी मनुष्य की तुलना में न्यायी मनुष्य को सर्वदा हानि उठानी पड़ती है। सर्वप्रथम पारस्परिक व्यवहार का ही उदाहरण ले लो, जब कभी न्यायी और अन्यायी दोनों किसी व्यापार में साझा करेंगे तब साझे की समाप्ति पर तुम कभी ऐसा नहीं देखोगे कि न्यायी मनुष्य को अन्यायी से अधिक धन मिला हो बल्कि उसको सर्वदा कम ही मिलता है। फिर राज्य से जो इनका सम्बन्ध है उसको लो, जहाँ प्रत्यक्ष कर देने का प्रश्न आता है तो बराबर सम्पत्ति पर न्यायी मनुष्य अधिक कर देता है और अन्यायी कम और जब राज्य की ओर से धन का वितरण होता है तो अन्यायी बढ़ कर हाथ मारता है और न्यायी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। और इसी प्रकार जब यह दोनों किसी पद पर अधिकारारूढ़ होते हैं तो अन्य हानियों से बिलकुल अलग न्यायी मनुष्य को यह हानि तो उठानी पड़ती ही है कि उसका निजी कार्य

उपेक्षित होकर गड़बड़ी में पड़ जाता है, तथा न्यायी होने के कारण वह राज्य के दिये पदाधिकार से स्वयं कोई लाभ नहीं उठाता, इतना ही नहीं बल्कि इसके साथ ही साथ वह अपने इष्ट-मित्रों और परिचितों को अप्रसन्न कर देता है क्योंकि वह अन्यायपूर्वक उनकी सेवा करना नहीं चाहता। पर अन्यायी मनुष्य के लिये प्रत्येक बात इससे उलटी होती है। पूर्ववत्, मेरा तात्पर्य ऐसे ही मनुष्य से है जो कि अत्यधिक परिमाण में अन्याय करने की क्षमता रखता है। यदि तुम इस बात की जाँच करना चाहो कि न्यायी होने की अपेक्षा अन्यायी होना व्यक्तिगत रूप में कितना अधिक लाभदायक है तो तुमको इसी प्रकार के मनुष्य के विषय में विचार करना चाहिये। तथा इस बात को समझने का सरलतम उपाय सर्वाधिक परिपूर्ण अन्याय के स्वरूप का पर्यवेक्षण करना है, जो अन्याय का प्रकार बुरा करने वाले मनुष्य को सबसे अधिक सुखी बनाता है, एवं जिनके प्रति अनिष्ट किया जाता है तथा तो इच्छा पूर्वक बुराई का प्रतिकार बुराई से नहीं करना चाहते, उनको परम दुःखी बनाता है। एवं यह अन्याय का स्वरूप तानाशाही पद्धति है जो कि छल और बल से सब प्रकार के परस्व का अपहरण करती है चाहे वह धार्मिक हो या लौकिक, व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, और सो भी थोड़ा-थोड़ा करके नहीं बल्कि, एक ही झपट्टे में। इन अपराधों को यदि कोई पृथक्-पृथक् एक-एक करके करता है और उसका पता लग जाता है तो उसको दण्ड का भागी बनना पड़ता है और समाज में उसकी बदनामी होती है; क्योंकि इस प्रकार के खण्डशः अपराधों के दोषी, देवमन्दिरों के लुटेरे, मानवहरणकारी, सेंधलगानेवाले, धोखेबाज़ और चोर इत्यादि कहलाते हैं। पर जब कोई आदमी नागरिकों के सम्पत्ति के अपहरण के साथ ही साथ स्वयं उन नागरिकों का भी अपहरण करके उनको दास बना लेता है तब वह मनुष्य न केवल अपने साथी नागरिकों के द्वारा बल्कि उन अन्य मनुष्यों के द्वारा भी, जो कि ऐसे परिपूर्ण अन्याय करने वाले

मनुष्य की कहानी सुनते हैं, इन बुरे नामों से नहीं पुकारा जाता बल्कि सुखी और सुकृति कहलाता है। क्योंकि मनुष्य अन्याय की निन्दा इस कारण नहीं करते कि वे उसको करने से डरते हैं बल्कि इसलिये करते हैं कि उनको अन्याय सहन करने का भय है। अतः हे सॉक्रातेस्, पर्याप्तिरूपेण महत्परिमाण में किया गया अन्याय, न्याय की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली, अधिक स्वच्छन्द, तथा अधिक अधिकारपूर्ण है और जैसा कि मैंने आरंभ में ही कहा था अधिक शक्तिशाली का हित ही न्याय है, तथा अन्याय वह है जिससे मनुष्य को स्वतः लाभ होता है और उसके हित की सिद्धि होती है।"

१७—जैसे कि निहलाने वाला एकदम किसी के ऊपर पानी उँडेल देता है इसी प्रकार जब थ्रासीमाकस् ने अपनी वक्तृता का प्रवाह एक साँस में हमारे कानों में उँडेल दिया तब वह वहाँ से जाने का विचार करने लगा। परन्तु उपस्थित मण्डली उसको जाने नहीं देना चाहती थी, उनका आग्रह यह था कि वह ठहरे और जो कुछ उसने कहा उसका ब्यौरा उपस्थित करे। मैं स्वयं तो विशेषरूप से उत्सुकतापूर्वक आग्रहवान् था और इसलिये मैंने कहा "थ्रासीमाकस्, मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ा आश्चर्य होता है; हमारे ऊपर इस प्रकार की वक्तृता का प्रहार करके क्या यह हो सकता है कि तुम हमको बिना यह सिखाये अथवा स्वयं बिना यह सीखे कि वास्तव में यह बात ऐसी ही है या नहीं चले जाना चाहते हो, क्या तुम यह समझते हो कि जिस विषय का तुम निर्धारण कर रहे हो वह एक तुच्छ-सी बात है न कि जीवन-यापन करने का वह परिपूर्ण प्रकार जो कि हममें से प्रत्येक की जीवन-यात्रा को महत्त्वपूर्ण बनाने वाला है ?"

थ्रासीमाकस्, "इस विषय में मेरा तुमसे कोई मतभेद कहाँ है।"

मैंने कहा, "मालूम तो पड़ता है, अथवा यह बात है कि तुमको हमारी चिन्ता ही नहीं है तभी तो तुम इस विषय में उदासीन हो कि तुम्हारे अधिकृत ज्ञान को न जान कर हमारा जीवन अच्छा बीतेगा या बुरा। नहीं,

भले आदमी ऐसा न करो, अपना ज्ञान हम लोगों को भी प्रदान करने का अनुग्रह करो; इतनी बड़ी मंडली की भलाई करना निश्चय ही पूंजी को लाभदायक व्यापार में लगाना है। अपने विषय में तो मैं तुमसे स्पष्ट कहे देता हूँ कि मुझे तो अभी समाधान हुआ नहीं है और न मैं यही समझता हूँ कि अन्याय, न्याय की अपेक्षा अधिक लाभदायक है, ऐसा तो तब भी नहीं होगा जब कि कोई उसको खुली छूट दे दे और उसकी इच्छा पर कोई रुकावट न डाले। पर, महानुभाव, मान लीजिये कि कोई मनुष्य अन्यायी है और या तो पता न चलने के कारण (छल से) अथवा जोर-ज़बरदस्ती (बल) से वह अन्याय का अनुसरण करता है तो भी मुझको तो यह विश्वास उत्पन्न नहीं होता कि इस प्रकार का कार्यक्रम न्याय की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। यह हो सकता है कि हमारे बीच में और भी कोई ऐसे हों जिनके विचार मेरे ही समान हैं, और ऐसे विचारों वाला मैं अकेला ही न होऊँ। मेरे उत्तमगुणसंपन्न मित्र, हमको समझा-बुझा कर संतोषप्रद प्रकार से आश्वस्त कर दीजिये कि हम लोग न्याय को अन्याय से बढ़ कर मानने में गलती पर हैं।"

उसने कहा, "पर मैं तुमको समझाऊँ कैसे ? जो कुछ मैं अभी-अभी तुमसे कह रहा था यदि उससे भी तुमको विश्वास न हुआ हो तो मैं तुम्हारे लिये और अधिक क्या कर सकता हूँ ? क्या मैं युक्ति को लेकर तुम्हारे कपाल में ठूंसू ?"

मैंने कहा, "भगवान के नाम पर ऐसा मत करना ! पर पहले तो तुम जो कुछ कहते हो उस पर स्थिर रहो अथवा, यदि तुम अपनी स्थिति को बदलो तो बिना किसी प्रवंचना के खुले प्रकार से बदलो। यदि हम पूर्वोक्त उदाहरणों पर दृष्टिपात करें तो, थ्रासीमाकस्, इस समय स्थिति यह है कि यद्यपि तुमने वैद्य को ठीक-ठीक नपी-तुली परिभाषा के अनुसार विचार किया परन्तु तत्पश्चात् तुमने गड़रिये के उदाहरण में ठीक-ठीक

नपी-तुली परिभाषा पर डटे रहना उचित नहीं समझा, प्रत्युत तुम्हारा विचार यह हो गया कि गड़रिया—यथार्थ गड़रिया होते हुए—अपनी भेड़ों को उनकी सर्वोत्तम भलाई की दृष्टि से नहीं चराता बल्कि एक ऐसे मनुष्य की दृष्टि से चराता है कि जो भोजप्रिय है और भोज के लिये निमंत्रित है (अतएव मोटी भेड़ के मांस को सुस्वादु समझता है) अथवा धनोपार्जक के सदृश उनको बेचने की दृष्टि से, न कि यथार्थ गड़रिये की दृष्टि से, उनको चराता है। पर मेरी समझ में गड़रिये की कला का, चिन्ता का विषय केवल अपने अधिकारभुक्तों की सर्वोत्तम भलाई प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि जहाँ तक इस कला की अपनी परिपूर्णता का प्रश्न है वह तो, (यदि कला अपने नाम के अर्थ को चरितार्थ करती रहे) स्वयं पर्याप्तरूपेण उपलब्ध हो जाती है। इसी प्रकार मैं समझता था कि हम अभी यह मानने को बाध्य हो चुके थे कि नागरिक और व्यक्तिगत शासन में समान रूप से प्रत्येक प्रकार का शासन यदि वह सच्चा शासन है, केवल इसी बात पर दृष्टि रखता है कि उसके शासितों की अथवा आश्रितों की सर्वोत्तम भलाई किस बात में है। इस विषय में तुम्हारा विचार क्या है ? क्या तुम यह समझते हो कि हमारे नगरों के शासक और पदाधिकारी—अर्थात् वास्तविक शासक इच्छापूर्वक पदारूढ़ और शासनारूढ़ हैं ? क्यों ?"

उसने कहा, "इसमें समझने की क्या बात है. यह तो मेरा दृढ़ विश्वास है।"

१८—"पर थ्रासीमाकस्, अन्य सामान्य कोटि के शासन पदों के विषय में तुम्हारा क्या विचार है ? क्या तुम नहीं देखते कि साधारण शासन पद को, बिना उसके लिये वेतन पाये, कोई भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होता जिसका निहितार्थ यह होता है कि इन पदों पर काम करने से पदाधिकारी को लाभ नहीं पहुँचेगा प्रत्युत उन लोगों को पहुँचेगा जिनके

ऊपर पदाधिकारी शासन करेगा ? आप मुझे इस प्रश्न का उत्तर दें, हम साधारणतया कहा करते हैं न, कि प्रत्येक कला दूसरी कला से इसलिये भिन्न होती है कि उसकी शक्ति अथवा व्यापार दूसरी कला से भिन्न है ? मेरे प्रिय श्रेष्ठ सखा, हम लोग विवेचन में आगे किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें अतः अपने वास्तविक विश्वास के विपरीत उत्तर न देने की कृपा कीजिये।"

उसने उत्तर दिया, "अच्छा, हाँ उनमें यही भेद है।"

"और क्या प्रत्येक कला हमको अपना ऐसा विशेष लाभ नहीं पहुँचाती जो कि सर्वकलानिष्ठ सामान्य नहीं होता, बल्कि विशेष रूप से प्रत्येक कला में पृथक्-पृथक् पाया जाता है ? उदाहरणार्थ वैद्यक-कला हमको स्वास्थ्य प्रदान करती है, निर्यामिक-कला समुद्र यात्रा में रक्षा करती है और इसी प्रकार दूसरी कलायें भी ?"

"निश्चय ही।"

"और क्या वृत्युपार्जन-कला से हमको वृत्ति की प्राप्ति नहीं होती ? क्योंकि उस का कार्य यही है। परन्तु हम इस कला को अन्य कलाओं के साथ इसी प्रकार मिश्रित नहीं कर सकते जिस प्रकार हम वैद्यककला और निर्यामिक-कला को एकमेवाद्वितीय नहीं मान सकते। क्योंकि यदि तुम ठीक-ठीक नपा-तुला विवेचन करो जैसा तुमने करना स्वीकार कर लिया है, तो यदि निर्यामिक -कार्य करते हुए समुद्र यात्रा के सुप्रभाव से निर्यामिक को स्वास्थ्य प्राप्ति हो तो भी तुम निर्यामिक-कला को वैद्यक-कला नहीं कहोगे। क्यों ठीक है न ?"

उसने कहा, "अवश्य ही नहीं।"

"और मैं समझता हूँ कि यदि कोई मनुष्य वेतन पाते हुए स्वस्थ बना रहे तो तुम वृत्युपार्जन-कला को वैद्यक-कला भी नहीं कहोगे।"

"निश्चय ही नहीं।"

"अच्छा तब यदि कोई मनुष्य चिकित्सा करते हुए फीस पाये तब क्या तुम वैद्यक-कला को वृत्युपार्जन-कला का नाम दोगे ।"

उसने कहा, "नहीं।"

"और क्या हम इस विषय में एक मत नहीं हो चुके हैं कि प्रत्येक कला से प्राप्त होने वाला लाभ विशिष्ट प्रकार का होता है ?"

उसने कहा, "ऐसा ही सही।"

"तब तो जो कुछ भी सामान्य अथवा सर्वतोनिष्ठ लाभ जो कि सब कलाविदों को प्राप्त होता है, स्पष्टतया किसी ऐसी अन्य वस्तु के कारण प्राप्त होता होगा जिसका वह सब उपयोग करते हैं।"

उसने कहा, "ऐसा ही प्रतीत होता है ।"

"और जब किसी कलाविद को वृत्युपार्जन का भी लाभ प्राप्त होता है तो हम कहते हैं उसको यह लाभ वृत्युपार्जन की अतिरिक्त कला अर्थात् वृत्युपार्जन-कला के व्यापार से उपलब्ध हुआ है और यह वृत्यु-पार्जन कला उनकी मुख्य कला से पृथक् है ।"

उसने इस बात को कुछ आनाकानी करते हुए स्वीकार किया ।

"तब तो वेतन का लाभ प्रत्येक कलाविद को अपनी विशिष्ट कला से प्राप्त नहीं होता । बल्कि यदि हम ठीक-ठीक विचार करें तो पता चलेगा कि वैद्यक-कला स्वास्थ्य उत्पन्न करती है और वृत्युपार्जन-कला वृत्ति प्रदान करती है; वास्तु-कला भवन निर्माण करती है और उसकी सहचरी वृत्यु पार्जन-कला वृत्युपार्जन करती है, और यही बात अन्य कलाओं पर भी लागू होती है कि प्रत्येक कला अपना विशिष्ट कार्य करती है और जिस विषय पर जिस कला का अधिकार है उसको लाभान्वित करती है; परन्तु यदि कलाविद् को अपनी कला के प्रयोग के लिये वेतन न मिले तो क्या उसको कोई लाभ प्राप्त होगा ?"

उसने कहा, "स्पष्ट है कि नहीं होगा ।"

"तब क्या बिना वेतन पाये काम करके वह दूसरों को भी लाभान्वित नहीं करता ?"

"क्यों नहीं, मैं ख्याल करता हूँ, अवश्य करता है।"

"तब तो थ्रासीमाकस्, क्या यह प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं है कि कोई भी कला अथवा शासकसंस्था अपने हित का प्रबन्ध नहीं करती—प्रत्युत, जैसा कि हमने बहुत पहले कहा था, वह अपने विषय के हित के ही प्रबन्ध का आदेश करती है और जो दुर्बल है उसके स्वार्थ पर दृष्टि रखती है न कि अधिक बलवान के स्वार्थ पर ? और मेरे प्रिय मित्र थ्रासीमाकस् ! यही कारण है, जैसा मैं अभी कह रहा था, कि क्यों कोई भी व्यक्ति इच्छापूर्वक शासन करना अथवा पद स्वीकार करना अथवा अन्य लोगों की बुराइयों (विपत्तियों) के शोधन का कार्य अपने हाथ में नहीं लेना चाहता बल्कि सब कोई इस कार्य के लिये वेतन चाहते हैं। क्योंकि प्रत्येक सच्चा कलाविद् जो कि अपनी कला का उचित उपयोग करना चाहता है, कदापि ऐसा कार्य नहीं करता जो स्वयं उसके लिये उत्तम हो, अथवा जब दूसरों को आदेश करता है तो भी उसकी दृष्टि अपने स्वार्थ पर नहीं रहती, बल्कि वही आदेश करता है जो उसके शासितों के लिये उत्तम होता है। अतः, प्रतीत होता है, यही कारण है कि क्यों शासकों को शासन कार्य के लिये राजी करने के लिये या तो धन के रूप में या आदर के रूप में और या राजी न होने पर दण्ड के रूप में वृत्ति का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिये।"

१९—ग्लौकोन ने कहा, "सॉक्रातेस् इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? पहले दो वृत्ति के प्रकार तो मेरी समझ में आते हैं, पर जिस दण्ड का तुम वृत्ति के रूप में वर्णन करते हो वह मेरी समझ में नहीं आता।"

मैंने कहा, "तब तो तुम सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों के उस वेतन को नहीं समझते जिसके लिये उत्तम आत्माएँ शासन कार्य करना स्वीकार करके पदारूढ़ हो शासनकार्य चलाती हैं। क्या तुम नहीं जानते कि धन का और सम्मान

का लोभी होना अप्रशंसनीय माना जाता है और वास्तव में है भी ऐसा ही ?"

"यह तो मैं जानता हूँ ।"

उसने कहा, "नितान्त ठीक है ।"

मैंने कहा' "तभी तो; यही कारण है कि सज्जन पुरुष शासन करने के इच्छुक न तो धन के लिये होते हैं और न सम्मान के लिये । वे न तो अपने शासनकर्तव्य के पालन करने के लिये खुले वेतन वसूल करके भाड़े के टट्टू कहलाना चाहते हैं, और न पद से चोरी करके वेतन निकाल कर चोर कहलाना चाहते हैं और न सम्मान के लोभ से कार्यभार ग्रहण करना चाहते हैं क्योंकि उनको नाम कमाने की आकांक्षा नहीं होती । अतः वे लोग शासकपद ग्रहण करने को राजी हो सकें इसके लिये कोई दबाव या दण्ड उनको बाध्य करने के लिये अवश्य होना ही चाहिये । स्यात् यही कारण है कि बाध्य होने की प्रतीक्षा विना किये स्वतः शासकपद को प्राप्त करने का उद्योग करना अप्रशस्य माना जाता है । परन्तु यदि कोई मनुष्य स्वयं पदारूढ़ होकर शासन करने के लिये राजी न हो तो उसके लिये सब से बुरा दण्ड बुरे मनुष्यों से शासित होना है । जैसा कि मुझको सूझ पड़ता है, जब कभी सज्जन पुरुष शासक-पदारूढ़ होते हैं तो वे इसी दण्ड के भय से होते हैं, और तब भी वह उस पद को कोई आनन्द भोगने का स्थान समझ करअथवा अच्छी वस्तु समझ कर स्वीकार नहीं करते बल्कि यह समझते हैं कि यह एक अनिवार्य बुराई है, और क्योंकि वह उसको किन्हीं ऐसे मनुष्यों को सौंप नहीं सके जो कि उनसे अधिक अच्छे हों अथवा उनके समान ही भले हों क्योंकि ऐसे मनुष्य मिले नहीं । यदि कोई नगर बिल्कुल भलेमानुसों से ही निवसित हो तो संभावना इस बात की है कि उस नगर में पदग्रहण से मुक्ति पाने के लिये इतनी प्रतिस्पर्धा होगी, जितनी आजकल पदग्रहण करने के लिये होती है । तब यह बात बिलकुल स्पष्टतया सिद्ध

हो जायगी कि सचमुच ही वास्तविक शासक स्वाभाविकतया अपने स्वार्थ पर दृष्टि नहीं रखता प्रत्युत शासितों के स्वार्थ पर ध्यान देता है और परिणाम यह होगा कि कोई भी सूझबूझवाला मनुष्य दूसरों को लाभान्वित करने की झंझट ओढ़ने की अपेक्षा दूसरों के द्वारा लाभान्वित होना अधिक पसन्द करेगा। अतः मैं थ्रासीमाकस् की यह परिभाषा कि न्याय अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ है कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। पर इस बिवाद को इस समय छोड़िये, फिर कभी इसकी चर्चा की जायगी; क्योंकि थ्रासीमाकस् ने जो कथन अभी-अभी उपस्थित किया है कि अन्यायी मनुष्य का जीवन न्यायी मनुष्य के जीवन की अपेक्षा कहीं बढ़ कर है, यह बात मुझको प्रस्तुत विवेचन की अपेक्षा अत्यन्त अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। ग्लौकोन, तुम किस पक्ष को पसन्द करते हो, और तुम्हारी सम्मति में कौन सा कथन अधिक सत्य है ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं तो यह कहता हूँ कि न्यायी मनुष्य का जीवन अधिक लाभपूर्ण है।"

मैंने पूछा "क्या तुमने उन सब लाभों और सुविधाओं को सुना जो थ्रासीमाकस् ने अभी अन्यायपूर्ण जीवन में प्राप्त होते हुए गिनाये हैं ?"

उसने कहा, "मैंने उन्हें सुना अवश्य पर मेरा समाधान नहीं हुआ।"

"तो क्या तुम यह चाहते हो कि यदि कोई उपाय हो तो हम उसको यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करें कि उसने जो कुछ कहा है वह सत्य नहीं है ?"

उसने कहा, "यह तो मैं अवश्य ही चाहता हूँ।"

"तो यदि हम सुव्यवस्थित वक्तृताओं में युक्ति, प्रतियुक्ति द्वारा विवेचन को चालू रक्खें—मैं उसके विरोध में न्यायी जीवन के लाभों की तालिका उपस्थित करूँ वह उस वक्तृता का उत्तर दे, तब मैं प्रत्युत्तर दूँ तब तो हमको पृथक्-पृथक् वक्तृताओं में उपस्थित की गई लाभों की सूचियों

की गणना और नाप-जोख करनी पड़ेगी और तत्पश्चात् अन्त में दोनों पक्षों के बीच निर्णय करने के लिये हमको न्यायाधीशों की आवश्यकता होगी। परन्तु यदि हम अपने अनुसंधान में, परस्पर एक दूसरे की उचित बात से सहमत होते हुए चलें, जैसा कि हमने अब तक के विवेचन में किया है तो हम अपने आप ही न्यायाधीशों और वकीलों का स्थान ग्रहण कर सकेंगे।"

उसने कहा, "बिल्कुल ऐसा ही सही।"

मैंने कहा, "तो तुमको कौन सा ढंग पसन्द है?"

वह बोला, "यही जो तुमने अभी वर्णन किया है।"

२०—मैंने कहा, "आइये थ्रासीमाकस्, फिर से आरंभ से चलिये और हमारे प्रश्न का उत्तर दीजिये। क्या तुम्हारा यह कहना है कि परि-पूर्ण और समग्र अन्याय, समग्र न्याय की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है?"

उसने कहा, "हाँ मेरा यही कहना है और मैंने अपने इस कथन के कारण भी तुमको बतला दिये हैं।"

"अच्छा कृपया मुझे यह बतलाइये कि उनके विषय में इस दृष्टि से आप का क्या विचार है? मैं समझता हूँ कि तुम स्यात् उनमें से एक को सद्गुण और दूसरे को दुर्गुण कहोगे?"

"अवश्य।"

"अर्थात् न्याय को सद्गुण और अन्याय को दुर्गुण?"

"वाह रे बुद्धू, क्या ही उचित उत्तर है, और यह तब जब कि मैं कह चुका हूँ कि अन्याय लाभप्रद है और न्याय लाभप्रद नहीं है।"

"तो फिर तुम क्या कहते हो कृपा कर कहो?"

उसने उत्तर दिया, "तुम्हारे कथन का बिलकुल उल्टा।"

"क्या! न्याय को दुर्गुण?"

"नहीं, मैं उसको परम उदार सरल स्वभाव अथवा सदाशयता कहता हूँ।"

"तब क्या अन्याय को तुम अनुदार स्वभाव अथवा दुराशयता कहोगे ?"

"नहीं, मैं उसको चातुर्य कहता हूँ।"

"थ्रासीमाकस्, क्या तुम यह ख्याल करते हो कि अन्यायी मनुष्य बुद्धिमान और भले होते हैं ?"

उसने कहा, "हाँ, यदि उनमें परिपूर्ण अन्याय करने की क्षमता हो और वे पूरे नगरों और जनसमूहों को अपने वशवर्ती बनाने में समर्थ हों। पर स्यात् तुम यह समझते हो कि मेरा तात्पर्य गिरहकटों से है, और मैं मानता हूँ कि यदि ऐसे लोगों का पता न चले तो उनका काम भी लाभप्रद है; परन्तु जिन लोगों का मैंने अभी वर्णन किया है उनकी तुलना में यह बातें बिलकुल भी ध्यान देने योग्य नहीं हैं।"

मैंने कहा, "इस विषय में मैं तुम्हारे अभिप्राय से अपरिचित नहीं हूँ; परन्तु इस बात ने मुझे अवश्य आश्चर्यचकित कर दिया कि तुमने अन्याय को सद्गुण और बुद्धिमत्ता की श्रेणी में स्थापित किया एवं न्याय को इसके बिलकुल विपरीत स्थान दिया।"

उसने कहा, "सो तो अब भी मैं वैसा ही विचार रखता हूँ।"

मैंने कहा, "मित्र ! यह तो बड़ा ही विषम (कठोर, अथवा दुराग्रह-पूर्ण) कथन है, और यदि तुम्हारा यही आग्रह है तब तो सूझता नहीं कि उत्तर में क्या कहा जाय। क्योंकि यदि तुम्हारी स्थिति यह होती कि अन्याय को लाभदायक कहते हुए भी तुम उसका दुर्गुण और अश्लाघ्य होना मान लेते, जैसा कि कुछ अन्य विवेचक मानते हैं, तो साधारणतया परंपरागत धारणा के अनुसार तुमको उत्तर देना संभव था। पर अब तो स्थिति यह है कि तुम इसको आदरणीय और शक्तिशाली तक कहोगे और इसमें

उन सब गुणों का आरोप करोगे जिनका संबंध हम न्याय से जोड़ते हैं, क्योंकि तुम तो इसको सद्गुण और बुद्धिमत्ता की श्रेणी में रखते हुए नहीं हिचकिचाते ।"

उसने उत्तर दिया, "आप का वचन परम सत्य है ।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है । जब तक कि मैं यह समझता हूँ कि तुम जैसा विचार करते हो वैसा ही कह रहे हो तब तक अपने अनुसंधान के तर्क का अनुसरण करने में मुझे कोई संकोच नहीं होना चाहिये । क्योंकि, थ्रासीमाकस् अब तो मैं पूर्णतया यह विश्वास करता हूँ कि तुम हमारा परिहास नहीं कर रहे हो, प्रत्युत गम्भीरतापूर्वक सत्य के विषय में अपना मत बतला रहे हो ।"

उसने कहा, "मैं इसमें विश्वास करता हूँ अथवा नहीं, तुम्हारे लेखे इससे क्या अन्तर पड़ता है ? इससे तुमको क्या ? तुम युक्ति की परीक्षा क्यों नहीं करते ?"

मैंने कहा, "मेरे लेखे कोई अन्तर नहीं पड़ता । पर तुम जो कुछ कह चुके हो उससे आगे एक प्रश्न का उत्तर देने की और कृपा करो । क्या तुम्हारा ख्याल है कि कोई न्यायी मनुष्य किसी अन्य न्यायी मनुष्य को प्रतारित अथवा पश्चात्पद करने का प्रयत्न करेगा ?"

उसने कहा, "कदापि नहीं । अन्यथा वह इतना मोदप्रद बुद्धू जो नहीं रहेगा !"

"और क्या वह किसी न्यायानुकूल कार्य को प्रतारित, पश्चात्पद अथवा अतिगत करेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं ऐसा भी नहीं करेगा ।"

"पर वह अन्यायी मनुष्य के प्रति कैसा बर्त्ताव करेगा—क्या यह अन्यायी मनुष्य को ठगना उचित समझेगा अथवा उचित नहीं समझेगा ?"

उसने कहा, "उचित तो समझेगा, और प्रयत्न भी करेगा कि उससे

बढ़ जाये पर वह इसमें कृतकार्य नहीं होगा।"

मैंने कहा, "यह तो मेरा प्रश्न ही नहीं है, बल्कि यह है कि क्या यह तथ्य नहीं है कि न्यायी मनुष्य दूसरे न्यायी मनुष्य को ठगने का दावा अथवा इच्छा नहीं करता प्रत्युत केवल अन्यायी मनुष्य को प्रतारित करने की इच्छा करता है ?"

उसने उत्तर दिया, "यही तथ्य है।"

"और अन्यायी मनुष्य के विषय में तुम्हारी क्या राय है ? क्या वह न्यायी मनुष्य और न्यायानुकूल कार्य का अतिक्रमण करना चाहेगा ?"

उसने कहा, "अवश्य ! क्योंकि वह तो सब को प्रतारित करके सब से बढ़ कर बनना चाहता है।"

"तब तो अन्यायी मनुष्य अन्य अन्यायी मनुष्य और अन्यायानुकूल कार्य दोनों को ही प्रतारित और अतिक्रान्त करना चाहेगा और सर्वत्र सब चीजोंमें उसका उद्योग अपने लिये सर्वाधिक लाभ प्राप्त करना होगा।"

"सत्य है।"

२१—मैंने कहा, "यह बात इस प्रकार कहें, न्यायी मनुष्य अपने समान लक्षण वाले मनुष्य का अतिक्रमण नहीं करता प्रत्युत विपरीत लक्षणवाले का करता है परन्तु अन्यायी मनुष्य दोनों का ही अतिक्रमण कर जाता है।"

उसने कहा, "प्रशंसनीय कथन है।"

"और अन्यायी मनुष्य सज्जन और बुद्धिमान होता है और न्यायी दोनों में से एक भी नहीं।"

उसने कहा, "आपनेफिर बहुत ठीक कहा।"

मैंने कहा, "क्या यह भी ठीक नहीं है कि अन्यायी मनुष्य बुद्धिमान और सज्जनों के सदृश होता है और न्यायी मनुष्य उनके सदृश नहीं होता ?"

उसने कहा, "अवश्य। जो कोई मनुष्य एक विशिष्ट प्रकार के स्वभाव वाला होता है वह वैसे ही स्वभाव वाले अन्य मनुष्यों के सदृश होता है और

जो वैसे स्वभाव वाला नहीं होता वह उनके सदृश नहीं होता।"

"बहुत सुन्दर बात है। तब तो प्रत्येक व्यक्ति ऐसा ही होता है जैसा कि उसके समान व्यक्ति होते हैं।"

उसने कहा, "क्यों, क्या आप के ख्याल में कुछ और होना चाहिये ?"

"बहुत अच्छा। थ्रासीमाकस ! यह बतलाओ कि क्या (कला के क्षेत्र में) तुम एक मनुष्य को संगीतज्ञ कहते हो और दूसरे को असंगीतज्ञ कहते हो ?"

"हाँ कहता हूँ।"

"उनमें से कौन बुद्धिमान है और कौन मूर्ख ?"

"मेरी समझ में संगीतज्ञ बुद्धिमान होता है और असंगीतज्ञ नहीं।"

"और क्या वह उन्हीं बातों में अच्छा नहीं है जिनमें कि वह बुद्धिमान है और उन्हीं बातों में बुरा नहीं है जिनमें कि वह बुद्धिमान नहीं है ?"

"हाँ, ठीक है।"

"और वैद्य के विषय में भी यही बात लागू होती है न ?"

"हाँ।"

"मेरे श्रेष्ठ मित्र, तब क्या तुम्हारा ऐसा ख्याल है कि वीणा का स्वर मिलाते समय तारों को कसने या ढीला करने में एक संगीतज्ञ दूसरे संगीतज्ञ का अतिक्रमण करना चाहेगा अथवा उससे बढ़कर होने का दावा करना चाहेगा ?"

"नहीं, मैं ऐसा ख्याल नहीं करता।"

"क्या वह असंगीतज्ञ से बढ़ कर होना चाहेगा ?"

उसने कहा, "अवश्य ही।"

"और वैद्य के विषय में तुम क्या कहोगे ? क्या खानपान के पथ्यापथ्य के निर्णय में वह वैद्यों का और वैद्य की परिपाटी का अतिक्रमण करना चाहेगा ?"

"अवश्य ही नहीं।"

"पर जो मनुष्य वैद्य नहीं है उसका वह अतिक्रमण करना चाहेगा ?"

"हाँ ।"

"अच्छा, अब सब प्रकार के ज्ञान और अज्ञान के संबंध में विचार करो। क्या तुम यह समझते हो कि कोई भी ज्ञानवान् मनुष्य किसी अन्य ज्ञानवान् मनुष्य की अपेक्षा कुछ और, अथवा अन्य प्रकार से कहना एवं करना पसंद करेगा ? क्या इसकी अपेक्षा वह समान परिस्थितियों में अपने समान व्यक्तियों के सदृश ही कहना और करना नहीं चाहेगा ?"

उसने कहा, "उन परिस्थितियों में तो स्यात् ऐसा ही होना चाहिये, क्यों ?"

"पर अज्ञानी के विषय में क्या होगा ? क्या वह ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों को ही समानरूप से प्रतारित और अतिक्रान्त नहीं करेगा ?"

"ऐसा हो सकता है ।"

"और ज्ञानी—अर्थात् जानने वाला बुद्धिमान होता है ?"

"मैं ऐसा ही कहूँगा ।"

"और बुद्धिमान सज्जन होता है ?"

"मैं ऐसा ही कहूँगा ।"

"तब तो सज्जन और बुद्धिमान मनुष्य अपने समान व्यक्तियों का अतिक्रमण करना नहीं चाहेगा बल्कि अपने असदृश और प्रतिकूल का अति-त्रण करना चाहेगा ?"

उसने कहा, "प्रतीत तो ऐसा ही होता है ।"

"पर बुरा और अज्ञानी व्यक्ति अपने समान और अपने प्रतिकूल दोनों का ही अतिक्रमण करना चाहेगा ?

"यह तो प्रत्यक्ष ही है ।"

"और क्या थ्रासीमाकस्, हम अभी नहीं कह आये हैं कि अन्यायी मनुष्य अपने समान और अपने प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों को

प्रतारित करता है ? क्या तुमने ऐसा नहीं कहा है ?"

उसने कहा, "मैंने ऐसा कहा था ।"

"परन्तु न्यायी मनुष्य अपने समान व्यक्ति को प्रतारित नहीं करेगा प्रत्युत अपने प्रतिकूल व्यक्ति को प्रतारित करेगा ?"

"हाँ ।"

"तब तो न्यायी मनुष्य बुद्धिमान और सज्जन के समान है और अन्यायी मनुष्य अज्ञानी और दुर्जन के समान ।"

"मालूम तो ऐसा ही पड़ता है ।"

"पर इससे आगे हम इस बात पर भी सहमत हो चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसा ही होता है जैसे कि उसके समान व्यक्ति होते हैं ।"

"हाँ, हम यह मान चुके हैं ।"

"तब तो न्यायी मनुष्य, इस प्रकार, सज्जन और बुद्धिमान सिद्ध हुआ और अन्यायी मनुष्य दुर्जन और मूर्ख ।"

२२. थ्रासीमाकस् ने इन बातों को इतनी सरलता से स्वीकार नहीं किया था जैसा कि मैं अब वर्णन कर रहा हूँ बल्कि बड़ी आनाकानी के साथ बहुत विरोध करते हुए स्वीकार किया था और क्योंकि मौसम बहुत गर्म था इसलिये उसको बहुत पसीना आ रहा था; उस समय मैंने एक ऐसी बात देखी जो कि पहले कभी मेरे देखने में नहीं आयी थी—अर्थात् मैंने देखा कि थ्रासीमाकस् झेंप रहा था । पर जब हम इस प्रकार परस्पर इस बात पर सहमत हो चुके कि न्याय सद्गुण और बुद्धिमत्ता का अंश है तथा अन्याय दुर्गुण और अज्ञान का, तब मैंने इस प्रकार कहना आरंभ किया:—

"अच्छा, अब इस विषय को तो हमको निर्णीत हुआ मान लेना चाहिये; पर क्या हमने यह भी नहीं कहा था कि अन्याय शक्तिशाली होता है। थ्रासीमाकस्, क्या तुम्हें इसकी याद नहीं है ?"

उसने कहा, 'मुझे याद है, परन्तु तुमने जो बात अभी कही है मैं उससे

सहमत और सन्तुष्ट नहीं हूँ, मैं उसका उत्तर दे सकता हूँ परन्तु यदि मैं वह उत्तर देने का उदयोग करूँगा तो मैं भली-भाँति जानता हूँ कि तुम यही कहोगे कि मैं व्याख्यान दे रहा हूँ। तो या तो तुम मुझको स्वेच्छापूर्वक बोल लेने दो या फिर तुम अपना प्रश्नोत्तरी वाला प्रकार चालू रक्खो और मैं तुमको इसी प्रकार हाँ, हाँ, करके उत्तर देता रहूँगा जैसा कि कहानी कहने वाली बुढ़ियों को उत्तर दिया जाता है। मैं यथावसर सिर झुकाकर अच्छा हाँ, कह कर स्वीकृति अथवा सिर हिला कर अस्वीकृति सूचित करता रहूँगा।"

मैंने कहा, 'नहीं, तुमको अपने विश्वास के विरुद्ध ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।"

उसने कहा, "जब तुम मुझको स्वतंत्रतापूर्वक बोलने नहीं देते तो तुमको प्रसन्न करने के लिये मैं जो तुम कहो वही करूँगा। तुम और क्या चाहते हो?"

मैंने कहा, "मै कुछ नहीं चाहता। यदि तुम्हारी ऐसा करने की इच्छा है तो ऐसा ही करो। मैं प्रश्न पूछूँगा।"

"तो चलिये पूछिये न।"

"तो मैं वही प्रश्न फिर पूछता हूँ जो मैंने अभी पूछा था जिससे हमारा अन्वेषण क्रमानुसार चलता रहे, कि अन्याय का स्वरूप न्याय की तुलना में कैसा है? मुझे याद आता है कि यह कहा जा चुका है कि अन्याय न्याय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली चीज है। परन्तु अब जब कि यह सिद्ध हो चुका है कि न्याय सद्गुण और बुद्धिमत्ता है तब तो मैं ख्याल करता हूँ कि यह सरलतापूर्वक दिखलाया जा सकता है कि वह अन्याय की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली वस्तु है क्योंकि अन्याय अज्ञान है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि कोई इसको देखे बिना नहीं रह सकता। परन्तु जो बात मैं चाहता हूँ वह इतनी सरल नहीं है। थ्रासीमाकस्! मैं इस विषय का अनुसंधान इस प्रकार करना चाहता हूँ। यह तो तुम स्वीकार करोगे ही कि कोई

नगर अन्यायी हो सकता है और वह दूसरे नगरों को अन्यायपूर्वक दास बनाने की चेष्टा कर सकता है और इस प्रकार के उद्योग में सफल होकर कई एक को अपनी अधीनता में रख सकता है ?"

उसने कहा, "अवश्य मैं यह स्वीकार करता हूँ। सर्वश्रेष्ठ नगर तो मुख्यतया ऐसा करेंगे ही। सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र से मेरा तात्पर्य परिपूर्ण अन्याय वाले राष्ट्र से है।"

मैंने कहा, "मैं समझता हूँ कि तुम्हारा विचार ऐसा ही है। पर मैं अब आगे जिस बात पर विचार करना चाहता हूँ वह यह है कि क्या वह नगर जो कि दूसरे नगरों से बढ़ कर शक्तिशाली है अपनी शक्ति को न्याय की सहायता के बिना रख सकेगा अथवा उसको अपनी शक्ति बनाये रखने के लिये न्याय से उसका सम्बन्ध अवश्य जोड़ना पड़ेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "यदि, जैसा कि तुमने अभी कहा है, न्याय बुद्धिमत्ता है तब तो न्याय की सहायता से ही ऐसा हो सकेगा; परन्तु यदि मेरा कथन ठीक हो तब अन्याय की सहायता से ऐसा संभव होगा।"

मैंने कहा, "क्या ही प्रशंसा के योग्य उत्तर है! थ्रासीमाकस्, तुम केवल शिर झुका कर अथवा मूड़ हिला कर ही स्वीकृति अथवा अस्वीकृति सूचित नहीं कर रहे प्रत्युत बड़े सुन्दर उत्तर दे रहे हो।"

उसने उत्तर दिया, "यह सब आपको प्रसन्न करने के लिये है।"

२३—"यह आपका परम अनुग्रह है। थोड़ा और अनुग्रह करके इतना और बतलाइये "क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि कोई नगर, सेना, दस्युगण, चोरों का दल अथवा अन्य किसी प्रकार का झुंड जो कि मिल कर किसी प्रकार का साहसपूर्ण कार्य करता है यदि आपस में अन्यायपूर्ण आचरण करे तो कोई सिद्धि प्राप्त कर सकता है ?"

उसने कहा "कदापि नहीं।"

"परन्तु यदि वह परस्पर अन्याय करने से विरत रहें तो क्या वह अधिक सफल नहीं होंगे ?"

"अवश्य होंगे ।"

"इस कारण न कि, थ्रासीमाकस्, अन्याय से संघभेद उत्पन्न होते हैं तथा घृणा और अन्तःकलह की उत्पत्ति होती है । पर न्याय मनों की एकता और प्रेम उत्पन्न करता है । कहिये क्या ऐसा नहीं है ?"

उसने उत्तर दिया, "ऐसा ही सही, क्योंकि मैं तुमसे कलह नहीं करना चाहता ।"

"मेरे श्रेष्ठ मित्र, यह तो आप की बड़ी उत्तम बात है ! कृपया यह और बतलाइये कि यदि अन्याय की प्रवृत्ति ही यह हो कि जहाँ कहीं वह उपलब्ध हो वहीं द्वेष और घृणा उत्पन्न कर दे, तो क्या यह जब स्वतंत्र मनुष्यों अथवा दासों के मध्य में पैदा होगा उनमें परस्पर घृणा और झगड़े उत्पन्न नहीं कर देगा और उनको मिलकर सफल कार्य करने के अयोग्य नहीं बना देगा ?"

"सर्वथा ।"

"अच्छा यदि अन्याय दो व्यक्तियों के मध्य में ही उठ खड़ा हो तो क्या वे दोनों परस्पर झगड़ा और घृणा नहीं करने लगेंगे, परस्पर एक दूसरे के शत्रु और दोनों मिल कर न्यायी के शत्रु नहीं हो जायेंगे ?"

उसने कहा, "हो जायेंगे ।"

"अच्छा तो क्या आप मुझे यह बतलायेंगे कि यदि अन्याय एक व्यक्ति में ही उत्पन्न हो तो क्या वह (अन्याय) अपनी उचित शक्ति और प्रवृत्ति को खो देगा अथवा ज्यों की त्यों बनाये रक्खेगा ?"

उसने कहा, "हमको मान लेना चाहिये कि वह अपनी शक्ति अक्षुण्ण रखेगा ।"

"और क्या यह स्पष्ट नहीं है कि इसकी (अन्याय की) शक्ति ऐसे

लक्षण वाली है कि यह चाहे कहीं, नगर, परिवार, सेना, अथवा अन्य किसी वस्तु में, भी पाया जाय, तो प्रथम तो षड्यंत्र और कलह के कारण उसको सहयोग पूर्वक कार्य करने के अयोग्य बना देता है, और दूसरे यह उसको स्वयं अपना और अपने प्रतिपक्षी न्यायी का सर्वथा शत्रु बना देता है ? कहिये ऐसा है या नहीं ?"

"सर्वथा ऐसा ही है ।"

"तब तो, मैं समझता हूँ कि एक व्यक्ति में भी इसकी उपस्थिति उन सब प्रभावों को उत्पन्न करेगी जिनको पैदा करना उसका स्वभाव है । प्रथम तो यह उस व्यक्ति को, आन्तरिक कलह और विभेद के कारण, किसी भी कार्य को करने के अयोग्य कर देगा और दूसरे उसको अपना और न्यायी का शत्रु बना देगा । क्या ऐसा नहीं है ?"

"हाँ, ऐसा ही है ।"

"और, प्रिय मित्र, देवता भी निश्चय ही न्यायी होते हैं ।"

उसने कहा, "मुझे स्वीकार है ।"

"अतः, प्रतीत होता है कि देवताओं को भी अन्यायी मनुष्य घृणास्पद होगा परन्तु न्यायी मनुष्य प्रिय होगा ।"

उसने कहा, "अपने इन युक्तिरूपी मनमोदकों को पेट भर खा लो । कहीं यह तुम्हारी मित्रमंडली अप्रसन्न न हो जाये इसलिए मैं तो तुम्हारा विरोध करूँगा नहीं ।"

"तब तो कृपा करके, आप मेरे प्रश्नों का यथापूर्व उत्तर देकर मेरे भोज को पूरा ही कर दीजिये, न । यह तो प्रत्यक्ष ही है कि न्यायी, अन्यायी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, अधिक अच्छे और अधिक कार्यक्षम सिद्ध हो गये और अन्यायी मिल कर काम करने के अयोग्य सिद्ध हुए । और यदि हम ऐसा कहें कि कोई अन्यायी मनुष्यों का समूह कभी स्फूर्ति पूर्वक मिल कर किसी कार्य को करने के लिये कटिबद्ध हुआ तो हमारा कथन पूर्णतया

सत्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि वह पूर्णतया अन्यायी होते तो स्वयं परस्पर हाथापाई करने से बाज नहीं आते। परन्तु स्पष्ट बात तो यह है कि उनमें कुछ न्याय अवश्य था जिसने कि उनको उस समय परस्पर एक दूसरे को हानि पहुँचाने से बचाया, जब कि वह दूसरों पर आक्रमण कर उनको हानि पहुँचा रहे थे। उनके मध्य में इस न्याय की सत्ता के ही कारण उनको कुछ सफलता प्राप्त हुई; तथा वह अपने अन्यायपरायण पराक्रम में भी अन्याय से अर्द्धदूषित होकर प्रवृत्त हुए, क्योंकि पूर्णदुष्ट जो कि पूरे (शत-प्रतिशत) अन्यायी होते हैं मिलकर कार्य करने के सर्वथा अयोग्य होते हैं। मेरा विश्वास है कि इस विषय में सत्य तथ्य यह है न कि वह जो तुमने आरंभ में बतलाया था। परन्तु बाद को हमने यह प्रश्न भी विचारार्थ प्रस्तुत किया था कि न्यायी मनुष्यों का जीवन अन्यायी मनुष्यों के जीवन की अपेक्षा अधिक बढ कर होता है और वे अधिक सुखी होते हैं; अत: अब हमको यह मीमांसा करनी है कि यह कथन सत्य है या नहीं। जो कुछ कहा जा चुका है उससे मुझे तो यही प्रतीत होता है कि न्यायी मनुष्य अधिक सुखी होते हैं। परन्तु फिर भी हमको इस प्रश्न की मीमांसा अधिक सावधानी से करनी चाहिये। क्योंकि हम किसी साधारण-सी बात का विवेचन नही कर रहे हैं बल्कि जीवन यापन के प्रकार का विवेचन कर रहे हैं जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है।"

उसने कहा, "तो विचार कीजिये।"

मैंने कहा, "मैं विचार करता हूँ, मुझे बतलाइये कि क्या तुम्हारी सम्मति में घोड़े का कोई विशेष कार्य होता है?"

"हाँ।"

"तब क्या घोड़े अथवा अन्य किसी भी वस्तु के कार्य की परिभाषा आप इस प्रकार करना चाहेंगे कि किसी भी वस्तु का विशिष्ट कार्य वह

है जिसको या तो केवल वही कर सकती है अथवा सबसे अच्छी प्रकार से वही कर सकती है ?"

उसने कहा, "मैं समझा नहीं ।"

"तो यों समझिये; क्या तुम आंखों के अतिरिक्त और किसी वस्तु से देख सकते हो ?"

"कदापि नहीं ।"

"अथवा, क्या तुम कानों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से सुन सकते हो ?"

"सर्वथा नहीं ।"

"तो क्या तुम यह कह कर ठीक नहीं करोगे कि यह (देखना और सुनना) इन (इन्द्रियों) का कार्य है ?"

"अवश्य वह सर्वथा ठीक होगा ।"

"पुनश्च, तुम द्राक्षालता की शाखा को कृपाण, चाकू अथवा अन्य किसी उपकरण से काट सकते हो ?"

"अवश्य ।"

"पर यह कार्य अन्य किसी उपकरण से इतना अच्छा नहीं किया जा सकता जितना कि माली की कैंची से, जो कि इसी कार्य के लिये बनाई जाती है ।"

"सच है ।"

"तो क्या हमको यह नहीं मान लेना चाहिये कि माली की कैंची का यही प्रयोजन या कार्य है ?"

"हमको अवश्य मानना चाहिये ।"

२४—मैं कल्पना करता हूँ कि अब तुम मेरे कथन का तात्पर्य पहले की अपेक्षा अधिक भली प्रकार समझ सकोगे कि क्या किसी भी वस्तु का विशिष्ट कार्य यही नहीं है कि जिसको या तो केवल वही कर सकती है

अथवा वह अन्य सब वस्तुओं की अपेक्षा अधिक भली प्रकार से कर सकती है।"

उसने कहा, "अच्छा मैं समझ गया और इस विषय में तुमसे सहमत हूँ कि किसी भी वस्तु का कार्य यही है।"

मैंने कहा "बहुत अच्छा और क्या आप का यह भी ख्याल नहीं है कि प्रत्येक वस्तु में, जिसका कोई विशिष्ट प्रयोजन या कार्य होता है, एक विशेष उत्तम गुण पाया जाता है ? पहले उदाहरणों की ओर लौटें, हम कहते हैं न कि आँखों का कोई प्रयोजन या कार्य है ?"

"हाँ है।"

"तो क्या उनमें कोई विशेष गुण भी होता है ?"

"हाँ, होता है।"

"और कान, क्या हमने उनका भी कोई कार्य माना है ?"

"हाँ।"

"अतः उनका गुण भी होना चाहिये ?"

"हाँ, गुण भी होना चाहिये।"

"और अन्य सब वस्तुओं के विषय में भी क्या यही बात ठीक नहीं है।?"

"यही बात ठीक है।"

"तो अब देखिये; यदि आँखों में अपने विशिष्ट गुण का अभाव हो और उसके स्थान पर दुर्गुण पाया जाय तो क्या वह संभवतया अपना विशेष कार्य भली प्रकार कर सकेंगी ?"

उसने कहा, "यदि तुम्हारे तात्पर्य के अनुसार उनमें दृष्टि का अभाव हो और वह अंधी हो जाएँ तो वह अपना कार्य कैसे कर सकती हैं ?"

"मैंने कहा, "उनका विशिष्ट गुण चाहे कुछ भी क्यों न हो। मैं अभी उस प्रश्न को नहीं ले रहा हूँ। इस समय तो मैं यही पूछ रहा हूँ कि जो कोई वस्तु कोई विशेष कार्य करती है क्या वह उसको अपने विशिष्ट गुण के

द्वारा ही भली प्रकार नहीं करती और दुर्गुण अथवा दोष होने से उसके करनेमें असफल नहीं हो जाती ?"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही है ।"

"तब तो क्या कान भी अपने विशिष्ट गुण से वंचित होने पर अपना कार्य बुरी प्रकार से नहीं करने लगेंगे ?"

"निःसन्देह ।"

"क्या हम यही सिद्धान्त सब वस्तुओं के विषय में मान सकते हैं ?"

"मैं ऐसा ही ख्याल करता हूँ ।"

"अच्छा तो इससे आगे इस विषय में विचार कीजिये । क्या आत्मा का भी कोई विशिष्ट कार्य है जो कि किसी भी अन्य वस्तु के द्वारा नहीं किया जा सकता; यथा प्रबन्ध करना, शासन करना, चिन्तन करना इत्यादि । क्या आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी वस्तु है जिसमें इन कार्यों का आरोप किया जा सके और इनको उसका अपना विशिष्ट कार्य कहा जा सके ?"

"ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं है ।"

"और फिर जीवन को लीजिये । क्या हम इसको भी आत्मा का कार्य कह सकते हैं ?"

उसने कहा, "बिल्कुल निश्चय से ।"

"और क्या हम यह नहीं कहते कि आत्मा का एक विशिष्ट गुण भी है ?"

"हम कहते हैं ।"

"यदि आत्मा अपने विशिष्ट गुण से वंचित हो जाए तो क्या वह अपना कार्य भली भाँति कर सकेगी अथवा ऐसा करना उसके लिये असंभव होगा ?"

"असंभव होगा ।"

"तब तो बुरी आत्मा अवश्यमेव वस्तुओं का बुरा प्रबन्ध और शासन

करेगी और अच्छी आत्मा इन कार्यों को अच्छा करेगी ?"

"अवश्यमेव।"

"क्या हमने यह स्वीकार नहीं कर लिया है कि न्याय आत्मा का विशिष्ट गुण है और अन्याय उसका दोष अथवा दुर्गुण है ?"

"यह हमने मान लिया है।"

"तब तो न्यायी आत्मा और न्यायी मनुष्य अच्छा जीवन व्यतीत करेंगे तथा अन्यायी आत्मा और अन्यायी मनुष्य बुरा ?"

उसने कहा, "तुम्हारे तर्क से तो ऐसा ही प्रतीत होता है।"

"परन्तु जो अच्छा जीवन व्यतीत करता है वह आनन्दित और सुखी होता है और जो बुरा जीवन व्यतीत करता है वह इसके प्रतिकूल होता है।"

"निस्सन्देह।"

"तब तो न्यायी सुखी हुआ और अन्यायी दुःखी।"

उसने कहा, "ऐसा ही सही।"

"परन्तु निश्चय ही दुःखी होना लाभदायक नहीं, सुखी होना लाभदायक है।"

"निःसंशय।"

"परम भाग्यवान् थ्रासीमाकस्, तब तो अन्याय, न्याय की अपेक्षा कदापि लाभप्रद नहीं हो सकता।"

उसने कहा, "सॉक्रातेस, तो मान लो कि बेन्दीस् देवी के उत्सव के उपलक्ष में यही तुम्हारा भोज है।"

मैंने कहा, "इसके लिये, हे थ्रासीमाकस् मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ, क्योंकि अब तुमने मेरे प्रति रोष का परित्याग कर नम्रता ग्रहण कर ली है। तथापि मैं भलीभाँति तृप्त नहीं हुआ, परन्तु यह मेरा अपना दोष है आप का नहीं। जैसे कि भोजनभट्ट लोगों की दशा होती है कि प्रत्येक व्यञ्जन के परोसने के लिये आने पर वह उस पर ही टूट पड़ते हैं और उससे पूर्व के व्यञ्जन

का भलीभाँति आस्वाद प्राप्त करने का अवसर तक अपने को नहीं देते, वैसे ही मुझे भी ऐसा लगता है कि मैंने भी अपने अनुसंधान के प्रथम विषय—न्याय का स्वरूप—को भलीभाँति जाने बिना छोड़ दिया और इसके विषय में यह जानने के लिये चल पड़ा कि यह न्याय सद्गुण और बुद्धिमत्ता है अथवा दुर्गुण या मूर्खता; और जब आगे चल कर हमारे समक्ष यह दृष्टि-कोण प्रस्तुत हुआ कि अन्याय न्याय की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है तो मैं अपने को पूर्व विषय से हट कर इधर मुड़ने से नहीं रोक सका। अतः मेरे लिये तो इस सारे संवाद का प्रस्तुत परिणाम यह है कि मैं कुछ नहीं जानता। क्योंकि जब मैं यही नहीं जानता कि न्याय क्या है तो मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि वह वास्तव में कोई सद्गुण है या नहीं अथवा न्यायी (न्यायवान्) व्यक्ति सुखी होता है या दुःखी।"

द्वितीय पुस्तक

१--इतना कह चुकने के उपरान्त मैं समझ रहा था कि यह विवाद समाप्त हो गया, परन्तु वास्तव में यह सब तो प्रस्तावना मात्र सिद्ध हुआ। क्योंकि ग्लौकोन ने, जो कि सर्वदा सब विषयों में अत्यन्त निर्भीक और साहसप्रिय जीव है, तथा जो इस अवसर पर थ्रासीमाकस् की पराजय से सन्तुष्ट नहीं था, इस प्रकार कहना प्रारंभ किया, "सॉक्रातेस, क्या तुम हम लोगों को वास्तव में इस बात का विश्वास करा देना चाहते हो कि न्यायी होना अन्यायी होने की अपेक्षा सर्वथा बिना किसी अपवाद के अच्छा है, अथवा ऐसा विश्वास करा देने का दिखावा मात्र करना चाहते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "यदि मेरे बश की बात हो तो मैं तो वास्तविक विश्वास ही करा देना चाहता हूँ।"

उसने कहा, "तब तो तुम जो चाहते हो वह नहीं कर रहे हो। अच्छा मुझे बतलाइये कि क्या तुम्हारी राय में कुछ अच्छी वस्तुएँ एक ऐसे प्रकार की होती हैं कि हम उनको उनके परिणामों के कारण नहीं प्रत्युत स्वतः उनके लिये ही उनको स्वायत्त करना पसन्द करते हैं? उदाहरण के लिये उल्लास की भावना और ऐसे आनन्दों को ले सकते हैं जो हानि रहित हैं तथा जिनकी उपलब्धि से तात्क़ालिक हर्ष के अतिरिक्त और कोई पश्चात्कालीन परिणाम नहीं निकलता।"

मैंने कहा, "मैं अच्छी वस्तुओं के ऐसे प्रकार को स्वीकार करता हूँ।"

"और फिर एक दूसरा प्रकार है जिसको कि हम स्वतः उसके लिये और उससे उत्पन्न होने वाले परिणामों के लिये--दोनों के लिये--प्रेम करते हैं; जैसे कि ज्ञान, दृष्टि और स्वास्थ्य ? क्योंकि मैं मानता हूँ कि इनका हम दोनों कारणों से स्वागत करते हैं।"

मैंने कहा, "हाँ, अवश्य।"

"और क्या तुम अच्छी वस्तुओं के तीसरे प्रकार को भी मानते हो जिसके उदाहरण व्यायाम, रोगियों का उपचार, स्वास्थ्य-विद्या तथा धन कमाने के सामान्य उपाय हैं ? ऐसी वस्तुओं के विषय में कहा जा सकता है कि वे श्रमसाध्य, अप्रिय तथापि हितकर होती हैं; हम उनको केवल उनके लिये स्वीकार नहीं करते प्रत्युत उनसे प्राप्त होने वाले उपहारों और हितकर परिणामों के कारण स्वीकार करते हैं ।"

मैंने कहा, "हाँ, यह तीसरा प्रकार भी मैं अवश्य मानता हूँ। पर इससे आपका क्या प्रयोजन है ?"

तुम न्याय को इनमें से किस प्रकार के अन्तर्गत रखते हो ?"

मैंने कहा, "मेरी सम्मति में यह सुन्दरतम श्रेणी के अन्तर्गत है; जिसको कि सुखान्वेषी मनुष्य को स्वतः उसके लिये और परिणामों के लिये—दोनों के लिये—प्रेम करना चाहिये ।"

उसने कहा, "अधिकांश मनुष्यों का तो विचार ऐसा नहीं है, प्रत्युत वह तो इसको श्रमसाध्य वस्तुओं की श्रेणी के अन्तर्गत मानते हैं, जिनका अनुसरण उपहारों अथवा सुख्याति के लिये किया जाना चाहिये परन्तु स्वरूपतः तो जिनको पीड़ास्वरूप मान कर वर्जित ही किया जाना चाहिये।"

२—मैंने कहा, "मुझे पता है कि साधारणतया लोगों की राय ऐसी ही है और थ्रासीमाकस् भी कुछ समय से न्याय को ऐसा ही कह कर बुरा कह रहा है और अन्याय की प्रशंसा कर रहा है । परन्तु ऐसा भासता है कि मैं तो कुछ जड़बुद्धि शिष्य हूँ ।"

उसने कहा, "अच्छा तो आइये जो कुछ मुझे कहना है उसको भी सुन लीजिये और तब कहिये कि आप मुझसे सहमत हैं या नहीं । क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि थ्रासीमाकस् ने तो, सर्प के समान तुम्हारी वाणी से मुग्ध होकर आवश्यकता से पहले ही पराजय मान ली; पर न्याय और अन्याय के स्वरूप का जो स्पष्टीकरण किया गया है उससे मैं तो सन्तुष्ट हूँ नहीं ।

उनके उपहारों एवं अन्य परिणामों को ध्यान से हटाकर मैं तो उनके विषय में यह जानना चाहता हूँ कि उनमें से प्रत्येक स्वयं क्या है, और मनुष्य की आत्मा में निवास करते हुए वह स्वतः क्या शक्ति और प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यदि आपको अनुमति हो तो मैं यही करना चाहूँगा; मैं थ्रासीमाकस् की युक्ति को नये सिरे से उठाऊँगा और पहले यह बतलाऊँगा कि न्याय के स्वरूप और उत्पत्ति के विषय में सामान्य जन समूह का विचार क्या है; दूसरे यह बतलाऊँगा कि जो लोग भी न्याय का आचरण करते हैं स्वेच्छापूर्वक नहीं करते, झिझक के साथ करते हैं, इसलिये नहीं करते कि यह कोई भली वस्तु है बल्कि इसलिये करते हैं कि यह अवश्यकीय है। तीसरे मैं यह कहूँगा कि उनका ऐसा करना सयुक्तिक है क्योंकि दुनिया का कहना है कि अन्यायी मनुष्य का जीवन न्यायी मनुष्य के जीवन की अपेक्षा सचमुच कहीं अधिक अच्छा है। यद्यपि, सॉक्रातेस्, मेरा तो स्वयं ऐसा विश्वास नहीं है, तथापि क्या करूं थ्रासीमाकस् तथा असंख्यों अन्य मनुष्यों की युक्तियों ने, मेरे कानों में गूँज कर मुझको चकरा दिया है। परन्तु न्याय के पक्ष को, उसको अन्याय से बढ़ कर सिद्ध करने के लिये मैंने आज तक किसी व्यक्ति को ऐसे ढंग से प्रतिपादित करते नहीं सुना जैसा कि मैं सुनना चाहता हूँ। मैं न्याय की प्रशंसा स्वयं उसी के लिये (स्वरूपतः) सुनना चाहता हूँ, और यदि इस विषय के इस प्रकार के प्रतिपादन की कसी से मैं सब से अधिक आशा करता हूँ तो तुमसे। अतः मैं अन्यायपूर्ण जीवन की भरसक प्रशंसा करूँगा, और अपने प्रशंसा के ढंग से तुम्हारे सामने मैं ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करूँगा कि जिससे तुम यह जान सको कि उसके पश्चात् मैं तुम से किस प्रकार अन्याय की निन्दा और न्याय की स्तुति सुनना चाहता हूँ। देख लीजिये कि मेरा प्रस्ताव आपको अच्छा लगता है या नहीं।"

मैंने कहा, "यह प्रस्ताव मुझको सबसे अधिक अच्छा लगता है, क्योंकि ऐसा दूसरा विषय कौन सा हो सकता है जिसको लेकर कोई समझदार

मनुष्य बारंबार विवेचन करना और सुनना पसंद कर सके ?"

उसने कहा, "बड़ी उत्तम बात है। अच्छा अब मैं अपने प्रथम प्रकरण-अर्थात् अन्याय का स्वरूप और उसकी उत्पति-पर बोलना आरंभ करता हूँ, सुनिये। लोगों का कहना है कि अन्याय करना स्वभावतः अच्छी बात है और उसको सहना बुरा है, पर अपने ऊपर अन्याय किये जाने में बुराई का बाहुल्य, (दूसरों पर) अन्याय करने में अच्छाई के बाहुल्य से अधिक है। अतः जब मनुष्यों को अन्याय करने और सहने का उभयविध अनुभव हुआ तो उन लोगों ने, जो कि अन्याय सहने और करने की सामर्थ्य नहीं रखते यही अच्छा समझा कि परस्पर ऐसा ठहराव करलें कि न तो किसी के प्रति अन्याय करें और न उसे सहें। इसीसे विधानों और मनुष्यों के आपसी ठहरावों की उत्पत्ति हुई और इसी कारण लोग कानून के आदेशों को विहित और न्याय्य कहते, हैं; न्याय का सार स्वरूप और उत्पत्ति लोग इसी प्रकार बतलाते हैं, और यह स्थिति सर्वोत्तम अवस्था—अर्थात् दण्ड से बच जाते हुए अन्याय करना और निकृष्ट अवस्था—अर्थात् अन्याय सहन करना और बदला लेने में असमर्थ होना, इन दोनों के मध्य में समझौते की स्थिति है। इन दोनों अवस्थाओं के मध्य की स्थिति होने के कारण, लोगों की राय है, कि न्याय वास्तविक अच्छाई के रूप में स्वीकृत और पसन्द नहीं किया जाता बल्कि एक ऐसी वस्तु माना जाता है कि जिसका सत्कार अन्याय करने की अक्षमता के कारण होता है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जो कि अन्याय करने की सामर्थ्य रखता है और पुरुष कहलाने योग्य है, कदापि किसी मनुष्य के साथ अन्याय न करने और न सहने का ठहराव नहीं करेगा, और यदि ऐसा करे तो समझ लो कि वह पागल है। न्याय के स्वरूप का सामान्य जनता में माना गया रूप तो, सॉक्रातेस्, ऐसा है और जिन परिस्थितियों में इसकी उत्पत्ति हुई वह भी यही हैं।

३—मेरा दूसरा कथन, कि जो लोग न्याय का आचरण करते हैं, अनिच्छा-

पूर्वक और अन्याय करने की सामर्थ्य न होने के कारण करते हैं, भली भाँति तब समझ में आयेगा जब कि हम कुछ इस प्रकार की कल्पना करें:— न्यायी और अन्यायी मनुष्य को एक सी जो चाहे सो करने की स्वच्छन्दता और अधिकार देकर हम कल्पना में दोनों का अनुसरण करके देखें कि प्रत्येक की इच्छा उसको किस ओर ले जाती है। तब हम न्यायी मनुष्य को भी उसी आचरण के अनुष्ठान में लिप्त हुआ पकड़ेंगे जो कि अन्यायी मनुष्य किया करता है, क्योंकि आत्महित की प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः अपने लाभ की इच्छा को सन्तुष्ट करनें का यत्न किया करता है, बस क़ानून के द्वारा यह प्रवृत्ति बलात्कार से अपने पथ से हटाई जाकर समत्व का समादर करने के लिये विवश कर दी जाती है। जिस पूर्ण स्वच्छन्दता की हमने कल्पना की है, वह लगभग ऐसी होगी जो कि लोककथा में लीडिया के गीगस् के पूर्वपुरुष को प्राप्त हुई शक्ति के समान शक्ति के प्राप्त होने से उत्पन्न हो सकती है। कथा में कहा है कि वह लीडिया के तत्कालीन शासक की चाकरी में एक गड़रिया था, एक दिन बड़ी जोर की आँधी आयी, घोर वर्षा हुई और तत्पश्चात् भूकम्प के कारण जिस स्थान पर वह भेड़ें चरा रहा था, धरती फट गयी और एक दरार पड़ गयी। आदमियों का कहना है कि जब उसने यह देखा तो उसको आश्चर्य हुआ और वह उसमें नीचे उतर गया। वहाँ, कथा के अनुसार उसने अनेकों अद्भुत वस्तुओं के मध्य में एक खोखला ताँबे का घोड़ा देखा जिसके पार्श्वों में खिड़कियाँ थीं; इनमें झाँक कर उसने देखा कि घोड़े के भीतर एक अतिमानवाकार शव रक्खा है जिसके शरीर पर स्वर्ण की एक अँगूठी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसने इस अंगूठी को मृतक की अँगुली पर से उतार लिया और बाहर निकल आया। अब जब कि राजा के समक्ष उसके पशुओं का विवरण उपस्थित करने के लिये गड़रियों की मासिक सभा नित्य नियम के अनुसार हुई तो वह भी अँगूठी पहन कर उसमें उपस्थित हुआ। अपने साथियों

के बीच में बैठे हुए अकस्मात ऐसा हुआ कि उसने अँगूठी के नग को अपनी ओर को घुमाया और वह उसकी मुट्ठी के भीतर की ओर आ गया। ऐसा होते ही, लोगों का कहना है कि वह अपने साथियों की दृष्टि से ओझल हो गया और वह उसके विषय में इस प्रकार बातचीत करने लगे कि मानों वह वहाँ था ही नहीं। यह देख वह बड़ा चकित हुआ और फिर अँगूठी के साथ खिलवाड़ करते हुए जब उसका नग बाहर की ओर कर दिया तो वह पुनः अपने साथियों को दिखलाई देने लगा। इस प्रभाव को देख कर उसने अँगूठी का पुनः कई बार परीक्षण किया कि क्या इसमें वास्तव में ऐसी शक्ति है और प्रत्येक बार उसको यही ज्ञात हुआ कि जब नग मुट्ठी के भीतर की ओर घुमाया गया तो वह अदृश्य हो गया और जब बाहर की ओर घुमाया गया तो वह पुनः दृष्टिगोचर हो गया। यह पता चल जाने पर उसने अविलम्ब अपने को राजा के पास विवरण उपस्थित करने वाला एक दूत चुनवा लिया, और राज मन्दिर में पहुँच कर उसने रानी को फुसला कर अपनी ओर मिला लिया और उसके साथ षड्यंत्र कर राजा पर आक्रमण कर उसको मारडाला तथा उसका राज्य हस्तगत कर लिया।

अब यदि ऐसी दो अँगूठियाँ हों, और उनमें से एक न्यायी मनुष्य पहन ले और दूसरी अन्यायी, तो मालूम पड़ेगा कि कोई भी मनुष्य ऐसे बज्रतुल्य कठोर स्वभाव का नहीं है जो न्याय पर अडिग बना रहे, जो यह जानते हुए भी कि वह हाटबाज़ार तक में से बिना दंडित हुए मनचाही वस्तुएँ उठा सकता है, दूसरों के घरों में घुस कर जिस स्त्री के साथ चाहे व्यभिचार कर सकता है, स्वेच्छानुसार जिसको चाहे मार या बन्दीगृह से छुड़ा सकता है, तथा अन्य वस्तुओं में भी मनुष्यों के मध्य देवतुल्य आचरण कर सकता है, दूसरों की सम्पत्ति से दृढ़ता पूर्वक अपने हाथों को दूर रक्खेगा और उसको स्पर्श नहीं करेगा। इस प्रकार स्वेच्छानुसार आचरण करते हुए न्यायी मनुष्य अन्यायी से भिन्न प्रकार के कार्य नहीं करेगा और इस प्रकार

दोनों एक ही मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे। निश्चय ही यह बात इस तथ्य का प्रबल प्रमाण मानी जायगी कि कोई भी मनुष्य स्वेच्छा से न्यायी नहीं होता बल्कि विवशतावश होता है, क्योंकि न्यायी होना किसी व्यक्ति के लिये भला नहीं होता और जब मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि वे निःशंक अन्याय कर सकते हैं और उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं है तो सभी अन्याय करते हैं। और उनके ऐसा करने का कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य यह ख़्याल (विश्वास) करता है कि व्यक्ति गत रूप में उसको न्याय की अपेक्षा अन्याय से कहीं अधिक लाभ है; और इस सिद्धान्त के समर्थक की सम्मति है कि ऐसा विश्वास सच्चा है। क्योंकि यदि इस प्रकार की स्वच्छन्दता किसी की मुट्ठी में हो और वह अन्याय करना तथा दूसरों की सम्पत्ति को छूना स्वीकार न करे तो इस बात को जानने वाले सभी मनुष्यों के द्वारा वह परमदयनीय विवेकरहित (मूढ़) समझा जायेगा, यद्यपि अन्याय करने के भय से यह लोग परस्पर एक दूसरे को धोखा देने के लिये, एक दूसरे के सम्मुख उसकी प्रशंसा ही करेंगे। इस प्रकरण में इतना ही अलं होगा।

४—परन्तु अब इन दोनों प्रकार के जीवनों (न्यायी, अन्यायी) के बीच निर्णय करने के लिये यदि हम अत्यन्त न्यायी मनुष्य को अत्यन्त अन्यायी मनुष्य से पृथक् कर उनकी तुलना करें तभी ठीक ठीक निर्णय कर सकेंगे, और यदि ऐसा नहीं होगा तो निर्णय नहीं कर सकेंगे। यह पृथक्करण कैसे हो सकता है ? इस प्रकार, कि न तो हम अन्यायी मनुष्य के अन्याय में कोई कमी करें और न न्यायी मनुष्य के न्याय में, प्रत्युत प्रत्येक को अपने अपने आचरण-पथ में पूर्णतया निष्णात कल्पना कर लें। सबसे पहली बात तो यह है कि अन्यायी मनुष्य को चतुर शिल्पियों के समान काम करना चाहिये; उदाहरणार्थ प्रथम कोटि का निर्यामक अपनी शिल्प-कला की सम्भावनाओं और असम्भावनाओं के भेद को समझता है, प्रथम

को चरितार्थ करने का उद्योग करता है, दूसरियों को एक ओर छोड़ देता है, और फिर भी यदि कहीं स्खलित हो जाता है तो वह अपनी त्रुटि को सँभाल लेने की क्षमता रखता है। इसी प्रकार कोई मनुष्य पूर्ण अन्यायी तभी होगा जब कि वह ठीक प्रकार से अन्याय करे और ऐसा करने में पकड़ा न जाये, जो मनुष्य अन्यायाचरण में पकड़ा जायेगा उसको तो हम बौड़म मानेंगे; क्योंकि अन्याय की पराकाष्ठा, वास्तव में न्यायी न होते हुए भी न्यायी मालूम पड़ने में है। अतः पूर्ण अन्यायी मनुष्य में हमको बिना किसी कोरकसर के परिपूर्ण अन्याय का आरोप करना चाहिये, पर हमको उसे यह छूट भी देनी चाहिये कि महान् दुष्कर्म (अन्याय कर्म) करते हुए भी उसकी न्यायी होने की महान ख्याति, जो कि उसने उपार्जित करली है अक्षुण्ण बनी रहे है। और यदि वह कभी स्खलित हो जाये तो हमको उसके विषय में यह मान लेना चाहिये कि उसमें अपनी त्रुटि को सँभाल लेने की क्षमता है, यदि उसके दुष्कर्म उद्घाटित हो जायें तो प्रभावोत्पादक वक्तृत्वशक्ति के द्वारा वह दूसरों का समाधान और यदि बल प्रयोग की आवश्यकता आ पड़े तो अपने पौरुष-पूर्ण स्वभाव एवं जीवट के द्वारा सहचरों और सम्पत्ति की सामग्री के सहारे सफल बल प्रयोग भी कर सकता है। और जब कि हमने इस प्रकार के लक्षणों वाले अन्यायी मनुष्य की उद्भावना की है तो अपने सिद्धान्त के अनुसार हमको उसके समक्ष न्यायी मनुष्य की भी उद्भावना करनी चाहिये—जो सचमुच सरल और उदार है एवं अयस् कलस् की उक्ति के अनुसार अच्छा होने का दिखावा करना नहीं चाहता प्रत्युत वास्तव में अच्छा होना चाहता है। हमको उसे दिखावे से बिल्कुल वञ्चित कर देना चाहिये क्योंकि यदि वह दिखावे के कारण न्यायी मनुष्य समझा जायगा तो इस ख्याति के कारण उसको आदर और उपहार प्राप्त होंगे और ऐसी अवस्था में हम यह निश्चय नहीं कर सकेंगे कि वह केवल न्याय के लिये न्यायी है अथवा

इन आदर और उपहारों के कारण। अतः हमको उसे न्याय के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के आवरणों से विरहित कर देना चाहिये और उसकी अवस्था सब प्रकार से उसके कल्पित प्रतिपक्षी से उलटी होनी चाहिये। कोई बुरा काम न करने पर भी अत्यधिक अन्याय करने की उसकी ख्याति होनी चाहिये जिससे कि कुख्याति और उसके परिणामों को भोगते हुए भी शिथिल न पड़ने से उसकी न्याय पर दृढ़ बने रहने की पूरी पूरी परीक्षा हो सके। और इसी प्रकार उसको मृत्युपर्यन्त अपने पथ पर दृढ़ता पूर्वक डटे रहना चाहिये कि न्याय पर अडिग रहते हुए भी अन्यायी होने के लिये बदनाम रहे, जिससे कि दोनों मनुष्यों को न्याय और अन्याय की पराकाष्ठा पर पहुँचा कर हम यह निर्णय कर सकें कि इन दोनों में से कौन अधिक सुखी है।"

५—मैंने कहा, "बाप रे बाप, प्रिय ग्लौकोन, तुमने इन दोनों पात्रों को कितनी स्फूर्ति से माँज कर हमारे निर्णय के लिये एक एक करके उपस्थित किया है कि जैसे वह दो मूर्त्तियाँ हों।"

उसने उत्तर दिया, "यह तो मैंने यथाशक्ति वर्णन किया है। और अब दोनों प्रकार के मनुष्यों के स्वरूप का विवरण प्राप्त हो जाने पर, मैं समझता हूँ कि इस बात का वर्णन करने में आगे कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि दोनों का जीवन किस प्रकार का होने वाला है। अतः अब मैं इसी का वर्णन कर दूँ; और यदि यह वर्णन कुछ भौंडा लगे तो सॉक्रातेस्, तुमको यह नहीं समझना चाहिये कि मैं इस प्रकार कहता हूँ, प्रत्युत यह तो उन लोगों का कहना है जो कि अन्याय को न्याय से बढ़ कर बतलाते हैं। वे बतलायेंगे कि न्यायी मनुष्य की प्रवृत्ति ऐसी होने के कारण, वह कोड़ों से पीटा जायगा, खींचा जायगा, उसको बेड़ियाँ पहनायी जाएँगी गर्म लौहशूल से उसकी आँखें फोड़ दी जायेंगी, और सब प्रकार की यातनाओं को सीमा तक सहने के उपरान्त उसको शूली पर लटका दिया जायगा

और इससे उसको यह शिक्षा प्राप्त होगी कि हमको वास्तव में न्यायी होने की अपेक्षा न्यायी प्रतीत होने की कामना करनी चाहिये । और मालूम यह पड़ता है कि अयस्कलस् की उक्ति अन्यायी मनुष्य के विषय में कहीं अधिक लागू होती है । क्योंकि लोग कहेंगे, कि यह अक्षरशः (वास्तविक) सत्य है कि अन्यायी मनुष्य, यथार्थता से सम्पृक्त मार्ग का अनुसरण करने के कारण अपना जीवन, दिखावे पर दृष्टि रखते हुए चलाता तथा अन्यायी दिखलाई न देकर वास्तव में अन्यायी होना चाहता है "अपनी बुद्धि की गहरी (कूंडों वाली) धरती का पूर्ण लाभ उठाते हुए, जिसमें बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोजनों की फसल पैदा होती है । पहले तो न्याय करने की ख्याति होने के कारण उसको राज्य के पद मिल सकेंगे, दूसरे उसको जहाँ, चाहेगा वहाँ से पत्नी प्राप्त हो सकेगी, स्वेच्छानुसार कुलों में अपने बच्चों को ब्याहेगा, जिसके साथ चाहेगा साझा और ठहराव कर लेगा, और इन सब के अतिरिक्त वह प्रभूत लाभों से अपने को संपन्न बना लेगा क्योंकि उसको अन्याय करने में कुछ झिझक नहीं होती । अतः, लोग कहते हैं कि जब कभी वह किसी व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक विग्रहों में जुटता है तो वह अपने प्रतिपक्षियों को नीचा दिखा कर विजय प्राप्त करता है, जीत कर संपन्न बन कर अपने इष्टमित्रों को लाभान्वित करता है और शत्रुओं को हानि पहुँचाता है; यज्ञ करता है और देवताओं को पर्याप्त मात्रा में बहुमूल्य भेंट अर्पित करता है । तथा, न्यायी मनुष्य की अपेक्षा, जिन मनुष्यों का, चाहता है, और देवताओं का कहीं अधिक; सेवा-सत्कार करता है, जिससे कि वह भगवान् की अनुकम्पा की भी न्यायी मनुष्य की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्ततया आशा कर सकता है । इसलिये सॉक्रातेस्, मनुष्यों का कहना, है कि देवताओं और मनुष्यों के द्वारा अन्यायी मनुष्य के लिये न्यायी मनुष्य के जीवन की अपेक्षा कहीं अच्छे जीवन का प्रबन्ध किया जाता है ।"

६—जब कि ग्लौकोन यह सब कह चुका, तो मेरा विचार इसका कुछ उत्तर देने का था परन्तु उसका भाई अदैमान्तस् कहने लगा, "सॉक्रा-तेस्, यह तो आप का विचार कदापि नहीं होगा, कि इस सिद्धान्त की पूरी विवृति हो चुकी है ?"

मैंने कहा, "क्यों, और क्या अवशेष रह गया है ?"

उसने कहा, "सबसे प्रबल युक्ति का तो उल्लेख तक नहीं हुआ है।"

मैंने कहा, "तो, यह तो कहावत ही है कि 'भाई का हो भाई सहाय'— अतः यदि ग्लौकोन से कोई बात छूट गयी हो तो तुम उसको अपनी सहायता से पूरा कर दो। यद्यपि जो कुछ वह कह चुका है, मुझको परास्त कर न्याय की सहायता के लिये मुझे अक्षम बना देने के लिये, उतना ही बिल्कुल पर्याप्त है।"

उसने कहा, "यह तो बिल्कुल निरर्थक बात है, पर इस बात को भी सुन लीजिये। मैं ग्लौकोन का जो तात्पर्य समझता हूँ उसको अधिक स्पष्ट करने के लिये हमको विपक्षी दल की—उस दल की जो कि न्याय की प्रशंसा और अन्याय की निन्दा करता है— युक्तियों और भाषा को भी प्रस्तुत करना चाहिये। पिता एवं गुरुजन जो कि अपने पुत्रों और शिष्यों को सर्वदा न्यायपरायण होने की शिक्षा देते रहते हैं वह स्वतः न्याय की प्रशंसा नहीं करते बल्कि उससे मनुष्यों में जो ख्याति प्राप्त होती है उसकी प्रशंसा करते हैं, उनका उद्देश्य यह रहता है कि न्यायी प्रतीत होने से जो ख्याति प्राप्त होती है उससे पदाधिकार; विवाह-संबंध और वह अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं जो कि ग्लौकोन ने अभी अभी अन्यायी मनुष्य को उसकी नेकनामी के कारण उपलब्ध होती हुई गिनाई हैं। इस पक्ष के लोग इस ख्याति का और भी अधिक विस्तार के साथ बढ़ाचढ़ा कर वर्णन करते हैं; क्योंकि देवताओं की अनुकूल सम्मति को भी अपने पक्ष में सम्मिलित करके उनको असंख्यों शुभाशीषों का वर्णन करने को मिल जाता है जो कि देवगण

पुण्यात्माओं के ऊपर बरसाते हैं, जैसा कि महामना हीसियड् और होमेर ने बतलाया है । हीसियड् का कहना है कि देवगण न्यायी मनुष्यों के निमित्त ओकवृक्षों की "चोटियों पर फल और शाखामध्य में मधुमक्खियों के छत्ते लगाते हैं", तथा "ऊर्णवाही भेड़ों के झुण्ड ऊन के भार से लद कर झुके रहते हैं;" इसी प्रकार के और अनेकों शुभाशीषों का उसने वर्णन किया है। दूसरा कवि (होमेर) भी इसी के समान कहता है कि "वह एक निर्दोष नृपति के तुल्य है, जो कि देवता के समान न्याय की रक्षा करता है; काली धरती उसके निमित्त गेहूँ और जौ उत्पन्न करती है, तथा उसके वृक्ष फलों के भार से लद कर झुक जाते हैं, उसके पशुधन की वृद्धि होती है और समुद्र उसके लिये मछलियों से भरा रहता है।" पर मुसइयस् और उसके पुत्र (यूमोल्पस्) ने न्यायी पुरुषों को देवताओं से मिलने वाले जिन वरदानों को श्रेष्ठ गीत में वर्णन किया है वह इन से कहीं बढ़ कर हैं; क्योंकि वह उनको, अपनी कथा में, हेडीस् के धाम में पहुँचा देते हैं और वहाँ पर पुण्यवान सन्तों के सहभोज की रचना करके उनको, बहुमूल्य शय्याओं पर अर्द्धशयित स्थिति में हारवेष्टित शिरोंसहित अनन्तकाल तक आसव-पान में कालयापन करते हुए वर्णन करते हैं; मानों उनकी धारणा में अनन्त आसवपान ही पुण्यों का सर्वोत्तम उपहार है। तथा अन्य लोग देवताओं से प्राप्त होने वाले पुण्यों के उपहारों को इससे भी आगे बढ़ा देते हैं। क्योंकि उनका कहना है कि पुण्यात्माओं के पौत्र इत्यादि एवं शपथपालक मनुष्यों की तत्पश्चात् आनेवाली सन्तति कदापि नष्ट नहीं होती और वे सदा संपन्न बने रहते हैं। इन लोगों की न्याय की प्रशंसा ऐसी और इसी से मिलती जुलती है। परन्तु पापी और अन्यायियों को, वह हेडीस् के लोक में, दलदल में दफनाया हुआ, तथा चलनी में जल ले जाने के लिये विवश किये जाते हुए वर्णन करते हैं; तथा उनके जीवनकाल में वह उनको बदनाम होते हुए और उन सब यातनाओं को सहते हुए वर्णन करते हैं जिनको

ग्लौकोन ने अन्यायी समझे जाने वाले न्यायी मनुष्य पर पड़ती हुई गिनाया है। इसके अतिरिक्त उनकी कल्पना और कुछ नहीं सोच सकती। बस न्यायी की प्रशंसा और अन्यायी की निन्दा की उनकी शैली यही है।

७—फिर न्याय और अन्याय के विषय में उक्तियों का एक और भी प्रकार है जो कि साधारण जनों और कवियों दोनों में ही पाया जाता है; सॉक्रातेस्, तुम को उस पर भी विचार कर लेना चाहिये। विश्वभर एक स्वर में घोषणा करता है कि समचित्तता (स्थिरप्रज्ञता) तथा न्यायपरता (पुण्यवत्ता) निश्चयेन श्लाघनीय हैं (सुन्दर हैं) पर इसके साथ ही साथ श्रमसाध्य और कष्टकर हैं; पर इन्द्रियलोलुपता (अस्थिरचित्तता) एवं अन्याय प्रिय लगने वाले और सुखसाध्य हैं एवं केवल परंपरागत-रीति और सार्वजनिक सम्मति के ही कारण गर्हित हैं। लोग यह भी कहते हैं कि अधिकांश में न्याय अन्याय की अपेक्षा कम लाभदायक है और वे बुरों मनुष्यों को, यदि वे धन सम्पन्न हों अथवा अन्य प्रकार की शक्तियों से युक्त हों तो, सुखी कहने में नहीं झिझकते तथा व्यक्तिगत रूप में एवं सार्वजनिक रूप में उनका सम्मान करते हैं, इसके प्रतिकूल वह उन मनुष्यों का, जो कि अशक्त एवं निर्धन होते हैं, तिरस्कार और अपमान करते हैं, यद्यपि यह मानते हैं कि यह लोग उन लोगों से अच्छे हैं। पर उनकी सब उक्तियों से विचित्र प्रकार उन उक्तियों का है जिसका वह पुण्य और देवताओं के विषय में प्रयोग करते हैं; उनका कहना है कि देवता तक कुछ भले आदमियों को दुर्भाग्य और कुत्सित जीवन प्रदान करते हैं और उनके प्रतिकूलचारित्र्य वाले व्यक्ति को इसके विपरीत भागधेय दान देते हैं। भिखमंगे पुरोहित और भविष्यवक्ता धनवानों के द्वार पर जाते हैं और उनको विश्वास दिलाते है, कि उनको देवताओं से ऐसी शक्ति की निधि प्राप्त है जिसके द्वारा भोज के आमोद प्रमोद के साथ किये जाने वाले यज्ञ और जप के अनुष्ठान से वह किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं किये हुए अथवा उसके

पूर्वजों के किये हुए किसी भी पाप का प्रायश्चित और निवारण कर सकते हैं; और यदि वह (धनवान्) अपने किसी शत्रु को हानि पहुँचाना चाहे तो अल्पमात्र व्यय से यह भी साध्य है, फिर चाहे उसका शत्रु न्यायी हो या अन्यायी, क्योंकि उनको ऐसे जंतर मंतर सिद्ध हैं कि जिनसे वे देवताओं को भी अपना कहा करने को विवश कर सकते हैं। और इन सब कथनों के समर्थन में वह पापकर्म का सारल्य और बाहुल्य प्रदर्शित करने के लिये कवियों का साक्ष्य उद्धृत करते हैं; "जो कोई निकृति की खोज करेगा उसको वह ढेर की ढेर सरलता से ही प्राप्त हो जायेगी। उसका मार्ग समतल और छोटा है और उसका घर अत्यन्त समीप है। पर पुण्य के मार्ग में देवताओं ने प्रथम पग से ही प्रस्वेद बहना आदेश किया है। (हीसियड्, कार्य और दिवस २८७-८९) और उसका मार्ग भी लम्बा और पहाड़ की चढ़ाई जैसा है,,। कुछ अन्य लोग यह सिद्ध करने के लिये कि देवता मनुष्य के द्वारा अपने संकल्पों से डिगा दिये जा सकते हैं होमेर को साक्षी रूप में उपस्थित करते हैं, क्योंकि उसने भी कहा है, "देवता तक स्तुति से वश में हो जाते हैं, तथा मनुष्य यज्ञों और प्रशमार्थ प्रतिज्ञाओं से, धूप और आचमनों से उनके संकल्पों को प्रार्थना करते हुए बदल देते हैं; जब कभी उनसे पुण्यपथ का अतिक्रमण होकर पाप बन पड़ता है। (इलियड् ९।४९७)। और वह लोग मुसइयस् एवं ऑर्फियस द्वारा लिखी ढेरों पुस्तकें उपस्थित करते हैं तथा उनका कहना है कि यह कवि चन्द्रमा और देवियों की सन्तान हैं। यह पुस्तकें उनके कर्मकाण्ड की पुस्तकें हैं। इनके प्रमाण के द्वारा वह न केवल व्यक्तियों प्रत्युत नगर राज्यों तक को फुसला मना लेते हैं कि यज्ञों एवं उत्सवों द्वारा जीवित मनुष्यों के अन्यायपूर्ण कार्यों का क्षमापन और निवारण, एवं रहस्य नामक विशेष अनुष्ठान के द्वारा मृतकों तक के पापों का प्रायश्चित वास्तव में किया जा सकता है जिससे कि हमको परलोक की यातनाओं से छुटकारा मिल जाता है, पर यदि हम

इनकी उपेक्षा करें, यज्ञ इत्यादि न करें तो हमारे लिये परलोक में यम-यातना अवश्यम्भावी है ।

८—वह कहता चला, "प्रिय सॉक्रातेस्, हमारे ख्याल में जो विभिन्न प्रकार की उक्तियाँ जो कि मनुष्यों और देवताओं के पाप-पुण्य संबंधी दृष्टि-कोणों के विषय में कहीं जाती हैं, इनका प्रभाव उन युवा पुरुषों की आत्मा पर क्या पड़ता है जो कि चञ्चल बुद्धि वाले होते हैं और जो उड़ने-फुदकने की सामर्थ्य रखते हैं और एक कथन से दूसरे कथन पर तत्काल जा पहुँचते हैं और जो कुछ सुनते हैं उस सब से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने के लिये उनको अपना आचरण और मार्ग कैसा बनाना चाहिये ? बहुत संभव यह है कि ऐसा युवक पिण्डार कवि के शब्दों में अपने से यह प्रश्न पूछेगा, "क्या मैं न्याय के द्वारा उच्च दुर्ग में प्रवेश करूँगा अथवा कुटिलता के द्वारा जिससे कि मैं परिवेष्ठित एवं सुरक्षित जीवन-यापन कर सकूं ?" सामान्य सम्मति तो यह है कि यदि मैं न्यायी प्रतीत न होऊँ तो मेरे न्यायी होने का परिणाम, कुछ नहीं होगा केवल परि-श्रम और घाटा ही होगा; दूसरी और यदि मैं अन्यायी होऊँ और अपने लिये न्यायी होने की ख्याति अर्जित कर लूं तो मुझको स्वर्गिक आनन्द-वाला जीवन मिलना निश्चित है । तब तो, क्योंकि दार्शनिकों (बुद्धिमानों) के कथनानुसार "दिखावा वास्तविकता को अभिभूत कर लेता है" और सुख का प्रभु है, मुझे बिना झिझक अथवा हिचकिचाहट के अपने को पूर्ण-तया दिखावे को ही समर्पित कर देना चाहिये । आमुख और आभास के लिये तो मैं बाहर ही बाहर पुण्य का चित्र अंकित करूँगा, पर मेरे पीछे परम चतुर अर्खिलोखस् की चतुरचंचल स्वार्थदृष्टि संपन्न लोमड़ी रहेगी । इस पर यदि कोई आपत्ति करे कि नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि दुष्कर्म करने वाले का सर्वदा छिपा रहना सरल नहीं है, तो मेरा उत्तर यह है कि यह ठीक है पर फिर कोई भी महान् वस्तु या कार्य सरल नहीं होता ।

कुछ भी क्यों न हो, यदि हम सुखी होना चाहें तो हमको उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जिसकी ओर हमारी युक्ति के पदचिन्ह संकेत करते हैं। प्रच्छन्नता बनाये रखने के लिये हम सभा समाजों और राजनीतिक मण्डलों की संघटना कर लेंगे, फिर वक्तृत्वकला के कितने ही शिक्षक हैं जो कि जनसभा और न्यायाधिकरण में वक्तृता देने की कला सिखाते हैं। तो बस कुछ वक्तृत्वशक्ति द्वारा मना कर और कुछ बल से धमका कर मैं बिना दण्डित हुए प्रवंचना की योजना चालू रक्खूँगा। इस पर यह आपत्ति उठेगी कि देवताओं के समक्ष तो न प्रच्छन्नता चलेगी, न बल। पर यदि या तो देवताओं की सत्ता ही न हो और या वह मनुष्यों के कार्य-कलाप पर ध्यान ही न देते हों तो हमको भी उनके निरीक्षण से बचने की चिंता नहीं करनी चाहिये। लेकिन यदि देवता हैं और हमारा ध्यान भी रखते हैं तो भी हम उनके विषय में जो कुछ जानते हैं वह परंपरागत कथाओं एवं कवियों द्वारा वर्णित वंशावलियों के सहारे ही जानते हैं। पर यही आप्त प्रमाण हमको यह बतलाते हैं कि देवगण यज्ञ और प्रशमन स्तोत्र और भेंटपूजा के द्वारा अपने संकल्प से विचलित किये जा सकते हैं। तब या तो हमको दोनों कथनों में उनका विश्वास करना चाहिये या किसी में नहीं। यदि हम उनका विश्वास करें, तब तो अन्याय करना ही अच्छा है, हम अपने अन्यायों के फल में से देवताओं को भेंट दे लेंगे। क्योंकि यदि हम न्यायी बने रहें, तो यह तो सच है कि हम देवताओं के आघात से बच जायेंगे,, पर अन्याय से होने वाले लाभ से हमको हाथ धोने पड़ेंगे पर यदि हम अन्यायी बनें, हम उन लाभों को प्राप्त कर लेंगे और जब कभी हमसे अतिक्रमण अथवा पाप बन पड़ेगा तब हम अपनी प्रार्थना के अनुरोध से उनको सन्तुष्ट कर लेंगे और हम देवताओं के दण्ड से साफ़ बच जायेंगे। इस पर फिर यह आपत्ति की जायगी कि अधः लोक में हमको अथवा हमारी भावी सन्तानों को, हमारे इस लोक में किये अपराधों का उचित दण्ड

अवश्य मिलेगा। इसके उत्तर में हमारा चतुर मित्र कहेगा, 'नहीं प्रिय मित्र, इस विषय में भी मृतकों के लिये किये गये अनुष्ठानों का बल और मुक्तिदाता देवताओं की कृपा काम दे जाती है। शक्तिशाली नगरों का भी यही कहना है; तथा देवताओं के पुत्र, जो कि उनके कवि और संदेशदाता हो गये हैं, इनको सत्य प्रमाणित करते हैं।"

९--अब इससे आगे और कौन सा विचार रह जाता है कि जिसके आधार पर हम सबसे बुरे अन्याय को छोड़ कर न्याय को पसन्द करें? यदि हम अन्याय का संयोग दिखावटी शिष्टाचार से कर दें तो हम देवताओं और मनुष्यों में जीवन तथा मरण में मनमानी उन्नति प्राप्त करेंगे, जैसा कि मनुष्यों में से अधिकांश की राय तथा उच्चतम आप्तपुरुषों के बचनों से प्रमाणित होता है। यह सब जो कुछ कहा गया है इसको जानते हुए, सॉक्रातेस्, क्या कोई मनुष्य जिसको कि मस्तिष्क की शक्ति, धन का बल, शरीर की शक्ति अथवा कुल का गौरव प्राप्त है, न्याय की प्रशंसा सुन कर उस पर हँसने की अपेक्षा उसका सम्मान करने का इच्छुक हो सकता है? वास्तव में तो यदि कोई इन युक्तियों की असत्यता प्रदर्शित करने के योग्य हो और पर्याप्त निश्चय के साथ यह जान चुका हो कि न्याय ही सर्वोत्तम है तो भी वह अन्यायियों के प्रति अत्यन्त सहिष्णुता का व्यवहार करता है तथा उनसे रुष्ट नहीं होता, कारण, कि वह यह जानता है कि अपवाद स्वरूप कुछ ऐसे मनुष्यों को छोड़ कर जो कि अपने स्वभाव की सहजात दिव्यता के कारण अन्याय से घृणा करते हैं अथवा सत्यज्ञान की उपलब्धि के कारण उससे बचते हैं, निश्चय ही और कोई एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो स्वेच्छा पूर्वक न्यायी हो। और यह जो लोग अन्या की बुराई करते हैं वह भी डरपोकपन, वृद्धावस्था अथवा अन्य किसी दुर्बलता के कारण, केवल इसलिये कि उनमें अन्याय करने की शक्ति का अभाव है। यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है, क्योंकि ज्योंही कोई ऐसा मनुष्य शक्ति प्राप्त कर लेता है त्योंही

वह भरपेट अन्याय कर डालता है ।

और इस बात का एक मात्र कारण, हे सॉक्रातेस्, वह तथ्य है जो कि मेरे भाई ने और मैंने, तुम्हारे प्रति अपने भाषण के आरंभ में उपस्थित किया था अर्थात् यह बतलाया था कि यह कैसे अचरज की बात है कि प्राचीन काल के वीर पुरुषों से लेकर जिनका कि विवरण उपलब्ध है, आधुनिक काल तक के जितने भी आप न्याय के पक्ष के समर्थक हैं, सब ने ही बिना किसी अपवाद के अन्याय की निन्दा और न्याय की प्रशंसा केवल प्रत्येक से उपलब्ध होने वाली, ख्याति सम्मान, और दान के संबंध में ही की है, अन्य किसी प्रकार अथवा कारण से नहीं । परन्तु इनमें से प्रत्येक (जब कि वह देवताओं और मनुष्यों की दृष्टि से छिपा हुआ धारणकर्ता मनुष्य की आत्मा में निवास करता है) स्वयं अपनी अंतःशक्ति के कारण क्या है, इस बात को किसी ने भी गद्य अथवा पद्य में कभी ठीक प्रकार से वर्णन नहीं किया है, जो कि इस बात का केवल प्रमाण होता कि अन्याय किसी आत्मा में प्रविष्ट हो सकने वाली सबसे बड़ी बुराई है और न्याय सबसे महान् वरदान । क्योंकि यदि आरंभ से ही आप सब लोगों ने इस प्रकार उपदेश किया होता, और हमारे बचपन से इसी प्रकार हमको समझाकर आश्वस्त कर दिया होता, तो हम अब परस्पर एक दूसरे को अन्याय करने से रोकने की पहरेदारी न करते होते, बल्कि हममें से प्रत्येक, इस भय से कि कहीं अन्याय करके हम अपने भीतर सबसे बड़ी बुराई को न घुसा लें, स्वयं अपने ऊपर पहरेदारी करता ।

इतना सब, हे सॉक्रातेस्, और स्यात् इससे भी बहुत कुछ अधिक, न्याय और अन्याय के सम्बन्ध में थ्रासीमाकस् के द्वारा, और मैं कह सकता हूँ, अन्यपुरुषों के द्वारा भी कहा जा सकता है; और मेरी समझ में वह लोग इस प्रकार इन दोनों की सच्ची शक्तियों को बहुत कुछ परिवर्तित कर देते हैं । पर मैं (क्योंकि मुझे आप से कोई बात छिपाने की इच्छा नहीं है)

स्वीकार करता हूँ कि मै आपसे दूसरे पक्ष का समर्थन और इसका प्रतिवाद सुनना चाहता हूँ, इसी कारण मैंने इस पक्ष का समर्थन इतनी प्रबलता के साथ किया है। युक्तियों द्वारा हमको केवल यही नहीं बतलाइये कि न्याय अन्याय से बढ़ कर है, पर हमको यह भी स्पष्टतया दिखलाइये कि इनमें से प्रत्येक स्वयं अपने द्वारा अपने धारण करने वाले में वह कौन सा प्रभाव उत्पन्न करता है कि जिससे एक बुरा होता है और दूसरा भला। पर जैसा कि ग्लौकोन ने आप से अनुरोध किया है, इन दोनों की ख्यातियों को अलग छोड़ दीजिये। क्योंकि यदि आप प्रत्येक से उसकी सच्ची ख्याति को अलग करके झूठी ख्याति उसमें नहीं जोड़ेंगे, तो हम यही कहेंगे कि आप न्याय की प्रशंसा नहीं कर रहे है बल्कि उसके आभास की प्रशंसा कर रहे हैं और न आप अन्याय की निन्दा कर रहे हैं बल्कि उसके आभास की निन्दा कर रहे हैं, कि वास्तव में आपकी सलाह यह है कि हम अन्यायी हों पर अन्याय को छिपाये रहें, और यह कि इस बात में आप और थ्रासीमाकस् एकमत हैं कि न्याय, अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ होने के कारण पर (दूसरे) का हित है तथा अन्याय स्वयं अपने लिये हितकर एवं लाभदायक है एवं अपने से नीचे के लिये हानिकारक है। क्योंकि, आपने स्वीकार कर लिया है कि न्याय अच्छी वस्तुओं की उच्चतम कोटि के अन्तर्गत है, जिनका प्राप्त करना (स्वायत्त होना, अपने पास होना) उनके परिणाम के निमित्त एवं इससे भी बढ़ कर स्वतः अपने ही निमित्त, दोनों ही कारणों से मूल्यवान् है—उदाहरण स्वरूप, दृष्टि-शक्ति, श्रवण-शक्ति, बुद्धि, स्वास्थ्य और इनके अतिरिक्त अन्य सब ऐसी वस्तुएँ जो कि केवल अच्छी कह कर विख्यात ही नहीं है बल्कि वास्तव में (शुभपरिणाम) जनक हैं—अतः न्याय की प्रशंसा में मैं आप से विशेष तत्त्व पर ही ध्यान रखने की प्रार्थना करूँगा। मेरा अभिप्राय उस सारस्वरूप लाभ से है जो कि न्याय स्वतः अपने धारणकर्त्ता को प्रदान करता है, और उस सारस्वरूप

हानि से हैं जो अन्याय स्वतः अपने धारणकर्त्ता को पहुँचाता है। जन-सम्मति पर निर्भर रहने वाले उपहारों और सम्मानों की प्रशंसा करने का कार्य दूसरों के लिये छोड़ दीजिये। क्योंकि जब अन्य लोग इस प्रकार न्याय तथा अन्याय दोनों से प्राप्त होने वाली ख्याति और उपहारों के आधार पर एक की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करते हैं तब मैं उनसे ऐसी बातें सुनना सहन कर सकता हूँ, परन्तु तुमसे मैं इस प्रकार की बातें स्वीकार नहीं कर सकता जब तक कि तुम स्वयं इसके विषय में अपने मुख से मुझे मना न कर दो; क्योंकि तुमने तो अपना समग्र जीवन इसी विषय के चिन्तन में बिताया है। अतः मैं पुनः कहता हूँ कि केवल युक्तियों के द्वारा न्याय को अन्याय से बढ़ कर सिद्ध न कीजिये प्रत्युत हमको स्पष्टतया यह दिखला दीजिये कि इनमें से प्रत्येक अपने आन्तरिक मौलिक स्वरूप के कारण अपने धारणकर्त्ता के लिये ऐसा क्या प्रभाव उत्पन्न करता है जिससे एक अच्छा है और दूसरा बुरा, चाहे देवताओं अथवा मनुष्यों की दृष्टि उसको देख सके अथवा न देख सके।"

१०—यों तो मैं ग्लौकोन और अदैमान्तॉस् को स्वाभाविक (सहज) बुद्धिमत्ता की सर्वदा ही प्रशंसा किया करता था, पर इस अवसर पर तो उनके वचनों से मैं विशेष आह्लादित हुआ और कहने लगा, "मेरे सुविदित पुरुष के सुपुत्रों, ग्लौकोन के प्रशंसक ने तुम्हारे मैगारा के युद्ध में विशेष यशस्वी होने पर जो एलेगाई लिखी थी उसके प्रारंभ में तुम्हारे विषय में तुम्हें संबोधन करके क्या अच्छा कहा है:—"अरिस्तोन के पुत्र, यशस्वी पिता की देवतुल्य सन्तान (प्रजा)।" मेरे, प्रिय मित्रों, मैं समझता हूँ कि ये वचन बिल्कुल उचित हैं; क्योंकि यदि अन्याय के पक्ष का इतने अच्छे प्रकार से समर्थन करने के उपरान्त भी तुमको यह विश्वास नहीं हुआ कि अन्याय न्याय से बढ़ कर है तब तो निश्चय ही तुम्हारे स्वभाव में सचमुच ही देवतुल्यता होनी चाहिये। और मुझे विश्वास है कि तुम वास्तव में

आश्वस्त नहीं हुए हो। तुम्हारे सामान्य आचरण के कारण मेरा ऐसा अनुमान है अन्यथा केवल तुम्हारें वचनों के आधार पर तो मैं तुम्हारा वि-श्वास न करता। पर जितना ही मैं तुम पर अधिक विश्वास करता हूँ उतना ही मेरी समझ में नहीं आता कि इस विषय में क्या करूँ। क्योंकि मैं नहीं जानता कि (इस धर्म-संकट से) कैसे मैं तुम्हारा परित्राण कर सकूँगा। मुझे अपनी योग्यता में इस कारण सन्देह है कि तुमको वह युक्तियाँ तो मान्य हैं ही नहीं जिनके द्वारा मैं ख्याल करता था कि मैंने थ्रासीमाकस् के विरुद्ध यह सिद्ध कर दिया है कि न्याय अन्याय से बढ़कर है। और फिर यह भी मुझे नहीं जान पड़ता कि तुम्हारा परित्राण करना मैं कैसे अस्वी-कार कर सकता हूँ। क्योंकि जब न्याय की निन्दा हो रही हो तो जब तक कि मुझमें एक श्वास और बोलने की शक्ति शेष है तब तक हिम्मत हार कर बैठ जाने से मुझे निश्चय ही पाप लगेगा, ऐसा मुझे भय है। अतः मेरे लिये सबसे अच्छी बात भरसक सहायता प्रदान करना है।"

इस पर ग्लौकोन और शेष सब लोगों ने सब प्रकार से मुझसे परित्राण कार्य में सहायता प्रदान करने तथा शास्त्रार्थ को समाप्त न करके न्याय और अन्याय के स्वरूप के विषय में तथा उनके अलग लाभों की सचाई के विषय में अनुसन्धान को चालू रखने का अनुरोध किया। तब मैंने, अपने वास्तविक विचार के अनुसार उनसे कहा, "हम जो खोज कर रहे हैं वह कोई आसान काम नहीं है परन्तु जैसा कि मुझे सूझ पड़ता है, इसके लिये तीक्ष्ण दृष्टि की आवश्यकता है। क्योंकि हम बहुत चतुर बुद्धिमान नहीं हैं अतः मैं ख्याल करता हूँ कि हमको खोज की उस शैली का उपयोग करना चाहिये जिसका कि प्रयोग हम तीक्ष्ण दृष्टि न होते हुए दूर से छोटे अक्षरों को पढ़ने की आज्ञा दिये जाने पर, उसके पश्चात् किसी के यह कहने से करते हैं कि यही अक्षर अन्यत्र विशाल पृष्ठभूमि पर बड़े आकार में विद्यमान हैं। मैं कल्पना करता हूँ कि यदि वे दोनों अक्षर एक ही होते

तो पहले बड़े अक्षरों के पढ़ने और तत्पश्चात् छोटों के परीक्षण करने को हम ईश्वरीय देन मानते ।"

अदैमान्तॉस ने कहा, "बिल्कुल ठीक, पर न्याय विषयक अनुसंधान की इसके साथ तुम क्या समानता देख पाते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं आप को यह बतलाऊँगा । हम कहा करते हैं कि न्याय एक मनुष्य में निवास करता है, और एक नगर में भी निवास करता है । क्यों है न ?

उसने कहा, "निश्चय ही ।"

"क्या नगर मनुष्य की अपेक्षा विशाल नहीं होता ?"

उसने कहा, "विशाल होता है ।"

"तब तो, स्यात् विशाल वस्तु में न्याय अधिक मात्रा में उपलब्ध होगा और सरलता से समझ में आ सकेगा । अतः, यदि आप को अच्छा लगे तो हम पहले नगर राष्ट्र में इसके स्वरूप का परीक्षण और अनुसंधान करें और इसके उपरान्त ही हम व्यक्तियों में उसका परीक्षण करेंगे; विशाल के प्रतिरूप की अल्प में जैसी उपलब्धि हो सकती है उसको देखेंगे ।"

उसने कहा, "मेरे विचार में तो यह बड़ा ही अच्छा प्रस्ताव है ।"

मैंने कहा, "यदि हम नगर के जन्म (उत्पत्ति) के विषय में विचार करें तो हम उसमें न्याय और अन्याय की उत्पत्ति को भी देख पायेंगे ।"

उसने कहा, "ऐसा सम्भव है ।"

"यदि ऐसा किया जाय, तो क्या हम अपने अन्वेषण के लक्ष्य को अधिक सरलता से नहीं देख पायेंगे ?"

"हाँ, बहुत अधिक सरलता से ।"

"तो फिर क्या हम यह प्रयत्न करें और इसको अन्त तक पहुँचायें? मेरा ख्याल है कि यह छोटा-मोटा काम नहीं है । अतः भली-भाँति सोच लो ।"

अदैमान्तॉस् ने कहा, "हमने सोच लिया, आप अवश्य सर्वथा आरंभ

कीजिये, मना न कीजिये ।"

११—मैंने कहा, "अच्छा, मेरे ख्याल में, नगर की उत्पत्ति का कारण यह तथ्य है कि हम सब व्यक्ति पृथक्-पृथक् अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं और हम में से प्रत्येक को बहुत सी कमियों का अनुभव होता है। क्या आप के विचार में नगर की उत्पत्ति का कोई अन्य कारण है ।"

उसने कहा, "नहीं, दूसरा कोई कारण नहीं है ।"

"तो बस, क्योंकि हमारी आवश्यकताएँ बहुत रहती हैं, परिणाम यह होता है कि एक आदमी अपनी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिये किसी एक आदमी को सहायतार्थ बुलाता है, दूसरा दूसरे को, और इस प्रकार एक ही रहने के स्थान पर बहुत से साथी और सहायक एकत्रित हो जाते है तथा इस सामूहिक निवास स्थान को 'नगर' या 'राष्ट्र' ऐसा नाम प्रदान करते हैं । क्यों, ऐसा ही है न ?"

"सर्वथा सत्य है ।"

"और इन व्यक्तियों में इस विचार के आधार पर परस्पर आदान-प्रदान हुआ करता है कि ऐसा करना प्रत्येक के लिये व्यक्तिशः लाभदायक है ।"

"निःसन्देह ।"

मैंने कहा, "अच्छा तो, आइये अब हम बिलकुल आरंभ से कल्पना में एक पुर की रचना करें । इसकी वास्तविक स्रष्टा तो, जैसा कि प्रतीत होता है, हमारी आवश्यकताएँ हैं ।"

"स्पष्ट ही है ।"

"पर हमारी आवश्यकताओं में सबसे प्रथम और प्रधान भोजन का प्रबन्ध है जो कि हमारी सत्ता और जीवन का आधार है ।"

"निश्चय ही ।"

"दूसरी आवश्यकता रहने के मकान की और तीसरी वस्त्र इत्यादि की है।"

"ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो अब यह बतलाइये कि हमारा पुर इन सब इतनी वस्तुओं का पूरा कैसे डाल सकेगा ? क्या नगर में पहला व्यक्ति एक किसान, दूसरा स्थपति और तीसरा जुलाहा नहीं होगा ? और क्या हम इनके साथ एक मोची एवं अपने शरीर की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले एकाध अन्य सेवक को सम्मिलित कर सकेंगे ?"

"सर्वथा।"

"अर्थात् अल्पतम नगर की अनिवार्य संख्या चार या पाँच मनुष्य होगी।"

"यह तो स्पष्ट ही है।"

"अब इस विषय में क्या हो यह कहिये ? क्या इनमें से प्रत्येक को अपने परिश्रम का फल सबके साधारण उपयोग (सार्वजनिक उपयोग) के लिये समर्पित कर देना चाहिये ?——यथा क्या अकेला कृषक चौगुना समय और श्रम लगा कर चार मनुष्यों के लिये भोजन (अन्न) प्रस्तुत करे और उसको चारों साथ विभक्त करके भोगें, अथवा दूसरों की कोई चिन्ता न करके चौथाई समय में केवल अपने उपभोग के योग्य चौथाई मात्रा में अन्न उत्पन्न करे तथा शेष तीन चौथाई समय में से एक चौथाई घर बनाने में लगाये, दूसरा वस्त्र प्रस्तुत करने में, तीसरा जूता बनाने में, एवं दूसरों के साथ सहयोग की झंझट मोल न ले, अपने लिये स्वयं अपना काम अपने आप करे ?"

और अदैमान्तॉस् ने कहा, "सॉक्रातेस्, पर स्यात् यह (प्रथम उपाय) इस (दूसरे उपाय) की अपेक्षा सरलतर है।"

मैंने कहा, "भगवान जाने; ऐसा होना कोई अनोखी बात तो नहीं

है; क्योंकि अब तुम्हारे कहने से मुझे स्वयं भी यह सूझ पड़ता है कि पहली बात तो यह है कि हम सब का सहज स्वभाव एक नहीं होता प्रत्युत भिन्न होता है। एक मनुष्य प्रकृति से एक काम करने के अधिक योग्य होता है दूसरा दूसरे के। क्या आप का ख़्याल ऐसा नहीं है?"

"हाँ यही बात ठीक है।"

"फिर, क्या एक मनुष्य अनेक कार्यों में व्यापृत होकर अधिक सफल काम कर सकेगा या केवल एक में?"

उसने कहा, "एक में व्यापृत होकर।"

"और, फिर मैं यह भी कल्पना करता हूँ कि यदि कोई आदमी काम के ठीक समय को, अनुकूल क्षण को निकल जाने देता है तो काम बिगड़ जाता है।"

"स्पष्ट ही है।"

"मेरी समझ में इसका कारण यह है कि कार्य, कर्त्ता के अवकाश की प्रतीक्षा में ठहरा नहीं रह सकता प्रत्युत कर्त्ता को कार्य को अपना मुख्य उद्देश्य मान कर उसमें लगना चाहिये और उसको गौण स्थान नहीं देना चाहिये।"

"उसको ऐसा ही करना चाहिये।"

"इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब एक आदमी अपने स्वभाव के अनुसार एक ही कार्य को ठीक समय पर, अन्य कार्यों से सावकाश होकर (अन्य कार्यों को छोड़ कर) करता है तब सभी वस्तुएँ अधिक मात्रा में अधिक सरलता से, और उच्च गुण वाली उत्पन्न होती हैं।"

"निस्सन्देह।"

"तो, अदैमान्तॉस्, जिन आवश्यक वस्तुओं का हमने उल्लेख किया है उनको प्रस्तुत करने के लिये हमको चार से अधिक पुरवासी चाहियें। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि कृषक अपना हल, फावड़ा और कृषि

संबंधी अन्य उपकरण स्वयं अच्छे नहीं बना सकेगा और न स्थपति, जिसको कि अनेकों उपकरणों की आवश्यकता होती है । इसी प्रकार जुलाहे और मोची की यही दशा समझनी चाहिये ।

"सत्य है ।"

"तब तो बढ़ई, लोहार और अनेकों अन्य शिल्पी, हमारी नन्हीं-सी बस्ती में मिल कर उसको पर्याप्त मात्रा में बढ़ा देंगे ।"

',निश्चय ही ।"

"तिस पर भी यदि हम बकरी चराने वाले, गड़रिये और अन्य चरवाहों को भी मिला लें जिससे कि कृषकों को हल जोतने के लिये चौपाये मिल सकें, स्थपतियों को कृषकों के साथ भार ढोने के लिये पशु मिल सकें तथा मोचियों एवं जुलाहों को चमड़ा और ऊन मिल सके तो भी तो हमारा पुरवा बहुत बड़ा नहीं होगा ।"

"और यदि उसमें यह सब हुए तो यह ऐसा बहुत छोटा भी नहीं होगा ।"

मैंने कहा, "और फिर वास्तविक नगर को ऐसे स्थान में स्थापित करना लगभग असंभव ही होगा कि जहाँ उसको आयातों की आवश्यकता न हो ।"

"हाँ, असंभव होगा ।"

"तब, एक और ऐसे वर्ग की आवश्यकता होगी जो कि दूसरी नगरियों से आवश्यक वस्तुएँ लाया करेगा ।"

"हाँ, होगी ।"

"अच्छा, पर यदि हमारा कार्यवाह उन लोगों के मध्य में रीते हाथ जायेगा, जिनसे कि वह अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करता है, अपने साथ उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ लेकर नहीं जायेगा, तब वह रीते हाथ ही लौट कर आयेगा; क्यों ठीक है न ?"

"मैं भी ऐसा ही ख़्याल करता हूँ।"

"तब तो उनके अपने नगर की उपज केवल उनके लिये ही पर्य्याप्त नहीं होनी चाहिये बल्कि मात्रा और गुण में इतनी और ऐसी होनी चाहिये कि जिससे उन लोगों की आवश्यकता की पूर्त्ति हो सके जो उनके नगर की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं।"

"यह तो होना ही चाहिये।"

"तब तो हमारे नगर को और भी अधिक किसानों तथा अन्य शिल्पकारों की आवश्यकता होगी।"

"हाँ, और अधिक की।"

"और अन्य ऐसे कार्यवाहों की आवश्यकता होगी जो कि पण्य वस्तुओं के निर्यात और आयात का काम करेंगे। यह लोग व्यापारी कहलाते हैं; क्यों ठीक है न?"

"हाँ।"

"तो हमको व्यापारियों की भी आवश्यकता होगी।"

"निश्चय, ही।"

"और यदि व्यापार समुद्र-मार्ग से हुआ तो हमको ऐसे व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या में आवश्यकता होगी जो कि सामुद्रिक व्यापार में निपुण हों।"

"निःसन्देह, पर्याप्त संख्या चाहिये।"

१२—"पर फिर, स्वतः नगर में ही सब लोग अपने श्रम के उत्पादन को किस प्रकार परस्पर विभाजित कर उपभोग करेंगे? केवल इसी उद्देश्य की दृष्टि से ही समाज और नगर की स्थापना की गयी थी।"

उसने कहा, "प्रत्यक्ष है कि वह क्रय और विक्रय द्वारा ऐसा करेंगे।"

"तब, इसका परिणाम यह होगा कि एक बाजार और विनिमय के निमित्त धन-मुद्रा की उत्पत्ति होगी।"

"अवश्य, सर्वथा ऐसा ही होगा।"

"अब मान लो कि कोई किसान या कोई अन्य शिल्पी अपनी उत्पादित वस्तुओं को लेकर हाट में ऐसे समय पर आता है जब कि उन व्यक्तियों में से, जो कि उसके साथ विनिमय करते, कोई भी वहाँ नहीं है तब क्या वह अपना काम धन्धा छोड़ कर हाट में बेकार बैठा रहेगा ?"

उसने कहा, "बिल्कुल नहीं; ऐसे मनुष्य भी होते हैं जो इस आवश्यकता को दृष्टि में रख कर अपने को इस कार्य में लगाते हैं। सुव्यवस्थित नगरों में, साधारणतया यह लोग वह होते हैं जो शारीरिक शक्ति में निर्बलतम होते हैं और अन्य प्रकार के कार्यों के लिये अयोग्य होते हैं। उनका कर्तव्य हाट में उपस्थित रहना है, तथा जो बेचना चाहें उनको माल के बदले धन और जो खरीदना चाहें उनको धन के बदले में माल देना है।"

मैंने कहा, "तो यह आवश्यकता हमारे नगर में दूकानदारों के वर्ग को उत्पन्न कर देगी। क्या 'दूकानदार' नाम उन्हीं लोगों के लिये उपयुक्त नहीं है जो कि हाट में स्थित रह कर क्रय-विक्रय कार्य में उपयोगी होते हैं तथा 'व्यापारी' नाम उन लोगों के लिये जो कि नगरों से नगरों में व्यवसायार्थ परिभ्रमण किया करते हैं ?"

"निश्चय।"

"और, मेरा विश्वास है, कि इनके अतिरिक्त सेवकों का एक और भी वर्ग होता है, जो कि मानसिक (बौद्धिक) गुणों में तो हमारे साथी-संगी होने की योग्यता नहीं रखते, पर जिनकी शारीरिक शक्ति परिश्रम करने की क्षमता रखती है; वे इस श्रम (शक्ति) के उपयोग को बेचते हैं और उसके मूल्य को पारिश्रमिक कहते हैं, तथा मैं ख्याल करता हूँ कि श्रमजीवी कहलाते हैं। क्यों, क्या वे ऐसा नहीं कहलाते ?"

"बिलकुल ठीक।"

"तब तो, ऐसा प्रतीत होता है, कि मज़दूर (श्रमजीवी) लोग हमारे राष्ट्र के पूरक होने में सहायक होकर उसको पूर्ण कर देते हैं।"

"मैं ऐसा ही समझता हूँ ।"

"अदैमान्तॉस्, क्या अब हमारा नगर परिपूर्ण वृद्धि को प्राप्त होकर सम्पूर्ण हो गया ?"

"स्यात् ऐसा ही है ।"

"तो इसमें, न्याय और अन्याय कहाँ उपलब्ध होते हैं ? तथा हमारे द्वारा विचार किये गये वे नगर के कौन से अंग हैं जिनके साथ-साथ इनका नगर में प्रवेश होता है ?"

उसने कहा, "सॉक्रातेस्, मुझे तो कुछ सूझता नहीं; स्यात् है इन्हीं नगर-निवासियों के परस्पर व्यवहार की आवश्यकताओं में इसकी उत्पत्ति होती हो ।"

मैंने कहा, "स्यात् यह बड़ा अच्छा सुझाव है, हमको इसका परीक्षण अवश्य करना चाहिये, एवं इसके अनुसंधान से हिचकिचाना नहीं चाहिये ।"

१३—"सबसे पहले तो हमको यह विचार करना चाहिये कि इस प्रकार व्यवस्थापित मनुष्यों का जीवन-यापन का प्रकार क्या होगा । क्या वह अपने लिये अन्न, मदिरा, कपड़े, जूते और मकान नहीं बनायेंगे ? घरों में बस जाने के पश्चात् वे गर्मी के दिनों में प्रायः बिना कपड़े और जूते पहने काम किया करेंगे और जाड़ों में पर्याप्तरूपेण कपड़े पहन कर तथा जूते धारण करके । अपने पोषण के लिये वह जौ के आटे और गेहूँ के मैदे को गूँद कर तथा माँड़ कर सुन्दर टिकियाँ और रोटियाँ बनाया करेंगे । इनको वह चटाइयों अथवा स्वच्छ पत्तों पर परोसेंगे और स्वयं ब्राइनिया और मेंहदी से सजे ग्रामीण पलकों पर बैठेंगे । हार पहने हुए वे लोग अपने बाल-बच्चों के सहित सानन्द भोजन करेंगे और उसके साथ मदिरा पियेंगे, आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण साथी संगियों के मध्य में वह देवताओं के स्तोत्र गायेंगे । युद्ध अथवा दरिद्रता के भय से सावधान हुए वे अपनी आर्थिक स्थिति की क्षमता से अधिक सन्तानोत्पादन नहीं करेंगे ।"

१३—इस पर ग्लौकोन ने बीच में ही बात काट कर कहा, "मालूम पड़ता है कि इस प्रकार आनन्दभोज खाते हुए मनुष्यों के लिये तुमने कोई मसाला (स्वादिष्ट पदार्थ) नहीं बतलाया।"

मैंने कहा, "सच है, मुझसे भूल हुई—वे लोग नमक, ज़ैतून और पनीर इत्यादि का उपयोग अवश्य ही करेंगे, तथा लहसुन और हरी साग-भाजियों एवं अन्य कन्दमूलों को भी वह सब मिला कर उबाला करेंगे, जैसा कि देहात के लोग किया करते हैं। उप-अशन के लिये हम उनको अञ्जीर, मटर और सेम इत्यादि परोस देंगे, और वे मेंहदी की गोंदनी तथा बीच-वृक्ष की गुठलियाँ भूनकर सामान्य मात्रा में मदिरा के साथ उनको खा लिया करेंगे। इस प्रकार अपना जीवन शान्ति एवं स्वास्थ्य सहित व्यतीत करके वह वृद्धावस्था में शरीर त्याग करेंगे और अपनी सन्तति को भी उत्तराधिकार में अपना जैसा जीवन दे जायेंगे।"

और उसने कहा, "हाँ, ठीक ही है, सॉक्रातेस्! अच्छा यदि तुम सूअरों का नगर बसाते तो उनके लिये भी इसको छोड़ कर क्या और किसी प्रकार के चारे का प्रबन्ध करते?"

मैंने कहा, "क्यों? अच्छा ग्लौकोन फिर तुम्हीं बतलाओ कि तुम क्या चाहते हो?'.

उसने उत्तर दिया, "मैं ख़्याल करता हूँ कि यदि वे असुविधापूर्ण जीवन न बनाना चाहें तो उनको सामान्य शिष्ट जीवन की रीति के अनुसार अच्छी शय्याओं पर बैठ कर मेज़ पर रक्खा हुआ भोजन खाना चाहिये; तथा आधुनिक प्रकार के व्यंजन और मिष्ठान्न भी उनके लिये होने चाहिये।"

मैंने कहा, "अच्छा, मैं समझ गया। मालूम पड़ता है कि हम एक सामान्य नगर की उत्पत्ति का नहीं, प्रत्युत एक ऐश्वर्यपूर्ण विलासी नगर की उत्पत्ति का विचार कर रहे हैं। और, स्यात् यह कोई ऐसा बुरा सुझाव भी नहीं है। क्योंकि ऐसे नगर के पर्यवेक्षण से सम्भवतया हम राष्ट्रों

में न्याय तथा अन्याय की उत्पत्ति को खोज पायें। मेरी धारणा की सच्ची नगरी—अर्थात् स्वस्थ नगरी तो वही है जिसका मैंने वर्णन किया है। पर यदि तुमको यह अच्छा लगता है कि हम ज्वरज्वाला से पूर्ण नगर का भी चिन्तन करें तो (मुझको) इसमें भी कोई बाधा नहीं है। क्योंकि, प्रतीत होता है कि कुछ लोग इस प्रकार के सादे भोजन और सादे जीवन से सन्तुष्ट नहीं होंगे, उनके लिये मेज, कुर्सी एवं अन्य उपकरणों को जुटाना ही पड़ेगा; हाँ, तथा इनके अतिरिक्त मसाले, धूप, दीप, गन्ध और छोकरियाँ—सब के सब और सब प्रकार के ढेर के ढेर—एकत्रित करने ही होंगे। और, मकान, वस्त्र और जूते इत्यादि जिन आवश्यक वस्तुओं का हमने पहले वर्णन किया था वे मौलिक आवश्यकता की सीमा में आबद्ध नहीं रहेंगी प्रत्युत हमको चित्रकला और कढ़ाई इत्यादि से भी काम लेना पड़ेगा एवं सोना, हाथीदाँत और इसी प्रकार के अन्य बहुत से बहुमूल्य उपकरण उपलब्ध करने होंगे। क्यों होंगे या नहीं ?"

उसने कहा, "हाँ, क्यों नहीं ?"

"तो क्या हमको अपने नगर की सीमा को पुनः नहीं बढ़ाना पड़ेगा ? क्योंकि पहला स्वस्थ नगर तो अब क्षेत्रफल में पर्याप्त होगा नहीं; उसको बढ़ा कर अनेकों ऐसी वस्तुओं और शिल्पों से भरना पड़ेगा जो नगरों में मौलिक एवं स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं चाहियें। उदाहरण के लिये बहेलियों का सारा का सारा वर्ग चाहिये और अभिनेताओं (अनुकरण करने वालों) का वर्ग चाहिये जिनमें से अनेकों रूप रंग की सजावट का काम करते हैं और बहुत से संगीतविद् होते हैं। इसी प्रकार कवियों का वर्ग और उनके सहचर कथावाचक, अभिनेता, गायक, नर्तक और ठेकेदार इत्यादि चाहियें। तथा सब प्रकार की वस्तुओं को बनाने वाले चाहियें, विशेष रूप से उन वस्तुओं को बनाने वाले जिनका संबंध स्त्रियों की साजसज्जा से है। और हमको अधिक नौकर-चाकरों की भी

आवश्यकता पड़ेगी। क्या तुम समझते हो कि हमको शिक्षकों (उस्तादों) धायों—(दूध पिलाने वाली और साधारण दोनों ही प्रकार की) सैरन्ध्रियों, नाइयों और रसोइयों इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ेगी ? सूअर चराने वाले तक, जिनकी हमारे पहले नगर में आवश्यकता न होने के कारण सत्ता ही नहीं थी, अब हमारे लिये आवश्यक हो जायेंगे; तथा यदि मनुष्य पशु-मांस खायेंगे तो हमको बहुत बड़ी संख्या में अन्य पशुओं की भी आवश्यकता होगी। क्यों होगी या नहीं ?"

"हाँ, अवश्य।"

"तो क्या पूर्व प्रकार के जीवन की अपेक्षा इस प्रकार का जीवन यापन करते हुए हमको डाक्टरों की सेवा की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं होगी ?"

"हाँ, वास्तव में अधिक आवश्यकता होगी।"

१४—और वही धरती जो पहले तत्कालीन जनसंख्या के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त थी, अब बहुत कम पड़ जायेगी और आगे पर्याप्त नहीं रहेगी। यह बात ठीक है न ?"

"यह ठीक है।"

"तब हमको पशु-चारण और कृषि के लिये पर्याप्त भूमि प्राप्त करने के निमित्त अपने पड़ोसियों की धरती में से एक पट्टी काट कर छीन लेने की आवश्यकता होगी और यदि उन हमारे पड़ोसियों ने भी अनिवार्य आवश्यकताओं की सीमा का उल्लंघन कर सीमारहित ऐश्वर्योपलब्धि के हाथ अपने को सौंप दिया तो उनको हमारी धरती की पट्टी काट कर छीन लेने की आवश्यकता पड़ेगी।"

"सॉक्रातेस्, ऐसा होना अनिवार्य है।"

"तब तो, ग्लौकोन, हमारा अगला कदम होगा युद्ध करना। क्यों, या कुछ और ?"

उसने कहा, "जो तुम कहते हो ठीक है।"

मैंने कहा, "अभी तक हमको यह नहीं कहना है कि युद्ध का परिणाम बुरा होता है या भला, अभी तो हमको अपने को इसी कथन तक सीमित रखना है कि हमने आगे बढ़ कर युद्ध की उत्पत्ति को उन कारणों में खोज निकाला है जो कि किसी राष्ट्र पर समष्टिरूपेण अथवा व्यष्टिरूपेण आने वाली समग्र बड़ी से बड़ी आपदाओं के परिपूर्ण उद्गम हैं।"

"निश्चयेन।"

"मेरे प्रिय मित्र, लो हमें अपने नगर को पुनः एक बार बढ़ाना पड़ेगा और इस बार की वृद्धि साधारण-सी वृद्धि नहीं होगी, बल्कि एक पूरी सेना की वृद्धि होगी, जिसको हमारी धन सम्पत्ति एवं उपर्युक्त उपकरणों और मनुष्यों की रक्षा के निमित्त प्रत्येक आक्रमणकारी से मोर्चा लेने के लिये प्रयाण करना होगा।"

उसने कहा, "क्यों ? क्या नागरिक स्वयं ही इस कार्य के लिये अलं नहीं हैं ?"

मैंने कहा, "नहीं। नगर की संघटना करते समय तुमने और हम सब ने जो बातें स्वीकार कर ली थीं, यदि हमारी वह मान्यताएँ ठीक हों तब तो ऐसा नहीं हो सकता। मेरा ख्याल है कि तुमको याद होगा हमने यह तथ्य मान लिया था कि एक ही मनुष्य के लिये कई शिल्पों का कार्य भली प्रकार करना असंभव है।"

उसने कहा, "सत्य है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्या तुम्हारे विचार में युद्ध का काम कोई कला और व्यवसाय नहीं है ?"

उसने कहा, "निःसन्देह है।"

"तो क्या मोची के व्यवसाय के लिये हमको युद्ध व्यवसाय की अपेक्षा अधिक ध्यान देना चाहिये ?"

"कदापि नहीं ।"

"और मोची को तो हमने कष्टकर सतर्कता के साथ एक साथ कृषक, जुलाहा और स्थपति बनने का उद्योग करने से इसलिये रोका था कि जिससे हमारा जूते बनाने का काम भली भाँति हो सके; एवं इसी प्रकार हमने प्रत्येक मनुष्य को केवल एक-एक व्यवसाय बाँटा था, जिसके लिये वह व्यक्ति स्वभावत: उपयुक्त था, तथा उस कार्य को भली भाँति करने के लिये उसको आजीवन अन्य सब कार्यों से छुट्टी पाकर बिना उचित अवसर खोये काम करने को कहा था, तो क्या युद्ध का व्यवसाय अन्य सब कार्यों की अपेक्षा इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसको भली भाँति किया जाय ? अथवा क्या यह व्यवसाय इतना सरल है कि कोई भी मनुष्य खेती करते हुए, या मोचीगीरी या मज़दूरी या अन्य कोई व्यवसाय करते हुए इसमें सफल हो सकता है, यद्यपि संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य ड्राफ्ट या पाँसे का पूर्णतया निष्णात खिलाड़ी नहीं हो सकता जिसने कि अपने जीवन के आरंभिक काल से ही अन्य सब कार्यों को छोड़ कर केवल इसी का विशेष रूप से अभ्यास न करके, इसको अपने खाली समय का व्यवसाय बनाया हो ? क्या यह विश्वास करने योग्य बात है कि कोई भी मनुष्य ढाल अथवा युद्ध संबन्धी किसी अन्य अस्त्र-शस्त्र को हाथ में धारण करते ही भारी कवचधारी सेना के अथवा अन्य प्रकार के युद्ध के योग्य हो जायगा— जब कि अन्य किसी उपकरण का धारण करना मात्र किसी मनुष्य को एक सच्चा शिल्पकार अथवा मल्ल नहीं बना सकता और न वह औजार ऐसे मनुष्यों के किसी काम का हो सकता है जिन्होंने कि न तो उसके उपयोग का ज्ञान प्राप्त किया है और न पर्याप्तरूपेण उसके उपयोग का क्रियात्मक अभ्यास किया है ?"

उसने कहा, "यदि ऐसा होता (अर्थात् यदि उपकरण अपना उपयोग स्वयं सिखा देते) तो उपकरण परम मूल्यवान् हुए होते ।"

१५—मैंने कहा, "तब तो जिस अनुपात में हमारे इन रक्षकों का कार्य अन्य सब कार्यों की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होगा उतने ही अनुपात में उसके लिये अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अवकाश, ज्ञान और अभ्यास की आवश्यकता होगी।"

उसने कहा, "मैं भी यही ख्याल करता हूँ।"

"और क्या इसके लिये इसी व्यवसाय के निमित्त उपयुक्त स्वभाव की भी आवश्यकता नहीं होगी ?"

"अवश्य होगी।"

"तब तो ऐसा मालूम पड़ता है कि हमारा यह कर्तव्य हो जायगा कि यदि हमसे हो सके तो हम ऐसे विशिष्ट स्वभावों को चुनें जो कि राष्ट्र के रक्षक होने योग्य गुणों से युक्त हैं।"

"हाँ, यह हमारा कर्तव्य होगा।"

मैंने कहा, "तब तो मेरा विश्वास कीजिये, कि हमने अपने ऊपर यह कोई सरल कार्य नहीं लिया है। पर, तो भी जब तक हमारी सामर्थ्य हमारा साथ दे हमको पीछे नहीं हटना चाहिये।"

"नहीं, ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये।"

मैंने पूछा, "क्या तुम्हारी समझ में इस रक्षा और चौकसी के कार्य के लिये एक अच्छी जाति के कुत्ते और अच्छे कुल के युवक के स्वभाव में कुछ भेद है ?"

"आप के इस कथन का तात्पर्य ?"

"मेरा तात्पर्य यह है कि दोनों की दृष्टि पैनी होनी चाहिये, और जिसको देख पायें उसका अन्वेषण करने में प्रत्येक को सजग होना चाहिये तथा जिसको पकड़ लें, यदि अवसर आये तो उससे लड़ कर निपट लेने की प्रत्येक में शक्ति भी होनी चाहिये।"

उसने कहा, "हाँ, क्यों नहीं ? इन सब गुणों की आवश्यकता है।"

"इसके अतिरिक्त भली प्रकार से लड़ने के लिये उनको वीर भी होना चाहिये।"

"अवश्य।"

"पर, क्या कोई भी प्राणी, चाहे घोड़ा हो, कुत्ता हो या अन्य कोई जीव हो, यदि वह जीवट वाला न हो तो क्या वीर हो सकता है? क्या तुमने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया है कि जीवट कितनी अनिरुद्ध और अजेय वस्तु है कि जिसकी सत्ता प्रत्येक जीव को किसी भी भय के समक्ष निर्भय और अदम्य बना देती है?"

"मैं यह जानता हूँ।"

"तो, अब रक्षक के शारीरिक गुण तो स्पष्ट हो गये।"

"हाँ।"

"और उसकी आत्मा के गुण भी स्पष्ट ज्ञात हो गये कि उसको बहुत जीवट वाला होना चाहिये।"

"हाँ, यह भी स्पष्ट हो गया।"

मैंने कहा, "ग्लौकोन, यदि उनका स्वभाव ऐसा हुआ तो वह परस्पर एक दूसरे के प्रति तथा शेष नागरिकों के प्रति दारुण और निष्करुण हुए बिना कैसे रह सकते हैं?"

उसने कहा, "भगवान ही जानें; सरलता से तो नहीं रह सकते।"

"तो भी उनको मित्रों के प्रति तो मृदुल ही होना चाहिये, और शत्रुओं के प्रति दारुण; अन्यथा, अपने विनाश के लिये उनको दूसरों (शत्रुओं) की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी, प्रत्युत वह पहले स्वयं ही आत्म-विनाश के कारण बन जायेंगे।"

उसने कहा, "सच है।"

मैंने कहा, "तब हम क्या करें? ऐसे स्वभाव को कहाँ खोजें जो एक साथ मृदुल भी हो और जीवट वाला भी? क्योंकि मृदुलास्वभाव

वालों और जीवटयुक्त स्वभाव वालों में तो विरोध प्रतीत होता है ।"

"मालूम तो यही पड़ता है ।"

"तथापि यदि किसी में इन दोनों गुणों की कमी हो तो वह कदापि अच्छा रक्षक नहीं हो सकता । परन्तु इन गुणों का एकाधार में सम्मेलन असंभव मालूम देता है । अतः परिणाम यह होगा कि अच्छा रक्षक होना असंभव है ।"

उसने कहा, "दिखलाई तो ऐसा ही देता है ।"

और मैं उलझन में फँसा जैसा अनुभव करने लगा, पर पुनः अपने पिछले वार्तालाप पर विचार करके मैंने कहा, "मेरे मित्र, हमको उलझन में फँसना चाहिये ही था क्योंकि हमने प्रस्तुत उपमा को अपनी दृष्टि से हटा दिया है ।"

"इससे आप का क्या अभिप्राय है ?"

"हमने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि सब कुछ होते हुए भी ऐसे असंभव स्वभाव वाले प्राणी होते हैं जिनमें यह विरोधी गुण पाये जाते हैं ।"

"तो कहिये ऐसे जीव कहाँ मिल सकते हैं ?"

"ऐसे स्वभाव का उदाहरण कई एक पशुओं में देखा जा सकता है, पर विशेष रूप से ऐसा स्वभाव उस पशु में उपलब्ध होता है जिससे हमने रक्षक को उपमा दी है । निश्चय है कि तुमने अच्छी जाति के कुत्तों में यह बात देखी होगी कि उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने परिचितों और पहिचाने हुए व्यक्तियों के प्रति अत्यन्त कोमल, और अनजाने व्यक्तियों के प्रति इसके बिलकुल विपरीत होती है ।"

"हाँ, यह तो मुझे मालूम है ।"

"अतःऐसा होना संभव है; और रक्षकों में हम जिन गुणों की खोज में हैं वह अस्वाभाविक नहीं हैं ।"

"अवश्य नहीं।"

१६—"और क्या तुमको ऐसा लगता है कि हमारे भावी रक्षक को जवीटयुक्त स्वभाव वाला होने के साथ ही अपने स्वभाव में विवेकप्रियता (दार्शनिकता) का गुण रखने वाला भी होना चाहिये ?"

उसने कहा, "सो कैसे ? मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।

मैंने कहा" यह अन्य विलक्षणता भी तुमको कुत्तों में देखने को मिलेगी, और इसका पशु में होना आश्चर्यकर है।"

"क्या ?"

"यही कि अनजाने व्यक्ति को देखते ही कुत्ता क्रुद्ध हो उठता है यद्यपि उससे उसको कोई आघात नहीं पहुँचा है, पर परिचित ब्यक्ति को देख कर वह उसका स्वागत करता है यद्यपि उसने उस पर कोई दया नहीं की है। क्या तुमको यह बात अद्भुत और अनोखी-सी नहीं मालूम दी ?"

"अब से पहले मैंने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि उसका व्यवहार कुछ इसी प्रकार का होता है।"

"पर निश्चय ही यह उसके स्वभाव की एक उत्तम विलक्षणता है और सच्ची विवेकप्रियता को सूचित करने वाली है।"

"सो कैसे ? कृपया बतलाइये।"

मैंने कहा, "इस प्रकार कि, वह मित्र और शत्रु की आकृति का विवेक ज्ञातता और अज्ञातता के अतिरिक्त अन्य किसी चिह्न से नहीं करता। मैं आप से पूछता हूँ कि जो प्राणी मित्र तथा अमित्र को ज्ञान एवं अज्ञान की कसौटी से जान लेता है उसमें शिक्षा के प्रेम का निषेध कैसे किया जा सकता है ?"

उसने कहा, "अवश्य ऐसा नहीं किया जा सकता।"

मैं बोला, "यह तो तुम मानोगे ही न कि शिक्षा का प्रेम और विवेक का प्रेम एक ही वस्तु है ?"

उसने कहा' "दोनों एक ही हैं।"

"तो क्या हम विश्वास के साथ मनुष्य के विषय में भी यह सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकते कि यदि उसको मित्रों और परिचितों के प्रति मृदुल होना है तो उसको निसर्गतः शिक्षा और विवेक का प्रेमी होना चाहिये ?"

उसने उत्तर दिया, "सो तो हमको मान ही लेना चाहिये।"

"तब तो हमारी सम्मति में विवेक का प्रेम, बड़ी जीवट, सत्वरता और बल इन चार गुणों का सम्मेलन उस मनुष्य के स्वभाव में होना चाहिये जिसको राष्ट्र का उदार और सच्चा रक्षक बनना है।"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

"यह उसके आचरण का मौलिक आधार होगा। पर उनके संवर्द्धन और शिक्षण का क्या प्रबंध होगा ? और क्या इस विषय का विचार हमको अपने समग्र अनुसंधान के लक्ष्य ––अर्थात् किसी राष्ट्र में न्याय और अन्याय की उत्पत्ति––की ओर कुछ अग्रसर करेगा या नहीं ? क्योंकि हमारा उद्देश्य न तो किसी उपयोगी विषय को छोड़ देना है और न विवेचन को असुविधाजनक विस्तार देना है।"

और इस पर ग्लौकोन के भाई ने कहा, "मैं तो अवश्यमेव यह आशा करता हूँ कि यह अनुसंधान हमको उक्त उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होगा।"

मैंने कहा, "प्रिय अदैमान्तॉस्, तब तो चाहे यह विवेचन कुछ लम्बा भी हो जाये तो भी हमको इसका परित्याग नहीं करना चाहिये।"

"नहीं, कदापि नहीं करना चाहिये।"

"अच्छा तो आओ, पर्याप्त अवकाश वाले कहानी कहने वालों के समान, हम इन वीर पुरुषों की शिक्षा की विवेचना करें।"

"हाँ, ऐसा ही करें।"

१७––"इन लोगों की शिक्षा क्या होनी चाहिये ? अथवा चिरकालीन परम्परा द्वारा आविष्कृत शिक्षा-पद्धति से बढ़ कर पद्धति खोज पाना कठिन

है ? जो, शिक्षा पद्धति मेरी समझ में यह है कि शरीर के लिये व्यायाम और आत्मा के लिये संगीत ।"

"ऐसा ही है ।"

"और क्या हम अपनी शिक्षा व्यायाम की अपेक्षा प्रथम संगीत से आरंभ नहीं करेंगे ?"

"अवश्य ऐसा ही करेंगे ।"

"और संगीत में तुम कथाओं (साहित्य) को सम्मिलित करते हो, या नहीं ?"

"हाँ, करता हूँ ।"

"और कथाएँ (साहित्य) दो प्रकार की होती हैं न, एक सच्ची दूसरी झूठी ?"

"हाँ ।"

"और शिक्षा को दोनों का ही उपयोग करना चाहिये, पर पहले झूठी कथाओं का । क्यों ठीक है न ? "

उसने कहा, "मैं आप का वक्तव्य नहीं समझा ।"

मैंने कहा, "क्या तुम यह नहीं समझते कि बच्चों की शिक्षा कहानी सुनाकर ही प्रारंभ की जाती है ? और कहानियाँ, मैं ख्याल करता हूँ सामग्र्येण तो असत्य होती हैं पर उनमें कुछ सत्य का भी अंश रहता है । बच्चों की शिक्षा में हम व्यायाम के पूर्व ऐसी ही कहानियों का उपयोग करते हैं। "

"है तो ऐसा ही ।"

"जब मैंने कहा था कि व्यायाम के पूर्व संगीत आरंभ किया जाना चाहिये, तो मेरा तात्पर्य यही था ।"

उसने कहा, "आपका कथन ठीक है ।"

"और क्या तुम यह नहीं जानते कि प्रत्येक कार्य में प्रारंभ ही अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण वस्तु होती है, विशेष कर कोमलमति बालकों के संबंध में ? क्योंकि उसी समय उसको अत्यन्त भली प्रकार से साँचे में ढाला जा सकता है, और जो कुछ छाप उस पर डालनी अभीष्ट हो वह उसको सरलता से ग्रहण कर लेता है।"

"बिलकुल ठीक।"

"तो क्या हम असावधानी के साथ अपने बच्चों को यों ही किसी भी व्यक्ति के द्वारा रची हुई कोई भी क़ल्पित कहानियाँ सुनने देंगे और अपने मस्तिष्क में ऐसी सम्मतियों को ग्रहण कर लेने देंगे जो कि उन सम्मतियों के बिलकुल विरुद्ध हैं जो (जिनका) कि बड़े होने पर उनके द्वारा धारण किया जाना हम वांछनीय समझेंगे ?"

"हम किसी प्रकार भी ऐसा नहीं होने दे सकते।"

"तब तो हमारा प्रथम कर्तव्य कथा रचने वालों पर परीक्षण-दृष्टि रखना होगा, तथा जो उनकी अच्छी रचनाएँ होंगी उनको हम स्वीकार करेंगे तथा जो बुरी होंगी उनको अस्वीकार कर देंगे। तथा धात्रियों और माताओं को हम स्वीकृत तालिका में से बच्चों को कहानियाँ सुनाने के लिये मना कर तैयार करेंगे जिससे कि वे हाथों से उनके शरीर-गठन की अपेक्षा इन कथाओं के द्वारा उनके मस्तिष्क का कहीं अधिक गठन कर सकें। पर उन कथाओं में से जो कि आजकल प्रचलित है, हमको बहुत सी अस्वीकार करनी होंगी।"

उसने कहा, "आप का अभिप्राय कौन सी कथाओं से है ?"

मैंने कहा, "बड़ी कथाओं के उदाहरण से हमको छोटी कथाओं का प्रकार भी सूझ जायेगा। क्योंकि दोनों के ही रंगढंग और प्रवृत्ति निश्चय ही एक-सी होंगी फिर चाहे आकार में वे भले ही छोटी बड़ी हों। क्या तुम्हारा विचार ऐसा नहीं है ?"

उसने कहा, "मैं ऐसा ही समझता हूँ। पर मेरी समझ में तो अभी तक

यह भी नहीं आया है कि बड़ी कहानी से आपका क्या अभिप्राय है ?"

मैंने कहा, "मेरा तात्पर्य उन कथाओं से है जो कि हीसियडस् होमेर; तथा अन्य कवियों ने हमको सुनाई हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इन्होंने झूठी कथाओं की रचना की और उनको लोगों को सुनाया और अभी तक सुनाते हैं।"

उसने कहा, "आप का तात्पर्य किस प्रकार की कहानियों से है, और आपकी सम्मति में उनमें क्या दूषण है ?"

मैंने उत्तर दिया, "उनमें ऐसा दोष है जिसकी निन्दा सबसे पहले तथा मुख्य रूप से होनी चाहिये, विशेष करके तब जब कि कल्पित झूठी रचना में सुन्दरता का अभाव हो।"

"वह कौन-सा दोष है ?"

"जब कि कोई लेखक ऐसे चित्रकार के समान, जिसके चित्र मूल आकृतियों से कोई समानता नहीं रखते, देवताओं तथा वीर पुरुषों के आचरण की अपनी वाणी में बुरी अभिव्यक्ति करता है तो यह दोष उत्पन्न होता है।"

उसन कहा, "इस प्रकार की बातों की विगर्हणा करना निश्चय ही उचित है। पर कृपया थोड़ा और स्पष्ट करके समझाइये और उदाहरण भी दीजिये कि आप का प्रयोजन किन विशेष कथाओं से है ?"

मैंने कहा, "सर्व प्रथम उदाहरण उस सबसे महान् असत्य का है, जिसका संबंध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तुओं से है तथा जो कि कवि का असुन्दर आविष्कार है—मेरा तात्पर्य हीसियड्स के उस कथन से है जिसमें उसने यह बतलाया है कि यूरानस ने क्रॉनॉस् के प्रति कैसा व्यवहार किया और फिर क्रॉनॉस् ने किस प्रकार अपना बदला लिया; इसके उपरान्त, क्रॉनॉस् के कार्य और उसके पुत्र द्वारा उसको नाना प्रकार की यातननाएँ मिलना, यह सब बातें यदि सत्य भी हों, तो भी मैं समझता हूँ, उनको इतने हलके-

पन के साथ विचारशून्य अल्पवयस्क बालकों को नहीं सुनाना चाहिये। पर सर्वोत्तम उपाय तो ऐसी बातों को चुपचाप दफ़ना देना है, और यदि उनको वर्णन करने की आवश्यकता ही हो तो गुप्त रखने की प्रतिज्ञा करवा कर कम से कम श्रोताओं को निमंत्रित करके इन कथाओं को शूकर बलि के पश्चात् नहीं बल्कि ऐसे पशु की बलि के पश्चात् सुनाना चाहिये जो कि बहुत कम उपलब्ध होने वाला एवं बहुमूल्य वाला हो जिससे कि कम से कम संख्या में लोग इनको सुन सकें।"

उसने कहा, "और यह ठीक ही है क्योंकि यह कथाएँ अत्यन्त निन्द-नीय हैं।"

"हाँ, और इसीलिये, हे अदैमान्तस् इनको हमारे नगर में नहीं सुनाया जाना चाहिये। और न तो हमको अल्पवयस्क श्रोताओं के कानों में यह बात पड़ने देनी चाहिये कि घोरतम अपराध करके भी वह कोई असामान्य बात नहीं करेंगे, और न अपने पिता के अपराधों का असीम दण्ड दे कर कोई आश्चर्यजनक काम करेंगे बल्कि ऐसा करने में केवल सबसे पहले और सबसे बड़े देवता के उदाहरण का अनुसरण करेंगे।"

उसने कहा, "नहीं, भगवान् की सौगन्ध ऐसा नहीं होना चाहिये। मेरा स्वयं भी यह विचार नहीं है कि यह कथाएँ सुनने योग्य हैं।"

मैंने कहा, "और यदि हम यह चाहते हों कि हमारे राष्ट्र के भावी रक्षक तनिक-तनिक बातों पर आपस में लड़ पड़ना सबसे अधिक लज्जाजनक बात समझें तो यह बात भी उनको कदापि नहीं बतलाई जानी चाहिये— क्योंकि यह झूठी बात है कि देवता देवताओं से युद्ध करते हैं और देवता पर-स्पर षड्यंत्र और झगड़ा करते हैं। इससे भी कहीं कम हमको कथाओं और कसीदों के लिये दैत्यों के युद्धों और अन्य अनेकों लड़ाइयों और कलहों को चुनना चाहिये जिनमें देवता और योद्धा स्वयं अपने ही कुटुम्ब और परिवार के लोगों से झगड़ते वर्णन किये गये हैं। प्रत्युत यदि उनको हमारे

द्वारा यह समझाने की संभावना हो कि कोई नागरिक दूसरे नागरिक से कभी नहीं लड़ा और लड़ने का विचार तक अपावन है, तो गुरुजनों द्वारा—चाहें वे स्त्रियाँ हों अथवा पुरुष—बच्चों को उनकी बढवार के आरंभ से ही इस प्रकार की भाषा में सीख दी जानी चाहिये, और कवियों को भी हमको इसी प्रकार की शैली में रचना करने के लिये बाध्य करना चाहिये। पर हेरा का उसके पुत्र के द्वारा बन्दी बनाया जाना, माता को पीटे जाने से बचाने का प्रयत्न करते हुए हिफाइस्तॉस् का पिता के द्वारा स्वर्ग से बाहर फेंका जाना तथा होमेर की कविता में देवताओं के द्वन्द्व इत्यादि ऐसी कहानियाँ हैं जो अन्योक्तियाँ हों या न हों हमारे राष्ट्र में प्रविष्ट नहीं होनी चाहियें। क्योंकि बालक तो कौन कथा अन्योक्ति है और कौन अन्योक्ति नहीं, इसका अन्तर नहीं पहचानता, पर उस अवस्था में मस्तिष्क में जो कुछ विश्वास घर कर लेते हैं वह प्राय: अमिट और अपरिवर्त्तनीय बन जाया करते हैं। अत: हमको शक्ति भर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिन कहानियों को बालक आरंभ में सुनें वह ऐसी रची हुई होनी चाहिये जिनसे उनके कानों में उतम धार्मिक उपदेश पड़ें।

१८—उसने कहा, "यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है। पर यदि कोई हमसे पूछने लगे कि इस प्रकार की रचनाओं के आदर्श उदाहरण कौन से हैं और जिन कथाओं का हम उल्लेख कर रहे हैं वे कौन सी हैं, तो उसको क्या उत्तर दिया जाय ?"

और मैंने उत्तर दिया, "अदैमान्तस्, इस समय तुम और हम, कवि नहीं हैं बल्कि राष्ट्र के संस्थापक हैं। और नगर के संस्थापकों को यह जानना चाहिये कि कवियों को अपनी रचनाओं को किन साँचों में ढालना चाहिये एवं कवियों की रचनाओं को उन साँचों से हटना नहीं चाहिये। पर राष्ट्रों के संस्थापकों के लिये स्वयं कहानियों की रचना करना आवश्यक नहीं है।"

उसने, कहा "ठीक है। पर देवविद्या विषयक आदर्श रचना का ढाँचा (साँचा) आप की सम्मति में कैसा होना चाहिये।?"

मैंने कहा, "कुछ इस प्रकार का होना चाहियेः—अभिव्यक्ति चाहे काव्य के किसी प्रकार में—(महाकाव्य में, गीति काव्य में अथवा दुःखान्तकाव्य में)—हो, हमको ईश्वर को उसके सच्चे स्वरूप में अभिव्यक्त करना चाहिये।"

"सर्वथा ठीक है।"

"और क्या ईश्वर वास्तव में अवश्य ही अच्छा नहीं है और क्या उसको सर्वदा ऐसा ही नहीं कहा जाना चाहिये ?"

"मिस्सन्देह ऐसा ही है।"

"और फिर कोई अच्छी वस्तु हानिकारक नहीं होती। क्यों ठीक है न ?"

"मैं भी समझता हूँ कि नहीं होती।"

"और क्या वह वस्तु जो हानिकारक नहीं है, हानि पहुँचा सकती है ?"

"कदापि नहीं।"

"जो वस्तु हानि नहीं पहुँचाती क्या वह कोई बुराई कर सकती है ?"

"नहीं, ऐसा नहीं कर सकती।"

"और वह, जो कोई बुराई नहीं करता, किसी बुराई का कारण नहीं हो सकता ?"

"ऐसा कैसे हो सकता है ?"

"अच्छा फिर, जो अच्छा होता है क्या वह लाभदायक भी होता है ?"

"हाँ।"

"तब तो वह कल्याण (मंगल) का कारण है ?"

"हाँ।"

"तब तो जो भला है वह सब वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता, वह तो केवल जो शुभ वस्तुएँ हैं उन्हीं का कारण है—जो वस्तुएँ बुरी है उनको उत्पन्न करने के विषय में निर्दोष है।"

उसने कहा, "पूर्णरूपेण ऐसा ही है।'

"तब तो" मैंने कहा "ईश्वर भी, क्योंकि वह भला है, साधारण मनुष्यों के कथनानुसार, सब वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता। वह तो मनुष्यों के निमित्त थोड़ी-सी वस्तुओं का कारण है, अधिकांश वस्तुओं का वह कारण नहीं है। क्योंकि मानव जीवन में बुरी वस्तुएँ संख्या में अच्छी वस्तुओं से कहीं अधिक हैं; और अच्छी वस्तुओं के लिये हमको ईश्वर के अतिरिक्त अन्य और कोई कारण नहीं मानना चाहिये, पर बुरी वस्तुओं के कारणों की खोज अन्यत्र होनी चाहिये, ईश्वर में नहीं।"

उसने उत्तर दिया, "आपका कथन मुझे सबसे अधिक सत्य लगता है।"

मैंने कहा, "तब तो होमेर अथवा अन्य किसी कवि के कथनानुसार हमको ऐसी गलतियाँ करने की मूर्खता को कदापि नहीं करना चाहिये जैसी कि उसके देवता-विषयक इस कथन से प्रकट होती है कि दो घट "द्यौस के द्वारा अपने द्वार पर स्थापित किये गये हैं, भाग्यों से भरे हुए; एक शुभाशीषों से तथा दूसरा अभिशापों से" एवं जिस किसी को द्यौस् दोनों को मिश्रित करके प्रदान करता है "उसको कभी दुर्भाग्य पल्ले पड़ता है और कभी सौभाग्य की प्राप्ति होती है।" पर वह मनुष्य जिसके लिये वह दोनों को मिश्रित नहीं करता बल्कि जिसको वह विशुद्ध अविमिश्रत दुर्भाग्य प्रदान करता है "सर्व भक्षी क्षुधा उसको विशाल धरती पर खदेड़ती फिरती है।" और न हम ऐसे कथनों को सहन करेंगे जैसा कि निम्नलिखित है "द्यौस हम मर्त्यों के लिये भले, बुरे दोनों का विधायक है।"

१९—"और यदि पाण्डारॉस् द्वारा शपथ और सन्धियों के भंग करने के

विषय में कोई यह कहे कि यह सब अथीना और द्यौस के द्वारा संपादित हुआ था तो हम इसका अनुमोदन नहीं करेंगे, न इस कथन का अनुमोदन करेंगे कि देवताओं का कलह और द्वन्द्व थैमिस् और द्यौस का कार्य था; और न हम अपने अल्पवयस्कों को यह बात सुनने देंगे जो कि अयसकिलस् ने कही है कि, "जब देवता किसी परिवार का सर्वनाश करना चाहता है तो वह उसके लोगों में दोषों और पापों को बो देता है।" परन्तु यदि कोई कवि "नियोबी का निर्वेद" नामक काव्य की रचना करता है, जिससे कि यह इयाम्बिक पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं, अथवा पैलोप्स् के परिवार की यातनाओं अथवा त्रायनगर के विध्वंस का अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य घटना का वर्णन करता है तो या तो हमको उसे ऐसा कहने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये कि यह घटनाएँ ईश्वर का कार्य हैं, और या, यदि इन कार्यों को ईश्वरकृत कहा जाय तो उसको इनके लिये कोई ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करनी चाहिये जैसी कि हम इस समय खोज रहे हैं, और कहना चाहिये कि ईश्वर ने जो कुछ किया वह उचित और भला था और विपन्न व्यक्ति दण्ड भोग कर लाभान्वित हुए। पर कवि को यह बात कहने की छूट कदापि नहीं दी जानी चाहिये कि जिन्होंने दण्ड भोगा वे दीन दुःखी हुए और ईश्वर इसका कर्त्ता है। हाँ, यदि इसके विपरीत वह यह कहना चाहे कि दुष्ट लोग इस कारण दुःखी हैं क्योंकि उनको प्रायश्चित की आवश्यकता है, और दण्ड भरने में भी ईश्वर से उनका भला ही किया गया, तो हम उसको ऐसा कहने दे सकते हैं। पर जहाँ तक यह कहने का सवाल है, कि ईश्वर, जो कि भला है, किसी के प्रति बुराई का कारण हो जाता है, इसका तो हमको सब प्रकार से विरोध करना चाहिये कि जिससे नगर के सुशासित होने के लिये न तो अपने नगर में कोई इस बात को कहे और न कोई युवा या वृद्ध इसको सुने और न इस प्रकार की कथा को पद्य अथवा गद्य में कहा जाये। क्योंकि यदि ऐसी बातें कही जायेंगी तो न तो उनका

कहना धार्मिक होगा और न वे हमारे लिये लाभप्रद होंगी और न अपने आप परस्पर मेल खायेंगी ।"

उसने कहा, "इस नियम के विषय में, जो कि मुझको प्रिय लगता है, मैं पूर्णतया तुमसे सहमत हूँ ।"

मैंने कहा, "तब तो, देवताओं के सम्बन्ध में हमारा एक नियम अथवा ठप्पा यह होगा—एवं कवियों और कथावाचकों को इसका अनुसरण करना पड़ेगा कि—ईश्वर सब घटनाओं का कारण नहीं है, प्रत्युत केवल अच्छी घटनाओं का कारण है ।

उसने कहा, "और यह नियम पूर्णतया सन्तोषप्रद है ।"

"और यह दूसरा नियम है, इसके विषय में तुम्हारा क्या विचार है ? क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि ईश्वर कोई ऐन्द्रजालिक है जो कि विशेष प्रयोजन से विभिन्न अवसरों पर विभिन्न आकारों को धारण कर ले सकता है, कभी अपने को बदल कर नाना आकृतियों में प्रकट होता है और कभी दूसरे समय हमारे अन्तर में ऐसे रूपान्तरों के वास्तव में घटित होने का विश्वास उत्पन्न करके हमको धोखा देता है; अथवा यह ख्याल है कि वह शुद्ध सरल तत्त्व है तथा उसके लिये अपने आकार को त्यागना, अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा बहुत कम संभव है ?"

उसने उत्तर दिया, "इस प्रश्न का उत्तर मैं बिना विचारे एकदम नहीं दे सकता ।"

"अच्छा तो यह बतलाओ; यदि कोई वस्तु आकार में परिवर्तित होती है तो वह या तो स्वयं अपने द्वारा परिवर्तित होनी चाहिये अथवा अन्य किसी वस्तु के द्वारा ?"

"अवश्यमेव ।"

"क्या यह सत्य नहीं है कि किसी अन्य वस्तु द्वारा परिवर्तित अथवा आन्दोलित होना उन वस्तुओं में सबसे कम घटित होता है जो कि श्रेष्ठ

दशा में होती है ? उदाहरणार्थ, शरीर पर खान पान और परिश्रम के, और पादपों पर आतप, वायु ऐसे ही अन्य कारणों के प्रभाव को लीजिये—क्या यह सत्य नहीं है कि बलिष्ठ (शरीर) और दृढ़तम (पौदे) इन सबसे न्यूनतम मात्रा में परिवर्त्तित होते हैं ?"

"निश्चयमेव।"

"और क्या इसी प्रकार सबसे अधिक वीर और बुद्धिमान जीव बाह्य प्रभावों से सबसे कम आतुर और परिवर्त्तित नहीं होंगे ?"

"हाँ।"

"और फिर, इसी तर्क के अनुसार मेरे विचार में सब कृत्रिम वस्तुओं के विषय में भी यही नियम लागू होता है कि सब प्रकार के सामान, घर और कपड़े इत्यादि, जब अच्छे और सुनिर्मित होते हैं तो काल और अन्य प्रभावों से बहुत कम परिवर्त्तित होते हैं।"

"हाँ, ऐसा ही है।"

"तब तो यह सर्वत्र सत्य सिद्ध होने वाला सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु जो कि प्रकृति, अथवा कला, अथवा दोनों के द्वारा अच्छी और सुदृढ़ निर्मित हुई होती है किसी अन्य वस्तु से न्यूनतम परिवर्तनीय होती है।"

"ऐसा ही मालूम पड़ता है।"

"पर ईश्वर, और प्रत्येक वस्तु जो कि ईश्वर से संबंध रखती है, सर्वथा सर्वोत्तम होती हैं।"

"निःसन्देह।"

"तब तो, इस दृष्टिकोण से, वाह्य प्रभावों के कारण उसके अनेकों आकार धारण करने की संभावना सब से कम है।"

"वास्तव में सब से कम संभावना है।"

२०—"पर क्या वह स्वयं अपने को परिवर्त्तित कर अपना आकार बदलना चाहेगा ?"

उसने कहा, "यह तो स्पष्ट ही है कि यदि वह तनिक भी बदलेगा तो ऐसा अवश्य होगा।"

"तो क्या, परिवर्त्तित होकर वह अपने से अधिक अच्छा और अधिक सुन्दर हो जाता है, अथवा अपने से अधिक बुरा और अधिक कुरूप हो जाता है ?"

"यदि वह तनिक भी बदला तो अवश्यमेव पूर्वापेक्षा बुरा ही होगा। क्योंकि यह तो हम निश्चयरूपेण नहीं कह सकते कि ईश्वर के अच्छेपन और सौन्दर्य में कोई अपूर्णता है।"

मैंने कहा, "तुमने बिल्कुल ठीक कहा; और यदि उसकी यह स्थिति हो तो, हे अदैमान्तस्, क्या तुम समझ सकते हो कि कोई देवता अथवा मनुष्य स्वेच्छा से अपने को किसी भी प्रकार अधिक बुरा बनाना चाहेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "असंभव।"

मैंने कहा, "तो किसी देवता के लिये भी अपने को परिवर्त्तित करने की इच्छा करना असंभव है, प्रत्युत, जैसा कि मालूम पड़ता है, प्रत्येक देवता, श्रेष्ठतम और सुन्दरतम होने के कारण, सर्वदा अपने निजरूप में विशुद्धभाव से बना रहता है।"

उसने कहा, "मेरे विचार में यह नितान्त अनिवार्य निष्कर्ष है।"

मैंने कहा, "मेरे प्रिय मित्र, तब तो किसी कवि को हमसे ऐसा कहने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये कि देवता अनेक प्रकार के भेस बदल कर अज्ञात परदेशियों के रूप में मर्त्योंके नगरों में घूमा करते हैं। न तो किसी को प्रोटियस् और थैटिस् के विषय में वितथ वर्णन करने देना चाहिये और न किसी दुःखान्त नाटक अथवा अन्य किसी कविता में हीरा को पुरोहितिन का भेस धारण करके "ऑर्गास् की सरिता, इनाकस् की जीवनदायिनी सन्तति के लिये भिक्षा" माँगते हुए प्रविष्ट करने देना चाहिये। इसी प्रकार के अनेक अन्य असत्य कथन भी उनको नहीं करने चाहियें। फिर,

माताओं को इन कवियों के प्रभाव में आकर अपने बच्चों को हानिकारक कथाओं से भयभीत नहीं करना चाहिये कि कतिपय देवता विभिन्न देशों से आकर अज्ञात जनों का रूप धारण कर रात्रि में नगरों का चक्कर लगाया करते हैं, जिससे कि उनके द्वारा देवताओं की बदनामी और अपने बच्चों को कायर बनाना दोनों बुराइयाँ एक साथ न बन पड़ें।"

उसने कहा, "ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये।"

मैंने कहा, "पर क्या हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि यद्यपि देवता स्वयं अपने में तो परिवर्त्तनशील नहीं हैं तथापि हम पर प्रवञ्चना और इन्द्रजाल का जाल डाल कर हमारे मन में ऐसा विश्वास करते हैं कि वे नाना आकारों में प्रकट हुआ करते हैं ?"

उसने कहा, "स्यात्।"

मैंने कहा, "अच्छा, सोचो तो सही क्या कोई देवता, वाणी अथवा व्यवहार के द्वारा केवल प्रातिभासिक स्वरूप को व्यक्त करके प्रवञ्चना अथवा असत्य भाषण करना चाहेगा ?"

उसने कहा, "मैं नहीं जानता।"

मैंने कहा, "क्या तुम यह नहीं जानते, कि वास्तविक असत्य से, (यदि इस प्रकार के शब्द का प्रयोग उचित माना जाय), क्या देवता और क्या मनुष्य सभी घृणा करते हैं ?"

उसने कहा, "आपका अभिप्राय क्या है ?"

मैंने कहा, "मेरा तात्पर्य यह है कि अपने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग में अपने सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विषय के संबंध में असत्य को स्वेच्छा-पूर्वक कोई स्वीकार नहीं करना चाहता; प्रत्युत वहाँ पर असत्य को आश्रय देने में सब डरते हैं।"

"मैं आप का अभिप्राय अब भी तो नहीं समझा।"

मैंने कहा, "इसका कारण यह है कि तुमको सन्देह हो गया है कि मेरा

कोई बड़ा गहरा और गूढ़ अभिप्राय है, परन्तु मैं केवल इतनी सी बात कह रहा हूँ कि अपने सब से महत्त्वपूर्ण अंग अर्थात् आत्मा में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विषय-वास्तविकता—के सम्बन्ध में प्रवञ्चना को स्थान देना, प्रवञ्चित होना, अन्धवत् ज्ञानशून्य होना, आत्मा में असत्य को आश्रय देना अथवा उसमें आस्था रखना, यह ऐसी बात है जिसको मनुष्य सबसे कम स्वीकार करते हैं; क्योंकि इस स्थान में—आत्मा में—मनुष्य असत्य को सब से अधिक घृणा करते हैं।"

उसने कहा, "बिलकुल ऐसा ही है।"

"परन्तु, जैसा कि मैं अभी कह रहा था, प्रवञ्चित मनुष्य की आत्मा में जो अज्ञान है उसको वास्तविक या सच्चा झूठ कहना, निश्चयरूप से बिलकुल ठीक होगा। क्योंकि वाचिक असत्य तो आत्मा के विकार की प्रतिकृति अथवा अनुभावमूर्त्ति मात्र है, विशुद्ध अविमिश्रित असत्य नहीं है। क्यों ऐसा ही है न?"

"क्यों नहीं, आपका कथन सर्वथा सत्य है।"

२१—"तो वास्तविक असत्य से न केवल देवता बल्कि मनुष्य भी घृणा करते हैं।"

"मैं भी यही समझता हूँ।"

"अच्छा, फिर अब यह विषय लीजिये; वाचिक असत्य के विषय में तुम्हारा क्या विचार है? घृणास्पद न होवे इसलिये यह कब और किसके लिये उपयोगी होता है? क्या यह शत्रुओं के साथ व्यवहार करने में उपयोगी नहीं होता? और जब वह जिनको हम अपना मित्र कहते हैं, पागलपन अथवा मूर्खता के कारण कुछ बुराई करने की चेष्टा करते हैं, तो क्या उस समय यह (वाचिक असत्य) ओषधि के समान उस बुराई को टालने के लिये उपयोगी नहीं होता? तथा प्राचीन कथाओं में भी, जिनके विषय में हम अभी कह रहे थे, पुरातन काल के अज्ञान के कारण

क्या हम असत्य को यथाशक्य सत्यकल्प बनाकर उसको उपयोगी नहीं कर लेते ?"

उसने कहा, "पूर्ण निश्चयेन हम ऐसा ही करते हैं।"

"तो इन कारणों में से कौन से कारण से असत्य ईश्वर के लिये उपयोगी हो सकता है ? क्या वह पुरातन काल के अज्ञान के कारण उसकी वितथ अनुकृति प्रस्तुत करने के लिये असत्य का उपयोग करना चाहेगा ?"

उसने कहा, "यह तो वास्तव में उपहासास्पद बात है।"

"तब तो ईश्वर (के विषय) में कवि के असत्य की कोई सम्भावना नहीं है।"

"मैं ख्याल करता हूँ कि बिलकुल नहीं।"

"तो क्या वह शत्रुओं के भय के कारण असत्य बोलना चाहेगा ?"

"यह तो सत्य से बहुत दूर की बात है।"

"क्या उसके मित्रों की मूर्खता अथवा पागलपन के कारण ऐसा होना संभव है ?"

"नहीं, कोई मूर्ख अथवा पागल ईश्वर का मित्र नहीं हो सकता।"

"तब ईश्वर के लिये झूठ बोलने का कोई प्रयोजन नहीं है।"

"न।"

"अतः देवता और दिव्य प्राणी सर्वथा असत्य कथन से मुक्त हैं।"

"सर्वथा।"

"तब तो ईश्वर वाचा और कर्मणा नितान्त सरल शुद्ध और सच्चा है, और न तो अपने आप को बदलता है, और न दूसरों को जाग्रदवस्था या स्वप्नावस्था में आकारप्रदर्शन अथवा वचनों अथवा चिन्हप्रेषण द्वारा धोखा देता है।"

उसने कहा, "आपको ऐसा कहते हुए सुन कर मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।"

मैंने कहा, "तो क्या तुम इस बात में मेरे साथ एकमत हो कि देवताओं के विषय में वार्त्तालाप और काव्य रचना के संबंध में हमारा दूसरा आदर्श यह है—कि वे न तो ऐन्द्रजालिकों के समान आकृति परिवर्त्तन करते हैं, और न वाणी अथवा व्यापार की असत्यता से हमको पथभ्रान्त करते हैं ?"

"मैं सहमत हूँ ।"

"तब तो, यद्यपि ऐसी अनेकों बातें हैं जिनकी हम होमेर के काव्य में प्रशंसा करते हैं, तथापि द्यौस् के द्वारा अगामेमनन् को भेजे गये स्वप्न की कथा की प्रशंसा करना हमको स्वीकार नहीं है, और न हम अयस्खिलस् का अनुमोदन करेंगे जबकि उसके द्वारा निबद्ध पात्रा थेटिस् यह कहती हैं कि उसके विवाह के अवसर पर अपोलो (सूर्य) देवता ने गाते हुए "मेरी सन्तति के सौभाग्य की भविष्यवाणी की थी और कहा था वह कि पीड़ा और रोग से मुक्त दीर्घ आयु भोगेंगी । भगवान् के आशीर्वादों की कथा का वर्णन समाप्त करते हुए जब उसने अन्त में गायन के स्वर को अभिमान पूर्वक ऊँचा किया तो मेरा हृदय आह्लाद से भर गया । तथा मैंने विश्वास कर लिया कि फीबस का दिव्य मुख सत्यपूत और भविष्यवाणी से पूर्ण है, अतः असत्यवादी नहीं हो सकता । परन्तु स्वयं उसी ने, जिसने उस समय गायन किया था, हमारे साथ भोजन किया था और जिसने इन सब बातों को कहा था, मेरे पुत्र की हत्या की है ।"

"जब कोई कवि देवताओं के विषय में इस प्रकार की बातें कहेगा तो हम उससे रुष्ट होंगे और उसको कोरस (नाटक की गायक मंडली) प्रदान नहीं करेंगे, तथा यदि हमारे रक्षकों को मानवीय संभावना की सीमा में देवभीरु एवं दिव्य जन बनना है तो हम शिक्षकों को युवकों की शिक्षा के निमित्त ऐसे कवियों की रचना का उपयोग नहीं करने देंगे ।"

उसने कहा, "मुझे यह आदर्श सर्वथा स्वीकार हैं और उनको मैं विधि और नियम के रूप में उपयोग करूँगा ।"

तृतीय पुस्तक

१—मैंने कहा, "यदि हम यह चाहें कि हमारे बच्चे देवताओं तथा माता पिता का सम्मान करें, तथा पारस्परिक मित्रता को तुच्छ न समझें तो देवताओं के सम्बन्ध में, इसी प्रकार की बातें अपने बच्चों को बचपन से सुनने देनी चाहिये और अन्य प्रकार की (झूठी और भीरु बनाने वाली) बातें नहीं सुनने देनी चाहियें।"

उसने कहा, "हाँ, हमारी सम्मति यही है और मैं समझता हूँ कि यह ठीक है।"

"अच्छा अब इस विषय में तुम्हारा क्या विचार है ? यदि उनको वीर होना है तो क्या हमको उपर्युक्त शिक्षा के साथ ऐसे वचनों को सम्मिलित नहीं करना होगा जो कि उनको मृत्यु से डरने से मुक्त कर सकें ? अथवा क्या तुम्हारा ख्याल है कि कोई मनुष्य इस मृत्यु के भय को हृदय में रखते हुए भी वीर हो सकता है ?"

उसने कहा, "भगवान् की सौगन्ध, मेरा ऐसा विचार नहीं है।"

"अच्छा तो फिर ,यदि कोई अध:लोक और वहाँ की त्रासों की सत्यता में विश्वास करता हो तो क्या तुम यह समझते हो कि वह मृत्यु के भय से मुक्त होगा और युद्ध में पराजय और दासता की अपेक्षा मृत्यु को स्वीकार करेगा ?"

"कदापि नहीं।"

"मालूम पड़ता है तब तो हमको इस प्रकार की कथाओं को प्रस्तुत करने वालों एवं अन्य कथाएं रचने वालों पर भी अध्यक्षता करनी होगी और उनसे प्रार्थना करनी पड़ेगी कि वे अध:लोक के जीवन की इस प्रकार अन्धाधुन्ध निन्दा न करें, प्रत्युत प्रशंसा करें क्योंकि उनके प्रस्तुत वर्णन न तो सत्य ही हैं और न भविष्य में वीर बनने वालों के लिये लाभदायक ही हैं।"

उसने कहा, "हमको अवश्य ऐसा करना चाहिये।"

मैंने कहा, "तब तो, इस निम्नलिखित पद्य से आरंभ करके, इसके सदृश अन्य सब अवतरणों को मिटा देना होगा, "मैं विनाश को प्राप्त हुए समग्र मृतकों के ऊपर शासक और राजा होने की अपेक्षा जीवलोक में किसी निर्धन व्यक्ति का बँधुआ होकर उसके अल्पोतपादक खेत को जोतना अधिक अच्छा समझूंगा।" तथा यह भी "कहीं मनुष्यों और अमरों को, मृतकों के डरावने, तुमुलनादयुक्त और सीले हुए निवास स्थान दिखलाई न दे जायें—जिनसे देवताओं तक को घृणा है।" और "हाय! हेडीस् की बस्तियों में भी भूत प्रेत तो हैं, परन्तु उनमें सूझबूझ कुछ भी नहीं है।" और यह भी, "पर्सीफोनिया के द्वारा उस (ताइरैसियास्) को मृत्यु के उपरान्त भी यह वरदान दिया गया था) कि केवल उसी को बुद्धिमत्ता प्राप्त रहेगी, परन्तु अन्य जीव तो फड़फड़ाती छाया मात्र रह जाएँगे।" एवं "भरी जवानी में मृत्यु को प्राप्त होने पर उसकी आत्मा, अपने दुर्भाग्य को पछताते, सब अंगों से निकल कर हेडीस को उड़ गयी।" और यह भी, "बड़बड़ाते हुए,उसकी आत्मा वाष्प के समान धरती के नीचे अन्तर्धान हो गयी।" और "जिस प्रकार किसी रहस्यमय गुफा के कोटर में गुच्छों में लटकी हुई चिमगादुड़ों के गुच्छों में से किसी एक के गुच्छे में से गिरजाने पर सब चीं चीं शब्द करते हुए फड़फड़ा कर उड़ने लगती हैं इसी प्रकार उनकी बड़बड़ाती हुई आत्माएँ फड़फड़ाती हुई उड़ गयीं।" हम होमेर तथा अन्य कवियों से प्रार्थना करेंगे कि यदि हम इन पद्यों और इनके समान अन्य पद्यों पर हरताल फेर दें तो वह रुष्ट न हों। ऐसा नहीं है कि अधिकांश श्रोताओं को यह पद्य कवित्वमय और आनन्दप्रद नहीं लगते पर क्योंकि वे जितने ही अधिक कवित्वमय हैं उतने ही वे उन लड़कों और मनुष्यों के कानों में पड़ने के अयोग्य हैं जिनका स्वतंत्र होना और मृत्यु की अपेक्षा दासता से अधिक भयभीत होना अभीष्ट है।"

"हमको सर्वथा ऐसा ही करना चाहिये ।"

२—"और इसके अतिरिक्त, इस संबंध में हमको, त्रास और भय की निखिल शब्दावली का निषेध कर देना चाहिये, यथा:—कौकितॉस और स्तिक्ष, नरककुण्ड के प्राणी और अन्धकूप के वासी और इसी प्रकार के अन्य सब शब्द जिनके नाम का उच्चारण मात्र उन सब के अन्तरतम में भय के कारण कम्प उत्पन्न कर देता है जो उनको सुनते हैं। अन्य प्रयोजनों के लिये यह शब्द भले ही उपयोगी हों, पर मुझे तो अपने रक्षकों के संबंध में भय है कि कहीं उपर्युक्त त्रास और कम्प उनको आवश्यकता सेअधिक तुनुक और मृदुल न बना दे ।"

उसने कहा, "और यह भय सच्चा ही है ।"

"तो हमको इन शब्दों का निषेध कर ही देना चाहिये न ?"

"हाँ ।"

"और हमको बोलचाल और पद्यरचना में इसके विपरीत शैली का अनुसरण करना चाहिये । क्यों ?"

"स्पष्ट ही है ।"

"और क्या हम विख्यात पुरुषों के रुदन और परिदेवन का भी बहिष्कार करेंगे ?"

उसने कहा, "वह तो अवश्य ही पूर्वोक्त का अनुसरण करेंगे ।"

मैंने कहा, "सोच विचार कर देख लो कि उनसे इस प्रकार पिण्ड छुड़ाना उचित होगा अथवा नहीं । जिस बात को हम आस्थापूर्वक मानते हैं वह यह है कि कोई नेक आदमी, किसी अन्य मनुष्य के लिये, जिसका कि वह मित्र भी है, मृत्यु को त्रासपूर्ण नहीं समझेगा ।"

"हाँ, हमारा यही कहना है ।"

"तब तो अपने मित्र के निमित्त वह कदापि यह समझते हुए रुदन नहीं करेगा कि मानों (मृत्यु के रूप में) उस पर कोई भयंकर विपत्ति

टूट पड़ी है ।"

"निश्चय ही नहीं ।"

"इसके अतिरिक्त, हम यह भी कहते हैं कि इस प्रकार का मनुष्य साधु जीवन व्यतीत करने के लिये अन्य सब मनुष्यों की अपेक्षा अधिक अपने में ही पर्याप्त होता है और अन्य मनुष्यों से उसकी विशिष्टता यह होती है कि उसको अन्य व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकता होती है ।"

उसने कहा, "सत्य है ।"

"अतएव अन्य सब मनुष्यों की अपेक्षा पुत्र, भाई अथवा धन अथवा अन्य किसी ऐसी वस्तु की हानि उसके लिये कम भयावह होती है ।"

"वास्तव में ऐसा ही है ।"

"और इसीलिये जब कभी ऐसा दुर्भाग्य उस पर आपड़ता है तो वह न्यूनतम शोक प्रदर्शित करता है और उसको समचित्तता से सहन कर लेता है ।"

"हाँ, बिलकुल ठीक है ।"

"तो, विख्यात पुरुषों के विलापों को निकाल डालना और उनको स्त्रियों के लिये (और सो भी उनमें भी योग्य स्त्रियें के लिये नहीं) तथा निम्नकोटि के मनुष्यों के लिये छोड़ देना, हमारे लिये उचित होगा, जिससे कि वे मनुष्य, जिनको हम देशरक्षक बनने के निमित्त शिक्षित बना रहे हैं, इस प्रकार के आचरण से घृणा करें ।"

उसने कहा, "हमारे लिये ऐसा करना ठीक होगा ।"

"तब तो हम पुनः एक बार होमेर और दूसरे कवियों से प्रार्थना करेंगे कि वे देवीसूनु अखिल्लीस् का निम्नलिखित वर्णन न करें कि "वह कभी करवट के बल लेटा, और कभी पीठ के बल और कभी औंधे मूँह" तत्पश्चात् उठकर "झौंक में अनुर्वर समुद्र तट पर चल निकला" और न उसका ऐसा वर्णन करें कि "उसने काजल सी काली धूलि को दोनों मुट्ठियों में उठाकर

अपने शिर पर डाला" । और न उसके रुदन और विलाप का उसी प्रकार और उतनी ही मात्रा में वर्णन होना चाहिये जैसा कि (होमेर) कवि ने किया है; और न देवताओं के निकट संबंधी प्रियाम् का वर्णन "गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करते, गोबर में लोटते, हर एक नाम लेकर मनुष्यों से बिनती करते हुए" ही होना चाहिये । और इससे भी अधिक संलग्नता के साथ हम उनसे यह प्रार्थना करेंगे कि चाहे वे और जो कुछ भी करें, कम से कम देवताओं को तो विलपते हुए ऐसा कहते वर्णन न करें", हाय, अभागिन में ! कि मैंने सर्वश्रेष्ठ वीर को शोक के लिये ही जन्म दिया ।" और यदि वे देवताओं को इस प्रकार अंकित करें भी, तो भी तो कम से कम सबसे महान् देवता को तो ऐसी अनुचित प्रतिकृति में अंकित करने और यह कहते हुए वर्णन करने की धृष्टता न करें, "धिक्, शान्तं पापं, जो कि मुझको प्रिय है, उस वीर को मैं इन आँखों से ट्राय नगरी के चारों ओर अनुधावित देख रहा हूँ, जब कि मेरा हृदय भीतर ही भीतर शोकाकुल हो रहा है ।" तथा, "शोक मुझे ! कि सार्पिडन को जो कि मुझे सब मनुष्यों से अधिक प्रिय है, मैनोइतियस के पुत्र पात्रोक्लॉस के हाथ से मरना बदा है ।"

३—"क्योंकि यदि, प्रिय अदैमान्तस् ! हमारे युवक गम्भीरतापूर्वक ऐसी कहानियाँ सुननें लगें, और उनको अयोग्य वर्णन मान उनका परिहास न करें, तब तो इस बात की बहुत कम संभावना रह जायगी कि उनमें से कोई आदमी ऐसे आचरण को अपने लिये अशोभन अथवा अयोग्य समझे, और यदि कभी कर्म अथवा वचन में उससे ऐसा कार्य बन पड़े तो स्वयं अपनी कदर्थना करे; नहीं, इतना ही नहीं, प्रत्युत तुच्छ सी बातों पर भी, बिना लज्जा और संयम के वह अनेकशः विलाप और रुदन करने लगेगा ।"

उसने कहा, "आप नितान्त सत्य कहते हैं ।"

"परन्तु, जैसा कि हमारी युक्ति ने अभी सिद्ध कर दिया है, ऐसा होना नहीं चाहिये, तथा इसी युक्ति में हमको तब तक आस्था रखनी

चाहिये, जब तक कोई हम को इससे अधिक अच्छी युक्ति से आश्वस्त न करदे ।"

"नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिये ।"

"और न उनको हास्यप्रिय ही होना चाहिये । क्योंकि जब कोई प्रबल परिहास के वशीभूत हो जाता है तो प्रायः सर्वदा ही ऐसी अवस्था की उतनी ही प्रबल प्रतिक्रिया भी होती है ।"

उसने कहा, "मेरा विचार भी यही है ।"

"तो यदि योग्यता-सम्पन्न व्यक्तियों को कोई हास्याभिभूत हुआ अंकित करे तो हमको ऐसे वर्णन को स्वीकार नहीं करना चाहिये; तथा यदि देवताओं का ऐसा वर्णन किया जाय तो उसको तो और भी कम स्वीकार करना चाहिये ।"

उसने कहा, "सचमुच बहुत अधिक कम ।"

"तब तो हमको देवताओं के विषय में होमेर के निम्नप्रकार के कथन स्वीकार नहीं करने चाहिये कि "जब उन्होंने हेफाइस्तास् को भवन में इधर उधर तपाक से घूमते देखा तो देवताओं के मुख से अदम्य हास्य फूट पड़ा" । इस वर्णन को हम तुम्हारी सम्मति के अनुसार स्वीकार नहीं कर सकते ।"

"यदि आप को इसे मेरी सम्मति कहना भाता है तो ऐसा ही सही; पर इतना तो निश्चित है कि हम ऐसे वर्णनों को स्वीकार नहीं कर सकते ।"

"और फिर हमको सत्य को परम मूल्यवान् मानना चाहिये । क्योंकि जो बात हम अभी कह रहे थे यदि वह ठीक है, और झूठ देवताओं के लिये व्यर्थ है तथा मनुष्यों के लिये भी ओषधि रूप में ही उपयोगी है, तब तो ऐसी वस्तु को वैद्यों को सौंप देना चाहिये और सामान्य मनुष्यों का उससे कोई संबंध नहीं होना चाहिये ।"

उसने कहा, "यह तो स्पष्ट ही है ।"

"तो यदि किसी को झूठ बोलने की छूट अथवा विशेषाधिकार प्राप्त

हो सकता है तो नगर के शासकों को हो सकता है, और वे राष्ट्र की भलाई के लिये शत्रुओं के प्रति अथवा नागरिकों के प्रति झूठ बोल सकते हैं। परन्तु अन्य किसी व्यक्ति को इससे कोई संबंध नहीं रखना चाहिये; साधारण मनुष्यों का इस प्रकार के शासकों के समक्ष असत्य भाषण करना, हमारी सम्मति में इतना ही महान्---नहीं इससे भी बड़ा पाप है, जितना कि किसी रोगी का अपने वैद्य को, अथवा किसी मल्ल का अपने शिक्षागुरु को अपने शरीर की दशा न बतलाना है; अथवा जितना कि किसी नाविक का, अपनी अथवा अपने साथी नाविक की दशा का वर्णन करने में, निर्यामक केसमक्ष, नौका और नाविकों के संबंध में झूठ बोलना है।"

उसने कहा, "परम सत्य है।"

"तो यदि शासक किसी अन्य व्यक्ति को असत्य बोलते पकड़े तो चाहे "वह पैगम्बर हो, चाहे रोग निवारक अथवा बढ़ई, "तो वह उसको नगर में असत्कार्य का प्रवेश कराने के अपराध के निमित्त अवश्य दण्ड देगा क्योंकि यह बुराई नगर के लिये भी इतनी ही विघातक है जितनी कि पोत के लिये।"

उसने कहा, "यदि करनी कथनी का अनुसरण करेगी तो वह अवश्य ऐसा ही करेगा।"

"अच्छा फिर क्या हमारे युवकों को आत्मसंयम के सद्गुण की आवश्यकता नहीं होगी ?

"अवश्य होगी"

और क्या अधिकांश सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में आत्मसंयम के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित ही नहीं है---शासकों के प्रति आज्ञाकारी होना एवं स्वयं शारीरिक क्षुधाओं एवं खानपान तथा अन्य विषयानन्दों के ऊपर शासन करना ?"

"मेरा भी ऐसा ही विचार है।"

"तब तो मैं ख्याल करता हूँ कि हम होमेर के दियोमेदी के निम्न-

लिखत कथन का अनुमोदन करेंगे : "मित्र, चुपचाप बैठ जाओ और मेरे बचन को ध्यान देकर सुनो ।" तथा इसके पश्चात् आने वाली इस पंक्ति का "साहसोत्साह से परिपूर्ण यूनानी अपने सेनानियों के आतंक में चुपचाप प्रयाण कर रहे थे" और ऐसे अन्य सब अवतरणों का हम अनुमोदन करेंगे ।"

"हाँ, सुन्दर बात है ।"

"परन्तु इस निम्नलिखित कथन के विषय में तुम्हारी क्या सम्मति है ? "ओ मदमत्त, कुत्ते की आकृति और हरिण के से हृदय वाले !" अथवा इसके पश्चात् आने वाली पंक्तियों एवं गद्य तथा पद्य में उन सब धृष्टताओं के संबंध में तुम्हारी क्या राय है जो कि साधारण नागरिकों द्वारा शासकों के प्रति कही गयी हैं ? क्या यह अच्छी बात है ?"

"यह अच्छी उक्तियाँ नहीं हैं ।"

"आत्मसंयम सिखाने के निमित्त तो निश्चय ही ऐसी बातें युवकों के सुनने योग्य नहीं हैं । परन्तु यदि किसी अन्य दृष्टिकोण से इनसे कुछ आनन्द प्राप्त हो तो हम को अचरज नहीं मानना चाहिये । अथवा, तुम्हारा विचार इस विषय में क्या है ?"

उसने कहा, "मेरा विचार भी यही है ।"

४—"और फिर सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्य को यह कहते हुए प्रदर्शित करना कि उसको "दुनियाँ में इससे अधिक बढ़ कर और कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती कि भोजन की मेज़ों पर रोटियाँ और मांस उदारता से परोसे हुए हों तथा चषक-वाह मदिरा के घटों में से मदिरा लेकर सुराहियों में उँडेल रहे हों"—क्या तुम समझते हो कि ऐसी बातों का युवकों द्वारा सुना जाना उनके आत्मसंयम में सहायक होगा ? अथवा यह पंक्ति "भूखों मरना मनुष्य के प्राणान्त के प्रकारों में सबसे अधिक दयनीय है" इस विषय में सहायक होगी ? अथवा द्यौस की कथा के विषय में आप का क्या विचार

है ? उसको ऐसा प्रदर्शित किया गया है कि एक बार रात्रि में जब सब देवता और मनुष्य सो रहे थे तब वही अकेला जागता हुआ अनेकों योजनाओं का चिन्तन कर रहा था, परन्तु इसी समय हीरा के दर्शनमात्र से वह ऐसा अभिभूत होता है कि कामवेग की उत्तेजना के कारण वह अपनी सब योजनाओं को क्षण भर में भूल जाता है, उसके साथ वहीं भूमि पर शयन करने को उसका जी इतना चाहता है कि वह उसको लेकर अपने प्रकोष्ठ में भी नहीं जाना चाहता और वह कहता है कि इस समय उसके मन्मथ का आवेग उनके प्रथम समागम के वेग से भी प्रबलतर है जबकि वह दोनों "अपने मातापिता की जानकारी के बिना मिले थे।" और उस दूसरी कथा के विषय में तुम्हारा क्या ख्याल है, जिसमें कि इसी प्रकार के प्रसंग में हिफाइस्तॉस् के द्वारा आरेस और आफ़्रॉदीति के चारों ओर श्रृंखला डाल दी गई वर्णन की गयी है ?"

उसने कहा, "ईश्वर (द्यौस) की शपथ, ऐसी कथाओं का सुनना हमारे युवकों के लिये नितान्त अनुचित है।"

"परन्तु सब प्रकार की कठिनाइयों में सहनशीलता के जो कुछ वचन अथवा कार्य प्रथित मनुष्यों द्वारा कहे अथवा किये गये वर्णन किये गये हैं उनको प्रदर्शित हुआ देखना अथवा सुनना हमारे युवकों के लिये समुचित है, यथा यह पंक्तियाँ "वक्षस्थल को ठोंक कर हृदय को धिक्कारते हुए उसने कहा, 'मेरे हृदय इसको भी सह, तूने तो इससे भी बुरे कष्ट सहे हैं।"

उसने कहा, "हाँ, सर्वथा ऐसा ही होना चाहिये।"

"और भी, यह तो निश्चय ही है कि हम अपने इन आदमियों को घूंसखोर और धन लोलुप नहीं होने देंगे।"

"कदापि नहीं।"

"तब हमको उन्हें यह गीत नहीं सुनाना चाहिये "भेंटों से हो जाता है देवों का और नृपों का तोष" (भेंटों से देवता मनाये जाते हैं, भेंटों से भयानयक

नरपति मनाये जाते हैं) और न हमको अखिल्लीस् के पाठगुरु फीनिक्स की प्रशंसा करनी चाहिये और न उसकी मंत्रणा को बुद्धिमत्तापूर्ण मानना चाहिये जब कि उसने यह सलाह दी कि यदि अखेयन लोग उसको भेंट दें तो उसको उनकी सहायता करनी चाहिये और यदि भेंट न दें तो उसको अपना रोष नहीं त्यागना चाहिये। तथा हम न तो इस बात में विश्वास ही करेंगे और न इसको मानेंगे ही कि अखिल्लीस स्वयं इतना लोभी था कि उसने अगामैमनॉन से भेंट ली थी और एक अन्य अवसर पर वह (हैक्टर) के मृतशरीर को शुल्क प्राप्त करने के पश्चात् ही मृतक संस्कार के लिये देने को राज़ी हुआ था पर अन्यथा उसको देने को सहमत नहीं था।"

उसने कहा, "नहीं, ऐसी बातों का अनुमोदन करना उचित नहीं है।"

मैंने कहा, "होमेर के प्रति श्रद्धाभाव के कारण ही मैं यह कहते हुए हिचकता हूँ कि अखिल्लीस के विषय में ऐसी बातें कहना अथवा दूसरों के द्वारा ऐसी बातें सुन कर उन पर विश्वास करना निश्चयेन पाप है। अथवा, फिर यह विश्वास करना कि उसने अपोलो (सूर्य देव) से कहा था कि 'सर्वाधिक विनाशकारी, दूर-प्रहारी देव ! तूने मुझे हानि पहुँचाई है; यदि मुझ में शक्ति होती तो मैं वास्तव में तुझसे बदला लेता;" या यह मानना कि उसने नदी-देवता के प्रति उद्दण्डता बरती थी और उसके साथ लड़ने को उद्यत हो गया था; अथवा यह कहना कि उसने स्परखायस नदी को समर्पित अपने काकपक्षों के विषय में पात्रोक्लॉस के मरने पर यह कहा था कि "मैं इनको सहर्ष वीर पात्रोक्लॉस को अर्पण करना चाहता हूँ" और उसने ऐसा किया भी था; और फिर पात्रोक्लॉस की समाधि के चतुर्दिक हैक्टर के मृतशरीर का घसीटा जाना और उसकी चिता पर जीवित बन्दियों की बलि देना इत्यादि यह सभी कथाएँ ऐसी हैं कि इन पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिये, हम इन सब को झूठा घोषित करेंगे; और हम अपने युवकों को यह भी विश्वास नहीं करने देंगे कि अखिल्लीस, जो कि द्यौस

की तीसरी पीढ़ी में परम शुद्धचरित्र राजा पीलियस् और देवी से उत्पन्न हुआ था तथा परम बुद्धिमान खाइरॉन् का शिष्य था, इतनी अव्यवस्थित आत्मा वाला था कि दो परस्पर विरोधी मानसिक रोगों से विकारग्रस्त था जिनमें से एक अनुदारतापूर्ण लोलुपता था और दूसरा देवताओं और मनुष्यों के प्रति दर्पपूर्ण धृष्टता।"

उसने कहा, "आप बिलकुल ठीक कहते हैं।"

५—मैंने कहा, "तो फिर हमको इस बात का भी न तो विश्वास करना चाहिये और न इसका कहा जाना सहन करना चाहिये कि पॉसेइदोन् के पुत्र थीसियस् और द्यौस् के पुत्र पेइरीथूस् ऐसे रोमाञ्चकारी बलात्कार करने निकले थे; और न किसी देवता के पुत्र अथवा वीरपुरुष ने ऐसे भयावह पापकर्म करने का दुःसाहस किया होगा जैसे कि आज कल झूठमूठ उनके मत्थे मढ़े जा रहे हैं; हमको तो कवियों को या तो यह स्वीकार करने के लिये विवश कर देना चाहिये कि उक्त कार्य इन लोगों ने नहीं किये, या यह कि यह लोग देवताओं की सन्तान नहीं थे; उनको इन दोनों बातों को एक साथ सम्मिलित करके कहने की और हमारे युवकों में ऐसा विश्वास उत्पन्न करने की छूट नहीं होनी चाहिये कि देवता बुराइयों के जनक हैं और वीरपुरुष सामान्य मनुष्यों से कुछ भी बढ़ कर नहीं हैं। क्योंकि जैसा कि हम कह रहे थे, ऐसे कथन श्रद्धाशून्य और असत्य हैं; कारण कि मेरा विश्वास है, कि हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि बुराई का देवताओं से उत्पन्न होना असंभव है।"

"निःसन्देह।"

"और इसके आगे यह बात है कि ऐसी बातों का प्रभाव सुनने वालों पर भी हानिकारक होता है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने कुकर्मों के प्रति भी मृदुल बन जायगा यदि उसको यह विश्वास हो जाय कि ऐसे कर्म तो उन लोगों के हैं जो कि "देवताओं के सगे संबंधी हैं, द्यौस के समीप

के बांधवजन हैं, जिसके लिये इडा के शिखर पर पैतृक वैदियों से अग्नि-शिखाएँ परम व्योम की ओर जाती हैं, तथा जिनकी धमनियों में दिव्य रुधिर का संचार हो रहा है ।" इस कारण से हमको ऐसी कथाओं को प्रतिषिद्ध कर देना चाहिये जिससे हमारे युवकों में आचरण की शिथिलता उत्पन्न न हो ।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही होना चाहिये ।"

मैंने कहा, "(कवि) वर्णनों के विधि निषेध को पूर्ण करने में अब किस प्रकार के वर्णनों और व्याख्यानों का विनिश्चय शेष रह गया है ? देवताओं, अतिमानवों, वीरपुरुषों और परलोक के संबंध में वार्तालाप करने के समुचित प्रकार का तो हम निर्देश कर ही चुके हैं । क्यों ?"

"हाँ, कर चुके हैं ।"

"तब तो मनुष्यों के विषय में वार्त्तालाप का विषय ही शेष रहा न ?"

"हाँ, यह तो स्पष्ट ही है ।"

"पर, प्रियमित्र, इस स्थल पर इस विषय का निश्चय कर सकना नितान्त असंभव है ।"

"क्यों ?"

"इस कारण, कि मेरे विचार में हमको यह कहना पड़ेगा कि कवि तथा गद्य लेखक दोनों ही मनुष्य के संबंध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर बोलने में गलती करते हैं, जबकि वह ऐसा कहते हैं, कि ऐसे बहुत से मनुष्यों के उदाहरण मिलते हैं जो अन्यायी होते हुए भी सुखी हैं तथा न्यायी मनुष्यों के भी उदाहरण हैं जो कि दीन दुःखी हैं, एवं यह कहते हैं कि यदि पता न चले तो अन्याय लाभदायक होता है तथा न्याय न्यायकर्त्ता के लिये हानिप्रद तथा अन्य के लिये लाभप्रद होता है । और मैं ख्याल करता हूँ कि हमको उन्हें इस प्रकार की बातें कहने को मना करना पड़ेगा और अपने गीतों और कथानकों में इसके विपरीत भावनाओं को व्यक्त करने का आदेश

करना होगा । क्या तुम्हारा विचार ऐसा नहीं है ?"

उसने कहा, "नहीं, हमको ऐसा ही करना पड़ेगा ।"

"यदि तुम यह मानते हो कि मैं इस विषय में ठीक कह रहा हूँ तब तो मैं यह कहूँगा कि तुमने हमारे अनुसंधान के मूलभूत तत्त्व को ही स्वीकार कर लिया । क्यों ?

उसने कहा, "मैं तुम्हारे अनुमान के औचित्य को स्वीकार करता हूँ ।"

"तो क्या मनुष्य के विषय में अमुक प्रकार की वाणी का प्रयोग करना चाहिये इस विषय को हमको तब तक सहमत होने के लिये स्थगित नहीं कर देना चाहिये जब तक कि हम न्याय के स्वरूप का उद्घाटन न करलें और यह सिद्ध न कर दें कि न्याय अपने धारण करने वाले के लिये लाभ-प्रद होता है, चाहे वह न्यायी प्रतीत होता हो अथवा न होता हो ?"

उसने कहा, "परम सत्य ।"

६—वर्णनों (कविता, कथा) के विषय को अब समाप्त कर देना चाहिये । मैं ख्याल करता हूँ कि अब आगे हमारा दूसरा काम शैली (शब्द-प्रयोग) का विवेचन करना है । और इसके हो चुकने पर हम इस बात का पूर्णतया विचार कर चुकेंगे कि क्या कहा जाना चाहिये और कैसे कहा जाना चाहिये ।"

इस पर अदैमान्तॉस् ने कहा, "इससे तुम्हारा मन्तव्य क्या है यह मेरी समझ में नहीं आया ।"

मैंने कहा, "अच्छा, तो मैं तुमको अवश्य समझाऊँगा । स्यात् हैं कि निम्न प्रकार से विवरण प्रस्तुत करने पर तुम इसको अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे । क्या कथाकारों और कवियों द्वारा वर्णित प्रत्येक बात भूत, वर्त्तमान अथवा भावी घटनाओं का वर्णन नहीं है ?"

उसने कहा, "इसके अतिरिक्त वह और हो ही क्या सकती है ।"

"क्या वे अपने कार्य सम्पादन में शुद्ध वर्णन, अथवा अनुकरण द्वारा

अभिव्यक्त वर्णन या इन दोनों के सम्मिश्रण का प्रयोग नहीं करते ?"

उसने कहा, "मेरे लिये इस बात को भी और स्पष्ट करना आवश्यक है।"

मैंने कहा, "मैं अत्यन्त उपहासास्पद और अस्पष्ट शिक्षक प्रतीत होता हूँ। अतः अपने विचारों को प्रकट करने में असमर्थ मनुष्यों के समान मैं व्यापक अथवा सार्विक विचारों को नहीं लूंगा बल्कि उनके विशेष खंड को उनसे पृथक् कर लूंगा और उसके उदाहरण द्वारा तुमको अपना तात्पर्य समझाने का प्रयत्न करूँगा। अच्छा मुझे यह बतलाओ, क्या तुमको इलियड् की प्रारंभिक पंक्तियाँ मालूम हैं कि जिनमें रव्रीसीस् अगामेमनॉन् से अपनी पुत्री को छोड़ देने की प्रार्थना करता है और वह राजा इस पर रुष्ट हो जाता है, एवं अपनी प्रार्थना के असफल होने पर, रव्रीसीस् ईश्वर स्तवन में भगवान से अखेयन लोगों से बदला लेने की प्रार्थना करता है ?"

"हाँ, यह मुझे मालूम है।"

"तब तो तुम इस प्रसंग को इन पंक्तियों तक जानते हो, "उसने सभी अखेयन लोगों से प्रार्थना की, विशेषकर अत्र्यूस के दोनों सेनानी पुत्रों से।" यहाँ कवि स्वयं ही वक्ता है और वह हमको यह सुझाने का उद्योग नहीं करता कि उसके अतिरिक्त कोई अन्य बोल रहा है। पर इसके उपरान्त के कथन को वह इस प्रकार व्यक्त करता है मानों वह स्वयं रव्रीसीस् हो और यथासंभव हमको ऐसा अनुभव कराने का प्रयत्न करता है कि वक्ता होमेर नहीं बल्कि वृद्ध पुजारी है। एवं उसने इलियॉन् की घटनाओं, इथाका के वृत्तों और समग्र ऑडिसी काव्य के वर्णनों को लगभग पूर्णतया इसी शैली में प्रतिपादित किया है।"

उसने कहा, "हाँ, सब बिलकुल ऐसा ही है।"

"अब चाहे वह (कवि) यदा कदा वक्तृताएँ उपस्थित करे और चाहे

वक्तृताओं की मध्यवर्त्ती घटनाओं का वर्णन करे, दोनों अवस्थाओं में कवि-कर्म वर्णन ही तो होता है ? क्यों ऐसा ही है न ?"

"बिलकुल सच है ।"

"पर जब कि कवि किसी अन्य व्यक्ति के स्थान पर बोलता है तो क्या हम ऐसा नहीं कहेंगे कि ऐसे अवसरों पर वह अपनी शैली यथा संभव उस व्यक्ति की शैली के सदृश सी बना देता है जिसको वह बोलता हुआ बतलाता है ?"

"स्पष्ट ही हम अवश्य ऐसा कहेंगे ।"

"और क्या भाषण और शारीरिक आकृति में दूसरे व्यक्ति के समान हो जाना उस व्यक्ति का अनुकरण करना नहीं है जिसकी समानता धारण की जाती है ?"

"निश्चयेन ऐसा ही है ।"

"ऐसी दशा में तो मालूम पड़ता है कि वह (होमेर) तथा अन्य कवि अपने वर्णनों का प्रतिपादन अनुकरण द्वारा करते हैं ।"

"बिल्कुल ठीक ।"

"परन्तु यदि कवि अपने को कहीं प्रच्छन्न न रक्खे तो उसका निखिल कविकर्म और वर्णना अनुकरण के बिना ही प्रतिपादित होगी । यह बात किस प्रकार हो सकती है यह मैं तुमको स्पष्ट करके समझाऊँगा जिससे तुम फिर से यह न कह सको कि मैं समझा नहीं । यदि होमेर ने, यह बतलाने के उपरान्त, कि ख्रीसीस् अपनी पुत्री का मुक्तिधन लेकर अखैयी लोगों के समीप,विशेष कर उनके नरपति के समीप प्रार्थी बन कर आया, ख्रीसीस् बन कर या होकर बोलना चालू न रखा होता, प्रत्युत होमेर रूप में ही बोलता रहता, तो तुम जानते ही हो कि उसका वर्णन अनुकरण न होता बल्कि शुद्ध सरल वर्णन ही होना । यह कथानक ऐसी दशा में कुछ इस प्रकार का हुआ होता ! (मैं इसको गद्य में वर्णन करूँगा क्योंकि मैं कवि नहीं हूँ)

पुजारी आया और उसने देवताओं से विनती की कि वे उनको ट्रॉय की विजय तथा सुरक्षित तथा गृहागमन प्रदान करें, परन्तु उनको उसकी कन्या के निमित्त मुक्तिधन लेकर, देवताओं के प्रति श्रद्धाभावना के कारण उसकी पुत्री को मुक्त कर देना चाहिये। जब वह ऐसा कह चुका तो और शेष तो आतंकित होकर उसकी प्रार्थना मानने को प्रस्तुत से हो गये, परन्तु अगामेमनॉन् क्रुद्ध हो गया, उसने पुजारी को चले जाने और फिर लौट कर न आने की आज्ञा दीं' अन्यथा देवताओं का दण्ड और निर्माल्य उसके किसी काम नहीं आयेगा। उसकी पुत्री मुक्ति पाने के पूर्व उसके साहचर्य में ऑगसि् में वृद्धावस्था को प्राप्त होगी; अतः उसने उसको आज्ञा दी कि यदि तुम अक्षत अपने घर लौट जाना चाहते हो तो चुपचाप मुझको उत्तेजित किये बिना टल जाओ। और यह सुन कर वृद्ध बेचारा भयभीत हो गया और चुपचाप वहाँ से चल दिया; पर जब वह स्कन्धावार के बाहर निकल आया तो उसने देर तक अपोलो (सविता देवता) से प्रार्थना की, देवता को उसके विशेषणों का उल्लेख करके संबोधन करते हुए, एवं उसको स्मरण दिलाते हुए कहा कि मन्दिर-निर्माण एवं बलिप्रदान इत्यादि रूप में उसने जो भेंट सविता को अर्पित की थीं उनमें से यदि कोई उसको प्रिय लगी हो तो वह आज उसको उसका बदला देदे। इन सब के बदले में उसने प्रार्थना की कि अखैयी लोग मेरे अश्रुओं के कारण सविता के शर-प्रहार को सहें; इत्यादि। इस प्रकार मेरे प्रिय मित्र, "मैंने कहा, "बिना अनुकरण के सरल वर्णन सिद्ध होता है।"

उसने कहा, "मैं समझ गया।"

७—मैंने कहा, "यह भी तुमको समझ लेना चाहिये कि यदि संवादों के बीच में आने वाले कवि के बचनों को निकाल दें और केवल संवाद परंपरा शेष रह जाये तो परिणाम इसका उलटा होता है।"

उसने कहा, "यह भी मेरी समझ में आ गया; त्रागैदी में ऐसा ही होता है।"

मैंने कहा, "तुमने मेरी बात को बिलकुल ठीक ग्रहण कर लिया, और मैं समझता हूँ कि अब मैं तुमको वह बात स्पष्ट करके समझा सकता हूँ जो कि मैं अब से पहले समझाने में असमर्थ था—अर्थात् कविता और कथा लेखन का एक प्रकार ऐसा है जो केवल संवाद द्वारा अपना कार्य संपादन करता है, और इस के उदाहरण, जैसा कि तुमने कहा है त्रागैदी और कौमेदी हैं। दूसरा प्रकार वह है जो कि स्वयं कविकथन का ही उपयोग करता है, मेरे ख्याल में इसका सर्वोत्तम उदाहरण दिथीराम्भ है; और फिर एक तीसरा प्रकार है जो कि कविकथन और संवाद दोनों का उपयोग करता है, इसके उदाहरण, यदि तुम मेरी बात समझ गये होगे, तो महाकाव्य और अन्य कई स्थलों में मिलते हैं।"

उसने कहा, "अब मैं आप के प्रथम कथन के तात्पर्य को पूर्णतया समझ गया।"

"अच्छा मैं अब तुमको उस पूर्वोक्त कथन को स्मरण करने के लिये कहूँगा जिसमें मैंने कहा था कि हमने भाषण के विषय का विवेचन समाप्त कर दिया अब शैली का विवेचन शेष रहा!"

"मुझे स्मरण है।"

"उस समय मेरा जो तात्पर्य था वह यह है कि हमको इस विषय में कोई न कोई निश्चय कर लेना है कि हम अपने कवियों को विषयं प्रतिपादन में केवल अनुकरण का उपयोग करने देंगे अथवा आंशिक रूप में अनुकरण का उपयोग करने देंगे तथा आंशिक रूप में नहीं करने देंगे, (एवं ऐसी स्थिति में वह कौन से अंश में किस कसौटी के आधार पर उसका उपयोग करेंगे) या उनको अनुकरण का उपयोग बिलकुल नहीं करने देंगे।"

उसने कहा, "मुझे ऐसा सूझता है कि तुम यह सोच रहे हो कि हम

त्रागेदी और कोमेदी का प्रवेश अपने राष्ट्र में होने दें या नहीं।"

मैंने कहा, "स्यात् ऐसा ही है, अथवा इससे भी अधिक। क्योंकि अभी तक तो निश्चयपूर्वक स्वयं मैं भी नहीं जानता, परन्तु तर्क की वायु जिस ओर भी बह चले उधर ही हमारी राह है।"

उसने उत्तर दिया, "सुन्दर बात है।"

"अदैमान्तॉस्, जो बात हमको विचार दृष्टि में अपने समक्ष रखनी है, वह यह है कि क्या हमारे रक्षकों को अच्छे अनुकर्ता होना चाहिये या नहीं? अथवा क्या हमारी पूर्व स्थापना से, कि एक व्यक्ति एक ही व्यवसाय का भली प्रकार अनुसरण कर सकता है अनेकों का नहीं, यह निष्कर्ष निकलता है; अथवा यदि वह ऐसा करे तो, अनेकों व्यवसायों में टाँग फँसाने के कारण वह किसी भी व्यवसाय में विशेष सिद्धि प्राप्त करने में असफल रहेगा?"

"निःसन्देह, ऐसा ही होगा।"

"क्या अनुकरण के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू नहीं होता कि एक व्यक्ति अनेकों वस्तुओं का उतना अच्छा अनुकरण नहीं कर सकता जितना अच्छा एक का?"

"नहीं, ऐसा नहीं कर सकता।"

"तब तो वह व्यक्ति जो कि जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण व्यवसाय में लगा हुआ है उसके साथ अनेकों वस्तुओं के अनुसरण और अनुकर्ता के व्यवसाय को सम्मिलित करने में और भी कम सफल होगा। क्योंकि, यदि मैं गलती नहीं करता, तो एक ही आदमी तो एक साथ अनुकरण के उन दो प्रकारों का भी भली प्रकार अभ्यास नहीं कर सकता जो इतने निकट समान प्रतीत होते हैं जैसा कि त्रागेदी और कोमेदी की रचना है? क्या तुमने अभी-अभी इन दोनों को अनुकरण का नाम नहीं दिया था?"

"हाँ दिया था; तथा आपने यह ठीक ही कहा है कि एक ही व्यक्ति दोनों में सफल होने की क्षमता नहीं रखता।"

"और न एक ही व्यक्ति एक साथ महाकाव्य-वाचक और अभिनेता ही हो सकता है।"

"सत्य है।"

"इतना ही नहीं, एक ही अभिनेता त्रागेदी और कोमेदी दोनों का अभिनय नहीं कर सकता, तथापि यह सब अनुकरणात्मक कलाएँ हैं। क्यों, हैं या नहीं ?"

"हाँ हैं।"

"और अदेइमान्तॉस् मुझको तो मनुष्य का स्वभाव इनसे अधिक सूक्ष्म उप-विभागों में विभक्त हुआ प्रतीत होता है, अतः अनेकों वस्तुओं का भली भाँति अनुकरण करने में, अथवा उन कार्यों के करने में अक्षम है, जिनकी प्रतिकृति उपर्युक्त अनुकरण हैं।"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल सत्य।"

८—तब तो, यदि हमको अपने मौलिक सिद्धान्त का ही समर्थन करना है कि हमारे रक्षकों को अन्य सब व्यवसायों से मुक्त हो कर राष्ट्र की स्वतंत्रता के विचक्षण व्यवसायी बनना है, तथा किसी भी अन्य ऐसे व्यवसाय का अनुसरण नहीं करना है जो इसी लक्ष्य का साधक न हो, तब तो उनके लिये कोई अन्य कार्य करना अथवा उसका अनुकरण करना उचित नहीं होगा। पर यदि वे अनुकरण करें भी तो उनको बचपन से ही वह अनुकरण करना चाहिये जो उनके लिये योग्य हैं—अर्थात् ऐसे मनुष्यों का अनुकरण करना चाहिये जो वीर, गम्भीर, धर्मात्मा और उदाराशय हों तथा ऐसी ही अन्य सब वस्तुओं का अनुकरण करना चाहिये। परन्तु स्वतंत्र पुरुषों को शोभा न देने वाली बातें—अनुदारता और सब प्रकार की नीचताएँ—न तो उनको करनी चाहिये और न उनके अनुकरण में ही दक्ष होना चाहिये, जिससे कि अनुकरण करते-करते वे वास्तविकता से संक्रान्त न हो जाएँ। क्या तुमने निरीक्षण से अनुभव नहीं किया है कि

अनुकरण, बाल्यकाल से आरंभ करके दीर्घकाल तक चालू रहने पर किस प्रकार आदतों और स्वभाव का स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं तथा मन, वचन और शरीर को प्रभावित कर डालते हैं ?"

उसने कहा, "हाँ, सचमुच यही बात है।"

मैंने कहा' "तो, हम उन युवकों को जिनकी हमें चिन्ता है, तथा जिनको हम बड़ा होने पर नेक आदमी बना देखना चाहते हैं, स्त्रियों का अनुकरण नहीं करने देंगे, क्योंकि वह स्वयं पुरुष हैं, फिर चाहे वह स्त्री युवा हो अथवा वृद्ध, चाहे पति के साथ लड़ने वाली हो या अपने सौभाग्य के अभिमान में देवताओं के विरुद्ध गर्वोक्तियाँ सुनाकर अकड़ने वाली हो, चाहे पीड़ा या शोक अथवा विलाप से युक्त हो; इससे भी कम हम उनको ऐसी स्त्री का अनुकरण न करने देंगे जो कि रोगिणी, स्नेहातुर अथवा गर्भिणी है।"

उसने कहा, "निश्चय ही कदापि ऐसा नहीं करने देंगे।"

"और न उनको, दासवृत्ति का आचरण करते हुए स्त्री अथवा पुरुष दासों का ही अनुकरण करना चाहिये।"

"नहीं, यह भी नहीं करना चाहिये।"

"और, ऐसा प्रतीत होता है कि उनको उन बुरे आदमियों का भी अनुकरण नहीं करना चाहिये जो कि कायर हैं तथा जिनका आचरण हमारे पूर्ववर्णित आचरण के विपरीत है; यथा वह लोग जो कि आपस में एक दूसरे को गालियाँ देते रहते हैं या परिहास करते रहते हैं, या वह लोग जो कि मदिरा पी कर अथवा बिना पिये हुए ही परस्पर अपशब्दों का व्यवहार करते हैं और अन्यप्रकार से भी, जैसा कि ऐसे लोगोंसे व्यवहार है, यह लोग स्वयं अपने और दूसरों के विरुद्ध वाचा और कर्मणा पापाचरण करते रहते हैं। मेरा विचार ऐसा भी है कि उनको वाणी अथवा कर्म में पागलों की समानता करने की आदत नहीं डालनी चाहिये। क्योंकि यद्यपि उनको बुरे मनुष्यों और पागलों का (स्त्री तथा पुरुषों) दोनों का ही ज्ञान होना

चाहिये तथापि उनको उनके समान कार्य अथवा उनका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये।"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल सत्य है।"

"मैंने कहा, "अच्छा इस विषय में तुम्हारी क्या सम्मति है—क्या वे लुहारों अथवा दूसरे पेशे वालों का, अथवा नावों के केवटों का, उनके समयनिर्देशकों का या अन्य इसी प्रकार के मनुष्यों का अनुकरण कर सकते हैं ?"

उसने कहा, "जब कि उनको ऐसे कार्यों की ओर ध्यान तक नहीं देने दिया जायगा तब ऐसा कैसे हो सकता है ?"

"अच्छा तो, हिनहिनाते हुए घोड़े, रम्भाते हुए साँड़, नदियों का कलकलनाद सागर का गर्जन, बिजली की कड़क—क्या वह इनका अनुकरण कर सकेंगे ?"

उसने कहा, "नहीं ! उनको पागल बनने अथवा पागलों के समान आचरण करने का निषेध कर दिया गया है।"

मैंने कहा, तो यदि, मैंने तुम्हारा तात्पर्य समझ लिया है तो मैं कहूँगा कि वर्णनों में शब्द प्रयोग की एक शैली ऐसी होती है कि जिसमें वास्तव में नेक और सच्चा आदमी अपने वक्तव्य को प्रकट करेगा; एवं इसके विपरीत एक दूसरा प्रकार भी है जिसका उपयोग, जन्म एवं शिक्षा-दीक्षा के कारण उपर्युक्त जनों से विपरीत आचरण वाले मनुष्य अपने वक्तव्य को प्रकट करने के लिये करते हैं।"

उसने पूछा, "कृपया बतलाइये यह दो प्रकार कौन से हैं ?"

मैंने उत्तर दिया,"मेरा विचार है कि जब कोई अच्छा आदमी अपने वर्णन के मध्य किसी भलेमानुस के शब्द अथवा कार्यों का कथन करने लगता है तो उसका विवरण उपस्थित करने में वह उस व्यक्ति का स्थान ग्रहण करने की (उसका अभिनय करने की) इच्छा करेगा तथा इस प्रकार

के अनुकरण में किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं करेगा; जहाँ तक अभिनेय व्यक्ति स्थिरता और समझदारी से काम करता है वह उसका अनुकरण करना अधिक पसन्द करेगा, पर यदि वह व्यक्ति रोगवश, स्नेह-वश अथवा मदान्धतावश अथवा अन्य किसी दुर्घटनावश, अटपटा हो जाता है तो वह उसका अनुकरण करना कम पसन्द करेगा और ऐसा करने में उसको कुछ झिझक होगी! पर जब कभी वह ऐसे व्यक्ति का वर्णन करने को होगा जो कि उसके वर्णन के अयोग्य है, तो ऐसे स्थलों को छोड़ कर जहाँ उसका प्रकृत पात्र कोई अच्छा कार्य करता है, वह अपने को सच्चे हृदय से उसके सदृश बनाना नहीं चाहेगा, बल्कि वह निम्नलिखित दोनों ही कारणों से एक प्रकार के असमंजस में पड़ जायगा, क्योंकि एक तो वह ऐसे चरित्रवाले पात्रों के अनुकरण में अभ्यस्त नहीं है और दूसरे निम्न कोटि की वस्तुओं के योग्य साँचे में अपने को ढालने और अपने को उनमें फिट करने से उसको अरुचिवश संकोच का अनुभव होता है। यदि केवल परिहास निमित्त ऐसा न करना हो तो वह उनसे घृणा करता है।"

उसने कहा, "ऐसी तो आशा की ही जाती है।"

९—"तब, वह जिस वर्णनशैली का उपयोग करेगा वह उस प्रकार की होगी जिसको हमने होमेर की कविता से अभी उद्धृत किया था, और उसकी शब्द योजना में अनुकरणात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों लक्षण उपलब्ध होंगे—परन्तु सुदीर्घ प्रकरण में अनुकरण का अंश थोड़ा-सा ही होगा। क्यों ठीक है न ? अथवा मेरे कथन में कोई सार नहीं है ?"

उसने कहा, "क्यों नहीं। वास्तव में ऐसे प्रवक्ता के लिये यही आदर्श और उदाहरण है।"

मैंने कहा, "और फिर दूसरे प्रकार के प्रवक्ता भी होते है, और वह जितना ही पतित होता है हर किसी बात का अनुकरण करने में उसको उतनी ही कम झिझक होती है। वह किसी भी बात को अपने लिये अशोभन

नहीं समझेगा, अतः वह अनेकों मनुष्यों की उपस्थिति में गंभीरतापूर्वक उस सब वस्तुओं के सहित सब प्रकार की वस्तुओं का अनुकरण करने की चेष्टा करेगा जिनका हमने अभी उल्लेख किया था—यथा बिजली की कड़क, तथा आँधी और ओलों का शब्द तथा पहिये और घिर्रियों का शब्द, ढोल, बीन और वंशी के सुर तथा सब बाजों के नाद एवं यहाँ तक कि कुत्तों,भेड़ों और चिड़ियों का आराव; और इसीलिये उसकी शैली या तो सामग्रयेण स्वर और अंगभंगी के अनुकरण पर निर्भर करेंगी, अथवा उसमें केवल थोड़ा-सा शुद्ध वर्णन रहेगा।"

उसने कहा, "ऐसा तो अवश्य होगा ही।"

मैंने कहा, "बस यही वह दो शब्दयोजना की शैलियाँ हैं जिनके विषय में म कह रहा था।"

उसने उत्तर दिया, "ठीक है, ऐसी दो शैलियाँ (होती) हैं।"

"अच्छा, क्या इन दोनों में से एक (प्रथम) में बहुत सूक्ष्म-सा ही अन्तरीकरण नहीं होता, और यदि हम शब्द-योजना को समुचित उभार और लय देवें तो क्या यही परिणाम नहीं होगा कि ठीक प्रकार का प्रवक्ता प्रायः एक ही स्वर और गत में तथा इसी प्रकार लगभग एक ही प्रकार की लय में बोलता रहेगा—क्योंकि परिर्तन तो बहुत कम (नगण्य से) होते हैं ?"

उसने कहा, "बिलकुल ऐसा ही होगा।"

"पर दूसरी शैली के विषय में क्या ? क्योंकि उसमें बहुविध अन्तर (उतार-चढ़ाव) समाविष्ट होते हैं; अतः यदि इसकी भी ठीक ठीक अभिव्यक्ति होनी है तो क्या, उपर्युक्त शब्द-योजना के विपरीत इसके लिये सब प्रकार के उभार और लयों की आवश्यकता नहीं होगी ?"

उसने उत्तर दिया, "यह बात भी दृढ़तया ऐसी ही है।"

"और क्या सब कवि तथा प्रवक्ता या तो इन दोनों शैलियों में से एक

या दूसरी ग्रहण कर लेते हैं अथवा ऐसे मिश्रण को ग्रहण कर लेते हैं जो दोनों से मिल कर बनता है ?"

उसने कहा, "अवश्यमेव वे ऐसा ही करते हैं।"

मैंने कहा, "तो हमको क्या करना चाहिये ? क्या हम इन सब को नगर में प्रविष्ट कर लें अथवा शुद्ध शैली वालों को या मिश्रित शैली वालों को ?"

उसने कहा, "यदि मेरा निर्णय माना जाय तो हम उन विशुद्ध शैली वालों को नगर में प्रविष्ट करेंगे जो कि गुणवान् मनुष्यों का अनुकरण करते हैं।"

"पर, अदेमान्तॉस्, यह सब कुछ होते हुए भी मिश्रित शैली भी आनन्द-दायक होती है, एवं लड़कों, उनके शिक्षकों तथा अधिकांश जनसमूह को सबसे अधिक प्रिय लगने वाली शैली, तुम्हारी पसन्द की शैली के विपरीत है।"

"सबसे अधिक प्रिय लगने वाली तो है।"

मैंने कहा, "स्यात् तुम यह कहोगे कि इस प्रकार की शैली हमारी राष्ट्रनीति के अनुकूल सिद्ध होगी, इस कारण कि हमारे मध्य में कोई भी मनुष्य द्विविध था बहुविध स्वभाव वाला नहीं होगा क्योंकि प्रत्येक मनुष्य एक काम करने वाला होगा।"

"हाँ यह शैली हमारी नीति से मेल नहीं खायेगी।'

"और क्या यही कारण नहीं है कि हमारे जैसे नगर में ही क्यों हमको यह बात उपलब्ध होगी कि चर्मकार केवल चर्मकार ही है न कि चर्मकार होने के साथ ही साथ निर्यामिक का भी काम करता है, कृषक केवल कृषक है न कि कृषक होने के साथ ही साथ न्यायाधीश का भी कार्य करता है; और सैनिक सैनिक ही है न कि सैनिक होने के साथ ही साथ व्यवसायी

का भी कार्य करता है; और इसी प्रकार अन्य सब कार्यों के विषय में भी यही बात लागू होगी ?"

उसने कहा, "सच है।"

"तब तो ऐसा लगता है कि यदि कोई ऐसा आदमी, जो कि अपनी चतुरता के कारण हर एक प्रकार की आकृति धारण करने तथा सब वस्तुओं का अनुकरण करने की योग्यता रखता है, हमारे नगर में आये और अपनी प्रतिभा और (काव्य) कृतियों के प्रदर्शन का प्रस्ताव उपस्थित करे तो हम एक साधु, आश्चर्यजनक तथा हर्षदायक व्यक्ति के रूप में उसका प्रणिपातपूर्वक पूजन करेंगे परन्तु हम उससे यह भी अवश्य कहेंगे कि हमारे राष्ट्र में उसके समान कोई व्यक्ति नहीं है और न उसके सदृश् मनुष्य का हमारे नगर में संभव होना विधानानुकूल है, इसके पश्चात् हम उसको सुगन्धित तैल से मूर्द्धाभिषिक्त करके एवं उसके मस्तक को ऊर्णमालावेष्टित करके उसको किसी दूसरे नगर को विदा कर देंगे। परन्तु हम स्वयं अपने आत्मकल्याण के लिये तो अपेक्षाकृत कठोरतर तथा अल्पामोददायक कवि एवं कथाकार का ही उपयोग करते रहेंगे जो कि हमारे लिये गुणवान् मनुष्यों की शैली का अनुकरण करेगा और अपनी कहानियों को उसी साँचे में ढाल कर सुनायेगा जिसका विधान हमने अपने सैनिकों की शिक्षा के वर्णन के आरंभ में ही किया था।"

"यदि हमारे वश की बात हो तो हमको अवश्य ऐसा करना चाहिये।"

मैंने कहा, "मित्र, अब मालूम पड़ता है कि हम संगीत की उस शाखा का परिपूर्ण विवेचन कर चुके जिसका संबंध कथा एवं अन्य प्रकार के वर्णनों से है; क्योंकि क्या कहना चाहिये और कैसे कहना चाहिये इन दोनों ही (वस्तु एवं शैली) का विवरण प्रस्तुत हो चुका।"

उसने उत्तर दिया, "मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।"

१०—मैंने कहा, "तो अब तो, इसके पश्चात् लय और गायन का

ही विषय आता है। ठीक है न ?"

"सो तो स्पष्ट ही है।"

"और क्या इतनी दूर चल कर, प्रत्येक व्यक्ति सरलता से यह पता नहीं चला सकेगा कि पूर्वोक्त कथनों से संगति रखने के निमित्त हमको इनके लक्षण के विषय में क्या कहना चाहिये ?"

इस पर ग्लौकोन ने हँस कर कहा, "सॉक्रातेस्, मैं तो तुम्हारे 'प्रत्येक व्यक्ति' के अन्तर्गत हूँ नहीं; यों ही लगे हाथों मैं यह निर्णय नहीं कर सकता कि हमको क्या कहना चाहिये यद्यपि मैं कुछ अनुमान अवश्य कर सकता हूँ।"

मैंने कहा, "इतना तो मैं माने लेता हूँ कि तुम यह तो निश्चयपूर्वक समझते हो कि गीत के तीन अंग होते हैं बोल, समस्वरता और लय।"

उसने कहा, "हाँ, बस इतना (तुम मान सकते हो)।"

"जहाँ तक बोल (शब्दों) का संबंध है वहाँ तक गीत के शब्दों और न गाये जाने वाले शब्दों में निश्चय ही कोई भेद नहीं हो सकता; दोनों ही के लिये उन आदर्श उदाहरणों और नियमों का अनुसरण करना आवश्यक होता है जिनको हम निर्धारित कर चुके हैं।"

उसने कहा, "सच है।"

"और फिर, समस्वरता और लय को शब्दों का अनुसरण करना चाहये।"

"क्यों नहीं ?"

"पर हम वर्णन के विषयों की चर्चा करते हुए कह चुके हैं कि हमको शोकगीतों और विलापों की आवश्यकता नहीं है।"

"नहीं, निश्चय ही नहीं है।"

"तुम संगीतज्ञ हो, अतः मुझे बतलाओ कि करुणापूर्ण संगीत कौन-सा है ?"

उसने कहा, "मिश्रित लीडीय राग तथा उच्च लीडीय राग और इसी प्रकार के अन्य राग।"

मैंने कहा, "तो इनको अवश्य निकाल बाहर करना चाहिये; पुरुषों की बात तो एक ओर रही यह राग तो स्त्रियों के लिये भी व्यर्थ हैं जिनको कि दिखावा बनाना होता है।"

"बिलकुल ठीक।"

"और फिर इसके उपरान्त मदमत्तता रक्षकों के लिये नितान्त अनुचित (अयोग्य) बात है और मार्दव एवं आलस्य भी ऐसे ही हैं।"

"निश्चय ही।"

"तो, मार्दवपूर्ण, और पानगोष्ठी के, राग कौन से हैं ?"

"कुछ यवन और लीडीय राग जो कि शिथिल कहलाते हैं, इस प्रकार के हैं।"

"प्रिय मित्र ! क्या तुम योद्धाओं के लिये उनका कोई उपयोग कर सकते हो ?"

उसने कहा, "किञ्चित् भी नहीं। परन्तु मालूम पड़ता है कि तुमने दौरीय और फ्रीगीय राग छोड़ दिये हैं।"

मैंने कहा, "मैं संगीत के विषय में कुछ नहीं जानता, पर तुम हमारे लिये वह संगीत पद्धति छाँट कर छोड़ दो जो कि ऐसे वीर पुरुष के स्वर और कथनों का योग्यता से अनुकरण कर सके जो कि युद्ध में शस्त्रव्यापार में संलग्न है अथवा किसी उग्र पराक्रम में व्यापृत है, या जो, यदि सफलता न प्राप्त कर सके, अथवा जिसको आघातों और मृत्यु का सामना करना पड़े, अथवा जो इसी प्रकार की अन्य विनाशपूर्ण दुर्घटना में फँस जाये तो, जो इस प्रकार सब विपत्तियों में दृढ़ सहिष्णुता से दुर्भाग्य का सामना करता है और उसकी चोटों को निवारण करता है। एक दूसरी संगीत पद्धति ऐसी छाँट कर निकालो जो कि शान्तिमय कार्य में स्वेच्छापूर्वक लगे हुए

न कि बाधित हुए मनुष्य (व्यक्ति) के लिये हो, जो या तो किसी को किसी विषय का विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर रहा हो और उसकी मनुहार कर रहा हो—अर्थात चाहे देवता को प्रार्थना द्वारा या मनुष्य को शिक्षा और सम्बोधन द्वारा मनाने का प्रयत्न कर रहा हो—या इसके विपरीत स्वयं किसी दूसरे व्यक्ति के वशीभूत हो रहा हो जो कि उससे विनय कर रहा हो या उसको शिक्षा दे रहा हो अथवा उसकी सम्मति में परिवर्त्तन करने का प्रयत्न कर रहा हो और परिणाम स्वरूप अपनी इच्छानुसार सफलता प्राप्त कर रहा हो तथापि उसका व्यवहार उद्धतता-पूर्ण न हो परन्तु इन सब परिस्थितियों में विनम्रतापूर्वक और अति को वर्जित करते हुए कार्य कर रहा हो तथा परिणाम को समचित्तता से स्वीकार करता हो। बस हमारे लिये यही दो संगीत पद्धतियाँ छोड़ दो—बाधित संगीत पद्धति तथा स्वच्छन्द संगीत पद्धति—जो कि असफल अभागों अथवा समृद्धिपूर्ण भाग्यवानों अथवा साहसी पुरुषों और मध्यम-स्वभाव वाले पुरुषों के स्वर का सर्वोत्तम प्रकार से अनुकरण कर सके। इन्हीं दो को छाँट कर हमारे लिये छोड़दो।"

उसने कहा, "ठीक, आप तो मुझसे उन्हीं दो पद्धतियों के अतिरिक्त और किसी को भी छोड़ने को नहीं कह रहे जिनका कि मैंने अभी उल्लेख किया था।"

मैंने कहा, "तब तो हमको अपने गायन और वादन के लिये नाना-प्रकार के तारों के बाजों और अनेकों स्वरों वाले बाजों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

उसने कहा, "मेरी समझ में तो आवश्यकता नहीं होगी।"

"तब तो हमको त्रिकोण-वीणा और विपञ्चियों और अन्य सब बहु-तंत्री एवं बहुस्वरी वाद्यों के बनाने वालों का पोषण नहीं करना पड़ेगा।"

"स्पष्ट ही नहीं।"

"अच्छा तो क्या तुम अपने नगर में बंशी बनाने वालों और वंशी बजाने वालों को प्रवेश करने दोगे ? क्या वंशी सब बाजों में अधिकतंत्री नहीं है और क्या स्वरसर्वस्व स्वयं वंशी का अनुकरण मात्र नहीं है ?"

उसने कहा, "यह तो बिलकुल स्पष्ट है ।"

मैंने कहा, "तुमने वीणा और सितार दो ही बाजे छोड़े । यह बाजे नगर में उपयोगी होंगे तथा खेतों में गड़रिये छोटी मुरली बजा लिया करेंगे ।"

उसने कहा, "कम से कम हमारा तर्क तो यही सूचित करता है ।"

मैंने कहा, "मित्र, अपोलो और अपोलो के वाद्यों को मर्सियॉस् और उसके वाद्यों की अपेक्षा अधिक पसन्द करने में हम किसी नवीनता के दोषी नहीं हैं ।"

उसने कहा, "नहीं, भगवान जानते हैं हम दोषी नहीं हैं ।"

मैंने कहा, "श्वानदेव की सौगन्द, हमने जिस नगर को अभी तनिक देर पहले परिपूर्णतया समृद्ध कहा था, बिलकुल अनजमाने में हमने उसका संशोधन कर उसको संक्षिप्त कर डाला ।"

उसने कहा, "पर इसमें हमने अपनीबुद्धिमत्ता का ही प्रदर्शन किया है ।"

११—मैंने कहा, "अच्छा आओ इस विरेचनशुद्धि को पूरा कर दें । स्वरसंबादिता के पश्चात् लय का विवेचन आयेगा : हमको आधारभूत गणों में न तो जटिलता का अनुसंधान करना चाहिये और न विविधता का; हमें तो बस यही देखना है कि क्रमबद्ध और वीर जीवन की लय कौन सी हैं । जब हम इनको खोज चुकेंगे तो हम गण और लय को इस प्रकार के जीवन के भावों को व्यक्त करने के अनुकूल बना लेंगे न कि भावों को गण अथवा लय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करेंगे । जैसा कि संगीत-पद्धतियों के विषय में तुमने किया था, इसी प्रकार यह बतलाना भी तुम्हारा ही काम है कि ऐसी लयें कौन सी होंगी ।"

उसने कहा, "नहीं, सच तो यह है कि मैं यह नहीं बतला सकता ।

मैंने इस विषय में जो निरीक्षण किया है उसके आधार पर इतना ही कह सकता हूँ कि जिस प्रकार मनुष्य की बोली में मुख्य स्वर चार हैं जिनसे सब रागपद्धतियाँ उपलब्ध होती हैं उसी प्रकार मुख्यगण तीन हैं जिनसे सब छन्दः पद्धतियाँ बनती हैं। परन्तु उनमें से कौन सा किस प्रकार के जीवन का अनुकरण है, यह मैं नहीं बतला सकता।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है, इस विषय में यह जानने के लिये कि अनुदारता, धृष्टता, पागलपन अथवा अन्य बुराइयों को अभिव्यक्त करने के लिये कौन से गण समुचित होते हैं तथा इन भावनाओं के प्रतिकूल भावनाओं को व्यक्त करने के लिये कौन सी लयें शेष रह जाती हैं; हम दामौन् की सम्मति मालूम कर लेंगे। मुझे सूझ पड़ता है कि मुझे कुछ धुँधली सी याद है कि उसने कभी एक जटिल गण की चर्चा की थी जो युद्धोचित था और जिसका नाम उसने एँनोप्लियॉस् बतलाया था, दूसरा गण दाक्टिल था तथा तीसरा शूरोचित था, पर इसका क्रम उसने कुछ ऐसा रक्खा था कि मैं उसको समझ नहीं सका, यह उतार चढ़ाव तथा गुरु लघु के पर्यायक्रम में सम था और यदि मैं गलती नहीं करता तो उसने (इसके लिए) इयाम्बिक् नाम का प्रयोग किया था; इसके अतिरिक्त एक और अन्य गण भी था जिसको वह त्रौखायेऑस् कहता था और उसने मात्राओं को गुरु और लघु कह कर गिना था। और इनमें से कुछ के विषय में उसने गण-गति और लय दोनों ही की निन्दा और प्रशंसा की थी अथवा स्यात् दोनों के संयोग की प्रशंसा या निन्दा की थी, पर उसका क्या अभिप्राय था यह मैं निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता। किन्तु, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इस विषय का विवेचन दामौन् के विचार के लिये स्थगित कर देना चाहिये। क्योंकि इस विषय में सत्य का निर्णय करने के लिये कुछ कम विवेचन की आवश्यकता नहीं होगी। अथवा तुम्हारा विचार कुछ भिन्न है?"

"नहीं, राम कहो, मैं इससे भिन्न विचार नहीं रखता।"

"परन्तु इतना तो तुम निर्धारित कर ही सकते हो—कि शोभनता और अशोभंनता अच्छी और बुरी लय की सहचरी हैं।"

"क्यों नहीं ?"

"और इसके आगे यह भी निर्धारित कर सकते हो कि अच्छी और बुरी लय, सादृश्य प्रक्रिया के कारण, क्रमशः अच्छे शब्द प्रयोग और उसके उलटे बुरे शब्दप्रयोग की सहगामिनी हैं; और जैसा कि अभी अभी कहा गया था, यदि लय और स्वरसंवादिता शब्द प्रयोग का अनुसरण करें न कि इसके विपरीत शब्दप्रयोग लय और स्वरसंवादिता का अनुसरण करें, तो उपर्युक्त सिद्धान्त अच्छी और बुरी स्वरसंवादिता के विषय में भी कहा जा सकता है।"

उसने कहा, "उनको अवश्य ही शब्दों का अनुसरण करना चाहिये।"

मैंने कहा, "और शब्दों तथा भाषण की शैली के विषय में तुम्हारी क्या सम्मति है ? क्या वे आत्मा के स्वभाव का ही अनुसरण नहीं करते ?"

"क्यों नहीं ?"

"और शेष सब शब्द प्रयोग की शैली का अनुसरण करते हैं ?"

"हाँ।"

"तब तो अच्छी भाषा, सुन्दर स्वरसंवादिता, शोभनता, अच्छी लय सब अच्छे स्वभाव की सहचर हैं—अच्छे स्वभाव से मेरा तात्पर्य उस जड़ता अथवा मस्तिष्क की दुर्बलता से नहीं है जिसको हम शिष्टाचारवश भलमंसाहत कहते हैं, प्रत्युत मन और आचरण की सच्ची और सुव्यवस्थित सज्जनता है।"

उसने कहा, "सर्वथा सत्य है।"

"और यदि हमारे युवकों को अपने जीवन के वास्तविक ध्येय को पूरा करना है तो क्या उनको सर्वत्र और सर्वदा इन उपर्युक्त गुणों का अनुसरण नहीं करना चाहिये ?"

"अवश्य अनुकरण करना चाहिये ।"

"और निश्चय ही चित्रकला तथा उसके सदृश् अन्य कलाओं में इन गुणों का बाहुल्य पाया जाता है—बुनने की कला, कसीदा काढ़ना, भवन-निर्माणकला, तथैव गृहस्थी के पात्र और अन्य आवश्यक सामान के प्रस्तुत करने की कला में यह सब गुण परिपूर्णतया रहते हैं एवं इसी सूची में पशुओं तथा पौदों के शरीर भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। क्योंकि इन सब ही में शोभनता अथवा अशोभनता पाई जाती है। और अशोभनता, लयाभाव और विसंवादिता का दूषित शैली और बुरे चरित्र से अत्यन्त समीप का संबन्ध है; जबकि इनके प्रतिकूल गुण इनके विरोधी स्वभाव और शैली के—स्वस्थ एवं सत्स्वभाव के संबन्धी हैं।"

उसने कहा, "बिलकुल सत्य।"

१२—ऐसी अवस्था में क्या हम केवल कवियों की ही अध्यक्षता करके उनको ही अपनी कविता में सदाचरण की अनुकृति का सन्निवेश करने के लिये विवश करेंगे और यदि वे ऐसा न करें तो उनको अपने मध्य में (नगर में) कविता न रचने का दण्ड देंगे; अथवा हमको अन्य शिलिपयों पर भी दृष्टि रखनी पड़ेगी और उनको दुःस्वभाव, इन्द्रियलोलुपता, अनुदारता, अशोभनता इत्यादि को सजीव प्राणियों की अनुकृति में, अथवा भवनों में अथवा अपनी किसी अन्य कलाकृतियों में अभिव्यक्त करने का निषेध करना होगा, और यदि कोई हमारे इस निषेध का पालन न कर सके तो उसको यह दण्ड मिलेगा कि वह हमारे नगर में अपने शिल्प का अभ्यास नहीं कर सकेगा, जिससे कि हमारे रक्षक, ज़हरीली घासों के खेतों में चरने के समान, बुराइयों के चिह्नों के (प्रतीकों के) मध्य में परिवर्धित न होने पावें, अन्यथा उनके मध्य में स्वच्छन्दता से चरने से तथा इस प्रकार के अनेकों स्थानों से दिन प्रति दिन थोड़ा थोड़ा कुतरते हुए वे स्वयं अज्ञात भाव से अपनी अन्तर् आत्मा में ही कहीं बुराई की विशाल राशि एकत्रित और निर्मित

न करलें ? "क्या इसके विपरीत हमको उन शिल्पियों को नहीं खोज निकालना चाहिये जो कि प्रकृति की शुभ दैन के कारण सुन्दरता और शोभनता का अनुसंधान कर सकते हैं, जिससे कि हमारे युवा स्वास्थ्यप्रद स्थान में निवास करने के समान अपने चारों ओर की वस्तुओं से लाभन्वित हो सकें, जिससे कि सुन्दरतायुक्त पदार्थों से निःसृत होने वाला प्रभाव उनके नेत्रों और कानों के समक्ष, स्वस्थ स्थानों से प्रवाहित होने वाली तथा स्वास्थ्यप्रद वायुतरंग के समान प्रवाहित हो सके एवं परिणामतः प्रारंभिक बाल्यकाल से अनजाने में ही उनको सुन्दर विवेक की सदृशता, मित्रता एवं समस्वरता की ओर ले जा सके ?"

उसने कहा, "हाँ, यह उनके लिये सर्वोत्तम शिक्षा होगी ।

मैंने कहा, "ग्लौकोन्, और क्या इसी कारण संगीत की शिक्षा सर्वोपरि शक्तिमत्तम नहीं मानी गई है,कि लय और स्वरैक्य किसी भी अन्य वस्तु की अपेक्षा आत्मा के अन्तरतम प्रदेश में अधिक गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं और उस पर सुदृढ़ अधिकार जमा लेते हैं, शोभनता तो उनकी सहचरी ठहरी ही, अतः यदि कोई इस विद्या में भली भाँति शिक्षित हो तो वे उसको शोभनतापूर्ण बना देते हैं, अन्यथा तत्प्रतिकूल बना देते हैं ? और भी, क्योंकि कुनिर्मित अथवा कुवर्द्धित वस्तुओं में सौन्दर्य की अनुपस्थिति अथवा असफलता ऐसे मनुष्य की दृष्टि द्वारा अत्यधिक शीघ्रता द्वारा देख ली जायगी जो कि संगीत की शिक्षा पाये हुए हैं और इसलिये कुरुचि का उचित तिरस्कार करते हुए वह सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा करेगा, उनसे आनन्दित होगा तथा अपनी आत्मा के विकास के पोषण के लिये उनको अपनी आत्मा में ग्रहण करेगा एवं इस प्रकार स्वयं नेक और सुन्दर बन जायगा; इसके विपरीत, अल्पवयस्क होते हुए भी एवं कारण जानने के अयोग्य होते हुए भी वह अभव्य की उचित प्रकार से निन्दा करेगा, एवं विवेक के आने पर इस प्रकार शिक्षित हुआ मनुष्य उसका सबसे पहले स्वागत करेगा क्योंकि

वह संबंध की सहजभावना एवं शिक्षा के कारण इस मित्र (विवेक) को पहचान लेगा ?"

उसने कहा, "हाँ, संगीत की शिक्षा के कारण यही हैं ऐसा मेरा निश्चित विचार है ।"

मैंने कहा, "यह तो ऐसी ही बात है जैसी कि हमारे वर्णमाला सीखते समय होती है, उस समय हमने तभी अपने को पर्याप्तरूपेण शिक्षित समझा था जब कि उन थोड़े से अक्षरों को शब्दों में बिखरे रहने पर हम पहचानने लगे थे, उस समय हमने छोटे अथवा बड़े शब्दों (अथवा छोटे या बड़े आकार) में आने के कारण उनकी उपेक्षा नहीं की थी और उनको पहचानना अनावश्यक नहीं समझा था, प्रत्युत हम उनको प्रत्येक स्थान पर स्पष्टतया जान लेने के लिये उत्सुक थे क्योंकि हमारा विश्वास था कि हम जब तक ऐसा नहीं कर सकेंगे तब तक पूर्णतया साक्षर नहीं हो सकेंगे ।"

"सत्य है ।"

"और क्या यह भी सत्य नहीं है कि यदि अक्षरों की प्रतिच्छाया जल या दर्पण में प्रतिफलित हो तो हम मूल अक्षरों को जाने बिना छाया को कदापि नहीं जान सकते; क्योंकि छाया और मूल अक्षरों का ज्ञान एक ही कला और शिक्षा से संबद्ध है ?"

"सर्वथा ऐसा ही है ।"

"भगवान् तुम्हारा भला करें; तो क्या मेरा यह कहना सत्य नहीं है कि, इसी प्रकार, जब तक हम स्वस्थचित्तता, साहस, उदारता, तथा उदाराशयता एवं इनके सब सपक्षों एवं विपक्षियों को भी उन सब समवायों में पहचानने के योग्य न हो जायें जो कि उनको धारण और वहन करते हैं, जब तक हम उनको तथा उनकी प्रतिच्छाया को, लघु अथवा महान् वस्तुओं में कहीं भी अवहेलना न करते हुए तथा यह विश्वास करते हुए कि दोनों का ज्ञान एक ही कला और शिक्षा से संबद्ध है, समझने योग्य न हो जायें

तब तक हम—अर्थात् हम और हमारे रक्षक जिनकी शिक्षा का भार हमने लिया है—सच्चे संगीतज्ञ नहीं होंगे ?"

उसने कहा, "यह तो अनिवार्यतः होना ही चाहिये।"

मैंने कहा, "तो जब आत्मा में सुष्ठु स्वभाव तथा शारीरिक आकृति में उसी (स्वभाव) के अनुरूप एवं संवादी सौन्दर्य का संयोग घटित हो जाये तो क्या योग्य सचेतसे के लिये ऐसा व्यक्ति सुन्दरतम दृश्य नहीं होगा ?"

"सर्वाधिक सुन्दरतम।"

"और निश्चय ही सुन्दरतम ही प्रियतम (प्रैष्ठ) होता है।"

"अवश्यमेव।"

"तब तो सच्चा संगीतविद् अपेक्षाकृत अधिक अभिरुचि से इस प्रकार के व्यक्तियों को प्रेम करेगा; पर जिसकी आत्मा में यह संवादिता नहीं होगी उसको प्रेम नहीं करेगा।"

उसने कहा, "नहीं, यदि आत्मा में दोष होगा तो वह ऐसे व्यक्ति को प्रेम नहीं करेगा; परन्तु यदि केवल शरीर में दोष हुआ तो वह उसको सहन करेगा और फिर भी प्रेम करेगा।

मैंने कहा, "मैं समझ गया कि तुम्हारे कुछ कुमार-सहचर इस प्रकार के हैं या थे, अतः मैं तुम्हारी इस विशेषता को स्वीकार किये लेता हूँ। परन्तु मुझे यह बतलाओ—क्या संयतचित्तता और उद्दाम आनन्दविलास में कोई नाता हो सकता है ?"

उसने कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है जब कि ऐसी भोगलिप्सा असह्य पीड़ा के समान ही चित्त को विक्षिप्त कर देती है ?"

"अथवा क्या उद्दाम विलासोपभोग और सद्वृत्त में कोई नाता हो सकता है ?"

"निश्चय ही नहीं।"

"परन्तु क्या आनन्दोपभोग तथा धृष्टता और स्वेच्छाचारिता में कोई संबन्ध है ?"

"पूर्णतया निश्चयेन ।"

"अच्छा क्या तुमको कामोपभोग से बढ़ कर अधिक तीव्र या आवेग-पूर्ण किसी अन्य विषयानन्द का पता है ?"

"नहीं, मैं नहीं जानता, और न कोई दूसरा ऐसा आनन्द जानता हूँ जो इससे अधिक पागलपन से युक्त हो ।"

"परन्तु क्या सच्चा प्रेम, सुन्दर और सुव्यवस्थित पदार्थ को संयत तथा सुसमाहित प्रकार से प्रेम करना नहीं है ?"

उसने कहा, "सचमुच ऐसा ही है ।"

"तब तो विक्षिप्तता तथा इन्द्रियलोलुपता से किञ्चिन्मात्र भी मिलती जुलती कोई भी बात सच्चे प्रेम के पास नहीं फटकनी चाहिये । क्यों है न ?"

"नहीं ।"

"इस प्रकार का आनन्दोपभोग पास नहीं फटकना चाहिये और उस प्रेमी को जो कि सच्चा प्रेम करता है और उसके प्रिय को जो कि उचित प्रकार से प्यार किया जाता है इन दोनों को ही इस प्रकार के आनन्द से कोई संबन्ध नहीं रखना चाहिये ।"

उसने कहा, "नहीं सॉक्रातेस्, भगवान के नाम पर, ऐसा आनन्द उनके पास नहीं फटकना चाहिये ।"

"तब तो, प्रतीत होता है, कि जिस नगर का हम निर्माण कर रहे हैं उसमें तुम यह विधान चालू करोगे कि यदि कोई प्रेमी अपने प्रिय को मनाकर उसकी स्वीकृति प्राप्त कर सके तो वह उदार प्रयोजन के निमित्त अपने प्रिय का चुम्बन कर सकता है, उसके साथ समय व्यतीत कर सकता है तथा उसके शरीर को इस प्रकार स्पर्श (आलिंगन) कर सकता है जिस

प्रकार कि पिता पुत्र को आलिंगन करता है। पर अन्य सब बातों में वह अपने प्रिय के साथ अपने संसर्ग को इस प्रकार नियमित और संयत रक्खेगा कि जिससे उपर्युक्त मर्यादा के उल्लंघन का सन्देह उत्पन्न न हो और यदि हो तो उसको सुरुचिहीन और संगीत शिक्षाहीन कहलाने के दोषारोपण से दण्डित होना पड़ेगा।"

उसने कहा "बिलकुल ऐसा ही है।"

"तो क्या तुम इस बात से सहमत नहीं हो कि संगीत विषयक हमारा विवेचन अब समाप्त हुआ ? इसका अन्त समुचित ही हुआ है क्योंकि संगीत शिक्षा की पर्यवसति और परिपूर्णता सुन्दर के प्रेम में ही होती है।"

उसने कहा, "मैं तुमसे सहमत हूँ।"

१३. संगीत के उपरान्त हमारे युवकों को व्यायाम में शिक्षित होना चाहिये।"

"अवश्य।"

"इसमें भी (संगीत के समान) उनकी शिक्षा बड़ी सावधानी से लड़कपन से आरंभ होकर जीवन भर चलती रहनी चाहिये; एवं इस विषय में मेरा विचार निम्नलिखित है, परन्तु तुमको स्वयं भी इस पर विचार करना चाहिये। मेरा अपना विश्वास तो यह है कि स्वस्थ शरीर अपनी उत्तमता से आत्मा को उत्तम नहीं बनाता; प्रत्युत अच्छी आत्मा अपने गुणों से शरीर को इतना अच्छा बना सकती है जितना अच्छा होना उसके लिये संभव है। परन्तु तुम्हारी क्या सम्मति है ?"

उसने कहा, "मेरा भी विचार यही है।"

"तब तो यदि हम मस्तिष्क को भली भाँति शिक्षित कर लें तथा शरीर की चिन्ता का सारा ब्यौरा उसी को सौंप दे तथा उसको आदर्श या नमूना सूचित करके बस कर दें और उसकी कथा को व्यर्थ ही लम्बी

न बनायें तो हमारा व्यवहार उचित ही होगा न ?"

"सर्वथा ऐसा ही होगा।"

"यह तो हम कह ही चुके हैं कि उनको नशेबाज़ी से विरत रहना चाहिये। क्योंकि अन्य सब मनुष्यों के मध्य में रक्षक तो अन्तिम व्यक्ति होगा जिसके लिये मदमत्त होकर संसार में अपनी स्थिति के विषय में भी अचेत हो जाने का विधान हो।"

उसने कहा, "हाँ, यह तो वास्तव में अत्यन्त उपहासास्पद बात होगी कि संरक्षक को भी रक्षक की आवश्यकता हो।"

"अच्छा उनके भोजन के विषय में क्या विचार है ?—यह लोग सब से अधिक महत्त्वपूर्ण मल्लयुद्ध के लिये तैयार हो रहे हैं—क्यों ठीक है न ?"

"हाँ।"

"तो क्या नित्यप्रति सर्वत्र दिखलाई देने वाले मल्लों की सी शरीर की आदत इन लोगों के लिये भी समुचित होगी ?"

"स्यात्।"

मैंने कहा, "परन्तु मुझे यह भय है कि उनकी शरीर की आदत सुस्ती और नींद लाने वाली है और स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। क्या तुम नहीं देखते हो कि यह मल्ल लोग अपना समग्र जीवन सोने में ही व्यतीत कर देते हैं, और यदि वह अपने नित्यनियत भोजन से तनिक भी हटते हैं तो बड़ी भयंकर बीमारियाँ होने का डर बना रहता है ?"

"हाँ, यह तो मैं देखता हूँ।"

मैंने कहा, "तब तो हमारे योद्धा मल्लों के लिये तो इससे कहीं अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण शिक्षण की आवश्यकता होगी क्योंकि उनको तो जागरूक प्रहरी कुत्तों के समान होना चाहिये तथा उनके नेत्रेन्द्रिय तथा श्रवणेन्द्रिय की ईक्षण शक्ति अधिक से अधिक तीक्ष्ण होनी चाहिये; उनका स्वास्थ्य तो, युद्धाभियानों में होने वाले जल और आहार के परिवर्त्तनों में, ग्रीष्म

की उष्णता एवं शरत्कालीन आँधी-वर्षा में भी अक्षुण्ण बना रहने वाला होना चाहिये।"

"मेरा विचार भी ऐसा ही है।',

"तो क्या सर्वोत्तम व्यायाम पद्धति उस संगीतपद्धति की सगी बहिन नहीं होगी जिसकी चर्चा हम अभी कुछ ही समय पूर्व कर रहे थे ?"

"सो कैसे ?"

"यह व्यायाम-पद्धति सीधीसादी और समसरल होगी, विशेषतया युद्ध की शिक्षा के अन्तर्गत होने के कारण।"

"किस प्रकार ?"

मैंने कहा, "यह बात तो होमेर तक से जानी जा सकती है। तुमको विदित ही है कि अभियान में वह अपने योद्धाओं के भोज में उनके सामने मछली नहीं परोसता, यद्यपि वे हैलैस्पोण्ट के सागरतट पर स्थित हैं, और न उबला हुआ मांस प्रत्युत केवल भुना हुआ मांस ही प्रस्तुत करता है, जो कि सैनिकों को सरलता से उपलब्ध हो सकता है; क्योंकि, जैसा कि कोई भी कह सकता है, हाँडी कड़ाही को लिये फिरने की अपेक्षा केवल अग्नि का प्रबन्ध कर लेना कहीं सरल काम है।"

"निश्चय ऐसा ही है।"

"और, जैसा कि मेरा विश्वास है, होमेर मिष्टान्नों का भी कहीं उल्लेख नहीं करता। पर क्या यह ऐसी बात नहीं है जिसको, वही क्या, शिक्षण प्राप्त करने वाले सभी लोग समझते हैं—कि यदि कोई अपने शरीर को स्वस्थ दशा में रखना चाहे तो उसको इन मिष्टान्नों का सेवन बिलकुल नहीं करना चाहिये ?"

उसने कहा, "हाँ, तथा यह जानते हुए उनका परित्याग करके भी वह उचित ही करते हैं।"

"तब तो, मेरे मित्र, यदि तुम इस प्रकार को ठीक समझते हो, तो

स्पष्ट है कि तुम सिराकूस के भोज और सिकिलिया के बहुविधि व्यञ्जनों का भी अनुमोदन नहीं करते ?"

"मैं समझता हूँ कि मैं उनका अनुमोदन नहीं करता।"

"और यदि वह मनुष्य, जिनको अपना शरीर स्वस्थदशा में रखना है, कोरिन्थ की छबीली छोकरियों से प्रेम करें तो तुम अप्रसन्न होगे ?"

"अवश्य ही, बहुत अधिक।"

"और तब तो तुम अथेन्सनगर के मिष्टान्नों का भी अनुमोदन नहीं करोगे जो कि परम स्वादिष्ट समझे जाते हैं ?"

"अनिवार्यतः।"

"मेरा ख्याल है, कि यदि हम इस प्रकार के भोजन और जीवन क्रम की समानता उस संगीत और गायन से करें जो कि सर्वस्वरपद्धति का अनुसरण करता है और सब प्रकार की लयों का प्रयोग करता है तो यह एक उचित तुलना होगी।"

"बिलकुल उचित।"

"और उस (संगीत) की विविधता आत्मा में इन्द्रियलम्पटता उत्पन्न करती है और यह व्यायाम की विविधता रोग उत्पन्न करती है ? इसके विपरीत संगीत की सरलता आत्मसंयम की जननी है तथा व्यायाम की सरलता शारीरिक स्वास्थ्य को जन्म देती है।"

उसने कहा "परम सत्य।"

"और जब किसी नगर में लम्पटता तथा रोगों का बाहुल्य हो जाता है तो क्या अनेकों न्यायालय और औषधालय नहीं खुल जाते, एवं क्या वैद्यककला एवं विधानविद-कला अभिमान से अपना मस्तक ऊँचा नहीं उठाने लगती, जब कि स्वतंत्र मनुष्य भी बहुत अधिक संख्या में बड़ी उत्सुकता के साथ इन व्यवसायों में संलग्न होने लगते हैं ?"

"वे ऐसा क्यों न करें ?"

१४——परन्तु क्या तुम किसी नगर में शिक्षा की दशा अत्यन्त बुरी और लज्जाजनक होने का इससे बढ़कर कोई अन्य सुनिश्चित प्रमाण पा सकते हो कि उसमें न केवल निम्नकोटि के मनुष्यों तथा श्रमिकों के लिये बल्कि उन मनुष्यों के लिये भी, प्रथम श्रेणी के वैद्यों और न्यायाधीशों की आवश्यकता पड़े, जिनका दावा स्वाधीन पुरुषों की शिक्षा-दीक्षा पाने का है ? क्या यह बात तुमको परम अशोभन तथा कुशिक्षा का दृष्टव्य लक्षण जैसी नहीं प्रतीत होती कि अपने में ऐसे गुणों का अभाव होने के कारण किसी को दूसरों के यहाँ से न्याय का आयात करने के लिये विवश होना पड़े और परिणामत: वे लोग तुम्हारे स्वामी और प्रभु बन जायें ?"

उसने कहा, "यह सबसे अधिक अशोभन बात है।"

मैंने कहा, "क्या तुम इसी को सब से अधिक अशोभन कहते हो ? अथवा निम्न स्थिति उससे भी अधिक लज्जाजनक है——जबकि कोई मनुष्य न केवल अपनी आयु का अधिकांश न्यायालयों में वादी प्रतिवादी के रूप में क्षयित कर देता है बल्कि शोभन के अपरिकलन के कारण अपनी इस प्रवृत्ति पर गर्व करने लगता है कि मैं इतना कृतविद्य हूँ कि अन्याय को भी जिता सकता हूँ, चतुराई से दाँवपेंच चल सकता हूँ, चालों को बचा कर न्याय की सब पकड़ों से बचकर उसको पराजित कर सकता हूँ——और यह सब कुछ वह तुच्छ एवं नि:स्सार वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त करता है, क्योंकि वह नहीं जानता अपने जीवन की ऐसी व्यवस्था करना कितना अधिक उदार और अच्छा है कि जिसमें ऊँघते हुए न्यायाधीश की आवश्यकता ही न हो।"

उसने कहा, "यह तो पूर्व कथित बात से भी अधिक लज्जास्पद बात है।"

मैंने कहा, "और केवल आघातों और ऋतुपरिवर्त्तन संबंधी व्याधियों के लिये ही नहीं प्रत्युत इसलिये भी, कि आलस्य तथा उपर्युक्त आहार-विहार के कारण शरीर दलदल के समान बात एवं अन्यदोषों से परिपूर्ण

हैं, औषधियाँ चाहना तथा आस्क्लेपियस् के चतुर वंशधरों को रोगों के अवरोध एवं प्रवाह इत्यादि नामकरण करने को विवश कर देना—इसको क्या तुम अशोभन नहीं मानते ?"

उसने कहा, "निश्चय ही यह तो रोगों के नितान्त नये ढंग के नाम हैं एवं बड़े भौंड़े और अनोखे हैं।"

मैंने कहा, "मेरा ख्याल है कि स्वयं आस्क्लेपियस के समय में ऐसे कोई रोग नहीं थे। मेरे इस अनुमान का आधार यह तथ्य है कि त्रॉय के युद्ध में आस्क्लेपियस् के वंशधरों ने उस सुन्दरी को कोई दोष नहीं दिया था जिसने आहत यूरीपिलॉस को यवमिश्रित पनीरखण्डयुक्त प्रामनी मदिरा का झोल पीने को दिया था, जो कि निश्चय ही ज्वरकारक (विदाहक) पेय है; और न उन्होंने पात्रोक्लास् की ही निन्दा की जो कि उसकी देखरेख कर रहा था।"

उसने कहा, "सचमुच ही इस स्थिति के मनुष्य के लिये था तो यह एक अनोखा ही पेय पदार्थ।"

मैंने कहा, "यदि तुम इस बात पर ध्यान दोगे तो तुमको यह कोई अनोखी बात नहीं प्रतीत होगी कि हेरोडिकॉस के समय से पहले आस्क्लेपियस् के शिष्य हमारी इस आधुनिक रोगपोषक उपचार पद्धति का उपयोग नहीं करते थे। पर हेरोडिकास ने, जो कि एक व्यायामशिक्षक था रुग्ण होने पर, व्यायाम और औषधि का ऐसा मिश्रण बनाया कि जिससे उसने प्रथम और मुख्यतया तो अपने को यातना दी और तत्पश्चात् अनेकों पश्चात्कालीन व्यक्तियों को।"

उसने पूछा, "सो कैसे ?"

मैंने कहा, "अपनी मृत्यु को विलम्बमान करके। उसका रोग तो था मारक एवं असाध्य, जो कि मेरे ख्याल में वह दूर नहीं कर सकता था, पर वह उसकी नित्य निरंतर परिचर्या में लगा रहता था, इस प्रकार वह

जीवन भर रोगी और कार्य में अक्षम रहा, नियत भोजन में थोड़ा भी व्यतिक्रम होने पर उसको घोर यातना भोगनी पड़ती थी; इस प्रकार अपने विज्ञान की सहायता से मृत्यु से लड़ते हुए उसने सुदीर्घ जीवन का उपहार प्राप्त किया था।"

उसने कहा, "यह तो वास्तव में उसको विज्ञान का अत्युत्तम उपहार मिला।"

मैंने कहा, "यह उसी मनुष्य के लिये ठीक उचित उपहार है जो यह नहीं जानता कि आस्क्लेपियस ने जो इस उपचार पद्धति को अपने शिष्यों में प्रकाशित नहीं किया उसका कारण अज्ञान अथवा इस पद्धति का अपरिचय नहीं था प्रत्युत इसका कारण यह था कि वह जानता था कि सब सुशासित समाजों में प्रत्येक व्यक्ति को नगर में कोई न कोई कार्य नियतरूप से सौंपा हुआ होता है जिसको उसे अवश्य करना होता है, और किसी भी व्यक्ति को रुग्ण होकर आजीवन वैद्योपचार करने का अवकाश नहीं होता। तथा इस बात को हम शिल्पियों की बार तो देख पाते हैं किन्तु कितनी उपहासास्पद बात है कि यही तथ्य हम धनी एवं तथा-कथित सुखी और सौभाग्यशाली मनुष्यों की बार नहीं देख पाते।"

उसने कहा, "सो कैसे?",

१५. मैंने कहा' "जब कोई बढ़ई रुग्ण हो जाता है तो वह वैद्य से यह आशा करता है कि वह उसको कोई ऐसी पीने की दवा देगा जो वमन अथवा विरेचनन द्वारा उसके रोग को निकाल देगी, या दागने अथवा चीरा देने से वह रोगमुक्त हो जायगा। परन्तु यदि कोई उसके उपचार की दीर्घकालीन आहार पद्धति निर्धारित करे तथा उसके शिर को पट्टियों से बँधे रहने का आदेश करे एवं इनके साथ ही साथ चलने वाली अन्य कई एक ऐसी ही बातें नियत कर दे तो वह शीघ्र ही अपने वैद्य को यही उत्तर देता है कि उसके पास रोगी बने रहने के लिये समय नहीं है तथा ऐसा

जीवन जिसमें किसी को अपना नियत कार्य छोड़ नित्य रोग का ही चिन्तन करते रहना पड़े किसी प्रकार भी अच्छा नहीं है। इसके उपरान्त इस प्रकार के उपचार को प्रणाम करके वह अपने नित्यप्रति के जीवन व्यापार में लग जाता है और या तो नीरोग होकर अपने काम को करते हुए जीवन यापन करता है, अथवा, यदि उसका शरीर कार्यभारक्षम नहीं रहता तो मर कर अपनी आपत्तियों से छुट्टी पा जाता है।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसी जीवनस्थिति वाले मनुष्यों के लिये तो रोगोपचार का यही उचित उपयोग प्रतीत होता है।"

मैंने कहा, "और क्या, इसका कारण यह नहीं है कि उसको कुछ कार्य करना है तथा उस कार्य को न कर सकने की अवस्था में जीवन धारण तथा स्वीकार करने योग्य नहीं रह जाता ?"

उसने कहा, "स्पष्ट ही है।"

"परन्तु, जैसा कि हम कहते हैं, धनवानों को इस प्रकार का कोई कार्य करने को नहीं रहता कि जिसको छोड़ने को विवश हो जाने पर, जीवन स्वीकार करने योग्य न रह जाये।"

"सामान्यतया यही ख्याल किया जाता है कि उनको कोई काम नहीं रहता।"

"क्यों ? तो क्या तुमने फौकिलिदेस का यह वचन नहीं सुना है कि ज्योंही किसी मनुष्य को आजीविका प्राप्त हो जाये त्योंही उसको पुण्याचरण करना चाहिये ?"

उसने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि उसके पूर्व भी तो (पुण्याचरण करना चाहिये)।"

मैंने कहा, "इस विषय में हम उससे न झगड़ें, प्रत्युत इस विषय में जानकारी प्राप्त करें कि पुण्याचरण धनवानों का कर्तव्य है या नहीं तथा यदि वह ऐसा न करे तो जीवन दूभर हो जाता है, अथवा हमको यह ख्याल

करना चाहिये कि यद्यपि रुग्ण-जीवन बढ़ईगीरी एवं अन्य शिल्पों में मन को एकाग्रतापूर्वक लगाने में बाधक है, तथापि फोकिलिदेस के बचन पालन के मार्ग में विघ्नस्वरूप नहीं है।"

उसने कहा, "ईश्वर की सौगन्द, सचमुच ऐसा ही है। सामान्य व्यायाम से परे जो शरीर को आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया जाता है यह सबसे बड़ा विघ्न है। क्योंकि घरगृहस्थी के धन्धों में, सामरिक नौकरी में तथा बैठ कर करने योग्य कार्यों में यह अत्यन्त कष्टकर है।"

"पर सबसे बुरी बात तो यह है यह सब प्रकार के अध्ययन एवं चिन्तन तथा आन्तरिक मनन के मार्ग में बड़ी दुःखदायी बाधा है, इसके कारण नित्य शिरःपीड़ा और चक्कर आने की आशंका बनी रहती है और रोगी दर्शन के अध्ययन को इसका कारण बतलाता है। अतः जहाँ तक पुण्याचरण का अभ्यास किया जाता है और बौद्धिक अध्ययन से उसका परीक्षण किया जाता है यह स्थिति अड़चन ही सिद्ध होती है। क्योंकि इसके कारण व्यक्ति अपने को सर्वदा रोगी ही ख्याल किया करता है और शरीर के विषय में दुःखी अथवा चिन्तित होने से विरत नहीं होता।"

उसने कहा, "बिल्कुल स्वाभाविक बात है।"

"तब क्या हम यह नहीं कहेंगे की नीतिविद् आस्क्लेपियस् ने यह सब जान कर ही अपनी आरोग्यकला का प्रकाशन ऐसे मनुष्यों के लाभार्थ किया था जिनकी शरीर दशा प्रकृत्या तथा जीवनक्रमेण बिगड़ी न हो और जिनको कोई एक देशीय रोग हो, तथा वह उनके रोगों को ओषधि एवं छुरे के प्रयोग से बिना उनके नित्य के जीवन में कोई रुकावट डाले हुए दूर कर देता था, जिससे उनके नागरिक कर्त्तव्यों के पालन में कोई अड़चन न पड़े। पर जब कि किसी का शरीर पूर्णतया बाहर भीतर सर्वत्र रोगी हो जाता था तो वह उस व्यक्ति के दीनदुःखी अस्तित्व को विरेचन एवं अन्तःस्नान द्वारा प्रलम्बमान करने का तथा बहुत अधिक संभव-

तथा अपनी सी ही दुःखी सन्तान उत्पन्न कराने का उद्योग नहीं करता था। परन्तु यदि कोई मनुष्य अपने नियत कर्तव्यवृत्त का पालन करते हुए जीवित रहने के अयोग्य होता था तो वह उसका उपचार करना उचित नहीं समझता था क्योंकि ऐसा व्यक्ति न तो अपने ही किसी काम का होता है और न राष्ट्र के ही।"

उसने कहा, "तब तो तुम आस्क्लेपियस् को महान् नीतिविद् सिद्ध कर रहे हो।"

मैंने कहा, "यह तो स्पष्ट ही है; उसका चरित्र ऐसा ही था। अतः क्या तुमने नहीं देखा कि उसके पुत्रों ने अपने को ट्रॉय के युद्ध में शूरवीर सिद्ध किया और औषधि का प्रयोग वैसा ही किया जैसा कि मैंने वर्णन किया है? क्या तुम्हें याद नहीं रहा कि जब मेनेलाउस् को पाण्डरास् ने क्षतविक्षत कर दिया तो उन्होंने "घाव के रक्त को चूस कर तापहारी ओषधियाँ उस पर छिड़क दीं।" परन्तु उसके उपरान्त उसको क्या खाना तथा पीना चाहिये इसको उन्होंने उसकी बार इसी प्रकार नियत नहीं किया जिस प्रकार यूरीपिलास् की बार भी नियत नहीं किया था, क्योंकि वे यह जानते थे कि जो मनुष्य घाव लगने के पूर्व स्वस्थ तथा खानपान में नियमित रहे हैं वह केवल ओषधियों से ही नीरोग हो जायेंगे, फिर चाहे वे सम्प्रति झोल ही क्यों न पियें; परन्तु जो व्यक्ति मज्जागत रोगी होते थे और जिनका जीवन अनियमित होता था उनका जीवन उनकी दृष्टि में न तो उनके लिये लाभप्रद था और न दूसरों के लिये एवं वैद्यककला ऐसे व्यक्तियों के लिये नहीं थी और ऐसे लोग चाहे मिदास से भी अधिक धनवान क्यों न हो उनकी समझ में उनका वैद्योपचार नहीं किया जाना चाहिये।"

वह बोला, "तुम्हारे वर्णनानुसार तो यह आस्क्लेपियस् बड़े विलक्षण व्यक्ति थे।"

१६——मैंने कहा, "उनका ऐसा होना उचित ही है। एवं तिस पर भी त्रागेदी लेखक और पिण्डर हमारे सिद्धान्तों के विरुद्ध यह कहते हैं कि यद्यपि आस्क्लेपियस अपौले का पुत्र था तथापि एक मुमूर्षु को जीवन-प्रदान करने के लिये उसको स्वर्ण की घूंस दी गयी थी एवं इस कारण उस पर बिजली गिरी थी। किन्तु हम तो पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही कथनों में विश्वास नहीं करना चाहते, पर यदि वह देवपुत्र था तो वह लोलुप नहीं होना चाहिये और यदि वह लालची था तो वह देवपुत्र नहीं हो सकता।"

उसने कहा, "यह सब तो निश्चय ही सत्य है। परन्तु, सॉक्रातीस् इस विषय में तुम्हें क्या कहना है? क्या हमको अपने नगर में अच्छे वैद्य नहीं रखने चाहिये? एवं सर्व श्रेष्ठ वैद्य होना उन्हीं के लिये अधिक संभव है जिन्होंने स्वस्थ एवं रोगी दोनों प्रकार के व्यक्तियों का सबसे अधिक संख्या में उपचार किया है; तथा इसी प्रकार श्रेष्ठ न्यायाधीश वह होंगे जो सब प्रकार के एवं सब दशाओं के मनुष्यों के सम्पर्क में आते रहे हैं।"

मैंने उत्तर दिया, "यह पूर्णतया निश्चित है कि मैं चाहता हूँ कि वे अच्छे हों। पर क्या तुम जानते हो कि मैं किनको अच्छा समझता हूँ?"

वह बोला, "यदि तुम मुझे बतलाओगे तो मैं जान जाऊँगा।"

मैंने कहा, "मैं ऐसा करने का यत्न करूँगा; तथापि तुमने एक ही प्रश्न में दो असदृश् अवस्थाओं का उल्लेख किया है।"

वह बोला, "सो कैसे?"

मैंने उत्तर दिया, "यह तो सत्य है कि वैद्य तो तभी अत्यन्त चतुर बन सकेंगे कि जब बाल्यकाल से ही अपनी कला के सिद्धान्तों को सीखने के साथ ही साथ उन्होंने अपने को अत्यन्तरुग्ण शरीरों से सबसे अधिक संख्या में परिचित किया हो और जब कि उन्होंने स्वयं व्यक्तिगत रूप में प्रत्येक रोग को भोगा हो तथा अतएव अत्यन्त स्वस्थ शरीर न हों। क्योंकि,

मेरा ख़्याल है कि वैद्य का शरीर तो अन्य शरीरों का उपचार करता नहीं—यदि ऐसा होता तो उनके शरीर को कुदशा को प्राप्त होने अथवा कुदशा में रहने नहीं दिया जाता—बल्कि वे तो अपने मस्तिष्क से दूसरों का उपचार करते हैं, एवं जो मस्तिष्क विकृत है अथवा विकृत रहा है वह चतुरतापूर्वक किसी का उपचार नहीं कर सकता।"

उसने कहा, "ठीक है।"

"परन्तु प्रियमित्र, न्यायाधीश तो मस्तिष्क द्वारा मस्तिष्क का शासन करता है अतः उसको छोटी अवस्था से ही दूषित मस्तिष्कों के सहवास में पोषित होने की छूट नहीं होनी चाहिये और न उसको उनकी संगत में रहना चाहिये जिससे कि उसे दूसरों के अपराधों का अपने निजी अनुभव से शीघ्रतापूर्वक अनुमान करने के लिये सारे अपराधमण्डल और अन्याय की अपने अनुभव में ही दौड़ न लगानी पड़े, जैसा कि शारीरिक विकारों के संबंध में विहित हो सकता है; इसके प्रतिकूल यदि किसी मस्तिष्क को वास्तव में शुचि, भला और उचित न्याय करने के योग्य होना हो तो युवावस्था में उसको दुःस्वभावों का अनुभवी तथा उनके विकारों से अछूता होना चाहिये। और यही कारण है कि भले आदमी अपनी युवावस्था में क्यों इतने सीधे होते हैं तथा दुष्टों की प्रवंचना के क्यों इतनी सरलता से शिकार बन जाते है, क्योंकि उनके अपने स्वभाव में तो दुष्टपुरुषों के से मनोभावों के उदाहरण होते नहीं।"

वह बोला, "हाँ, वास्तव में वे बहुत कुछ प्रवंचित होने योग्य होते हैं।"

मैंने कहा, "अतः अच्छा न्यायाधीश युवा नहीं वृद्ध होना चाहिये; उसको बुराई की पहिचान अपनी आत्मा के अन्तर्गत गुण के रूप में नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसको उसका अनुभव अन्य जीवों में एक विजातीय वस्तु के रूप में सुदीर्घ काल के निरीक्षण के उपरान्त अपने जीवन में पर्याप्त देर से होना चाहिये, तथा यह कितनी बुरी वस्तु है इत्यादि ज्ञान उसको

ज्ञान के पथप्रदर्शन द्वारा होना चाहिये न कि निजी अनुभव द्वारा ।"

उसने कहा, "ऐसा व्यक्ति तो आदर्श न्यायाधीश प्रतीत होता है ।"

मैंने कहा, "और जो इससे भी बढ़ कर बात है वह यह कि वह अच्छा न्यायाधीश भी होगा, और यही प्रस्तुत प्रश्न का सार है । क्योंकि जिसकी आत्मा नेक होती है वह नेक व्यक्ति होता है । परन्तु वह चालाक व्यक्ति जो कि बुराई की चट से आशंका करने लगता है, जिसने स्वयं अनेकों दुष्कृत्य किये हैं तथा जो अपने को दक्ष और जानकार गिनता है, जब तक आत्मसदृश व्यक्तियों की संगति में रहता है तो आश्चर्यजनक सावधानी और चालाकी प्रदर्शित करता है क्योंकि उसकी दृष्टि अपनी आन्तरिक बुराई के अनुभवों के उदाहरणों से नेतृत्व पाती है । परन्तु जब उसको पुण्यवान वृद्धों के संसर्ग का अवसर प्राप्त होता है तो, वह निरा बुद्धू प्रतीत होने लगता है । वह अनवसर शंकाशील बना रहता है तथा शुद्धाचरण वाले व्यक्ति को नहीं पहचान सकता क्योंकि स्वयं उसके अपने अन्तर में कोई तदनुरूप उदाहरण ही नहीं होता । परन्तु क्योंकि प्राय: उसका सम्पर्क भलेमानसों की अपेक्षा बुरे लोगों से अधिक होता है अत: वह अपने आपको तथा दूसरों को मूर्ख होने की अपेक्षा चतुर ही कहीं अधिक प्रतीत होता है ।

वह बोला, "यह बात बिलकुल सच है ।"

१७—मैंने कहा, "तब तो इस प्रकार का मनुष्य अच्छे और बुद्धिमान न्यायाधीश का आदर्श नहीं होना चाहिये प्रत्युत पूर्वोक्त व्यक्ति होना चाहिये । क्योंकि बुराई तो कदापि अपने आपको एवं सद्वृत्ति दोनों को नहीं जान सकती, पर सद्वृत्तिपूर्ण स्वभाव शिक्षा द्वारा अन्ततोगत्वा कुछ समय में अपने आप का तथा बुराई का दोनों का ही ज्ञान प्राप्त कर लेगा । अत: मेरी सम्मति में तो सद्वृत्तिपूर्ण मनुष्य ही बुद्धिमान सिद्ध होगा न कि दुर्वृत्त व्यक्ति ।"

वह बोला, "मैं तुमसे सहमत हूँ ।"

"तो क्या तुम अपने नगर में विधान के अनुसार हमारे द्वारा वर्णित वैद्यक कला को इस प्रकार के न्याय के साथ साथ स्थापित नहीं करोगे ? तथा यह कलाएँ तुम्हारे नगर के केवल ऐसे पुरुषों के ही शरीरों और आत्माओं का ध्यान रक्खेंगी जो वास्तव में सर्वथा स्वस्थ एवं सुजात हैं; परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, अर्थात् जो शरीर में दूषित हैं उनको वे मर जाने देंगी एवं जो दुष्ट हैं तथा जिनकी आत्मा का उपचार असंभव है, उनको वे स्वयं मार डालेंगी ।"

उसने कहा, "निश्चय ही यह बात (उपाय) रोगियों एवं राष्ट्र दोनों के ही लिये सर्वोत्तम सिद्ध किया जा चुका है ।"

मैंने कहा, "अतः यह स्पष्ट है हमारे युवागण केवल उस संगीत का उपयोग करते हुए जो कि आत्मसंयम को जन्म देता है, अपने को ऐसी स्थितियों में पड़ने से बचायेंगे जिनसे न्यायालय के न्याय की आवश्यकता उत्पन्न होती है ।"

वह बोला, "और क्या ?"

"तथा क्या संगीतज्ञ यदि चाहें तो व्यायाम में भी उसी मार्ग पर चलते हुए ऐसी स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता कि उसको, अनिवार्य अवसरों को छोड़ कर औषधियों की आवश्यकता ही न पड़े ?"

"क्यों नहीं, मैं भी ऐसा ही समझता हूँ ।"

"एवं व्यायाम के अभ्यास तथा श्रम को भी वह अपनी स्वभावगत स्फूर्ति को उत्तेजित करने के लिये स्वीकार करेगा न कि केवल बल के लिये, अन्य सामान्य मल्लों की भाँति वह व्यायाम तथा भोजन का उपयोग केवल पुट्ठों की पुष्टि के लिये ही नहीं करेगा ।"

उसने कहा, 'परम सत्य है ।"

मैं बोला, "तो ग्लौकोन, क्या हम यह नहीं कह सकते कि जिन लोगों न संगीत और व्यायाम की शिक्षा की संस्थापना की थी, उनकी दृष्टि में वह उद्देश्य नहीं था जो कि कुछ लोग इस संस्थापना के कारण उन पर

आरोपित करते हैं—अर्थात् एक के द्वारा शरीर का उपचार करना तथा दूसरे के द्वारा आत्मा का ?"

उसने कहा, "तो फिर और क्या उद्देश्य था ?"

मैंने कहा, "अधिक उचित तो स्यात् यह लगता है कि उन्होंने दोनों को मुख्यतया आत्मा के ही संस्कार के लिये स्थापित किया था।"

"सो किस प्रकार ?"

मैंने कहा, "क्या तुमने आजीवन व्यायाम की एकान्त संगीतशून्य लगन का स्वयं मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है (अथवा इसके प्रतिकूल एकान्त संगीताभ्यास का क्या प्रभाव होता है,) इसका निरीक्षण नहीं किया है ?"

उसने कहा, "आपका तात्पर्य किस विषय के संबंध में है ?"

मैंने उत्तर दिया, "पाशविकता तथा कठोरता के संबंध में अथवा तद्विपरीत मृदुलता एवं विनम्रता के संबन्ध में।"

वह बोला, "मैंने यह देखा है कि व्यायाम के एकान्त भक्त आवश्यकता से अधिक पाशविक कठोरता से युक्त हो जाते हैं तथा संगीत के एकान्त भक्त इतने अधिक मृदुल हो जाते हैं जितना मृदुल होना उनके लिये हितकर नहीं है।"

मैंने कहा, "और यह पाशविकता, निश्चय ही हमारे स्वभाव के स्फूर्ति मूलक-तत्त्व (रजस्) से निःसृत होती है, और यह तत्त्व सुशिक्षित होने पर धीर वीर बन जाता है, परन्तु यदि इसको आवश्यकता से अधिक ताना जायगा तो स्वाभाविकया कठोर और पशुतुल्य हो जायगा।"

उसने कहा, "मैं भी ऐसा ही ख्याल करता हूँ।"

"और फिर, क्या मृदुलता दार्शनिक स्वभाव से उत्पन्न होन वाला गुण नहीं है ?' तथा इस गुण को भी यदि मर्यादा से अधिक ढील दी जाय तो क्या यह इतना कोमल नहीं हो जायगा कि जितना वाञ्छनीय नहीं

है, परन्तु यदि इसको ठीक शिक्षा दी जाय तो क्या यह विनम्र और व्वास्थित नहीं रहेगा ?"

"ऐसा ही है।"

"परन्तु हमारा कहना तो यह है कि हमारे रक्षकों में दोनों प्रकार के स्वभावों का होना इष्ट है।"

"सो तो है ही।"

"और क्या इन दोनों स्वभावों में सुसंगति नहीं होनी चाहिये ?"

"क्यों नहीं ?"

"तथा इस प्रकार संगत आत्मा संयत और वीर होती है न ?"

"अवश्यमेव।"

"तथा कुसंगत आत्मा कायर एवं असंस्कृत होती है। क्यों ?"

"बिल्कुल ठीक।"

१८—अतएव जब कोई मनुष्य अपने को पूर्णतया संगीत के प्रवाह में बहने देता है तथा उसको मानो कर्णनालिका के मार्ग से उन सुमधुर, सुकुमार एवं करुण स्वरलहरियों को अपनी आत्मा में उँडेलने देता है जिनके विषय में हम अभी चर्चा कर रहे थे, एवं अपने समग्र जीवन-काल को गायन के ही गुंजन और आमोदप्रमोद को अर्पित कर देता है, तो प्रथम परिणाम तो यह होता है कि यदि उसकी आत्मा में स्फूर्ति तत्त्व हो तो वह लोहे के समान मृदुल होकर उपयोगी बन जाता है, अनुपयोगी एवं तुनुकस्वभाव नहीं रह जाता। परन्तु यदि वह संगीत से मंत्र-मुग्ध हो उसके अभ्यास को अविरत भाव से सतत चालू रखता है तो प्रभाव यह होने लगता है कि वह पिघल कर द्रवित होने लगता है, यहाँ तक कि उसकी आत्मा की स्फूर्ति बिल्कुल क्षीण हो जाती है, और वह अपने को "दुर्बल योद्धा' बना लेता है, मानों उसने अपनी आत्मा की स्नायु ही काट डाली हों।"

उसने कहा, ,'बिलकुल ठीक।"

मैंने कहा, ,'और यदि आरंभ से ही उसकी आत्मा स्फूर्ति शून्य होती ह तो वह अत्यन्त शीघ्रता से इस परिणाम तक पहुँच जाता है; परन्तु यदि उसका स्वभाव स्फूर्त्तिपूर्ण होता है तो स्फूर्त्ति के निर्बल होते जाने से उसका स्वभाव अस्थिर हो उठता है, तनिक सी उत्तेजना से वह तत्काल झूंझला जाता है और फिर उतनी ही शीघ्रता से शान्त हो जाता है। परिणाम यह होता है कि ऐसे व्यक्ति स्फूर्त्तिपूर्ण होने के स्थान पर चिड़ चिड़े और क्रोधी हो जाते हैं तथा झूंझलाए और असंतुष्ट रहते हैं।"

"बिलकुल ऐसा ही है।"

"अच्छा, और दूसरी ओर, यदि कोई मनुष्य व्यायाम के लिये खूब परिश्रम करता है और छक कर भोजन करता है तथा संगीत और दर्शन शास्त्र से कोई नाता नहीं रखता, तो क्या आरंभ में वह पूर्वापेक्षा खूब स्वस्थ दर्पपूर्ण तथा स्फूर्तिपूर्ण एवं अधिक बलवान और साहसी नहीं हो जाता ?"

"हाँ, ऐसा ही हो जाता है।"

"परन्तु यदि कलादेवी से बिलकुल कोई सम्पर्क न रख कर वह एकान्त भाव से केवल यही करता रहे तो कैसा परिणाम होगा ? यही परिणाम होगा न, कि यदि आरंभ में उसकी आत्मा में ज्ञान के प्रेम का कुछ तत्त्व रहा भी हो, तो क्योंकि उसको शिक्षा तथा अनुसंधान का आस्वादन नहीं मिलता एवं वह किसी विवेचन या संस्कृति के अन्य किसी प्रकार में भाग नहीं लेता अतः वह दुर्बल' बहरा और अन्धा हो जाता है क्योंकि उसको न तो उत्तेजना या पोषण ही प्राप्त होता है और न उसकी दृक्शक्ति का शोधन अथवा संजीवन ही होता है ?"

वह बोला, "सच है।"

"और मैं तो समझता हूँ कि ऐसा आदमी कलाज्ञानानभिज्ञ एवं विवेक द्वेषी हो जाता है। वह वाणी द्वारा समझाने बुझाने का उपयोग न करके

रूपरेखा का ही अनुसरण करेंगे अतः उनको खोज निकालने में अब आगे कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।"

उसने कहा, "स्यात्, कोई कठिनाई नहीं होगी।"

मैंने कहा, 'बहुत अच्छा, अब इसके उपरान्त हमको अन्य क्या विषय निर्धारित करना है? क्या यही विषय तो नहीं है कि इस प्रकार शिक्षित व्यक्तियों में से कौन से शासक होंगे तथा कौन से शासित ?"

"निश्चयेन यही विषय है।"

"इतना तो स्पष्ट ही है कि शासक होने चाहिये अधिक अवस्था वाले एवं शासित कम अवस्था वाले।"

"स्पष्ट है।"

"तथा शासक उनके मध्य में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य होने चाहिये।"

"यह भी स्पष्ट है।"

"और क्या कृषकों में से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति श्रेष्ठ कृषक ही नहीं होते ?"

"हाँ।"

"और प्रस्तुत प्रकरण में, क्योंकि हम रक्षकों में से श्रेष्ठ व्यक्तियों को चाहते हैं, क्या वे श्रेष्ठ रक्षक ही नहीं होंगे, जो कि राष्ट्र के विषय में सबसे अधिक ध्यान रखते हैं ?"

"हाँ।"

"तब तो उनको इस प्रयोजन के लिये सर्व प्रथम बुद्धिमान और योग्य तथा इसके अतिरिक्त राष्ट्र के हित के विषय में सावधान होना चाहिये न ?"

"अवश्य होना चाहिये।"

परन्तु किसी व्यक्ति का उसी वस्तु के विषय में सबसे अधिक साव-धान होना संभव है जिसको वह प्रेम करता है।"

"अवश्यमेव।"

"और फिर, किसी भी व्यक्ति का उसी वस्तु को प्रेम करना सबसे अधिक संभव है जिसके हित उसके अपने हितों के साथ अभिन्न होते हैं तथा जिसके विषय में उसका यह विचार होता है कि यदि इसकी समृद्धि हुई तो मेरी भी होगी और न हुई तो विपरीत परिणाम होगा (मेरी भी समृद्धि न होगी)।"

उसने कहा, "ऐसा ही है।"

"तब तो हमको रक्षकों के मध्य में से ऐसे व्यक्तियों को चुन लेना चाहिये जो हमारे निरीक्षण के अनुसार अपने समग्र जीवन में वही कार्य करने के लिये उत्सुकतापूर्वक प्रवृत्त हुए प्रतीत हों जिसको कि वे राष्ट्र के लिये हितकर समझते हैं तथा जिनका इसके प्रतिकूल कार्य करने के लिये सम्मत होना सबसे कम संभव है।"

उसने कहा, "हाँ, यही उपयुक्त व्यक्ति होंगे।

"तो मैं ख्याल करता हूँ कि हमको उनके जीवन की प्रत्येक अवस्था में उन पर, यह देखने के लिये दृष्टि रखनी होगी कि वे इसी दृढ़ आस्था को बनाये रखने वाले रक्षक हैं (या नहीं) तथा जादू अथवा बल प्रयोग के द्वारा यह विश्वास अनजाने में कदापि उनकी आत्मा से बहिष्कृत नहीं करवाया जा सकता कि उनको वही काम करना चाहिये जो राष्ट्र के लिये सबसे अधिक अच्छा है।"

उसने कहा, "बहिष्कार करने से तुम्हारा तात्पर्य क्या है?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं तुमको बतलाऊँगा। मुझे ऐसा लगता है कि किसी विश्वास का मस्तिष्क से निकल जाना या तो संकल्पपूर्वक होता है या बिना संकल्प के। वितथ विश्वास तब संकल्पपूर्वक मस्तिष्क से निकल जाता है जब कि उसका धारण करने वाला उससे अधिक अच्छा विश्वास सीख लेता है; असंकल्पपूर्वक निकलना तो प्रत्येक ही सत्य विश्वास का होता है।"

वह कहने लगा, "संकल्पपूर्वक बहिष्कार का अर्थ तो मैं समझ गया

परन्तु असंकल्पपूर्वक बहिष्कार का अर्थ अभी मुझे सीखना है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो यह बतलाओ कि तुम इस बात में भी मुझसे सहमत हो या नहीं कि मनुष्य अच्छी वस्तुओं से तो अनिच्छापूर्वक (असंकल्प पूर्वक) वंचित किये जाते हैं और बुरी वस्तुओं से स्वेच्छापूर्वक? अथवा क्या सत्य के संबंध में वंचित होना बुरी बात तथा सत्य को धारण करना अच्छी बात नहीं है? और क्या तुम्हारी समझ में वस्तुस्थिति के अनुरूप सम्मति रखना ही सत्य को धारण करना है या नहीं?"

वह बोला, "हाँ, तुम ठीक कहते हो, तथा मैं इस विषय में तुमसे सहमत हूँ कि मनुष्य सच्ची सम्मति से अनिच्छापूर्वक ही वंचित किये जाते हैं।"

"और क्या उनके विषय में ऐसा चोरी से, जादू से या बल प्रयोग द्वारा ही घटित नहीं होता?"

उसने कहा, "मैं अब भी नहीं समझ सका।"

मैंने कहा, "मुझे ऐसी आशंका होती है कि मैं त्रागेदी की सी रहस्यपूर्ण भाषा में बात कर रहा हूँ। जिन मनुष्यों की सम्मतियों का अपहरण कर लिया जाता है ऐसे मनुष्यों के उल्लेख करने से मेरा तात्पर्य उन मनुष्यों से है कि जो या तो समझाने बुझाने के द्वारा अपनी सम्मति बदल देते हैं अथवा उसको भुला देते हैं, क्योंकि प्रथम स्थिति में युक्ति और दूसरी में समय छिपकर उनकी सम्मति का अपहरण कर ले जाता है। मैं ख्याल करता हूँ कि अब तो तुम समझ गये होगे, क्यों?"

"हाँ।"

"अच्छा, और जो विवशता के कारण अथवा बल प्रयोग के कारण ऐसा करते हैं, उनसे मेरा तात्पर्य ऐसे मनुष्यों से है जिनको किसी प्रकार की पीड़ा अथवा यंत्रणा अपनी सम्मति बदलने के लिये विवश कर देती है।"

"यह भी मैं समझ गया और आप का कथन बिलकुल ठीक है।"

"और मुझे विश्वास है कि इन्द्रजाल के वशीभूत मनुष्य तो, तुम समझ ही गये होगे, वे व्यक्ति हैं जो कि सुख के जादू से अथवा भयाक्रान्त होने से अपनी सम्मति बदल देते हैं।"

उसने कहा, "हाँ, प्रत्येक वंचित करने वाली वस्तु मस्तिष्क के ऊपर जादू सा प्रभाव डालती प्रतीत होती है।"

२०—"अच्छा तो, जैसा मैं अभी कह रहा था, हमको यह खोज करनी चाहिये कि वे कौन से श्रेष्ठ संरक्षक हैं कि जिनका आन्तरिक विश्वास यह है कि उनका कर्तव्य वही है जिसको वे सर्वदा राष्ट्र का श्रेष्ठ हित समझते हैं। हमको उन्हें लड़कपन के समय से ही देखरेख में रखना चाहिये, तथा उनसे ऐसे कार्य करवाने चाहिये कि जिनमें किसी के भी लिये इस सिद्धान्त को भूल जाने अथवा वंचित किये जाने की सबसे अधिक संभावना है, और इस परीक्षण के उपरान्त हमको उस व्यक्ति को चुन लेना चाहिये जिसकी स्मृति अचूक हो तथा जिसको बहकाया न जा सके और शेष सब जो इस परीक्षण में असफल हों हमारी सूची में से निकाल दिये जाने चाहिये। क्यों ऐसा ही है न ?"

"हाँ।"

"और, फिर हमको उन्हें कष्टकर कार्य, पीड़ा और प्रतिस्पर्द्धा में डालना चाहिये जिनमें हमको पुनः इन्हीं चरित्रगुणों के प्रकाशन पर दृष्टि रखनी चाहिये।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक।"

मैंने कहा, "तब, क्या हमको, इन्द्रजाल संबन्धी तीसरा प्रतिस्पर्द्धात्मक परीक्षण कर उसमें उनका निरीक्षण नहीं करना चाहिये कि उनका व्यवहार कैसा होता है ? जिस प्रकार मनुष्य घोड़ों के बछड़ों को गुलगपाड़े और तुमुलनादों में यह जाँच करने के लिये ले जाते हैं कि वे डर जाते हैं या नहीं, ठीक इसी प्रकार इन लड़कों को भी उनकी छोटी अवस्था

में ही पहले भयों में डालना चाहिये और फिर आनन्दोपभोगों में एवं, जिस प्रकार मनुष्य सोने की अग्निपरीक्षा करते हैं उससे भी अधिक सावधानी एवं पूर्णता से उनका परीक्षण कर यह देख लेना चाहिये कि वह जादू से अछूता रहता है और सर्वदा अपनी शान्ति को बनाये रखता है या नहीं, एवं तत्तत् अवस्थाओं में अपने जीवन की सच्ची लय एवं सुसंगति को तथा उस चरित्र को, जो कि उसको अपने लिये और राष्ट्र के लिये परमोपयोगी बनाने वाला है, बनाये रख कर अपने को अपने आप का तथा उस संस्कृति का सच्चा संरक्षक सिद्ध करता है या नहीं । और जो कोई भी बाल्यावस्था, कुमारावस्था एवं पुरुषावस्था में सब परीक्षणों को सहन कर उनसे अक्षत पार हो जाता है उसको हमको अपने नगर के ऊपर शासक और रक्षक के रूप में स्थापित करना चाहिये, उसके जीवन-काल में उसको पारितोषिक मिलने चाहिये एवं उसकी मृत्यु होने पर उसको अन्त्येष्टि संस्कार का सर्वोच्च सत्कार एवं अन्य स्मारक सम्मान प्राप्त होने चाहिये । परन्तु अन्य प्रकार के चरित्र वालों को हमको परित्याग कर देना चाहिये ।" (इसके उपरान्त) मैंने कहा "हे ग्लौकोन, मुझे तो रक्षकों तथा शासकों के निर्वाचन एवं नियुक्ति की सामान्य धारणा इस प्रकार की सूझ पड़ती है और वह पूर्ण विवरण के साथ नहीं, रूपरेखा मात्र में प्रस्तुत की गयी है ।"

उसने कहा, "तथा मैं भी बहुत कुछ ऐसा ही ख्याल करता हूँ ।"

"तो क्या यह सर्वोपरि उचित बात नहीं होगी, कि इस उच्च वर्ग को रक्षक के नाम से पूर्णार्थ में अभिहित किया जाय, क्योंकि वे बाहर के शत्रुओं और भीतर के मित्रों दोनों पर दृष्टि रक्खेंगे जिससे कि शत्रु कोई हानि करने में एवं मित्र कोई हानि चाहने में समर्थ न हो सकें; तथा उन युवकों को, जिनको हम अब तक रक्षक कह रहे थे, रक्षकों तथा शासकों की आज्ञाओं को पूर्ण करने वाले होने के नाते उनके 'सहायक' कहा जाय ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं भी यही समझता हूँ ।"

२१—मैंने कहा, "पर अब यह तो बतलाओ कि हम उन अवसरोपयोगी असत्यों में से, जिनका हम अभी कुछ समय पूर्व उल्लेख कर रहे थे, एक असत्य की योजना किस प्रकार से करें कि एक उदार कल्पना से, यदि हो सके तो स्वयं शासकों तक को, और नहीं तो कम से कम शेष नगर को तो प्रतीत किया ही जा सके ?"

उसने कहा, "तुम्हारा प्रयोजन किस प्रकार के असत्य से है ?"

मैंने उत्तर दिया, "कोई अभूतपूर्व नवीन बात नहीं, प्रत्युत मेरा अभिप्राय वर्णित कथाओं के ढंग की कथाओं से हैं जिनमें वर्णित घटनाएँ अब से पहले दुनिया के अनेकों प्रदेशों में घटित हो चुकी हैं (जैसा कि कवियों के कहने पर दुनिया के लोगों ने मान लिया है) परन्तु जैसा न तो हमारे समय में घटित ही हुआ है और न घटित होना संभव ही है, तथा जिसको प्रतीति योग्य बनाने के लिये अनल्प प्रबोधन की आवश्यकता होगी।"

वह बोला, "तुम तो विचारों को प्रकट करने में संकोचशील व्यक्तियों का सा व्यवहार कर रहे हो।"

मैंने कहा, "जब मैं कह चुकूँगा तो तुम समझ जाओगे कि मेरी झिझक उचित एवं सकारण है।"

वह बोला, "साहस के साथ निर्भयतापूर्वक कह भी डालो।"

"बहुत अच्छा, लो अब कहूँगा ही। यद्यपि वास्तव में मुझको यह नहीं जान पड़ता यह सब कहने की धृष्टता अथवा शब्द मैं कैसे प्राप्त कर सकूंगा तथा प्रथमतः स्वयं शासकों एवं सैनिकों को एवं द्वितीयतः (तदुपरान्त) शेष नागरिकों यह समझाने का कार्य शिरोधार्य कर सकूंगा कि सच तो यह है कि हमारे द्वारा सम्पादित उनका समग्र शिक्षण एवं अध्यापन स्वप्नदृष्ट घटनाओं के सदृश कल्पित मात्र था; वास्तव में तो वे उस समय स्वयं भूमि के गर्भ में निर्मित एवं संवर्द्धित हो रहे थे जब कि उनके शस्त्रास्त्र और अन्य उपादान प्रस्तुत किये जा रहे थे। जब उनका निर्माण पूरा

हो चुका तो उनकी जननी धरती ने उनको प्रसव किया और धरातल के ऊपर प्रकट कर दिया, अतः अब मानो उनकी मातृभूमि ही उनकी माता और धात्री है ऐसा मान कर उनको उसका ध्यान रखना चाहिये, सब आक्रमणों से उसकी रक्षा करनी चाहिये तथा अन्य नागरिकों को अपना भाई एवं उसी माता की सन्तान समझना चाहिये।"

उसने कहा, "इस असत्य कथा को कहने में जो तुम लजा रहे थे सो अकारण बात नहीं थी।"

मैंने कहा, "मेरा लज्जित होना बिलकुल स्वाभाविक था, पर फिर भी शेष को सुन लो न। हम अपनी कहानी में कहेंगे कि यद्यपि सारे नगर निवासी भाई भाई हैं, तथापि तुम में से जो शासन कार्य के योग्य हैं, ईश्वर ने उनके प्रजनन में सुवर्ण का पुट दिया है जिस हेतु वे सर्वोच्च मूल्यवान हैं; परन्तु सहायकों के प्रजनन में उसने चाँदी का तथा कृषकों एवं अन्य शिल्पियों में लोहे तथा पीतल का पुट दिया है। और क्योंकि तुम सजातीय हो अतएव, यद्यपि अधिकांश में तो तुम्हारी सन्तान तुम्हारे अनुरूप ही होंगी, तथापि कभी ऐसा होना संभव है कि स्वर्णिक-पिता के रजतपुत्र उत्पन्न हो जाय और स्वर्णिक पुत्र रजतपिता से उत्पादित हो जाय और अन्य प्रकार की सन्तानें भी इसी प्रकार अन्याय नागरिकों से उत्पन्न हों। इसलिये ईश्वर की शासकों के लिये प्रथम और प्रमुख आज्ञा यह है कि न तो उनको अन्य किसी बात का इतना सावधान रक्षक होना चाहिये और न अन्य किसी बात का इतना तन्मयतापूर्ण निरीक्षक होना चाहिये जितना अपनी सन्तान की आत्माओं में धातुसम्मिश्रण का; और यदि उनकी श्रेणी में ऐसे पुत्र उत्पन्न हों जिनमें पीतल और लोहे का मिश्रण हो तो वे उनके प्रति व्यवहार में किसी प्रकार करुणा को स्थान नहीं देंगे, बल्कि उनमें से प्रत्येक के लिये उसके स्वभावानुरूप स्थान प्रदान करेंगे तथा उनको शिल्पकारों अथवा कृषकों के वर्ग में निक्षिप्त कर देंगे।

तथा फिर यदि इन निम्नवर्गों में कोई ऐसा लड़का उत्पन्न हो जिस की स्वभाव-संघटना में अप्रत्याशित स्वर्ण या रजत पाया जाय तो वे उसका सम्मान करेंगे और ऊँचा उठने का आदेश करेंगे किसी को रक्षक का पद प्रदान करेंगे एवं अन्य किसी को सहायक का। (इसके समाधान में वे कहेंगे) कि एक देववाणी ने कहा है कि जब पीतल या लोहे के मनुष्य राज्य पर शासन करेंगे तो राज्य विध्वस्त हो जायेगा। क्या तुमको कोई ऐसा उपाय सूझ पड़ता है कि जिससे हम उनको इस कथा का विश्वास करा सकें ?"

उसने कहा, "नहीं, इन लोगों को स्वयं तो विश्वास नहीं कराया जा सकता परन्तु उनके पुत्रों, पुत्रों के पुत्रों एवं भावी पीढ़ियों को इस कथा पर विश्वास करना सिखलाया जा सकता है, ऐसा मेरा ख्याल है।"

मैंने कहा "अच्छा, उनको राष्ट्र के प्रति एवं परस्पर एक दूसरे के प्रति अधिक सावधान बनाने में इतनी बात का भी अच्छा प्रभाव पड़ सकता है, क्योंकि मैं तुम्हारे अभिप्राय को समझ गया हूँ।"

२२—"अच्छा अब इस कथा को तो जनश्रुति की परम्परा को सौंप देना चाहिये। पर अब इन भूपुत्रों को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित करके, हमको, इन्हें इनके शासकों के नेतृत्व में ले चलना चाहिये। जब वे नगर में पहुँच जाएँ तो उनको अपने शिविर की स्थापना के लिये नगर में सर्वश्रेष्ठ स्थान खोज लेना चाहिये—जहाँ से कि वे नगर के भीतरी विधान-विरोधी विद्रोहों को दबा सकें, तथा रेवड़ पर होने वाले भेड़ियों के आक्रमण के समान बाह्य आक्रमणों का भी निरसन कर सकें। जब अपनी छावनी स्थापित कर चुकें और उचित देवताओं को बलिप्रदान कर चुकें तब उनको अपनी माँदें बनानी चाहिये। क्यों ठीक है न ?"

उसने कहा, "ठीक है।"

"और यह (उनकी माँदें) ऐसे प्रकार की होनी चाहिये कि जो जाड़ों में ठंडक को दूर रख सकें तथा गरमियों के लिये भी समुचित हों ?"

उसने कहा, "अवश्य। मैं अनुमान करता हूँ कि आप उनके आवास गृहों की चर्चा कर रहे हैं।

मैं बोला, "हाँ; परन्तु मेरा अभिप्राय योद्धाओं के निवास स्थान से है न कि धनोपार्जकों के।"

उसने कहा, "इस से आप क्या भेद सूचित करना चाहते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं इसको समझाने का प्रयत्न करूँगा। निश्चय ही गड़रियों के लिये यह दुनियाँ भर में सबसे अधिक घोररूप और लज्जा-स्पद बात होगी कि वे अपनी भेड़ों की रक्षा के लिये ऐसे कुत्तों को इस प्रकार पालें कि वे अनुशासनाभाव, क्षुधा अथवा अन्य किसी बुरी आदत के कारण भेड़ों पर ही टूट पड़ें और उनको चोट पहुँचायें तथा कुत्तों की अपेक्षा भेड़ियों के तुल्य व्यवहार करें।"

उसने कहा, "यह तो सचमुच ही बड़ी अपरूप बात होगी।"

"तो क्या हमको, अपनी शक्ति भर प्रत्येक उपाय से, रक्षकों को जो अधिक बलवान हैं नागरिकों के प्रति इसी प्रकार व्यवहार करने से तथा अपने को मैत्रीपूर्ण एवं दयालु सहायकों के स्थान पर पाशविक स्वामियों में बदल जाने से नहीं रोकना चाहिये ?"

उसने कहा, "हाँ, हमको अवश्य यही करना चाहिये।"

"और यदि उनकी शिक्षा वास्तव में अच्छी हो तो क्या यही उनको सर्वोत्तम सुरक्षा उपाय से युक्त करना नहीं होगा ?"

उसने कहा, "पर उनकी शिक्षा तो निश्चय ही अच्छी हो चुकी है।"

मैंने कहा, "प्रिय ग्लौकोन, मैं इस विषय में इतना आश्वस्त नहीं हूँ, परन्तु यह जो बात मैं अभी कह रहा था उतनी बात हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि यदि उनको वह गुण प्राप्त करना है जो कि उनको आपस में एक दूसरे के प्रति तथा अपने रक्षितों के प्रति विनम्र बना सके, तो उनकी

शिक्षा उचित प्रकार की होनी चाहिये, फिर इस शिक्षा का स्वरूप चाहे जो भी हो।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक है।"

"परन्तु कोई भी विचारशील मनुष्य यह भी कहेगा, कि उक्त प्रकार की शिक्षा के अतिरिक्त उनके निवास स्थान और उनको उपलब्ध कराई गयी अन्य सब वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो न तो उनके संरक्षक के कर्तव्यों के सर्वोत्तम परिपालन में बाधक हों और न उनको अन्य नागरिकों को सताने या उनका शोषण करने के लिये प्रेरित करें।"

"ऐसा कहना ठीक ही होगा।"

मैंने कहा, "तो, अब विचार करना चाहिये कि यदि उनका चरित्र मेरे उपर्युक्त कथन के अनुसार होना है, तो क्या निम्नलिखित योजना उनकी जीवनचर्या और निवासस्थानों के लिये उपयुक्त होगी अथवा नहीं। प्रथम तो, जितनी, कम से कम व्यक्तिगत सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है उससे अधिक सम्पत्ति उनमें से किसी को नहीं रखनी चाहिये। दूसरे, किसी के पास ऐसा घर अथवा भण्डार (कोष) नहीं होना चाहिये कि जो सब के स्वेच्छाप्रवेश के लिये नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोज्यादि सामग्री इतनी मात्रा में और ऐसी होनी चाहिये जो कि संयमी एवं साहसी योद्धा भटों के लिये उपयुक्त हों, एवं यह उनको अन्य नागरिकों से सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित प्रकार से उनकी संरक्षता की वृत्ति के रूप में इतनी मात्रा में मिल जानी चाहिये कि न तो वर्ष के अन्त में आवश्यकता से बच रहे और न कमी ही पड़े। युद्ध शिविर में रहने वाले योद्धाओं के समान उनका भोजन एवं रहना एकत्र होना चाहिये। रही सोने चाँदी की बात, सो इसके विषय में हम उनसे कहेंगे कि दिव्य-प्रकार का स्वर्ण और रजत तो उनको देवताओं से (ईश्वर से) नित्य ही अपनी आत्मा के भीतर प्राप्त है अतः उनको मर्त्यलोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता नहीं

है, तथा उनकी पवित्रता की अपनी दैवी-सम्पद के साथ मर्त्यलोक की धातु का मिश्रण कर उसको अमेध्य बनाना सहन नहीं होना चाहिये; क्योंकि उनकी अन्तरात्मा में विद्यमान धातु तो है पूर्णतया शुद्ध एवं सांसारिक व्यवहार में आने वाले सिक्कों के कारण तो असंख्यों पाप हो चुके हैं। सारे नगरनिवासियों में केवल इन्हीं के लिये सोने चाँदी को हाथ में लेना अथवा स्पर्श करना, या उनके साथ एकत्र एक छत के नीचे रहना, या आभरणों के रूप में उनको अपने अंगों में धारण करना, अथवा सोने चाँदी के पात्रों का पीने के लिये उपयोग करना, अवैध होगा। इस प्रकार रहते हुए वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर की भी। परन्तु जब कभी वे अपनी भूमि और घर और धन उपार्जित कर लेंगे तो वे रक्षक न रह कर गृहस्थ तथा कृषक बन जायेंगे, तथा अपने अन्य नागरिक जनों के सहायक बने रहने की अपेक्षा उन पर द्वेषपूर्ण अत्याचार करने वाले प्रभु हो जायेंगे। उनके जीवन के सारे दिन, नागरिकों से घृणा करने में और उनके द्वारा घृणा किये जाने में, उनके विरुद्ध कुचक्र रचने में तथा उनके द्वारा कुचक्र के पात्र बनने में, तथा बाह्य वैदेशिक शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं के ही भय से बहुधा एवं घने त्रस्त रहने में ही बीतेंगे और इस प्रकार अन्त में भी वह अपने तथा राष्ट्र के निकट सर्वनाश का ही मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे।

मैंने कहा, "इन्हीं सब कारणों से तो हमको यह घोषित कर देना चाहिये कि हमारे रक्षकों के रहने के तथा अन्य बातों के संबन्ध में हमारा यही प्रबन्ध होगा तथा हमको ऐसा ही विधान भी बनाना चाहिये। क्या हम ऐसा न करें?"

ग्लौकोन बोला, "हाँ, हमको सर्वथा ऐसा ही करना चाहिये।"

चतुर्थ पुस्तक

१—और अदेइमान्तास् ने बीच में यह प्रश्न छेड़ दिया, "यदि कोई यह आपत्ति करे कि तुम इन मनुष्यों को कोई बहुत सुखी तो नहीं बना रहे हो—तथा अपनी इस असुखपूर्ण दशा के कारण भी स्वयं वे ही हैं—तो सॉक्रातीस् तुम इसका क्या उत्तर दोगे ? क्योंकि यद्यपि नगर वास्तव में है तो उनकी ही सम्पत्ति तथापि उनको उससे किसी आनन्द की प्राप्ति नहीं होती जैसी कि अन्य साधारण मनुष्यों को भूभ्यधिकार से, विशाल सुन्दर भवनों के निर्माण से, उनको समुचित उपस्कारों द्वारा सज्जित करने से, व्यक्तिगत यजनों द्वारा देवताओं की अनुकूलता प्राप्त करने से, अतिथि अभ्यागतों के सत्कार एवं सोने, चाँदी और अन्य उन सब वस्तुओं के अधिकार से (जिनका तुम उल्लेख कर रहे थे तथा जो सौख्य की आशा रखने वाले मनुष्य द्वारा व्यवहारसिद्ध समझी जाती हैं) होती हैं। कोई भी कह सकता है कि वे तो नगर में बिलकुल किराये के सैनिकों के समान निट्ठले बैठे रहने के लिये नियुक्त किये गये प्रतीत होते हैं, जिनको पहरे-दारी करने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं हैं।

मैंने कहा, "हाँ, इतना ही क्यों, तुम चाहो तो इसमें इतना और जोड़ सकते हो कि वे केवल भोजनभृति पर चाकरी करते हैं एवं उनको अन्य नौकरों के समान भोजन के अतिरिक्त कुछ भी वेतन नहीं मिलता जिससे कि यदि उनकी इच्छा हो तो वे अपने व्यक्तिगत रूप में यात्रा भी नहीं कर सकते, अपनी प्रेयसियों को उपहार नहीं दे सकते, और न सुखी समझे जाने वाले अन्य मनुष्यों के समान, स्वेच्छानुसार अन्य दिशाओं में धन व्यय कर सकते हैं। यह तथा इसी प्रकार की अन्य भी कई एक दोषगणनाओं को तुमने इस अभियोगारोपण में छोड़ दिया है।"

उसने कहा, "अच्छा, तो इन सब बातों को भी दोषारोपण में सम्मिलित समझ लिया जाय ।"

"तुम यह पूछते हो कि हमारा उत्तर क्या होगा ?"

"हाँ ।"

"मेरा विचार है कि यदि हम उसी पूर्वोक्त मार्ग पर चलें तो हमको यह पता चल जायेगा कि हमको क्या उत्तर देना चाहिये । क्योंकि हम यह उत्तर देंगे कि यद्यपि हमको इस बात से कोई आश्चर्य नहीं होगा कि इस प्रकार जीवन यापन करते हुए भी यह लोग सबसे अधिक सुखी हैं, तथापि नगर की स्थापना में हमारी दृष्टि जिस उद्देश्य पर लगी हुई थी वह किसी एक वर्ग का सर्वातिशायी सौख्य नहीं था, बल्कि समग्र नगर का अधिकतम सुख था । क्योंकि हमने सोचा था कि इस प्रकार सुशासित राष्ट्र में न्याय को उद्घाटित करना (खोज निकालना) हमारे लिये अधिक संभव है, यथा सबसे अधिक कुशासित राष्ट्र में अन्याय को खोज लेना, और जब हम इन दोनों को पृथक् पृथक् जान लेते तो हम उस प्रश्न का निर्णय कर सकते जिसका हम इतने अधिक समय से अनुसन्धान कर रहे हैं । संप्रति तो हम सुखी राष्ट्र का निर्माण करना अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं—ऐसा उसमें से एक वर्ग को पृथक् करके तथा उसके सुखी होने का प्रबन्ध करके नहीं करना है प्रत्युत सारे नगर को सुखी बना कर करना है । अभी अभी हम उपर्युक्त राष्ट्र के प्रतिकूल लक्षणों वाले राष्ट्र के विषय में विचार करेंगे । यह तो ऐसी बात हुई कि मानों हम किसी मूर्त्ति में रँग भर रहे हों और कोई आकर हमको दोष लगाते हुए कहे कि हमने सबसे सुन्दर रंग मूर्त्ति के सबसे सुन्दर अंग में नहीं लगाया, क्योंकि नेत्र सबसे सुन्दर अंग होने पर भी बैंगनी नहीं काले रँगे गये हैं—तो हम तो इस पर यही उत्तर देना न्यायोचित समझेंगे "अनोखे मित्र, हमसे यह आशा मत करो कि हम आँखों में ऐसा अच्छा रँग भरेंगे कि वे बिलकुल भी आँखों जैसी

प्रतीत नहीं होंगी और न अन्य अंगों के विषय में ही हम ऐसा करेंगे, बल्कि तुमको तो यह देखना चाहिये कि हम प्रत्येक अंग को उसके लिये उचित रंग देकर समग्र मूर्त्ति को सुन्दर बना देते हैं या नहीं।" इसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भी तुम हमको रक्षकों को ऐसे सुख से संलग्न करने को विवश मत करो जो उनको रक्षक के अतिरिक्त चाहे अन्य कुछ भी बना देगा। क्योंकि इसी प्रकार हम कृषकों को राजसी वस्त्रों से विभूषित और स्वर्णाभरणों से अलंकृत करके उनको स्वेच्छापूर्वक खेती करने का आदेश कर सकते हैं, और कुम्हारों को कोमल शय्याओं पर लिटा कर अंगीठी के समाने चैन से मदिरा पीते हुए और दावतें उड़ाते हुए, जब उनका मन चाहे तब वहीं अपना चक्र लेकर बर्त्तन बनाने की सुविधा दे सकते हैं, तथा इसी प्रकार हम अन्य वर्गों को भी सुखी कर सकते हैं जिससे कि इस प्रकार सारा नगर सुखी हो सके। पर हमको ऐसा करने को प्रेरित मत करो, क्योंकि इस अनुमति को मान लेने पर किसान, किसान नहीं रहेगा और कुम्हार, कुम्हार नहीं रहेगा और न राष्ट्र के अंगीभूत अन्य वर्ग ही अपने स्वरूप को बनाये रक्खेंगे। फिर भी, अन्य वर्गों के विषय में तो यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है; क्योंकि मोचियों में अक्षमता, पतन, वास्तविक योग्यता के स्थान पर दिखावा इत्यादि होना राष्ट्र के लिये भयावह नहीं हैं; परन्तु जब विधान और राष्ट्र के रक्षक, केवल दिखावे के रक्षक रह जायें वास्तविक रक्षक न रहें, तो मैं कहूँगा कि तुम इस बात को लिख लो कि वे समग्र राष्ट्र को उलटपुलट कर देंगे, एवं दूसरी ओर राष्ट्र को सुशासन एवं सुख प्रदान करने की भी सामर्थ्य उन्हीं में है। तो जब कि हमारा उद्देश्य सच्चे रक्षक निर्माण करना है जिनकी राष्ट्र को हानि पहुँचाने की बहुत कम संभावना है, तब यदि प्रतिवादी ऐसे वर्ग की कल्पना करे कि जो किसान हों तथा उत्सव में खानपान में मस्त हों स्वकर्तव्य में दत्तचित्त नागरिक न हों, तब यही कहना होगा कि उसके मस्तिष्क में जो वस्तु है

वह राष्ट्र के अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तु है। तो विचार करना चाहिये कि क्या इन रक्षकों की नियुक्ति में हमारा लक्ष्य उनके लिये सर्वाधिक सुख की उपलब्धि कराना है, अथवा इस सबसे अधिक सुख के तत्त्व को समग्र राष्ट्र में विकसित हुआ देखना है; यदि ऐसा है तो इन सहायकों और रक्षकों को दबाव देना और समझाना चाहिये कि वे वही काम करें जो उनको अपने व्यवसाय का श्रेष्ठ शिल्पी बना सके, तथा और अन्य सब के विषय में भी यही बात लागू होनी चाहिये। और इस प्रकार, जब समग्र नगर समृद्ध और सुव्यवस्थित होगा तो प्रत्येक वर्ग को सुख के उस अंश को भोगने की छूट होगी जो कि प्रकृति ने उसको प्रदान किया है।"

२—उसने कहा, "मैं समझता हूँ कि तुम ठीक कहते हो।"

मैं बोला, "तो क्या तुम उपर्युक्त विषय से मिलते-जुलते एक अन्य विषय में भी मुझको युक्तियुक्त समझोगे ?"

"वह क्या विषय है ?"

"विचार करो कि अन्य शिल्पियों को भी भ्रष्ट करके निश्चित रूप से उनको बिगाड़ देने वाले कारण यही हैं या नहीं।"

"कौन से कारण।"

मैंने कहा, "धन और निर्धनता।"

"सो कैसे ?"

"ऐसे ! क्या तुम समझते हो कि धनवान हो जाने के पश्चात् कोई कुम्हार अपने काम में चित्त लगायेगा ?"

"अवश्य ही नहीं।"

"परन्तु क्या वह पूर्वापेक्षा अधिक आलसी और प्रमादी हो जायगा ?"

वह बोला, "बहुत अधिक।"

"तब तो वह अपेक्षाकृत बुरा कुम्हार हो गया न ?"

"बुरा भी बहुत अधिक।"

"और फिर दूसरी ओर, यदि निर्धनता के कारण वह अपने काम के यंत्रों और अपने शिल्प के लिये अन्य आवश्यक उपकरणों को जुटाने में असमर्थ रहता है तो उसके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ निम्नकोटि की होंगी तथा वह अपने पुत्रों अथवा शिष्यों को भी अपना शिल्प भली भाँति नहीं सिखा सकेगा।"

"अवश्य।"

"अतः, धन और निर्धनता इन दोनों ही कारणों से शिल्पों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का अपकर्ष होता है और शिल्पियों का भी गुणापकर्ष होता है ?"

"ऐसा ही प्रतीत होता है।"

"ऐसा मालूम पड़ता है कि यह बुराइयों के एक दूसरे समूह का पता चला जिन पर हमारे रक्षकों को कड़ी दृष्टि रखनी होगी, तथा वे बुराइयाँ अनजाने में नगर में प्रवेश न कर जायें इसके लिये भरसक यत्न करना होगा।"

"वे क्या हैं ?"

मैंने कहा, "मैंने कहा धन, और निर्धनता; क्योंकि इनमें से प्रथम, विलासिता, आलस्य नूतनाचारपरिवर्त्तन को उत्पन्न करता है तथा दूसरा अनुदारता, एवं नूतनाचारपरिवर्त्तन के साथ कुशिल्प का दोष उत्पन्न करता है।"

उसने कहा, "निश्चय ऐसा ही है। तथापि, सॉक्रातीस् इस विषय में एक बात अवश्य विचारणीय है कि यदि हमारे राष्ट्र के पास धन न हुआ तो वह युद्ध कैसे लड़ सकेगा, विशेष कर यदि उसको एक बड़े और सम्पत्ति-शाली राष्ट्र से युद्ध करने को विवश होना पड़ा तो।"

मैंने कहा, "यह तो स्पष्ट है कि ऐसे एक राष्ट्र से युद्ध करना किसी

कदर कठिन होगा, परन्तु दो से जूझना अधिक सरल होगा ।"

उसने पूछा, "सो कैसे ?"

मैंने कहा, "प्रथम तो यह बतलाओ कि यदि उनको लड़ना पड़ेगा तो क्या धनवान व्यक्तियों के विरुद्ध वे सुशिक्षित योद्धाओं के रूप में नहीं लड़ेंगे ?"

उसने कहा, "हाँ, यही बात है ।"

मैं बोला, "अदेईमान्तास्, अब तुम इस बात का उत्तर दो कि क्या तुम यह नहीं समझते कि एक घूंसेबाज़ जो कि अपनी कला में सुशिक्षित है ऐसे दो मोटे धनवान मनुष्यों से बड़ी सरलता से लड़ सकता है जो युद्ध-कला के विषय में कुछ नहीं जानते ?"

उसने कहा, "दोनों से एक साथ तो, स्यात् नहीं लड़ सकता ।"

मैंने कहा, "यदि वह भाग सके और फिर मुड़ कर अपने उस प्रतिद्वन्द्वी पर चोट करे जो आगे बढ़ कर आ गया हो और इसी प्रक्रिया को झुलसाने एवं दमघोटने वाली धूप में बार बार करे, तो क्या तब भी वह दो प्रतिद्वन्द्वियों से नहीं लड़ सकता ? क्या ऐसा योद्धा इस प्रकार के दो से भी अधिक प्रतिभटों को परास्त नहीं कर देगा ?"

वह बोला, "सचमुच ही, इसमें कोई अचरज की बात नहीं होगी ।"

"अच्छा, क्या तुम यह नहीं समझते कि धनवान व्यक्ति घुंसेबाज़ी के विज्ञान और कला को युद्ध की कला की अपेक्षा अधिक अच्छे प्रकार से जानते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो मैं सब समझता हूँ ।"

"तब तो इस बात की पूरी संभावना है कि हमारे योद्धा अपनी संख्या से दुगने अथवा तिगुने मनुष्यों से सरलता से लड़ सकेंगे ।"

वह बोला, "मैं तुम्हारी बात माने लेता हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि तुम ठीक कह रहे हो ।"

"अच्छा तो कल्पना करो कि वे दो सम्पन्न नगरों में से एक के पास दूत भेज कर यह कहलायें (जो सच्ची ही बात है) कि 'हम तो सोने चाँदी का कोई उपयोग नहीं करते और न हमारे यहाँ ऐसा करना विधान के अनुसार विहित ही है, परन्तु तुम लोगों में ऐसा नियम है, अतः तुम हम लोगों से मिल कर शत्रु की लूट का धन हस्तगत कर लो।' क्या तुम समझते हो कि ऐसा कहे जाने के पश्चात् भी कोई उन पतले दुबले किन्तु तगड़े शिकारी कुत्तों से मिल कर मोटी कोमल भेड़ों से लड़ने की अपेक्षा स्वयं उन्हीं से लड़ना पसन्द करेगा ?"

"मैं ख्याल करता हूँ कि ऐसा कोई नहीं करेगा। तथापि यह तो सोचिये कि अन्य सब नगरों की सम्पदा का एक ही नगर में संचित हो जाना क्या धनहीन राष्ट्र के लिये भय का कारण नहीं है ?"

मैंने कहा, "क्या ही सुन्दर है तुम्हारा भोलापन कि तुम कल्पना करते हो कि 'राष्ट्र' नाम औचित्यपूर्णतया किसी ऐसे जनसमूह को दिया जा सकता है जो कि हमारे द्वारा परिकल्प्यमान राष्ट्र से भिन्न है !"

उसने कहा, "क्यों, तो फिर क्या नाम प्रयोग करें ?"

मैंने कहा, "अन्य जन-समूहों के लिये तो किसी महती संज्ञा का प्रयोग होना चाहिये। क्योंकि, खेल की रीति के अनुसार, इन में से प्रत्येक एक नगरी नहीं, प्रत्युत नगरियों का समूह है। क्योंकि प्रत्येक नगरी में कम से कम दो नगरियाँ तो सभी अवस्थाओं में होती ही हैं—एक संपत्ति-शालियों की नगरी तथा दूसरी निर्धनों की—और इनमें से हर एक में भी कई एक नगरियाँ होती हैं। यदि तुम उनको एक नगरी मान कर उनके साथ व्यवहार करोगे तो तुम पूर्णतया लक्ष्यच्युत हो जाओगे, परन्तु यदि तुम उसको अनेक मान कर व्यवहार करोगे तथा एक एक वर्ग की सम्पदा अथवा शक्ति अथवा जन दूसरे वर्ग को प्रदान करोगे तो सर्वदा तुम्हारे थोड़े से शत्रु और बहुत से साथी बने रहेंगे। और जब तक तुम्हारी नगरी

संयमपूर्वक अभी वर्णन की गयी व्यवस्था के अनुसार शासित रहेगी, वह सब राष्ट्रों में श्रेष्ठ बनी रहेगी। मेरा तात्पर्य नाम की श्रेष्ठता से नहीं है, बल्कि वास्तविक श्रेष्ठता से है फिर चाहे उसके संरक्षकों की संख्या केवल एक हजार ही क्यों न हो। क्योंकि इस आकार प्रकार का दूसरा नगर, जो वास्तव में एक नगर कहा जा सके, तुमको न तो हैला जाति में मिलेगा और न बर्बरों में—हाँ नगर जैसी भासित होने वाली ऐसी नगरियाँ तथा आकार में कई गुनी नगरियाँ तुमको बहुत सी मिल जायेंगी। अथवा तुम्हारा विचार इससे भिन्न है ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, देव की शपथ नहीं।"

३—मैंने कहा, "क्या हमारे शासकों के लिये नगर के आकार तथा क्षेत्र के संबंध में यही सर्वश्रेष्ठ नियम और मानदण्ड नहीं होगा कि वे नगर के लिये इतना ही प्रदेश छेकें तथा अधिक की अपेक्षा न करें ?"

उसने पूछा, "कौन सा मानदण्ड ?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं समझता हूँ कि नगर को तब तक बढ़ते रहने देना चाहिये जब तक उसकी वृद्धि एकता को बनी रहने दे, पर इसके आगे नहीं।"

वह बोला, "बड़ा ही सुन्दर विचार है।"

"तो क्या हम अपने संरक्षकों को एक यह दूसरा आदेश भी नहीं करेंगे कि वे सर्वथा इस बात पर दृष्टि रक्खें और सतर्क रहें कि उनका नगर न तो बहुत छोटा हो और न केवल देखने में बड़ा हो बल्कि पर्याप्तता और एकता के गुण से युक्त हो।"

उसने कहा, "यह आज्ञा तो, स्यात्, उनके लिये अत्यन्त सरल होगी।"

मैंने कहा, "और स्यात् इससे भी सरल एक यह है, जिसकी ओर हमने पहले संकेत कर दिया है जब कि हमने यह कहा था कि यदि संरक्षकों के मध्य कोई हीन संतान उत्पन्न हो तो उसको अन्य वर्गों में भेज देना चाहिये,

एवं इसी प्रकार यदि अन्य वर्गों में उत्तम सन्तान उत्पन्न हो तो उसको संरक्षकों के मध्य में भुक्त कर लेना चाहिये। और इस सब का तात्पर्य यह था कि अन्य नागरिक जन भी तत्तत्कार्यों में नियुक्त किये जाने चाहियें जो उनके स्वभावानुरूप हों, जिससे कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए अनेक न बन सके, एक ही बना रहे, और इसी प्रकार समग्र नगर एक बना रहे अनेक न हो जाये।"

उसने कहा, "हाँ, यह पूर्वकथित नियम से भी सरलतर है।"

मैंने कहा, "भद्र अदेईमान्तास्, यह नियम, जैसा कि स्यात् कोई कल्पना करे, जो कि हम उन पर लागू कर रहे हैं बहुसंख्यक और कठिन नहीं हैं; परन्तु वे सभी बड़े सरल हैं, यदि वे लोकोक्ति के अनुसार एक महान् वस्तु को सुरक्षित रख सकें—अथवा महान् के स्थान पर हम उसको पर्याप्त भी कह सकते हैं।"

उसने पूछा, "वह कौन सी बात है ?"

मैंने उत्तर दिया, "उनकी शिक्षा और पोषण। क्योंकि यदि सुशिक्षा से वे विवेकपूर्ण मनुष्य बना दिये जाते हैं तो वह बड़ी सुगमता से इन सब बातों और इनके अतिरिक्त अन्य बातों का भी स्वयं पता लगा लेंगे जिनको हम इस समय छोड़े देते हैं—यथा, स्त्रियों पर अधिकार, विवाह, तथा प्रजोत्पादन इत्यादि—जिन सब विषयों में उनको यथासाध्य उस लोकोक्ति के अनुसार आचरण करना चाहिये जो यह कहती है कि मित्रों के मध्य में सब वस्तुओं पर सबका समान अधिकार होता है।"

उसने कहा, "हाँ, यह सर्वोत्तम मार्ग है।"

मैंने कहा, "और इसके अतिरिक्त यदि कोई राष्ट्र एक बार सुचारु रूप से चल पड़ता है, तो फिर वह मानों चक्राकार गति से अपने विकास पथ पर अग्रसर होता रहता है। मेरा तात्पर्य यह है कि स्वस्थ पोषण और सुशिक्षा के चालू रहने पर राष्ट्र में सत्स्वभावों की सृष्टि होती है

और सत्स्वभाव सुशिक्षा की सहायता पाकर पूर्वापेक्षा और भी अच्छे हो जाते हैं, अन्य गुणों के साथ ही साथ उनके प्रजोत्पादन के गुण भी सुधर जाते हैं, जैसा कि पशुओं में भी देखा जाता है ।"

उसने कहा, "यह बिलकुल संभव है ।"

मैंने कहा, "संक्षेप में कह सकते हैं कि हमारे राष्ट्र के अध्यक्षों को चाहिये कि वे इस सिद्धान्त से चिपटे रहें तथा इस बात पर दृष्टि रक्खें कि कहीं अनजाने में यह सिद्धान्त विकृत न हो जाये । उनको संगीत और व्यायाम के क्षेत्र में नवीनता के विरुद्ध सर्वदा दत्तदृष्टि रहना चाहिये कि कहीं पुरातन व्यवस्थित परिपाटी बदल न जाये और अपनी शक्ति भर परिवर्त्तन से उनको बचाना चाहिये । एवं जब कोई यह कहे कि मनुष्य तो उस गीत का सब से अधिक समादर करते हैं "जो कि गायकों के अधरों पर नया नया मँडराता है, "तो उनको सशंक हो उठना चाहिये कि कहीं यह तो कल्पना नहीं किया जा रहा है कि कवि का तात्पर्य नवीन गीत नहीं प्रत्युत नवीन प्रकार का गीत है, एवं वह इसी की प्रशंसा कर रहा है । परन्तु हमको ऐसी बातों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये और न कवि के अर्थ की इस प्रकार धारणा करनी चाहिये । क्योंकि संगीत के प्रकार का परिवर्त्तन समग्र राष्ट्र को विनाशभय में डालने वाली बात के समान सावधानी से देखा जाना चाहिये । कारण यह है कि संगीत के प्रकार को अव्यवस्थित करने पर राजनीतिक और सामाजिक विधान परम्परा के मूलभूत नियम बिना अव्यवस्थित हुए नहीं रहते; ऐसा दामौन का कहना है और मुझे इसका विश्वास है ।"

अदेइमान्तास् ने कहा, "मुझे भी इस सिद्धान्त में विश्वास करने वालों की सूची में सम्मिलित कर लीजिये ।"

४—मैंने कहा, "तब तो जैसा कि मालूम पड़ता है, हमारे संरक्षकों को इस संगीत भूमि में अपना कोट निर्माण करना चाहिये ।"

उसने कहा, "हाँ, इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता ही तो बड़ी सरलता से अनदेखे में छिपकर अन्तःप्रविष्ट हो जाती है ।"

मैंने कहा, "हाँ, क्योंकि यह समझ लिया जाता है कि यह तो केवल एक प्रकार का मनोरंजन है और इससे कोई हानि नहीं होगी ।"

उसने कहा, "और इसके अतिरिक्त यह कोई हानि भी नहीं पहुँचाता कि शनैः शनैः छन कर यह मानव के अन्तर में घर कर लेता है और अज्ञात भाव से मनुष्यों के आचरण और प्रवृत्तियों पर छा जाता है तथा परिवर्द्धित होकर वहाँ से आगे बढ़ कर व्यापार संबंधी ठहरावों पर आक्रमण करता है और, हे सॉक्रातीस् ठहरावों से आगे बढ़ कर परिपूर्ण उच्छृङ्खलता के साथ नियमों और व्यवस्थाओं पर टूट पड़ता है, यहाँ तक कि अन्त में यह सभी सार्वजनिक और व्यक्तिगत वस्तुओं को उलट पलट कर डालता है ।"

मैंने कहा, "अच्छा, क्या ऐसी बात है ?"

उसने कहा, "मेरा विचार तो ऐसा ही है ।"

"तब तो जैसा कि हम आरंभ में कह रहे थे, हमारे नवयुवकों को बिलकुल आरंभ से ही विधानानुसारी मनोरंजनों में ही सम्मिलित होना चाहिये, क्योंकि यदि मनोरंजन विधानप्रतिकूल हों और हमारे नवयुवक भी उन्हीं का अनुसरण करें तो यह असंभव होगा कि वे बड़े होकर गंभीर स्वभाव वाले सदाचारी एवं नियमभक्त आत्मावाले मनुष्य बन सकें ।"

उसने कहा, "निःसन्देह ।"

"और इसी प्रकार हम यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि यदि बालक अपने प्रारंभिक मनोरंजन और खेलों में, संगीत द्वारा नियम और व्यवस्था की भावना से ओतप्रोत हो जाते हैं तो पूर्वोक्त कल्पना के विपरीत परिणाम घटित होता है —यह भावना सर्वदा उनके साथ उपस्थित रहती है और उनके विकास को संवर्द्धित करती है तथा प्रतिकूल प्रकार के राष्ट्र में जो

कुछ उलटपुलट हुई थी उसका उद्धार कर उसको फिर से सुस्थापित कर देती है ।"

उसने कहा, "वास्तव में सच्ची बात है ।"

"तब ऐसे मनुष्य स्वयं ही उन सामान्य तथा तुच्छ से प्रतीत होने वाले नियमों का आविष्कार कर लेते हैं जिनको (उनके पूर्ववर्त्ती) पूर्वोक्त मनुष्यों ने पूर्णतया लुप्त कर दिया था ।"

"तुम्हारा तात्पर्य किन नियमों से है ?"

"मेरा अभिप्राय इस प्रकार के नियमों से है—अपने गुरुजनों की उपस्थिति में नवयुवकों का शिष्ट मौन रखना, उनको आसन देना तथा उनके समक्ष खड़ा होना; माता-पिता की कर्तव्योचित सेवा करना, केशों, कपड़ों और जूतों की उचित साजसज्जा और ढंग, और सामान्यतया शरीर और इसी प्रकार की अन्य प्रत्येक वस्तु का ठीक व्यवहार । क्या तुम्हारा भी विचार ऐसा ही नहीं है ?"

"ऐसा ही है ।"

"तथापि इन सब बातों को विधान का रूप देना, मेरी समझ में मूर्खता होगी । मेरा विश्वास है कि ऐसा कभी नहीं किया जाता । क्योंकि ऐसे नियम माने नहीं जाते, और न इस प्रकार के नाम मात्र में विहित तथा कागज पर लिखे कानून स्थायी ही हो सकते हैं ।"

"कैसे हो सकते हैं ?"

मैंने कहा, "अदेईमान्तास्, कुछ भी हो, शिक्षा के द्वारा प्रदान किया हुआ झुकाव मनुष्य के भावी जीवन का नियंत्रण करेगा । क्या समान वस्तुएँ सर्वदा अपने समान वस्तुओं को आकृष्ट नहीं किया करतीं ?"

"निश्चय ही करती हैं ।"

"तथा मेरी मान्यता है कि हम कह सकते हैं अन्तिम परिणति परिपूर्ण एवं ओजस्वी फल में होगी जो कि भला हो सकता है अथवा तद्विपरीत ।"

उसने कहा, "सो तो निश्चय ही है।"

मैंने कहा, "तब तो, जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं तो ऐसी (साधारण) बातों के विषय में नियम विधान करने का यत्न नहीं करूँगा।"

वह बोला, "ऐसा न करने के लिये तो अच्छे कारण हैं।"

मैंने कहा, "पर भगवान के नाम पर यह तो बतलाओ कि व्यापार संबंधी विषयों में, अर्थात् मण्डी में जो व्यापारी लोग व्यक्तिगत रूप में सौदे करते हैं उनके विषय में क्या हो—जिनमें यदि तुम चाहो तो निम्न विषय भी सम्मिलित किये जा सकते हैं—शिल्पियों के ठेके, अपशब्दों द्वारा अपमान, आघात पहुँचाना, क़ानूनी काररवाई का आरंभ, न्यायवादियों की (Juries) नियुक्ति, बाहर विदेश से आने वाले माल पर कर लगाने का प्रश्न, हाट और पत्तन के लिये आवश्यक होने के कारण लगाये गये करों को चुकाना या उगाहना, तथा सामान्यतया हाट, नगर एवं पत्तन संबन्धी नियम; क्या हमको इनके विषय में भी नियमविधान करने के लिये प्रस्तुत होना पड़ेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, मेरे ख्याल में नेक और सम्मानित व्यक्तियों के मत्थे नियमों को मढ़ना उचित नहीं है। क्योंकि बहुत से आवश्यक नियम तो, मैं समझता हूँ, वे स्वयं बिना किसी कठिनाई के खोज निकालेंगे।"

मैंने कहा, "हाँ, प्रिय मित्र, यदि भगवान ने उनको हमारे द्वारा अब तक विवेचित नियमों का पालन एवं रक्षण करने योग्य किया, तो ऐसा ही होगा।"

उसने कहा, "और यदि ऐसा न हुआ तो, परिपूर्णता को प्राप्त करने की आशा में वे लोग ऐसे छोटे-छोटे कानून बनाने में और उनका संशोधन करने में अपना सारा जीवन गँवा देंगे।"

मैंने कहा, "स्यात् तुम्हारा अभिप्राय यह है कि ऐसे नागरिकों का जीवन उन मनुष्यों के समान होगा कि जो रोगी तो हैं परन्तु असंयम के

कारण अपने अस्वास्थ्यकर आहारविहार का परित्याग नहीं कर सकते ।"

"नितान्त ऐसी ही बात है ।"

मैंने कहा, "हाँ, और इनका जीवन कैसा रमणीय होता है ! यह लोग नित्य ही वैद्यों से चिकित्सा कराते रहते हैं और फिर भी अपने रोगों को जटिल और परिवर्द्धित करने के अतिरिक्त उनको और कुछ लाभ प्राप्त नहीं होता । तथापि वे सर्वदा यही आशा लगाये रहते हैं कि कोई उनको ऐसी संजीवनी बूटी देगा जिससे उनको स्वास्थ्य की उपलब्धि हो जायेगी ।"

वह बोला, "यह तो ऐसे रोगियों की दशा का अविकल वर्णन है ।"

"और फिर, क्या यह भी परम मनोरम बात नहीं है कि वे उस मनुष्य को संसार भर में अपना सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं जो कि उनको सच्ची बात बतलाता है कि जब तक वे मदिरापान, पेटूपन, व्यभिचार और आलस्य को नहीं छोड़ेंगे तब तक न तो औषधियाँ, न दागना, न चीर फाड़ करना और न गण्डे और तावीज़ अथवा अन्य इसी प्रकार की कोई वस्तु उनको कोई लाभ पहुँचा सकेगी ?"

उसने कहा, "नहीं, यह तो कोई बड़ा मनोरम जीवन नहीं है, क्योंकि शुभ सम्मति देने वाले के प्रति कुपित होने में कौन-सी शोभनता अथवा रमणीयता है ।"

मैंने कहा, "तो तुम ऐसे मनुष्यों के प्रशंसक प्रतीत नहीं होते ।"

"राम कहो, मैं ऐसों का प्रशंसक नहीं हूँ ।"

५—"तब तो, जैसा कि हम अभी कह रहे थे, यदि सारा नगर इसी प्रकार का आचरण करे, तो उसको तुम्हारा अनुमोदन प्राप्त नहीं होगा । और क्या तुमको यह नहीं सूझ पड़ता कि उन नगरों का ढंग भी पूर्णतया इन रोगियों के सदृश है जो कि कुशासित होते हुए भी नगरनिवासियों को नगर की सामान्य विधान व्यवस्था से छेड़छाड़ न करने की चेतावनी देते हैं, तथा ऐसा करने वाले को मृत्यु दण्ड का भय दिखाते हैं—जब कि इसके

विपरीत जो कोई व्यक्ति उस कुशासित अवस्था में मीठा बन कर उनकी सेवा करता है, लल्लोचप्पो करके उनका कृपापात्र बन जाता है, जो उनकी इच्छाओं को पहले से ही भाँप कर चतुरता से उनको पूरा करता है, उसको वे भलामानस गिनते हैं, काम की बातों में उसको परम (विद्वान्) बुद्धिमान समझते हैं और ऐसे ही मनुष्य का सत्कार करने में उनको आनन्द प्राप्त होता है ?"

उसने कहा, "हाँ, यह राष्ट्र उन रोगियों के समान आचरण वाले हैं तथा मैं ऐसे आचरण का लेशमात्र भी अनुमोदन नहीं करता।"

"और फिर उनके विषय में क्या कहा जाय जो ऐसे नगरों की सेवा करने के लिये इच्छुक एवं उत्सुक हैं ? क्या तुम उनके साहस एवं लाघव-पूर्ण अनुत्तरदायित्व की प्रशंसा नहीं करते ?"

उसने कहा, "हाँ, प्रशंसा करता हूँ परन्तु उनकी नहीं जो कि वास्तव में धोखे में हैं तथा अपने को इसलिये सचमुच में राजनीतिज्ञ मानते हैं कि बहुत मनुष्यों द्वारा उनकी प्रशंसा की जाती है।"

"इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? क्या तुमको उनका बिलकुल ख्याल नहीं है ? क्या एक ऐसे मनुष्य के लिये, जो कि नापना नहीं जानता, यह सम्भव है कि जब उसके समान अज्ञानी मनुष्यों की भीड़ उसको यह विश्वास दिलाये कि वह चार हाथ ऊँचा है तो वह इस कथन की सत्यता का विश्वास न करे ?"

उसने कहा, "नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता।"

"तो फिर उन पर क्रुद्ध नहीं होना चाहिये; क्योंकि वास्तव में यह लोग दुनिया भर में सबसे अधिक आमोद प्रदान करने वाले हैं, जो यह कल्पना करते हैं कि वे अपने नित्य नियमविधान और संशोधनों के द्वारा (हमारे द्वारा अभी वर्णन किये गये विषयों पर) उन बेईमानियों को जो कि ठेकों में बरती जाती है; तथा उन झंझटों को जिनका हमने विवरण उपस्थित

किया है, दबा सकेंगे। उनको यह ज़रा नहीं सूझ पड़ता कि वे वास्तव में ह्यूड्रा के शीश काट रहे हैं।"

उसने कहा, "हाँ, वे सचमुच बिलकुल ऐसा ही कर रहे हैं।"

मैंने कहा, "तो मैंने तो इस बात की कल्पना तक न की होती कि किसी सच्चे कानून बनाने वाले को किसी सुशासित अथवा कुशासित राष्ट्र के विधान अथवा कानूनों में ऐसी बातों का हल निकालना चाहिये—क्योंकि एक (कुशासित राष्ट्र) में वे व्यर्थ हैं और उनसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता और दूसरे (सुशासित राष्ट्र) में ऐसे कुछ नियमों को कोई भी खोज कर निकाल सकता है और अन्य नियम पूर्वोक्त प्रवृत्तियों से स्वयमेव उत्पन्न हो जाएँगे।"

उसने पूछा, "अब क़ानून बनाने का और कौन सा अंश हमारे लिये शेष रह गया है?"

और मैंने उत्तर दिया, "हमारे लिये कुछ भी शेष नहीं रहा; पर डैल्फ़ी के अपॉलो के लिये, सबसे प्रधान, सबसे सुन्दर और सर्वोच्च क़ानून बनाने शेष हैं।"

उसने पूछा, "वे कौन से क़ानून हैं?"

"मन्दिरों की स्थापना, यज्ञ एवं देवताओं, दानवों और दिवंगत-वीरपुरुषों की पूजा के अन्य प्रकार; इसी प्रकार मृतकों का अग्निसंस्कार, परलोकवासियों को सानुकूल रखने के लिये अनुष्ठान इत्यादि। यह सब ऐसी बातें हैं जिनके विषय में हम स्वयं कुछ नहीं जानते, और यदि हम बुद्धि-मान हैं तो राष्ट्र की स्थापना में इस कार्य को किसी अन्य साधारण व्यक्ति को नहीं सौंपेंगे और न अपने पूर्वजों के देवता के अतिरिक्त अन्य किसी को इनका व्याख्याता ही मानेंगे। क्योंकि यही देवता ऐसे विषयों में समग्र मानव जाति के लिये उनके पूर्वजों के धर्म का व्याख्याता है, जो कि पृथ्वी के केन्द्र अथवा नाभि पर आसीन हुआ अपनी व्याख्या प्रदान करता रहता है।"

उसने कहा, "आप बिलकुल ठीक कहते हैं; तथा हमको यही करना चाहिये।"

६—"हे अरिस्तौन-सूनु ! अन्ततोगत्वा तुम्हारे नगर की स्थापना अब समाप्त हुई। अब जो अगला काम करने को है वह यह है कि कहीं से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त करके अपने भाई, पॉलीमार्कस तथा अन्य लोगों की सहायता लेकर, यदि किसी प्रकार सम्भव हो तो यह खोजने का प्रयत्न करो इसमें न्याय और अन्याय कहाँ उपलब्ध हो सकते हैं, उन दोनों में किस बात में अन्तर है, तथा सुखाकांक्षी मनुष्य को इन दोनों में से किसको स्वायत्त करना चाहिये, चाहे उसकी दशा सब मनुष्यों और देवताओं को विदित हो अथवा न हो।"

ग्लौकोन ने कहा, "बस कीजिये, यह निरर्थक प्रलाप बहुत हो चुका। यह स्वीकार करते हुए कि अपनी शक्तिभर प्रत्येक उपाय से न्याय की सहायता न करना तुम्हारे लिये पापकर्म होगा, तुमने स्वयं अपने आप अनुसंधान करने की प्रतिज्ञा की थी।"

मैंने कहा, "तुमने ठीक याद दिलाई; एवं मुझको ऐसा ही करना चाहिये, पर तुमको भी तो मेरी सहायता करनी चाहिये।"

उसने कहा, "सो तो करेंगे ही।"

मैंने कहा, "तब मैं तो यह आशा करता हूँ कि हम उसको इस प्रकार पा सकेंगे। मैं ख़्याल करता हूँ कि यदि हमारे नगर की स्थापना ठीक हुई है, तो वह 'अच्छे' शब्द के वास्तविक अर्थ में अच्छा नगर है।"

उसने कहा, "अवश्यमेव।"

"तब तो स्पष्ट ही वह बुद्धिमान, वीर, संयत और न्यायी नगर होगा।"

"स्पष्ट ही।"

"तब यदि इनमें से कोई गुण हमको उसमें मिल जायें तो शेष जो बचेगा

वह वही गुण होगा जो हमको नहीं मिला है । क्यों ?"

"निश्चयेन ।"

"अन्य किन्हीं चार वस्तुओं का उदाहरण ले लो । यदि हम उनमें से किसी एक को किसी वस्तु में खोजते हों और हमारे खोज की वस्तु हमको पहले ही मिल जाये तो यह हमारे लिये सन्तोषप्रद बात होगी, परन्तु यदि हम अन्य तीन को पहले पहचान पायें, तब तो हमारी खोज की वस्तु का पता हमको इसी प्रक्रिया से चल जायेगा, क्योंकि वह शेष वस्तु के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकती ।"

उसने कहा, "ठीक ।"

"और इसीलिये, क्योंकि यह भी चार हैं, हमको अपनी खोज इसी प्रकार नहीं चलानी चाहिये, क्या ?"

"स्पष्ट है ।"

"और, फिर सबसे पहला गुण जो कि मुझको इस राष्ट्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है बुद्धिमत्ता है, और मालूम पड़ता है कि इसमें एक अनोखापन है ।"

उसने पूछा, "वह क्या है ?"

"जिस राष्ट्र का हमने वर्णन किया है वह सचमुच में बुद्धिमान तो इस कारण है कि उसको अच्छी मंत्रणा प्राप्त है । ऐसा है न ?"

"हाँ ।"

"और यही गुण, अर्थात् अच्छी मंत्रणा, एक प्रकार की बुद्धिमत्ता है । क्योंकि मनुष्य बुद्धिमत्ता के सहारे ही अच्छी मंत्रणा देते हैं न कि अज्ञान की सहायता से ।"

"स्पष्ट है ।"

"पर नगर में बहुत से और बहुविध ज्ञान अथवा विज्ञान हैं ।"

"अवश्यमेव ।"

"तब क्या अपने बढ़इयों के ज्ञान के कारण नगर बुद्धिमान और सुमंत्रित कहलाता है ?"

कदापि नहीं। इसके कारण तो राष्ट्र को अच्छी बढ़ईगीरी का राष्ट्र कहा जा सकता।"

"तब तो काष्ठपात्रों के श्रेष्ठ निर्माण के विषय में विचार करने वाली विद्या को धारण करने के कारण राष्ट्र को बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता ?"

"निश्चय ही नहीं।"

"तब क्या पीतल के पात्रों की विद्या अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य विद्या के कारण ऐसा है ?"

उसने कहा, "नहीं, बिलकुल नहीं।"

"और न भूमि से अन्न उत्पन्न करने की विद्या के कारण ही ऐसा हो सकता है। इसके कारण तो उसका नाम कृषक राष्ट्र हो सकता है ?"

"मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।"

मैंने कहा, "अच्छा तो हमारे द्वारा नवस्थापित नगर में, उसके किन्हीं नागरिकों में पाया जाने वाला कोई ऐसा विज्ञान है जो नगर की किसी विशेष वस्तु के विषय में मंत्रणा न देकर नगरसमष्टि के विषय में तथा उस नगर एवं अन्य नगरों के संबंधों को ठीक रखने के विषय में मंत्रणा प्रदान करता है ?"

"हाँ, अवश्य है।"

मैंने पूछा, "वह कौन-सी विद्या है, और किनमें पायी जाती है ?"

"यह संरक्षण विज्ञान है अथवा शासन विज्ञान है और यह उन लोगों में पाया जा सकता है जिनको हमने अभी अभी परिपूर्ण अथवा श्रेष्ठ संरक्षक कह कर वर्णन किया है।"

"और इस ज्ञान के अधिकार के कारण जो नाम राष्ट्र को प्राप्त होत है वह क्या है ?"

उसने उत्तर दिया, "सुमंत्रणा-प्राप्त एवं सचमुच बुद्धिमान।"

मैंने प्रश्न किया, "तो तुम्हारे ख्याल में हमारे राष्ट्र में बहुसंख्यक वर्ग कौन-सा होगा, लोहारों का अथवा इन संरक्षकों का ?"

उसने उत्तर दिया, "लोहारों का वर्ग कहीं अधिक संख्या वाला होगा।"

"और क्या इन शासकों का वर्ग ही उन अन्य सब वर्गों में सबसे छोटा नहीं होगा जो कि विभिन्न प्रकार की विद्याएँ जानते हैं तथा विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं ?"

"बहुत अधिक छोटा।"

"तब तो अपने सबसे छोटे वर्ग के प्रभाव के कारण अर्थात् अपने छोटे से खंड के कारण और उस प्रमुख एवं शासनकर्ता अंश में रहने वाली विद्या के कारण, प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्थापित राष्ट्र सामग्रयेण बुद्धिमान कहा जाता है। तथा वह वर्ग जिसका अधिकार और कर्तव्य उस विज्ञान का भागी होना है जो कि विज्ञानों के मध्य बुद्धिमत्ता नाम का समुचित अधिकारी है, स्वाभाविकतया सारे राष्ट्र में नितान्त अल्पसंख्यक होता है, जैसा कि प्रतीत होता है।"

उसने कहा, "नितान्त सत्य।"

"तब इन चार गुणों में से एक को तो हमने न जाने किस प्रकार यह खोज कर निकाल लिया और यह भी पता चला लिया कि राष्ट्र में उसकी स्थिति कहाँ पर है।"

उसने कहा, "मेरी समझ में इसका पता संतोषप्रद रीति से चल गया।"

७—"और फिर साहसगुण को खोज निकालने में, जिसके कारण राष्ट्र वीर नाम का अधिकारी होता है, तथा यह कौन से वर्ग में रहता है यह पता चलाने में निश्चय ही कोई बड़ी कठिनाई नहीं हो सकती ?।"

"सो कैसे ?"

मैंने उत्तर दिया, "किसी नगर को वीर अथवा कायर बतलाने में

कौन अपनी दृष्टि को नगर के उस भाग को छोड़ कर अन्य भाग पर डालेगा. जो कि उसकी रक्षा करता है और उसकी लड़ाइयाँ लड़ता है ?"

उसने कहा, "कोई भी किसी अन्य वस्तु की ओर दृष्टिपात नहीं करेगा।"

मैंने कहा, "नहीं ! और मैं कल्पना करता हूँ कि ऐसा इस कारण है कि राष्ट्र की कायरता अथवा वीरता स्वयं अन्य वर्गों की कायरता अथवा वीरता से निर्धारित नहीं की जाती।"

"नहीं, निश्चय ही नहीं।"

"तथा वीरता भी किसी राष्ट्र में उसके एक जन विभाग के प्रभाव के कारण रहती है क्योंकि उस जनविभाग के अन्तर्गत उसके अधिकार में एक ऐसी शक्ति निवास करती है जो कि सब अवस्थाओं में यह विश्वास बनाये रखती है कि भय खाने योग्य वस्तुएँ ठीक वही हैं और ऐसी ही हैं जो कि क़ानून बनाने वाले ने अपनी शिक्षा में आदेश की हैं। जिसको तुम वीरता कहते हो क्या यह वही वस्तु नहीं है ?"

उसने उत्तर दिया, "आपने जो कहा मैं उसको भलीभाँति समझा नहीं। कृपया इसको एक बार फिर कहिये।"

मैंने कहा, "वीरता से मेरा तात्पर्य एक प्रकार के संरक्षण (क्षेम) से है।"

"किस प्रकार का संरक्षण ?"

"उस विश्वास का संरक्षण जो कि क़ानून ने शिक्षा द्वारा भय खाने योग्य वस्तुओं के विषय में सृजन किया है—अर्थात् क्या और कैसी वस्तुओं से भय खाना चाहिये। तथा, 'सब अवस्थाओं में, इस वाक्यांश से मेरा तात्पर्य यह है कि (वीर) पुरुष सुख, दुःख, इच्छा, आशंका इत्यादि सभी में इसको बनाये रखता है, कभी अपनी आत्मा से इस विश्वास को दूर

नहीं करता। और यदि तुमको अच्छा लगे तो मैं इसको एक उपमा से उदाहृत करूँगा।"

"मैं ऐसा चाहता हूँ।"

मैंने कहा, "यह तो तुम जानते हो कि जब रंगसाज़ ऊन को बढ़िया नीला समुद्री रंगना चाहते हैं तो वे पहले श्वेत रंग को चुन कर अपना कार्य आरंभ करते हैं तथा उसको बड़ी सावधानी से प्रारंभिक तैयारी देकर, (जिससे कि वह भली-भाँति रंग ग्रहण कर सके) तब कहीं उसको रंग में डुबकी देते हैं। एवं जो भी वस्तुएँ इस पद्धति से रंगी जाती हैं उनका रंग पक्का और अमिट होता है, तथा साबुन या बिना साबुन के धोने से भी उनके रंग की चमक और चटक नहीं जाती। और जब उस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता, तो चाहे कोई, बिना पूर्व तैयारी के यह रंग दे अथवा कोई दूसरा, जो परिणाम होता है वह तुम जानते ही हो।"

उसने कहा, "हाँ, मैं जानता हूँ कि वे उपहासास्पद तथा धुले हुए जैसे दिखलाई देते हैं।"

मैंने कहा, "इस उदाहरण से ही तुमको यह समझ लेना चाहिये कि जब हम अपनी सर्वोत्तम योग्यता के अनुसार अपने सैनिकों का चुनाव कर रहे थे तथा उनको संगीत एवं व्यायाम की शिक्षा दे रहे थे तो हमारा उद्देश्य क्या था। कल्पना करो कि हमारे उपायों का एकमात्र उद्देश्य था कि वे विश्वस्त हों तथा हमारे क़ानूनों को मानों रंग के समान ग्रहण कर सकें जिससे कि उनके उचित शिक्षण और पोषण के कारण भय खाने योग्य वस्तुओं एवं अन्य वस्तुओं के विषय में उनका विश्वास और आस्था पक्की और अमिट हो सकें और जिससे उनका रंग ऐसे साबुनों से धुल कर छुट न जाये, जिनमें कि हमारी आस्थाओं को उड़ा देने की परम भयावह शक्ति है—यथा सुख, जो कि किसी भी रंग को उड़ाने वाले पदार्थ की अपेक्षा ऐसा कार्य संपादन करने में अधिक क्षमता रखता है, तथा दुःख

और भय और कामना जो कि अन्य सब ऐसे पदार्थों से अधिक समर्थ हैं। अतः मनुष्य की आत्मा में स्थित यह जो, भयखाने योग्य और भय न खाने योग्य वस्तुओं के संबंध में उचित एवं वैध विश्वास का नित्य बना रहने वाला संरक्षण है इसी को मैं साहस (धैर्य) कहता हूँ और यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो तो ऐसा ही मानूँगा भी।"

उसने कहा, "नहीं, मुझे कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि मैं अनुमान करता हूँ कि इन्हीं विषयों के संबंध में बिना शिक्षण के उत्पन्न हुई उचित सम्मति को, जो कि पशु अथवा दास में दिखालाई दे सकती है, तुम क़ानून से कुछ भी संबन्ध न रखने वाली समझते होगे तथा तुम उसको साहस के अतिरिक्त कोई अन्य नाम से पुकारोगे।"

मैंने कहा, "बिलकुल सच बात है।"

उसने कहा, "अच्छा तो मैं साहस अथवा वीरता के तुम्हारे इस वर्णन को स्वीकार करता हूँ।"

मैंने कहा, "ऐसा करो तो सही, पर वीरता के साथ 'नागरिक की, इस विशेषण की रोक लगा कर, तब तुम्हारा कथन ठीक होगा। यदि तुम चाहो तो हम इस विषय का अधिक पूर्णता के साथ विवेचन करेंगे। इस समय तो हमारे अनुसंधान का विषय यह नहीं न्याय है, तथा मैं समझता हूँ कि उसके लिय साहस का इतना विवेचन पर्याप्त है।"

८—मैंने कहा, "अपने राष्ट्र में दो वस्तुएँ खोजना अब भी शेष हैं, एक संयम और दूसरे यह जो कि इस समग्र अनुसंधान का लक्ष्य है—अर्थात् न्याय।"

"बिलकुल ठीक।"

"अच्छा, क्या कोई ऐसा उपाय है कि जिसके द्वारा, हम संयम के विषय में अधिक झंझट में पड़े बिना न्याय को खोज कर निकाल सकें?"

उसने कहा, "जहाँ तक मेरा संबंध है मैं कोई उपाय नहीं जानता

और न मैं यह चाहता हूँ कि, यदि न्याय की खोज का अर्थ संयम का विवेचन छोड़ देना है, उसकी खोज पहले की जाय; अतः यदि आप मुझे सन्तुष्ट करना चाहते हैं तो उस (न्याय) के विवेचन के पूर्व इस (संयम) का विवेचन कीजिये।"

मैंने कहा, "ऐसा न चाहता तो निश्चय ही मेरे लिये अत्यन्त अनुचित होगा।"

वह बोला, "तो फिर मीमांसा आरंभ कीजिये।"

मैंने कहा, "अच्छा, ऐसा ही करूँगा। हमारे प्रस्तुत दृष्टिकोण से, अन्य गुणों की अपेक्षा संयम का स्वरूप समन्वय एवं अविरोध से अधिक सादृश्य रखता है।"

"कैसे ?"

मैंने उत्तर दिया, "मैं ख्याल करता हूँ कि संयम, कुछ भोगों एवं कामनाओं पर स्थापित किया जाने वाला शोभन नियमन और दमन है। हम लोगों को प्रायः यह वाक्यांश कहते सुना करते हैं कि अमुक मनुष्य "आत्मवशी" "आत्मसंयमी" है और यह वाक्यांश किसी न किसी अज्ञात प्रकार से यही अर्थ सूचित करता है। और भी कई अन्य वाक्यांश इसी प्रकार के हैं जिनमें इस अर्थ के चिह्न प्रतीत होते हैं। क्यों, ऐसा है या नहीं ?"

"बिलकुल निश्चय।"

"पर क्या "आत्मवशी" यह वाक्यांश निरर्थक नहीं है ? क्योंकि वह व्यक्ति जो अपने को वश में करने वाला है, वह अपने वश में रहने वाला भी होगा और जो वश में रहने वाला है वही वश में करने वाला भी होगा। क्योंकि इन सब वाक्याँशों का विषय एक ही व्यक्ति है।"

"निःसन्देह।"

मैंने कहा, "किन्तु इस प्रकार के कथन का अभीष्टार्थ मुझको तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की अन्तरत्मा में सत् और असत् दो प्रकार

की प्रवृत्तियाँ रहती हैं और 'आत्मवशित्व' के वाक्यांश का अभिप्राय असत्प्रवृत्तियों पर स्वाभाविकतया सत् प्रवृत्तियों का वश होना है। कुछ भी हो यह एक प्रशंसात्मक वाक्यांश है। परन्तु जब कुशिक्षण के परिणामस्वरूप अथवा साथी संगियों के प्रभाव से सत्प्रवृत्ति, जो कि छोटी होती है, बहुसंख्यक असत्प्रवृत्तियों से अभिभूत हो जाती है तब मैं ख्याल करता हूँ कि हमारी भाषा इसको बुरा मान कर इसकी निन्दा करती है और ऐसे दुर्गतिग्रस्त व्यक्ति को अवशी और व्यभिचारी इत्यादि नाम देती है।"

उसने कहा, "हाँ, यह संभव-सा अर्थ प्रतीत होता है।"

मैंने कहा, "अब अपनी दृष्टि अपने नवीन राष्ट्र की ओर फेरो तो तुमको उसमें इन अवस्थाओं में से एक अवस्था वास्तविकता को प्राप्त हुई मिलेगी। क्योंकि यदि वह व्यक्ति जिसमें कि उच्च अथवा सत्प्रवृत्ति नीच अथवा असत्प्रवृत्ति का शासन करती है आत्मवशी या आत्मसंयमी कहलाता है, तो यह तुमको मानना पड़ेगा कि यह राष्ट्र औचित्य के साथ 'आत्मवशी' कहला सकता है।"

उसने कहा, कि मैं अपनी दृष्टि उस पर डाल रहा हूँ और देखता हूँ कि जो तुम कहते हो सो वैसा ही है।"

"और फिर इच्छाओं और भोगों और दुःखों की बहुरंगी भीड़ बहुतायत से बालकों, स्त्रियों और दासों और निम्नकोटि के जन समूह में जो कि नाममात्र में स्वतंत्र हैं अधिक देखने में आयेंगी।

"सर्वथा ऐसा ही है।"

"जब कि सरल और संयत इच्छाएँ जो कि विवेक और सुमति की सहायता से समझदारी के आदेश का अनुसरण करती हैं, बहुत थोड़े से मनुष्यों में मिलेंगी अर्थात् उन मनुष्यों में मिलेंगी जो कि श्रेष्ठ अभिजात तथा श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त हैं।"

उसने कहा, "सत्य है।"

"और क्या यही बात तुमको अपने नगर राष्ट्र में भी नहीं उपलब्ध होती और क्या उसमें भी जनसमूह और भीड़ की कामनाएँ उन कामनाओं और बुद्धिमत्ता द्वारा अभिभूत नहीं रहतीं जो कि अल्पसंख्यक सज्जनवर्ग में निवास करती हैं ?"

उसने कहा, "हाँ, मुझको यह दिखालाई देता है ।"

९—"तो यदि, कोई नगर ऐसा हो सकता है जिसका वर्णन इस प्रकार किया जा सके कि उसको अपने भोगों और इच्छाओं तथा अपने ऊपर वशित्व प्राप्त है, तो हमारा नगर उस नाम को पाने योग्य है ।"

उसने कहा, "अवश्यमेव ।"

"तो क्या इन्हीं सब कारणों के आधार पर उसको संयमसंपन्न भी नहीं कहा जा सकता ?"

उसने कहा, "निश्चय ही कहा जा सकता है ।"

"और फिर, यदि कोई नगर ऐसा है जिसमें शासक और शासित इस विषय पर एकमत हैं कि शासन किसको करना चाहिये, तो यह बात भी इस नगर में पायी जायेगी । क्या तुम ऐसा नहीं समझते ?"

उसने कहा, "मैं सबसे अधिक निश्चय के साथ ऐसा समझता हूँ ।"

"ऐसी अवस्था में तुम संयम का निवास नागरिकों के दो वर्गों में से किस वर्ग में बतलाओगे—शासकों में अथवा शासितों में ?"

उसने कहा, "मैं कल्पना करता हूँ कि दोनों वर्गों में ।"

मैंने कहा, "तो तुम देखते हो, कि हमारा अन्तर्ज्ञान, जोकि अभी अभी संयम और समन्वय में सादृश्य दृष्टिगोचर कर सका, कुछ बुरा नहीं था ।"

"सो क्यों ?"

"क्योंकि संयम का व्यापार साहस (वीरता) तथा बुद्धिमत्ता के समान नहीं है जो कि नगर के पृथक् पृथक् भागों में रह कर उसको वीर और बुद्धिमान बनाती हैं; संयम ऐसा नहीं है, वह तो शब्दशः समग्र नगर

भर में सम्पूर्ण स्वरमंडल में व्याप्त रहता है और निर्बलतम, बलवत्तम एवं मध्यबल वाले वर्गों में तालैक्य उपस्थित करता है, फिर चाहे वर्गों की बल-वत्ता अथवा निर्बलता को बुद्धिमत्ता के, शारीरिक शक्ति के, संख्या के, धन के अथवा किसी अन्य इसी प्रकार के मानदण्ड से नापा जाय। अतः एव हमारा संयम को, ऐसा ऐकमत्य कहना बिलकुल उचित होगा जिसको हमने प्रकृत्या उच्च एवं प्रकृत्या निम्न अंगों में से शासन का अधिकार किस का है इस विषय में समन्वय कह कर वर्णन किया है, फिर चाहे ऐसा राष्ट्र में हो अथवा एक व्यक्ति में।"

उसने कहा, "मैं तुमसे पूर्णतया सहमत हूँ।"

मैंने कहा, ,'बहुत अच्छा। हमने चार गुणों में से तीन को अपने नगर में अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत विचारणा के अनुसार खोज लिया। अब वह शेष गुण कौन सा पदार्थ हो सकता है जो कि राष्ट्र को सद्गुणी बनाता है? क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि शेष 'न्याय' ही है।"

"स्पष्ट है।"

"तो ग्लौकोन, अब वह अवसर आ गया है कि हम शिकारियों के समान झाड़ी को चारों ओर से घेर लें और ध्यानपूर्वक दृष्टि लगाए रहें जिससे न्याय किसी ओर से निकल कर हमसे दूर जा कर दृष्टिपथ से लुप्त न हो जाय। क्योंकि स्पष्ट ही वह यहीं कहीं होगा। अपनी आँखें खोल कर उसको देखने का भरसक उद्योग करो, यदि वह तुमको प्रथम दिखलाई पड़ जाय तो मुझको भी बतला देना।"

उसने कहा, "चाहता तो हूँ कि ऐसा कर सकूँ; परन्तु मैं ख्याल करता हूँ कि, इसकी अपेक्षा, आप मेरा कहीं अच्छा उपयोग करेंगे यदि आप मुझे अपना ऐसा अनुचर मान लेंगे जो आप के दिखलाये (इंगित किये) हुए को देखने की क्षमता रखता है।

मैंने कहा, "अपनी प्रार्थना को मेरी प्रार्थना के साथ मिला कर मेरे साथ चले चलो।"

उसने कहा, "मैं ऐसा ही करूँगा, बस आप मुझे मार्ग दिखलाते चलिये।"

मैंने कहा, "और सचमुच ही यह बड़ा दुर्गम स्थान है, यहाँ घनी अन्धकारमयी छाया है।"

"निश्चय ही यह अंधेरी झाड़ी है, इसमें खोज निकालना सरल काम नहीं है।"

"परन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी हमको आगे बढ़ना ही चाहिये।"

"हाँ, आगे ही।"

इतने में ही मुझे कुछ सूझ पड़ा अतएव मैंने उच्चस्वर से पुकार कर कहा "ग्लौकोन, मुझको एक पगडण्डी-सी दिखलाई देने लगी है और मुझे विश्वास है कि हमारा शिकार हमारे हाथ से निकल कर नहीं जा सकता।"

उसने कहा, "बड़ा हर्षप्रद समाचार है।"

मैंने कहा, "सच तो यह है कि हम लोग बड़े ही मन्द हैं।"

"सो क्यों ?"

"अरे श्रीमन्, कितने हर्ष का विषय है कि जिस वस्तु को हम खोज रहे हैं, वह तो स्पष्टतया बिलकुल आरंभ से ही हमारे चरणों में लोट रही थी तो भी हम उसको नहीं देख पाये। उन लोगों के समान जो कि अपने हाथ पर धरी हुई वस्तु को खोजते फिरते हैं, हमारा व्यापार भी उपहासास्पद रहा। इसी प्रकार हमने भी अपनी दृष्टि अपने अन्वेष्टव्य पदार्थ पर नहीं डाली पर सुदूर प्रदेश की ओर देखते रहे, और स्यात् इसी कारण यह वस्तु हमारी दृष्टि से छूट गयी।"

उसने कहा, "इससे तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?"

मैंने उत्तर दिया, "मेरा अभिप्राय यह है कि मुझे ऐसा मालूम पड़ता

है कि यद्यपि जब से हम बातचीत कर रहे हैं इसी के विषय में कह सुन रहे थे परन्तु हम स्वयं अपनी बात ही नहीं समझ पा रहे थे और न यही जान पा रहे थे कि हम एक प्रकार से इसी (न्याय) के विषय में वार्त्तालाप कर रहे हैं।"

उसने कहा, "उत्सुक श्रोता के लिये यह तुम्हारी भूमिका खेदजनक प्रतीत होती है।"

१०—मैंने कहा, "तब लो सुनो' और निर्णय करो कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह तथ्य है या नहीं। जब हम अपने राष्ट्र की नींव रख रहे थे उस समय आरंभ में ही हमने जो विश्वजनीन कर्मसिद्धान्त स्थापित किया था, बस, यदि मैं भूल नहीं करता तो वही, अथवा इसी का कोई प्रकारविशेष न्याय है। तथा जो सिद्धान्त हमने निर्धारित किया था एवं जिसका हमने प्राय: उल्लेख किया था यह था कि राष्ट्र में प्रत्येक मनुष्य को केवल एक ऐसा लोक संग्रह-कार्य करना चाहिये जो उसके स्वभाव के लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो।"

"हाँ हमने ऐसा कहा था।"

"और फिर, अपना अपना कार्य करना तथा दूसरों के कार्यों में टाँग न अड़ाना न्याय है, यह लोकोक्ति हमने बहुतों से सुनी है और स्वयं भी बहुधा इसको दुहराया है।"

"हाँ, हमने ऐसा कहा है।"

"तब तो, मेरे प्रिय मित्र, यही 'अपने कार्य को करने' का जो सिद्धान्त है यही किसी विशेष प्रकार (विशेष अर्थ) में न्याय है। क्या तुम जानते हो कि मैं इस अनुमान को कहाँ से निकाल सका हूँ ?"

उसने कहा, "नहीं, आप कृपा कर मुझको बतला दीजिये।"

"मैं समझता हूँ कि हमारे, संयम, धैर्य और बुद्धिमत्ता इन तीनों गुणों का विचार कर लेने के उपरान्त, राष्ट्र में शेष रह जाने वाला गुण

यही है जिसके कारण उन सब का राष्ट्रशरीर में उत्पन्न होना संभव हुआ, तथा जो उनके उत्पन्न होने के उपरान्त तब तक उनकी रक्षा करता है जब तक कि वह स्वयं विद्यमान रहता है । तुमको यह याद दिलाने की तो कठिनता से ही आवश्यकता होगी कि हमने अभी-अभी कहा था कि यदि चार में से तीन गुणों का पता चल गया तो शेष चौथा गुण न्याय ही होगा ।"

उसने कहा, "यह तो अनिवार्य निष्कर्ष है ।"

मैंने कहा, "परन्तु यदि, हमको यह निर्णय करना हो कि वह क्या वस्तु है जो अपनी अन्तर्वर्तिनी विद्यमानता से हमारे राष्ट्र को अच्छा बनाने में सबसे अधिक योगदान देती है तो यह निश्चय करना कठिन होगा कि वह वस्तु शासकों और शासितों का एकमत होना है, अथवा योद्धाओं के चित्त में भय खाने और भय न खाने योग्य वस्तुओं में कानून के द्वारा उत्पन्न किये गये विश्वास का सुरक्षित रहना है अथवा शासकों में बुद्धिमत्ता और जागरूकता का होना है; अथवा राष्ट्र के अच्छे होने का मुख्य कारण यह सिद्धान्त है जो कि बाल, स्त्री, दास, मुक्त व्यक्ति, शिल्पकार, शासक और शासित सब में अनुप्रविष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य अपना कार्य सम्पादन करे तथा दूसरों के कार्य में टाँग न अड़ाये ।"

उसने कहा, "अवश्य ही यह निर्णय करना कठिन है ।"

"तब तो यह सिद्धान्त कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य करना चाहिये एक ऐसी वस्तु प्रतीत होता है जो राष्ट्र की उत्तमता के सम्पादन में उस (राष्ट्र) की बुद्धिमत्ता, संयम और धैर्य के साथ प्रति-स्पर्धा कर सकता है ।"

उसने कहा, ',सचमुच ऐसा ही है ।"

"तथा जो सिद्धान्त राष्ट्र में उत्तमता संपादित करने में इनकी प्रति-स्पर्द्धा करता है क्या उसको तुम्हें 'न्याय' ऐसा नाम नहीं देना पड़ेगा ?"

"सर्वथा ।"

"इस प्रश्न पर इस प्रकार से भी विचार कर लो और देखो कि इस प्रकार से भी तुम इसी निर्णय पर पहुँचते हो या नहीं । क्या तुम अपने राष्ट्र में अभियोगों के निर्णय का कार्य शासकों को सौंपोगे या नहीं ?"

"अवश्यमेव ।"

"क्या उनके निर्णयों का मुख्य उद्देश्य यही नहीं होगा कि कोई मनुष्य दूसरों के स्वत्व का अपहरण न करे, अथवा अपने स्वत्व से वंचित न हो ?"

"इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं ।"

"क्योंकि यही न्याय है ?"

"हाँ ।"

"इस दृष्टिकोण से भी अपने स्वत्व की उपलब्धि और अपने कार्य को करना ही न्याय है ऐसा स्वीकार किया जायगा ।"

"ऐसा ही है ।"

"अब यह सोचो कि निम्नलिखित विचारों में भी तुम मेरे साथ सहमत हो अथवा नहीं । मान लो कि एक बढ़ई मोची का काम करने लगे अथवा मोची बढ़ई का काम करने लगे, अथवा वे एक दूसरे के उपकरण अथवा उपाधि को बदल लें, अथवा एक ही व्यक्ति दोनों व्यवसाय करने लगे एवं ऐसा करने के लिये जो परिवर्त्तन आवश्यक हों वह भी कर ले, तो क्या तुम समझते हो कि यह परिवर्त्तन (गड़बड़झाला) राष्ट्र को भारी हानि नहीं पहुँचायेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "बहुत अधिक तो नहीं ।"

"परन्तु जब कोई व्यक्ति जो प्रकृत्या शिल्पकार है अथवा किसी प्रकार का उत्पादक है वह यदि धन, जन (वोट) अथवा शारीरिक बल अथवा ऐसी किसी अन्य सुविधा से तृप्त एवं प्रेरित होकर योद्धाओं के वर्ग में धँसना चाहे, या जब कोई योद्धा क़ानून बनाने वालों या संरक्षकों के वर्ग में धँस

पड़े, जिसके लिये वह अयोग्य है अथवा जब वे परस्पर अपने उपकरण और उपाधि बदल लें, अथवा जब कि एक ही व्यक्ति यह सब कार्य एक साथ करने का उद्योग करे, तो मैं कल्पना करता हूँ कि तुम इस बात में मुझसे सहमत होगे कि इस प्रकार का व्यापार विनिमय और दूसरों के कार्य में टाँग अड़ाना राष्ट्र के लिये विनाशकारी होगा ।"

"सर्वथा ऐसा ही है ।"

"तो तीनों वर्गों में परस्पर व्यापारों में हस्तक्षेप करना, अथवा व्यापारान्तरीकरण राष्ट्र के लिये परम हानिकर है, और उसको अनुचित कार्य कहना परम उचित होगा ।"

"बिलकुल ठीक ।"

"तथा जिस कार्य से किसी के स्वराष्ट्र की सबसे बड़ी हानि हो क्या तुम उसको अन्याय नहीं कहोगे ?"

"तब यही अन्याय है । इसके विपरीत हम यह कह सकते हैं कि जब व्यवसायी वर्ग, सहायक वर्ग एवं संरक्षक वर्ग अपने व्यापारों का अनुसरण करें, प्रत्येक वर्ग राष्ट्र में अपना काम करता चले तो यही न्याय है और इसी से नगरी भी न्याययुक्त बनती है ।"

उसने कहा, "मैं समझता हूँ ऐसी ही बात है, इससे भिन्न नहीं ।"

११—मैंने कहा "हमको अभी इस विषय में इतना अधिक असंदिग्ध नहीं होना चाहिये परन्तु यदि यही विचार एक व्यक्ति के विषय में प्रयुक्त होने पर भी, न्याय की परिभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तब हम इस बात को मान लेंगे—क्योंकि कहना ही क्या शेष रह जायगा ? परन्तु यदि ऐसा नहीं हुआ तो हम नई खोज आरंभ करेंगे । इस समय तो हमको उसी खोज को पूरा कर लेना चाहिये जो कि हमने इस विश्वास पर आरंभ की थी कि यदि हम किसी ऐसे विशालक्षेत्र में न्याय का विचार करने का उद्योग करें जिसमें न्याय समाविष्ट हो तब तत्पश्चात् एक व्यक्तिमें

इसको पहचानना अधिक सरल होगा। वह विशाल क्षेत्र हमको राष्ट्र के रूप में प्रतीत हुआ, अतएव हमने अपनी शक्ति के अनुसार सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र की रचना भली भाँति यह जानते हुए की कि अच्छे नगरराष्ट्र में तो न्याय का निवास अवश्य ही होगा। तो उसमें हमको जो कुछ देखने को मिला उसकोव्यक्ति में भी परीक्षण करके (लागू करके) देखना चाहिये, यदि व्यक्ति में भी उसकी पुष्टि हुई तो हम संतुष्ट हो जायेंगे। परन्तु यदि व्यक्ति में इसके विपरीत स्थिति प्रकट हुई तो हम फिर नगर की ओर लौटेंगे और अपने सिद्धान्त का पुनः परीक्षण करेंगे। स्यात्, दोनों के साथ-साथ परीक्षण, और पारस्परिक घर्षण से हम न्याय की अग्निशिखा को अरणिमन्थन से उद्भूत वह्निशिखा के सदृश उपलब्ध कर सकें और जब वह इस प्रकार दृष्टिगोचर हो जाय तो हम उसको स्थिरतया अपनी आत्मा में आसीन करलें।"

उसने कहा, "हाँ, यह उपाय ठीक प्रतीत होता है, तथा हमको ऐसा ही करना चाहिये।"

मैंने पूछा, "यदि दो वस्तुएँ, जिनमें से एक बड़ी और एक छोटी है, एक ही नाम वाली हों, तो जहाँ तक वे एक ही नाम से पुकारी जाती है, वे असमान होती हैं या समान ?"

उसने उत्तर दिया, "समान"।

"तो जहाँ तक कि न्याय तत्त्व दोनों में समाविष्ट हैं न्यायी मनुष्य न्यायी राष्ट्र से असमान नहीं होगा बल्कि दोनों समान ही होंगे।"

"हाँ, समान होंगे।"

"और नगर को हमने न्यायी तब समझा था जब कि उसमें निवास करने वाली तीनों स्वाभाविक जातियाँ अपना अपना अलग अलग व्यापार संपादन करती थीं तथा वह नगर इन्हीं जातियों की विशिष्ट मनोवृत्तियों एवं अवस्थाओं के परिणाम स्वरूप ही संयत, वीर और बुद्धिमान था।"

उसने कहा, "सत्य है।"

"तब तो मित्र, हम यह मान लेंगे कि व्यक्ति की आत्मा में भी हमको इन्हीं तीनों तत्त्वों को उपलब्ध करने की आशा करनी चाहिये एवं इनकी वृत्तियाँ राष्ट्र की जातियों (वर्गों) की वृत्तियों के समान होने के कारण उन्हीं नामों को पाने की उचित रूप से अधिकारिणी हैं जो राष्ट्र में उन को प्राप्त होते हैं।"

उसने कहा, "ऐसा होना अनिवार्य है।"

मैंने कहा, "मेरे परमोत्तम मित्र, लो हम फिर एक बार एक साधारण से अन्वेषण में फाँद पड़े—अब प्रश्न यह है क्या वास्तव में आत्मा में यह तीन तत्त्व होते हैं या नहीं।"

वह बोला, "मुझे तो यह प्रश्न ऐसा साधारण-सा नहीं प्रतीत होता। प्रत्युत, सॉक्रातीस्, स्यात् यह लोकोक्ति ही सत्य है कि सुन्दर वस्तुएँ कठिन होती हैं।"

मैंने कहा, 'प्रतीत तो ऐसा ही होता है, और ग्लौकोन, में यह भी स्पष्ट कह दूँ कि मेरी राय में हम उन उपायों के द्वारा जिनका हम अब विवेचन में प्रयोग कर रहे हैं इस विषय में ठीक-ठीक सत्य को कदापि नहीं समझ सकते। क्योंकि उस लक्ष्य की ओर ले जाने वाला मार्ग दूसरा है जो कि लम्बा और कठिन है। तथापि, सम्भवतया, प्रस्तुत उपायों द्वारा भी हम विवेचना करके समस्या का ऐसा हल प्राप्त कर सकते हैं जो कि एक प्रकार से हमारे पूर्वोक्त कथनों एवं अन्वेषणों के समकक्ष होगा।"

उसने कहा, "क्या हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते? जहाँ तक मेरा संबंध है मैं तो इस समय इसी से बिलकुल सन्तुष्ट हूँ।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं भी अवश्य ही पर्याप्त सन्तुष्ट होऊँगा।"

उसने कहा, "तब फिर शिथिलता मत करो, अन्वेषण को चालू रक्खो।"

मैंने कहा, "तो क्या हमारे लिये इस बात को स्वीकार करने से बचना

असंभव नहीं है कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति में वही तत्त्व और गुण पाए जाते हैं जो एक राष्ट्र में ? वे उस (राष्ट्र) में अन्य किसी उद्गम से नहीं आ सकते। यह कल्पना करना उपहासास्पद होगा कि नगर राष्ट्रों में स्फूर्ति (वीरता) का तत्त्व उन नागरिक व्यक्तियों से उद्गत नहीं हुआ है जो कि उसको धारण करने के लिए विख्यात हैं, यथा थ्राक निवासी, शक स्थान निवासी तथा साधारणतया उत्तर देश के निवासी; तथा यही बात ज्ञान-प्रेम के विषय में कही जा सकती है जो कि संसार में हमारे प्रदेश का लक्षण है; एवं धन के प्रेम के विषय में भी यही सत्य है जो कि पणिकों और इगिप्त निवासियों में पाया जाता है।"

उसने कहा, "अवश्यमेव।"

मैंने कहा, "तब यह बात एक तथ्य है, और इसको समझना कठिन नहीं है।"

"नहीं, बिलकुल नहीं।"

१२—"पर समस्या जटिल तो तब हो जाती है जब यह प्रश्न किया जाता है कि क्या हम यह सब काम एक ही तत्त्व से करते हैं अथवा तीन पृथक् पृथक् तत्त्व हैं और हम एक काम एक से करते हैं और दूसरा दूसरे से—अर्थात् अपने एक अंग (एक शक्ति) से सीखते हैं, दूसरे से कोप करते हैं और तीसरे से पोषण और प्रजनन के आनन्द की आकांक्षा करते हैं; अथवा एक बार कार्यप्रवृत्त होने पर हम उपर्युक्त प्रत्येक प्रसंग में पूर्णात्मा के द्वारा कार्य में संलग्न होते हैं। वास्तव में यह एक ऐसी समस्या है कि जिसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है।"

उसने कहा, "मैं भी ऐसा ही ख्याल करता हूँ।"

"अतएव यह निर्णय करने के लिये कि उपर्युक्त अंश पृथक्-पृथक् हैं अथवा एक ही, हमको सीमा निर्देश करने का प्रयत्न करना चाहिये।"

"किस प्रकार ?"

"यह तो स्पष्ट है कि एक ही वस्तु अपने एक ही भाग में, एक ही काल में, एक प्रकार से दो विरोधी कार्यों की कर्त्ता अथवा कर्म नहीं बन सकती; इस कारण यदि कभी इस प्रकार की घटना प्रत्यक्षतः एक ही वस्तु के विषय में घटित होती दिखलायी दे तो हमको जानना चाहिये एक ही वस्तु कार्य नहीं कर रही है बल्कि एकाधिक वस्तुएँ कार्य कर रही हैं।"

"बहुत अच्छा।"

"तो जो मैं कहता हूँ उसको विचारिये।"

उसने उत्तर दिया, "कहिये।"

"क्या एक ही वस्तु का एक ही अंश में, एक ही समय पर, एक ही प्रसंग में स्थिर और गतिशील होना संभव है?"

"कदापि नहीं।"

"जिससे कहीं आगे चल कर हम वितण्डे में न फँस जाएँ इसलिये हमको यह बात सम्यक् प्रकार से समझ लेनी चाहिये। यदि कोई मनुष्य एक स्थान पर स्थिर खड़ा हो और अपने हाथ और सिर हिला रहा हो तो उसके विषय में किसी व्यक्ति का यह कहना यथार्थ नहीं होगा कि एक ही व्यक्ति एक ही समय स्थिर तथा गतिशील दोनों है, बल्कि हमको यह कहना चाहिये उसका एक अंश स्थिर है तथा दूसरा अंश गतिशील है। क्यों ऐसा है या नहीं?"

"ऐसा ही है।"

"पर यदि विवादी और भी बाल की खाल खींचते हुए अपना परिहास चालू रक्खे और कहे कि कम से कम जिस समय घूमते हुए लट्टू का शंकु एक विंदु पर स्थिर रहता है उस समय लट्टू सामाग्र्येण युगपत् स्थिर एवं गतिशील होता है और यही बात एक विन्दु पर होने वाली अन्य वर्तुलगति के विषय में भी सत्य घटित होती है—तो हम उसके कथन को स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि ऐसे प्रसंगों में स्थिरता और गति का संबंध एक ही भाग

से नहीं रहता; प्रत्युत हमको कहना चाहिये ऐसी वस्तुओं में अक्ष (धुरा) एवं परिधि दोनों ही होती हैं, तथा अक्ष के संबंध में वे स्थिर होती हैं क्योंकि वे किसी ओर भी झुकतीं नहीं, किन्तु परिधि के संबंध में वे वर्तुलाकार में घूमती हैं; परन्तु यदि वर्तुलाकार गति के रहते हुए उनका अक्ष दायें या बायें, आगे या पीछे लम्ब से झुक जाये तो वे किसी प्रकार, किसी दृष्टिकोण से स्थिर नहीं हो सकतीं।"

उसने कहा, "और यही बात ठीक होगी।"

"तो इस प्रकार की कोई आपत्ति हमको भ्रान्त नहीं कर सकती और न हमको ऐसा विश्वास दिला सकती है कि किसी एक ही वस्तु के लिये, एक समय में अपने एक ही अंश में, एक ही प्रसंग में एक ही संबंध में दो विरुद्ध कार्य करना, दो विरुद्ध कार्य का पात्र होना अथवा स्वयं दो विरोधी वस्तु होना संभव है।"

उसने कहा, "निश्चय ही मुझको भी नहीं।"

मैंने कहा, "तो भी, हमको इस प्रकार की आपत्तियों की समूची सूची की विस्तारपूर्वक परीक्षा करने को और स्वयं उनकी असत्यता के विषय में आश्वस्त होने को विवश न होना पड़े, इसलिये हमको उपर्युक्त कथन को तथ्य मान कर आगे बढ़ना चाहिये परन्तु यह समझे रहना चाहिये कि यदि यह तथ्य अन्यथा प्रतीत हुआ तो इसकी मान्यता से सिद्ध हुए निष्कर्ष असिद्ध हो जायेंगे।"

उसने कहा, "हाँ, यही करना ठीक है।"

१३—मैंने कहा, "क्या तुम अनुमति, अननुमति; इच्छा, अनिच्छा; आकर्षण, विद्रावण; एवं इन्हीं के सदृश अन्य वस्तुओं को परस्पर विरोधी पदार्थों की श्रेणी में नहीं रक्खोगे? फिर चाहे वे कर्तृत्वयुक्त (Active)

हों अथवा कर्माश्रय (passive) इसका प्रस्तुत प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ।"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, ये परस्पर विरोधी हैं ।"

मैंने कहा, "अच्छा तो प्यास, भूख और साधारणतया सभी अभिलाषाओं एवं संकल्प और कामना के विषय में क्या कहते हो, क्या तुम इनको उपर्युक्त श्रेणियों में कहीं स्थानभुक्त नहीं करोगे ? उदाहरणार्थ क्या तुम यह नहीं कहोगे कि उस मनुष्य की आत्मा, जो कोई कामना करता है, या तो वांछित पदार्थ के लिये उद्योग करती है अथवा प्राप्तव्य पदार्थ को अपनी ओर खींचती है; या फिर जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ को अपने प्रति दिया जाना चाहता है तो उसकी प्राप्ति के लिये उद्योग करते हुए अपने अन्तःकरण में उसके प्रति इस प्रकार स्वीकारोक्ति प्रदर्शित करता है मानो किसी ने उससे प्रश्न पूछा हो ?"

"बिलकुल ठीक है ।"

"परन्तु असंकल्प, अननुमति और अनिच्छा के विषय में क्या कहोगे ? क्या हम इनको मानसिक अस्वीकृति अथवा विद्रावण एवं उपर्युक्त साधारण शब्दों की प्रतिकूल श्रेणी में स्थान नहीं देंगे ?"

"अवश्यमेव ।"

"ऐसी स्थिति में क्या हम कहें कि इच्छाओं की एक श्रेणी होती है जिनमें सबसे मुख्य वह इच्छायें हैं जिनको हम प्यास और भूख कहते हैं ?"

उसने कहा, "अवश्य ।"

"क्या इनमें से एक पीने की तथा दूसरी भोजन की इच्छा नहीं है ?"

"हाँ ।"

"तो जहाँ तक प्यास, प्यास है, क्या यह हमारी आत्मा में पान की इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की इच्छा होगी ? अर्थात् क्या प्यास स्वतः उष्ण पेय के लिये है अथवाशीतल के लिये, अधिक पेय के लिये

है अथवा अल्प के लिये, संक्षेप में, क्या किसी विशेष पेय के लिये है ? अथवा तथ्य बात यह है कि यदि प्यास के साथ गर्म, हो तो प्यास शीतल पेय की इच्छा बन जायगी एवं उसके साथ शीतल विशेषण का योग हो तो प्यास उष्ण पेय की इच्छा हो जायगी ? परन्तु यदि आधिक्य की उपस्थिति के कारण प्यास अधिक हो, तो इच्छा अधिक के लिये होगी तथा यदि थोड़ी हो तो इच्छा थोड़े के लिये होगी । परन्तु केवल पिपासा स्वरूपत: अपने स्वाभाविक इष्ट विषय (जो कि केवल पेय हैं) के अतिरिक्त और अन्य किसी वस्तु की नहीं हो सकती, और इसी प्रकार भूख भोजन के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की इच्छा नहीं हो सकती ।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसा ही है; प्रत्येक इच्छा स्वरूपत: उसी पदार्थ के प्रति होती है जिसके प्रति होना उसका स्वभाव है । विशेषण—ऐसा, ऐसा (इदमित्थम्) इच्छा के गुण को सूचित करते हैं ।"

मैंने कहा, "हमारी असावधानी के कारण किसी को यह आपत्ति खड़ी करके हम को विचलित नहीं करना चाहिये कि कोई भी केवल पेय की इच्छा नहीं करता बल्कि अच्छे पेय की इच्छा करता है, और न केवल भोजन की इच्छा करता है बल्कि अच्छे भोजन की इच्छा करता है, क्योंकि अच्छी वस्तुओं की इच्छा तो सभी करते हैं और प्यास एक इच्छा ठहरी अतएव वह किसी अच्छी वस्तु की ही इच्छा होगी, फिर वह अच्छी वस्तु जो कि उसका विषय है कुछ भी हो—पेय हो या अन्य कोई पदार्थ; यही तर्क अन्य सब इच्छाओं के विषय में भी सत्य घटित होता है ।"

उसने कहा, "स्यात् इस आपत्ति में कुछ सार प्रतीत हो ।"

मैंने कहा, "परन्तु मुझे तुमको इस बात की याद दिलाने की तो स्यात् आवश्यकता नहीं है कि सापेक्ष्य शब्दों में जो शब्द किसी प्रकार विशिष्ट होते हैं वह विशिष्ट सापेक्ष्य शब्द से ही संबद्ध होते हैं और जो अलग अलग अपने केवल शुद्ध रूप में होते ह उनका संबंध केवल शुद्ध सापेक्ष्य

शब्द से होता है ।"

उसने कहा, "यह बात मैं नहीं समझा ।"

मैंने कहा, "क्या तुम यह नहीं समझते कि 'बृहत्तर' किसी अन्य वस्तु से बड़ा होना है ?"

'अवश्य समझता हूँ ।"

"और किसी छोटी वस्तु से बड़ा होना है न ?"

"हाँ ।"

"परन्तु अधिक छोटी वस्तु से अधिक बड़ा होना है न ?"

"हाँ ।"

"और क्या हम यह जोड़ सकते हैं कि भूतकाल के (कभी के) छोटे से भूतकाल (कभी) का बड़ा होना तथा आगामी (भावी) छोटे से आगामी (भावी) का बड़ा होना है ?"

"निश्चयमेव ।"

"क्या यही तर्क, अधिक, कम (संख्यक) दुगुना, आधा, तथा मात्रा-वाचक सापेक्ष्य पदों, तथैव गुरुतर, लघुतर, क्षिप्रतर, मंदतर; एवमेव शीत, उष्ण और अन्य इसी प्रकार के विशेषणों के विषय में भी लागू नहीं होता ?"

"सर्वथा ऐसा ही है ।'

"पर विभिन्न विज्ञानों के विषय में क्या होगा ? क्या इनके विषय में भी यही सिद्धान्त लागू नहीं होगा ? केवल शुद्ध विज्ञान तो केवल ज्ञेय का, अथवा ज्ञान के विषय का (चाहे उसको कुछ भी नाम दें) ज्ञान है । परन्तु विशेष प्रकार के विशिष्ट विज्ञान का विषय भी विशिष्ट और विशेष प्रकार का होता है । मेरा अभिप्राय कुछ ऐसा है कि उदाहरणार्थ स्थापत्य विज्ञान एक विशेष प्रकार का विज्ञान है जो कि अन्य विज्ञानों से ऐसा पृथक् है कि स्थापत्य विज्ञान कहलाता है ।"

"अवश्यमेव।"

"और क्या ऐसा इस कारण ही नहीं है कि यह विज्ञान ऐसे प्रकार का है जो अन्य सब विज्ञानों में नहीं मिलता ?"

',हाँ।"

"एवं क्या इसका विलक्षण प्रकार इसके विशिष्ट विषय से ही उद्भूत नहीं हुआ है ? तथा क्या यही बात अन्य सब कलाओं और विज्ञानों के विषय में भी नहीं कही जा सकती ?"

"ऐसा ही है।"

१४. मैंने कहा, "तो, यदि तुम अब समझ गये हो तो, सापेक्ष्य पद विषयक मेरे पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य यही था। मेरा तात्पर्यय ह था कि सब सापेक्ष्य पदों में यदि प्रथम वस्तु केवलविशेषण रहित स्वतः मात्र दूसरी भी केवल विशेषण रहित स्वतः मात्र होती है, और यदि एक विशेषण है तो युक्त होती है तो दूसरी भी विशेषण युक्त होती है। मेरा यह तात्पर्य बिलकुल नहीं है कि संबद्ध वस्तुओं का गुण वही होगा जो उनसे संबन्ध रखने वाली वस्तुओं का है, जिससे कि हमको ऐसी कल्पना करनी पड़े कि स्वास्थ्य का और रोग का विज्ञान स्वस्थ और रोगी होता है, अथवाबुराई और अच्छाई का विज्ञान बुरा और अच्छा होता है। मेरा अभिप्रायकेवल इतना है कि ज्योंही विज्ञान अपने केवल विशुद्ध विषय के विज्ञान होने की सीमा को छोड़ किसी विशेष प्रकार के विषय में संबद्ध हुआ, जैसा कि वर्त्तमान स्थिति में स्वास्थ्य और रोग-दशा से संबद्ध है, त्यों ही परिणाम यह हुआ कि विज्ञान भी किसी विशष्ट प्रकार का विज्ञान होगया, जिससे यह आगे केवल विज्ञान नहीं कहलायेगा बल्कि उसके नाम के साथ एक विशेषण जुड़ कर औषधि-विज्ञान कहलायेगा।"

वह बोला, "मैं समझ गया और मैं आप से सहमत हूँ।"

मैंने कहा, "तो आओ फिर प्यास का विचार करें। क्या तुम इसको

२०

उस श्रेणी की वस्तु नहीं समझते, जो कि स्वभावतः अपने से संबंध रखन वाले विषय से संबद्ध होती है, और क्या तुम यह नहीं कहोगे कि यह जो कुछ भी है वह किसी वस्तु के संबंध में ही है—और मैं ख्याल करता हूँ कि यह प्यास है ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, मैं ऐसा ही मानता हूँ, और इसका विषय पेय है।"

"तो यदि पेय विशिष्ट प्रकार का है तो प्यास भी विशिष्ट प्रकार की होगी, परन्तु वह प्यास जो कि विशेषण रहित केवल प्यास है वह न बहुत की प्यास है न थोड़े की न अच्छे की न बुरे की, और एक शब्द में न किसी विशेष प्रकार की, प्रत्युत विशेषण रहित केवल प्यास केवल विशेषण रहित पेय की होगी। क्यों है न ?"

"अवश्यमेव ऐसा ही है।"

"तब तो प्यासे की आत्मा, जहाँ तक वह प्यासी है, पीने के अतिरिक्त और कुछ इच्छा नहीं करती; वह इसी के लिये उत्कंठित और प्रवृत्त होती है।"

"स्पष्ट ही है।"

"तब यदि, प्यासी आत्मा को कोई वस्तु पीछे को खींचती है तो उसकी आत्मा में वह वस्तु उस तत्त्व से भिन्न होनी चाहिये जो कि प्यास का तत्त्व है और जो कि उसको पशु के तुल्य पीने के लिये (प्रचोदित करती) हाँकती है। क्योंकि हमारे कहने के अनुसार ऐसा तो हो नहीं सकता कि ही वस्तु, एक अपने एक ही अंश से, एक ही समय में, एक ही वस्तु के दो परस्पर प्रतिविरोधी प्रकारों से कार्य करे।"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"ठीक इसी प्रकार, मैं ख्याल करता हूँ कि धनुर्धारी के विषय में यह कहना ठीक नहीं होगा कि उसके हाथ एक साथ एक ही समय में धनुष

को उसके पास से ढकेलते और उसकी ओर खींचते हैं, इसके विपरीत हमको यह कहना चाहिये कि उसका एक हाथ धनुष को धकेलता है तथा दूसरा खींचता है ।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही है ।"

"तो क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि कुछ मनुष्य कभी-कभी प्यासे होने पर भी (कुछ) नहीं पीते ?"

उसने कहा, "हाँ, वास्तव में हम ऐसा कह सकते हैं; बहुत से मनुष्यों को बहुधा ऐसा होता है ।"

मैंने कहा, "तो ऐसे मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय ? यही न कि उनकी आत्मा में कोई एक वस्तु है जो उनको पीने की आज्ञा देती है और एक दूसरी वस्तु है जो उनको ऐसा करने से मना करती है तथा जो आज्ञा देने वाली वस्तु से भिन्न और अधिक शक्तिशाली है ?"

"मैं ऐसा ही समझता हूँ ।"

"तथा क्या यह सत्य नहीं है कि जो शक्ति इस प्रकार की प्रवृत्तियों को रोकती है, जब कभी उत्पन्न होती है तो विवेक से ही उत्पन्न होती है पर वह प्रेरणाएँ जो कि मनुष्य को अपनी ओर खींचती तथा घसीटती हैं मनोवेगों तथा व्याधियों से उत्पन्न होती हैं ?"

"ऐसा ही प्रतीत होता है ।"

"तब तो हमारा यह दावा करना अनुचित (असाम्प्रत) न होगा कि ये शक्तियाँ दो हैं और परस्पर एक दूसरे से पृथक् हैं । मनुष्य की आत्मा में रहने वाली उस शक्ति को जिसकी सहायता से वह आकलन और विवेचन करता है, हम विवेक तत्त्व कहेंगे; तथा दूसरी शक्ति को, जिसकी सहायता से वह प्रेम करता है, भूख प्यास का अनुभव करता है तथा अन्य कामनाओं की स्फुरणा और गुदगुदी का अनुभव करता है, अविवेकात्मक और वासनात्मक तत्त्व कहेंगे—जो कि विविध पूर्तियों, तृप्तियों और

आनन्दोपभोगों का सखा है।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसा विचार करना अनुचित नहीं, स्वाभाविक है।"

"तो इन दो तत्त्वों की वास्तविक सत्ता को तो मनुष्य की आत्मा में हमको निश्चित रूप से निर्धारित हुआ मान लेना चाहिये। अब रह गया स्फूर्ति तत्त्व या साहस तत्त्व जिससे हम कोप का अनुभव करते हैं। यह कोई तीसरा तत्त्व है अथवा यह प्रकृत्या उपर्युक्त दो तत्त्वों में से किसी एक से अभिन्न है?"

उसने उत्तर दिया, "स्यात् यह इनमें से एक तत्त्व—वासनात्मक तत्त्व से अभिन्न है।"

मैंने कहा, "मुझे एक कहानी की याद आती है जिस पर मुझे विश्वास है। वह कहानी यह है कि अग्लायोन का पुत्र लैयोन्तियॉस एक बार पायरेयस् से नगर की उत्तरी भीत की ओर से आ रहा था। जब वह बाहर की ओर से दीवार के पास पहुँचा तो उसको कुछ मृतक शरीर भूमि पर पड़े हुए दिखलाई दिये, जिनके पास जल्लाद खड़े हुए थे। तत्काल उसने उनको भली भाँति देखने की इच्छा का अनुभव किया, पर इस विचार को घृणा और विरक्ति की दृष्टि से देख कर उसनेअपने को उस ओरसे मोड़ लेने का प्रयत्न किया। कुछ समय वह इसी द्वन्द्व में फँसा रहा और उसने अपनी आँखें मूँद लीं। पर अन्ततोगत्वा, इस इच्छा से अभिभूत होकर उसने अपनी आँखों को अँगुलियों से खूब विस्फारित कर लिया तथा दौड़कर मृत शरीरों के पास पहुँच कर, चिल्ला कर कहा "लो दुष्टों, (नेत्रों) इस सुन्दर दृश्य को मन भर के देख लो।"

उसने कहा, "यह कथा तो, मैंने भी सुनी है।"

"तथापि यह कथा इस बात को निश्चयपूर्वक सूचित करती है कि क्रोध तत्त्व कभी कभी कामनाओं के विरुद्ध इस प्रकार युद्ध करता है कि जिस प्रकार दो विजातीय तत्त्व एक दूसरे से जूझते हों।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसा ही सूचित करती है।"

१५. मैंने कहा, "क्या हम अन्य अनेक अवसरों पर ऐसा नहीं देखते कि विवेक के विरुद्ध जब कोई व्यक्ति कामनाओं से अभिभूत हो जाता है तो वह अपने को धिक्कारता है और अपने भीतर रहने वाले उस तत्त्व पर कुपित होता है जो उसको अभिभूत किये रहता है; तथा इन दो पक्षों के कलह में मानों उत्साह तत्त्व विवेक का पक्षग्रहण करता है? परन्तु जब विवेक धीमे स्वर में कहता है "तुम ऐसा मत करो"——ऐसे अवसर पर उत्साह तत्त्व का विवेक के विरुद्ध कामनाओं का पक्ष ग्रहण करना एक ऐसी बात है, जो, मेरा ख़्याल है, न तो तुमने अपने विषय में अनुभव की होगी और न किसी अन्य व्यक्ति में ही घटित होती देखी होगी।'

उसने कहा, "भगवान जानते हैं ऐसा कभी नहीं हुआ।"

मैंने कहा, "फिर, जब कोई आदमी अपने को गलती किये अनुभव करता है तो क्या यह सत्य नहीं है, कि वह जितना ही उदारचित्त होता है उतना ही कम कुपित होता है, चाहे फिर उसको दण्ड देने वाले के हाथों भूख, ठंड, और अन्य कुछ भी क्यों न सहना पड़ रहा हो। क्योंकि वह यह समझता हैकि वह व्यक्ति ऐसा करके उचित ही कर रहा है और मैं कहता हूँ उसका कोप ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध भड़कना स्वीकार नहीं करता?"

उसने कहा, "सच है।"

"परन्तु जब कोई व्यक्ति अपने प्रति अन्याय का अनुभव करता है तब क्या होता है? क्या वह तत्काल उबल कर गर्म नहीं हो जाता तथा क्योंकि उसकी भूख, ठंड एवं ऐसी ही अन्य बातें सहन करनी पड़ती हैं एवं जिसको न्याय समझता है उसका पक्ष ग्रहण नहीं कर लेता? और क्या उदार आत्माओं में यह उत्साह स्थायी नहीं बन जाता और विजय प्राप्त नहीं करता——अपने उद्योग को तब तक नहीं त्यागता जब तक कि ध्येय की प्राप्ति नहीं हो जाती अथवा मृत्यु सब झंझट समाप्त नहीं कर देती

अथवा अन्त:स्थित विवेक उसको लौटा कर इसी प्रकार शान्त नहीं कर देता जिस प्रकार गड़रिया कुत्ते को वापस बुला लेता है ?"

उसने कहा, "तुम्हारा दृष्टान्त अत्यन्त उचित है तथा हमारे उस पूर्व कथन को पुष्ट करता है जिसमें हमने अपने नगर में सहायकों को संरक्षक कुत्तों के सदृश् बतलाया था तथा उनका शासकों की आधीनता में रहना वर्णन किया था जो कि नगर के गड़रियों के तुल्य कहे गये थे ।"

मैंने कहा, "तुमने मेरे तात्पर्य को बड़ी उत्तमता से समझा । परन्तु क्या तुमने इस बात पर भी ध्यान दिया ?"

"किस बात पर ?"

"इस बात पर, कि उत्साह तत्त्व के विषय में जो हमारा विचार अब बना है वह हमारे तद्विषयक पूर्व वितर्क के बिलकुल विपरीत है । क्योंकि उस समय तो हमारा ख्याल यह था कि यह वासनात्मक तत्त्व का अंग है परन्तु अब हम कहते हैं कि वैसा होना तो दूर, आत्मा के तत्त्वों की कलह में यह विवेक के पक्ष में कहीं अधिक सन्नद्ध रहता है ।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही है ।"

"तो क्या यह उत्साह (ओजस्, तेजस्) तत्त्व इस (विवेक) तत्त्व से भी पृथक् है अथवा यह विवेक का ही आकार विशेष है एवं इस प्रकार आत्मा में तीन नहीं, केवल दो ही तत्त्व हैं, अर्थात् विवेक तत्त्व एवं वासना (कामना) तत्त्व ? अथवा जिस प्रकार नगर में उसके अंग की घटक तीन जातियाँ विद्यमान थीं, धनोपार्जक, सहायक एवं मंत्रदायक, ठीक इसी प्रकार आत्मा में भी एक तीसरा तत्त्व विद्यमान है जो कि उत्साह (ओजस्, तेजस्) तत्त्व है तथा जब तक वह दुष्ट स्वभाव से विकृत न हो जाय तब तक विवेक का सहायक रहता है ?"

उसने उत्तर दिया, "हमको इसे तीसरा ही तत्त्व मानना चाहिये ।"

मैंने कहा, "हाँ, परन्तु तब जब कि, इसको विवेक तत्त्व से उसी प्रकार

पृथक् सिद्ध करके दिखला दिया जाय जिस प्रकार इसको कामना (वासना) तत्त्व से पृथक् सिद्ध कर दिया गया है ।"

उसने कहा, "यह सिद्ध कर दिखलाना कठिन नहीं है । क्योंकि इतना तो बच्चों में भी देखा जाता है कि वे जन्म से ही रोष और उत्साह से आकण्ठ परिपूर्ण होते हैं, और जहाँ तक विवेक का संबंध है, मेरी समझ में उनमें से कुछ तो जीवन भर कभी विवेक भाजन नहीं हो पाये और अधिकांश बहुत देर से विवेकपात्र बनते हैं ।"

मैंने कहा, 'भगवान की सौगन्ध तुमने बड़ी अच्छीब ात कही । और इससे भी आगे चल कर पशुओं में भी ऐसा देखा जा सकता है कि जों तुमने कहा है वह सत्य है । इन उदाहरणों के ही साथ हम होमेर की पूर्वोक्त साक्ष्य को भी जोड़ सकते हैं, "उसने अपनी छाती को पीटा और अपने हृदय को इस प्रकार धिक्कारा ।" इस पंक्ति में होमेर ने स्पष्टतया हमारे अन्तःकरण में स्थित अच्छे बुरे के चिन्तन करने वाले तत्त्व को, अकारण रोष के अनुभव करने वाले तत्त्व को धिक्कारते हुए प्रदर्शित किया है जैसे मानों वह बिलकुल पृथक् तत्त्व हो ।"

उसने कहा, "तुम पूर्णतया सत्य कहते हो ।"

१६—मैंने कहा, "बड़ी कठिनाई से हमने इस जलौघ को पार कर स्थल पर पदार्पण किया है और अब हम इस विषय में प्रायः एक मत हैं कि नगरराष्ट्र और हम में से प्रत्येक की आत्मा में एक से ही तत्त्व समान संख्या में उपलब्ध होते हैं और उनकी संख्या तीन है ।"

"बिलकुल ठीक ।"

"तो क्या हमारा पूर्व स्वीकृत सिद्धान्त निश्चयमेव तत्काल स्पष्ट सिद्ध नहीं हो जाता कि जिस प्रकार और जिस कारण से नगर बुद्धिमान था उसी प्रकार और उसी कारण से व्यक्ति भी बुद्धिमान होता है ।?"

"निश्चयेन ।"

"और इसी प्रकार, जिस कारण से और जैसे व्यक्ति वीर होता है, उसी कारण से और वैसे ही राष्ट्र भी वीर होता है तथा सद्गुणों के घटक सब अन्य तत्त्व भी दोनों में इसी प्रकार उपलब्ध होने चाहिये ?"

"अवश्यमेव ।"

"ग्लौकोन, तब तो मैं ख्याल करता हूँ कि हम ठीक इसी प्रकार से यह भी कह सकगे कि मनुष्य भी उसी प्रकार न्यायी होता है जिस प्रकार से नगर न्यायी था ।"

"यह निष्कर्ष भी अनिवार्य है ।"

"परन्तु यह बात तो हम अवश्य ही नहीं भूल गये होंगे कि राष्ट्र इस कारण न्यायी था कि उसमें उपलब्ध होने वाली तीनों जातियाँ अपना-अपना कर्तव्य पालन करती थीं ।"

उसने कहा, "नहीं, हम यह बात नहीं भूले हैं ।"

"तो हमको यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, हम में से प्रत्येक वह व्यक्ति, जिसके अन्तःकरण में स्थित पृथक्-पृथक् तत्त्व अपना अपना कार्य करते हैं, न्यायी और अपने कार्य को करने वाला होगा ।',

उसने कहा, "हाँ, हमको यह भी सचमुच याद रखना चाहिये ।"

"क्योंकि विवेक तत्त्व बुद्धिमान है एवं परिपूर्ण आत्मा के लिये पूर्व-विचारणा का उपयोग करता है अतएव क्या शासन करना उसी का क्षेत्र नहीं है एवं क्या उत्साह तत्त्व को उसके आधीन रह कर उसका सहायक नहीं होना चाहिये ?"

"अवश्यमेव ।"

"और, क्या, जैसा कि हमने कहा है, संगीत और व्यायाम का संयोग ही इन दोनों को, एक (विवेक) को उदार वचनों और उपदेशों से सघन और पुष्ट करके, तथा दूसरे (उत्साह) को स्वरैक्य और लय से कोमल शीतल एवं मृदुल बनाकर; सुसमन्वित नहीं बना देगा ?"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक।"

"और यह दोनों इस प्रकार पालित होकर, तथा अपने कर्तव्यपालन को ठीक ठीक सीख कर एवं सच्चे अर्थ में शिक्षित होकर वासनात्मक तत्त्व के ऊपर नियंत्रण रक्खेंगे जो हम में से प्रत्येक में आत्मा का बृहत्तम अंश है तथा जो प्रकृत्या लाभों में सबसे अधिक असंतुष्ट रहने वाला है। वे सर्वदा इस की चौकसी रक्खेंगे कि कहीं यह, तथाकथित शरीर संबंधी आनन्दोपभोगों से पूरित और संक्रान्त होकर सम्पुष्ट एवं बलवान हुआ अपने कार्यपालन में निरत न रहे परन्तु अन्य वर्गों को दास बना कर उन पर शासन करने को उद्यत हो जाये (जैसा करना उसके लिये योग्य नहीं है) और सब का जीवन पूर्णतया उलटपुलट कर दे।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही होना चाहिये।"

"और क्या यह दोनों तत्त्व बाहर के शत्रुओं से भी समग्र आत्मा और शरीर के सर्वश्रेष्ठ रक्षा करने वाले नहीं होंगे जब कि इनमें से एक मंत्रणा प्रदान करेगा तथा दूसरा शासक की आज्ञानुसार युद्ध करेगा, और अपने साहस से शासक की योजनाओं को कार्यान्वित करेगा।"

"ऐसा ही है।"

"और इसी प्रकार, मैं समझता हूँ कि हम येक व्यक्ति को वीर भी उसमें इस तेजस् तत्त्व की उपस्थिति के कारण कहते हैं जब कि उसकी स्फूर्ति भयखाने योग्य और भय न खाने योग्य वस्तुओं के विषय में विवेक के परम्परागत आदेशों को सुख दुःख में सुरक्षित बनाये रखती है।"

उसने कहा, "ठीक है।"

"तथा उस व्यक्ति को हम बुद्धिमान कहते हैं जिसमें वह अल्प सा तत्त्व रहता है जो शासन करता है एवं उपर्युक्त आदेशों को प्रचारित करता है, तथा जो अपने पर्यायक्रम से अपने में वह ज्ञान भी धारण किये रहता है कि तीनों तत्त्वों में प्रत्येक के लिये तथा तीनों से घटित समग्र समाज के लिये क्या बात हितकर है।"

"सर्वथा ऐसा ही है।"

"और फिर क्या तुम किसी मनुष्य को इन तीनों तत्त्वों की मैत्री और स्वरैक्यता के ही कारण, सुसंयत नहीं कहोगे अर्थात् जब कि शासक (विवेक) तत्त्व और उसके अनुशासित दोनों तत्त्व इस विश्वास पर एक मत हों कि विवेक को शासन करना चाहिये तथा वे दोनों उसके विरुद्ध कलह न करें।

उसने कहा, "चाहे नगर को लें, चाहे व्यक्ति को संयतता का गुण निश्चयमेव इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

"और निश्चय ही, एक मनुष्य उस ही के कारण और उस ही प्रकार से न्यायी हो सकता है जिसको और जिस प्रकार को तो हमने बारंबार वर्णन किया है।"

"वह तो परमावश्यक बात है।"

मैंने पूछा, "अच्छा तो हमारी न्याय की धारणा की रूपरेखा में कोई विकार (त्रुटि) तो नहीं आगयीजिससे जैसी वह राष्ट्र में प्रतीत हुई थी उससे कुछ भिन्न जैसी प्रतीत होने लगी हो ?"

उसने कहा, "मेरी समझ में ऐसा नहीं है।"

मैंने कहा, "यदि हमारे मन में इस परिभाषा के विपरीत कोई सन्देह अटका रह गया हो तो हम तुम्हारे उत्तर और अपने विश्वास को सामान्य एवं गँवारू कसौटियों से कस कर परिपुष्ट कर सकते हैं।"

"वे क्या हैं ?"

"उदाहरण के लिये मान लो कि आदर्श न्यायी राष्ट्र, और ऐसे ही राष्ट्र से मिलते जुलते जन्म एवं पोषण वाले मनुष्य के विषय में इस प्रश्न का उत्तर माँगा जाय कि क्या हम विश्वास कर सकते हैं कि ऐसा आदमी सोने अथवा चाँदी की न्यस्त धरोहर को मार लेगा ? तुम्हारे ख्याल में कौन ऐसा सोचेगा कि न्यायी मनुष्य अन्यायी मनुष्य की अपेक्षा अधिक सम्भवतया ऐसा आचरण करेगा ?"

उसने कहा, "कोई ऐसा नहीं सोचेगा।",

"और क्या वह व्यक्तिगत जीवन में धर्मलंघन, चोरी, मित्रवंचना से तथा सार्वजनिक जीवन में राष्ट्रवंचना से बहुत दूर नहीं रहेगा ?"

"हाँ, वह इनसे दूर रहेगा।"

"इसके अतिरिक्त शपथपालन तथा समयाभरिक्षण (ठहरावों के पालन) में किसी प्रकार अविश्वसनीय नहीं निकलेगा ?"

"ऐसा कैसे हो सकेगा ?"

"पर स्त्री-गमन, माता-पिता का तिरस्कार, एवं देवताओं की उचित सेवा में प्रमाद (इत्यादि) अपराधों का संबन्ध ऐसे मनुष्य को छोड़ कर किसी अन्य व्यक्ति से ही होगा।"

उसने कहा, "वास्तव में अन्य व्यक्ति से ही होगा।"

"और क्या इस बात का कारण यह तथ्य ही नहीं है कि उसके अन्तःस्थ तत्त्वों में से प्रत्येक तत्त्व शासक और शासितव्य के संबंध में अपना अपना कर्तव्य पालन करता है ?"

"हाँ, यही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

"तो क्या तुम अब भी न्याय का उस शक्ति से कुछ भिन्न होना खोज रहे हो, जो ऐसे मनुष्यों और नगरों को प्रस्तुत करती है ?"

उसने उत्तर दिया, "भगवान् की शपथ, मैं ऐसा नहीं करता।"

१७—"तब तो लो समाप्त और सम्पूर्ण हो गया हमारा स्वप्न—हमारा वह संशय जिसको हमने राष्ट्र निर्माण कार्य के प्रारंभ में ही प्रकट किया था कि हम किसी दैवी प्रेरणा से न्याय के एक प्रकार के मूलतत्त्व एवं स्वरूप की ओर ले जाये जा रहे हैं।"

"परम निश्चयेन।"

"और, हे ग्लौकोन्, ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त में, कि प्रकृत्या चर्मकार के लिये अपने को अन्य कार्य में न लगा कर चर्मकार का ही काम करना योग्य है, और बढ़ई को बढ़ईगीरी का ही काम करना उचित है और अन्य सब लोगों के लिये भी यही बात लागू है, वास्तव में

न्याय की प्रतिच्छाया विद्यमान है और इसी से इसकी उपयोगिता भी है।"

"यह तो प्रत्यक्ष ही प्रतीत होता है।"

"पर प्रत्यक्षतया इस विषय में सच्ची बात तो यह है कि न्याय वास्तव में कुछ इसी प्रकार की वस्तु है, तथापि इसका संबंध मनुष्य के बाह्य स्वकर्तव्य पालन से नहीं है प्रत्युत उससे है जो कि उसके भीतर है तथा जिसका एक सच्चे अर्थ में मनुष्य की आत्मा से एवं मनुष्य के स्वार्थ से संबंध है--अर्थात् किसी मनुष्य को अपनी आत्मा में स्थित तत्त्वों को परस्पर एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये और न परस्पर उनको एक दूसरे से उलझने ही देना चाहिये किन्तु उसको अपने आन्तरिक जीवन, यानी अपने सच्चे स्व(-आत्मा) को सुव्यस्थित करना चाहिये। और इस प्रकार सर्व प्रथम अपने ऊपर स्वामित्व प्राप्त करके वह अपने आचरण को इस प्रकार नियमित करे कि जिससे उसको अन्तःकरण की शान्ति प्राप्त हो। इन तीनों तत्त्वों को, जो कि मानों अक्षरशः स्वरमंडल के उदात्त, अनुदात्त एवं मध्यस्थ तीन स्वर हैं, तथा जो कुछ भी इनके अन्तराल में है उस सब को समन्वित तथा स्वरैक्य में आबद्ध करके और इस प्रकार अपने को वास्तव में अनेक के स्थान में एक (इकाई) व्यक्ति बनाकर, आत्मवान् एवं व्यवस्थित बनाकर इसके पश्चात्—न कि इसके पूर्व—ही उसको धन कमाने, शरीर को स्वस्थ बनाने राष्ट्रकार्य करने या व्यक्तिगत व्यापार इत्यादि करने के धन्धे में आवश्यकतानुसार लगना चाहिये। इस सब कार्यकलाप में लगे हुए उसको उसी कार्य को न्याय मानना और कहना चाहिये जो कि आत्मा की उपर्युक्त अवस्था को उत्पादित तथासुरक्षित रखने में (के योग-क्षेम में) सहायक होता है, तथा उस विज्ञान (विद्या) को बुद्धिमत्ता मानना और कहना चाहिये जो ऐसे आचरण की अध्यक्षता करती है; एवं उस कार्य को अन्याय मानना और कहना चाहिये जो सदा इस आध्यात्मिक संघटना (व्यवस्था) को उखाड़ फेंकने को उद्यत रहता है तथा उस दुर्मति को पाशविक अज्ञान मानना और कहना चाहिये जो कि इस (विनाशकारी)

आचरण की अध्यक्षता करती है।"

"सॉक्रातीस्, तुमने जो कुछ कहा वह पूर्णरूपेण सत्य है।"

मैंने कहा, "बहुत अच्छा। तो यदि हम यह कहें, कि हमने न्यायी मानव एवं राष्ट्र को प्राप्त कर लिया और यह भी जान लिया कि उनमें पाया जाने वाला न्याय वास्तव में क्या है, तो मेरे ख्याल में हम कोई बड़ी गलती नहीं करेंगे।"

उसने कहा, "नहीं, ऐसा कथन गलत नहीं होगा।'

"तो क्या हम ऐसा कहें ?"

"हाँ, हमको ऐसा कहने देना चाहिये।"

१८—मैंने कहा, "एवमस्तु ! अब इसके पश्चात्, मैं ख्याल करता हूँ हमको अन्याय के विषय में विचार करना चाहिये।"

"स्पष्ट है।"

"क्या यह (अन्याय) इन तीन तत्त्वों का गृहकलह ही नहीं होना चाहिये ? अर्थात् उनका परस्पर उलझना, परस्पर एक दूसरे के कार्य में रोड़े अटकाना, तथा एक अंश (तत्त्व) का समग्र आत्मा के प्रति विद्रोह करना, जिससे कि आत्मा पर उसका शासन स्थापित हो जाए जो उसका न्यायोचित भागधेय नहीं है क्योंकि इसकी प्रकृति तो शासक तत्त्व के दासत्व में रहकर उसकी सेवा करना है ? मैं कल्पना करता हूँ, कि कुछ इसी प्रकार के काम और इन तत्त्वों की गड़बड़ तथा उनका अपने उचित मार्ग से बहक जाना ही अन्याय और स्वैरिता, और कायरता और पाशविक अज्ञान और सामान्यतया (संक्षेप में)) पाप है।"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल यही बात है।"

मैंने कहा, तो, क्योंकि अन्याय और न्याय का स्वरूप अब स्पष्ट हो गया है। अतएव अन्याय करना, और अन्यायी होना एवं दूसरी ओर न्यायपूर्वक काम करना—इन सब शब्दों का अर्थ एक दम स्पष्ट हो गया है।"

"सो क्यों ?"

मैंने उत्तर दिया, "क्योंकि मनुष्य की आत्मा में ये (न्याय और अन्याय) दोनों वैसे ही हैं जैसे कि शीरर में स्वास्थ्य और रोग इनमें कोई भेद नहीं है।"

उसने पूछा "किस प्रकार ?"

"स्वस्थ वस्तुएँ स्वास्थ्य जनक होती हैं और रोगपूर्ण रोगोत्पादक।"

"हाँ।"

"तब क्या न्यायोचित कार्यों का करना न्याय को तथा अन्यायपूर्ण कार्यों का करना अन्याय को उत्पन्न नहीं करता ?"

"अवश्यमेव ऐसा ही होता है।"

"परन्तु स्वास्थ्य सम्पादन करना शारीरिक तत्त्वों में परस्पर शासित और शासितव्य का स्वाभाविक संबंध स्थापित करना है, जबकि रोग उत्पन्न करना ऐसी दशा उत्पन्न करना है कि जिसमें शासि तऔर शासितव्य का पारस्पिक संबंध प्रकृतिविरुद्ध हो।"

"हाँ, ऐसा ही है।"

"और क्या, इस प्रकार, न्याय को उन्पन्न करना, आत्मा में उसके तत्त्वों के बीच शासित और शासितव्य का परस्पर स्वाभाविक संबंध स्थापित करनाही नहीं है, और अन्याय उनको प्रकृति के विरुद्ध शासन करने देना अथवा शासित होने देना नहीं है ?"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल ऐसा ही है।"

"तब तो ऐसा लगता है कि पुण्य (सत्कर्म) एक प्रकार से आत्मा का स्वास्थ्य सौन्दर्य और सुदशा है और पाप उसका रोग, कुरूपता और कुदशा है।"

"ऐसा ही है।"

"तो क्या यह भी सत्य नहीं है कि सुन्दर और आदरणीय व्यापार पुण्योपलब्धि की और प्रवृत्त होते हैं तथा कुरूप पाप की ओर ?"

"अवश्यमेव।"

१९—"और अब अन्त में, ऐसा लगता है कि हमको यह विचार करना शेष रह गया है कि न्याय करना और सम्मान योग्य कार्यों का अनुष्ठान करना लाभदायक है या नहीं, फिर चाहे कोई व्यक्ति न्यायी होने के लिये सुविदित हो चाहे न हो। अथवा इसके विपरीत अन्याय, और अन्यायी होना लाभदायक है। फिर कोई मनुष्य ऐसा करके चाहे अदण्डित और असं-शोधित क्यों न रहे।"

उसने कहा, "मेरे विचार में तो सॉक्रातीस्, अब यहाँ से आगे हमारा अनुसंधान परिहास योग्य होता जा रहा है—यदि जब कि सर्व सम्मति से शरीर संघटना के विनष्ट हो जाने पर जीवन दूभर हो उठता है फिर चाहे दुनिया भर के भोजन, पेय, धन और शक्ति सभी उपलब्ध क्यों न हों तो क्या तब भी हमसे यह कल्पना करने को कहा जाता है, कि जब उस तत्त्व का (आत्मा का) जिसके आधार पर हमारा जीवन आश्रित है स्वरूप और संघटन अव्यवस्थित और विकृत हो गया हो तो भी जीवन धारण करने योग्य बना रहेगा यदि मनुष्य को मनमानी करने भर दी जाय और वह कुछ भी करना चाह सके, बस वह काम न करे जिसके द्वारा बुराई और अन्याय से मुक्ति मिले और जिससे न्याय और सत्कर्म की उपलब्धि हो—रहा न्याय और अन्याय का स्वरूप वह तो अब वैसा प्रदर्शित हो ही चुका है जैसा कि हमने उसको वर्णन किया है?"

मैंने कहा, "हाँ परिहास योग्य तो है पर तो भी, क्योंकि हम अब इस उच्च स्थान तक आ पहुँचे हैं, हमको अपने निर्णयों की यथार्थता को यथा संभव स्पष्टता के साथ खोज लेने के प्रयत्न में थकावट का अनुभव नहीं करना चाहिये।

उसने कहा, "हरे हरे, हिम्मत हारना तो कदापि हो ही नहीं सकता।"

मैंने कहा, "तो इधर आओ, जिससे तुम यह देख सको कि बुराइयाँ कितने प्रकार की होती हैं। मेरा तात्पर्य केवल उन बुराइयों से है जो निरीक्षण और पृथगन्वेषण के योग्य हैं।"

उसने कहा, "मैं आप का अनुसरण कर रहा हूँ; आप आगे चलिये ।"

मैंने कहाँ, "क्योंकि अब हम तर्क में इस उच्च भूमिका पर आ पहुँचे हैं अतएव मुझको ऐसा लगता है कि मानों मैं ऊँचे धौरेरे से देख रहा होऊँ कि सत् (पुण्य) का स्वरूप तो एक ही है परन्तु बुराइयों के रूप अनन्त हैं तथापि उनमें से कोई चार ऐसी हैं जो विशेष रूप से विचार करने योग्य हैं ।"

उसने कहा, "इससे तुम्हारा अभिप्राय है ?"

मैंने उत्तर दिया, "जितने प्रकार की विभिन्न लक्षणों वाले राष्ट्रों की संघटनाएँ होती हैं आत्मा के आचरणों का भी उतने ही प्रकार के होना संभव प्रतीत होता है ।"

"कृपया कहिये, वह कितने प्रकार की होती हैं ?"

मैंने कहा, "राष्ट्र संघटनाएँ पाँच प्रकार की होती हैं और पाँच ही प्रकार की आत्माएँ होती हैं ।"

उसने कहा, "मुझे बतलाइये वे कौन-सी हैं ?"

मैंने कहा, "लो बतलाता हूँ; शासन का एक प्रकार वह संघटना होगी जिसकी व्याख्या हमने अभी अभी की है परन्तु इसको जो नाम दिये जा सकते हैं वे दो हैं । यदि शासकों के मध्य में कोई एक व्यक्ति सर्वोत्तम गुण सम्पन्न उदित हुआ तो इसको एकतंत्र राज्य कहेंगे; यदि एक से अधिक हुआ तो इसको कुलीनतंत्र राज्य कहेंगे ।"

उसने कहा, "सच है ।"

मैंने कहा, "अच्छा, मेरे मन में विद्यमान शासनप्रणालियों के प्रकारों में से यह एक प्रकार है । क्योंकि, यदि शासकों का शिक्षण और पोषण हमारे द्वारा पूर्णवर्णित प्रकार का बना रहे तो हमारे नगर राष्ट्र के नियमों में एक अथवा अनेक शासकों द्वारा वर्णनीय सीमा (मात्रा) वाला परिवर्त्तन नहीं किया जायेगा ।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसा होना संभवनीय नहीं है ।"

पाँचवीं पुस्तक

१—"तो ऐसे नगर अथवा नगरनीति (-व्यवस्था) के लिये मैं 'अच्छे' और "न्याययुक्त" शब्द का उपयोग करता हूँ तथा तदनुरूप मनुष्य के लिये भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग करता हूँ। और यदि यह ठीक है, तो शेष सब को मैं, राष्ट्रों के शासन के संबंध की दृष्टि एवं व्यक्तिगत चरित्रनिर्माण के संबंध की दृष्टि दोनों ही दृष्टियों से बुरा कहता हूँ, तथा वे बुराई के चार प्रकारों के अन्तर्गत आते हैं।"

उसने कहा, "वे कौन से प्रकार हैं?"

इस पर मैं उनको उस क्रम में गिनाने जा रहा था जिसमें कि वे मुझको एक दूसरे से विकसित हुए प्रतीत होते थे; तभी पॉलीमार्कस् ने, जो कि अदेइमान्तॉस् से थोड़ी दूर पर बैठा हुआ था, अपना हाथ बढ़ाया तथा ऊपर की ओर से कन्धे के पास उसके उत्तरीय को पकड़ कर उसको अपनी ओर खींचा एवं स्वयं आगे की ओर झुक कर उसके कान में कुछ शब्द कहे। इस कानाफूँसी में से हमने निम्नलिखित शब्दों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुना। "हम इसे जाने दें या क्या करें?"

अदेइमान्तॉस् ने अपने स्वर को ऊँचा करके कहा, "कदापि नहीं।"

मैंने कहा, "कहिये वह कौन है जिसको आप जाने नहीं देना चाहते?"

उसने उत्तर दिया, "तुम्हीं हो।"

मैंने कहा, "कृपया यह भी कहिये कि किस विशेष कारण से आप ऐसा कर रहे हैं?"

उसने उत्तर दिया, "हम समझते हैं कि तुम आलस्यप्रमादी हो तथा हमको प्रकृत विषय के समग्र विभाग से और सो भी ऐसे वैसे नहीं परम महत्त्वपूर्ण विभाग से वंचित रखने का प्रयत्न कर रहे हो, जिससे कि तुमको

उसकी व्यख्या करने का कष्ट न उठाना पड़े। अत्यन्त संक्षेप तथा हलके प्रकार से यह कह कर कि "स्त्रियों और बच्चों के संबंध में तो निश्चय ही यह सब को स्पष्ट है कि मित्रों की सभी वस्तुएँ सब मित्रों की सामान्य सम्पत्ति होंगी" तुम इस विषय-विभाग को उड़ा देने की आशा करते हो।"

मैंने कहा, "अदेइमान्तॉस, तो क्या यह बात ठीक नहीं है ?"

उसने कहा, "हाँ ठीक तो है, परन्तु इस 'ठीक' शब्द की भी अन्य वस्तुओं के समान व्याख्या की आवश्यकता है कि जिससे इस समाज की पद्धति और प्रकार को जाना जा सके। अनेकों पद्धतियाँ होनी संभव हैं इसलिये जो पद्धति तुम्हारे मन में है उसका अतिक्रमण न करो। हम तो बहुत देर से इस प्रतीक्षा में हैं कि तुम बच्चों के प्रजनन और पोषण दोनों के ही विषय में कुछ कहोगे तथा स्त्रियों और बच्चों के समविभाजन के विषय को, जिसका तुमने उल्लेख किया है, भली-भांति समझाओगे। हमारा विचार है कि इस विषय का ठीक या अनुचित प्रबन्ध राष्ट्र की व्यवस्था में आकाश पाताल का अन्तर कर देने वाला है। अतः क्योंकि अब तुम इसकी पर्याप्त व्याख्या किये बिना अन्य व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करना चाहते हो, हमने दृढ़ निश्चय कर लिया है जैसा कि तुमने सुन ही लिया है, कि हम तुमको तब तक (आगे) नहीं जाने देंगे जब तक कि तुम इस विषय की भी अन्य विषयों के समान पूर्ण व्याख्या नहीं कर दोगे।"

ग्लौकोन ने कहा, "इस प्रस्ताव के समर्थन में मेरी सम्मति भी सम्मिलित कर ली जाय।"

थ्रासीमाकस् बोला, "सॉक्रातीस्, किंबहुना, तुम इसको हम सब का संयुक्त प्रस्ताव समझो।"

२—मैंने कहा, "इस प्रकार मुझको चुनौती देकर आप लोगों ने यह क्या किया ? इस राष्ट्रनीति के विषय में तुमने फिर नये सिरेसे कैसा महान विवाद छेड़ दिया, जब कि इसकी कल्पित समाप्ति पर मैं यह जान

कर प्रसन्न हो रहा था कि तुमने इसके मेरे द्वारा वर्णित रूप को स्वीकार कर लिया है। तुम यह अनुभव नहीं कर रहे हो कि इस माँग को उत्थापित करके तुम कैसे तर्कों के दल को छेड़ बैठे हो। मैं इस बात को पहले ही ताड़ गया था एवं सब को अनन्त कष्ट से बचाने के लिये ही इसको टाल रहा था।"

थ्रासीमाकॉस् ने कहा, "अच्छा, क्या आप यह ख्याल करते हैं कि यह मित्रमंडली यहाँ सोना खोजने के लिये आई है न कि विवेचना सुनने के लिये ?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ, पर उसकी कोई सीमा भी तो होनी चाहिये।"

ग्लौकोन ने कहा, "हाँ, सॉक्रातीस्, ऐसे प्रवचनों को सुनने के लिये विवेकवान् व्यक्ति का समग्र जीवन ही सीमा है। अतएव हमारे विषय में कोई चिन्ता मत करो, और स्वयं अपने आप भी हमारे प्रश्नों की व्याख्या करने में क्लान्ति का अनुभव न करो। अर्थात् यह पत्नियों और सन्तति का समोपभोग अथवा समविभाजन हमारे संरक्षकों में किस प्रकार से व्यवस्थित होगा इस विषय पर अपनी सम्मति बतलाइये और इस विषय पर अपनी सम्मति सूचित कीजिये कि जन्म और पाठशाला की शिक्षा के आरंभ के बीच के समय में बच्चों का पोषण किस प्रकार का हो क्योंकि यही उनकी शिक्षा का सबसे कठिन भाग समझा जाता है। अतः यह किस प्रकार से होना चाहिये इसको हमें समझाने का प्रयत्न कीजिये।"

मैंने कहा, "प्रिय मित्र, इस विषय की व्याख्या कोई सरल काम नहीं है; क्योंकि हमारे पूर्व निष्कर्षों की अपेक्षा इस विषय में कहीं अधिक संशयों की उत्पत्ति होती है। कारण कि पहले तो प्रस्तुत विषय की व्यवहारिकता पर ही संदेह किया जा सकता है और यदि व्यवहारिकता को स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह सन्देह बना रहेगा कि क्या यह योजना सर्व-श्रेष्ठ है। यही कारण है कि प्रिय मित्र मैं इस विषय की मीमांसा आरंभ करने में झिझकता हूँ कि कहीं यह सिद्धान्त स्वप्नमात्र न समझा जाय।"

उसने कहा, "आप संकोच न कीजिये, क्योंकि आप के श्रोता न तो अविचारवान् हैं, न संशयालु और न प्रतिकूल ।"

और मैं बोला, "प्रिय सुहृद् क्या तुम्हारा यह कथन मुझे सान्त्वना देने के लिये है ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, यही बात है ।"

मैंने कहा, "अच्छा, तब तो मैं तुम्हें बतलाऊँ कि इसका परिणाम बिलकुल उलटा ही हुआ है । यदि मैं इस विषय में अपने ज्ञान पर विश्वास रखता होता तब तो तुम्हारा सान्त्वना देना अत्युत्तम होता; क्योंकि अत्यन्त महत्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रिय विषय पर पूर्णज्ञान के साथ बुद्धिमान मित्रों के समक्ष सत्य के प्रवचन करने में ही कुशलता और साहस दोनों ही रहते हैं । परन्तु जब कोई स्वयं ी संशय में पड़ा मार्ग खोज रहा हो, जैसी कि मेरी स्थिति है, तब किसीविषय पर बोलना अत्यन्त भयपूर्ण और स्खलन-पूर्ण उपक्रम है । तथा भय इस बात का नहीं है कि मेरी हँसी होगी, क्योंकि यह तो बच्चों की सी बात होगी. परन्तु इस बात का है कि सत्य के मार्ग में कहीं मेरा पैर न फिसल जाय जिससे मैं ऐसे स्थल पर च्युत होऊँ एवं अपने मित्रों को भी अपने साथ घसीटूँ, जहाँ पर ठोकर न खाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अतएव, ग्लौकोन मैं जो कुछ कहने वाला हूँ उसके लिये (नेमेसिस्) 'अद्रस्तेइया' को नमस्कार किये लेता हूँ । क्योंकि मेरा वास्तविक विश्वास यह हैकि किसी मनुष्य को आदरयोग्य, (सुन्दर) शिव, अथवा सत्य (न्याय) विषयों में पथभ्रष्ट करने की अपेक्षा अनिच्छापूर्वक मनुष्य-हत्या करना कहीं स्वल्प पाप है । मित्रों की मण्डली की अपेक्षा शत्रुओं के साथ ऐसे भय में पड़ना अच्छा है, इससे तुम्हारी सान्त्वना कुछ भी नहीं है ।"

और ग्लौकोन ने हँस कर कहा, "नहीं, सॉक्रातीस्, यदि तर्क की किसी वितथ युक्ति से हमारी कोई हानि हुई भी तो हम तुमको हत्या के अपराध

से (पहले से ही) मुक्त किये देते हैं। तुमको विश्वास दिलाते हैं कि तुम्हारे हाथ निर्दोष हैं और तुम वञ्चक नहीं हो। अतएव पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ बोलो।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है। कानून के अनुसार, जो कोई इस पाप से मुक्त कर दिया जाता है, वह शुद्ध गिना जाता है और जब वहाँ (परलोक या कानून में) ऐसा है तो यहाँ (इस लोक या तर्क में) भी ऐसा माना जा सकता है।"

उसने कहा, "तो फिर इस आपत्ति का ध्यान न कीजिये, आगे कहिये।"

मैंने कहा, "तो अब मुझे मुड़ना चाहिये और जो बात यथाक्रम पहले कह दी जानी चाहिये थी उसको अब कहना चाहिये। स्यात् यही मार्ग ठीक है कि पुरुषों के नाटक की समाप्ति पर अब पर्याय से स्त्रियों का अभिनय आरंभ होना चाहिये; विशेष कर इसलिये कि आप लोगों का ऐसा आग्रह है।"

३—हमारे वर्णन के अनुसार जन्मे और पालेपोसे गये मनुष्यों के लिये बच्चों एवं स्त्रियों का उचित अधिकार (प्राप्ति) और उपयोग मेरी सम्मति में उसके अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं है जो कि हमारे द्वारा इंगित आरंभ के अनुकूल हो। मेरी धारणा है कि अपने विवेचन में हम इन लोगों को (रेवड़) जनवर्ग के संरक्षक के रूप में स्थापित करना चाहते थे।"

"हाँ।"

"अच्छा तो हम इस सादृश्य को चालू रक्खें और इसी के अनुरूप प्रजनन और पोषण उनके लिये निरूपित करें, और फिर देखें कि यह ठीक रहता है या नहीं।"

उसने कहा, "किस प्रकार ?"

"इस प्रकार। क्या हम चौकसी करने वाले कुत्तों की मादाओं से यह

आशा करते हैं कि वे भी उसकी रक्षा करें जिसकी नर रक्षा करते हैं, उनके साथ शिकार करें एवं उनके अन्य व्यापारों में भाग लें अथवा यह आशा करते हैं, कि वे घर पर रहें क्योंकि वे पिल्लों के जनने और पोसने के कारण इन कार्यों के अयोग्य हैं) जब कि नर रेवड़ की रक्षा का परिश्रम और समग्र चिन्ता का भार वहन करें ?"

उसने उत्तर दिया, "वे सब कार्यों में समविभागिनी होती हैं, अन्तर केवल इतना है कि हम व्यवहार में मादाओं को अपेक्षाकृत निर्बल और नरों को अपेक्षाकृत सबल मानते हैं ।"

मैंने कहा, "तो क्या विभिन्न जीवधारियों को एक ही प्रकार का शिक्षण और पोषण प्रदान किये विना उनका एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिये उपयोग किया जा सकता है ?"

"नहीं किया जा सकता ।"

"तो यदि स्त्रियों का हम उन्हीं कार्यों के लिये उपयोग करना चाहें जिनके लिये पुरुषों का करते हैं तो हमको उन्हें उन्हीं बातों की शिक्षा भी देनी चाहिये ।"

"हाँ ।"

"हमने पुरुषों को व्यायाम के सहित संगीत की शिक्षा दी थी ।"

"हाँ ।"

"तब तो हमको इन दोनों कलाओं की शिक्षा स्त्रियों को भी देनी चाहिये और युद्ध कला की भी और उनको भी पुरुषों के सदृश् कार्यों में नियोजित करना चाहिये ।,'

उसने उत्तर दिया, "तुम जो कहते हो उससे तो यही निष्कर्ष संभव प्रतीत होता है ।"

मैंने कहा, "यदि हमारे वचनों को वास्तविकता को प्राप्त होना है तो स्यात् वर्त्तमान रीतिरिवाज़ों से उनका अन्तर हमारे प्रस्तावों में से बहुतों

को उपहासास्पद जैसा प्रदर्शित करेगा।"

उसने कहा, "हाँ, सचमुच ऐसा ही होगा।"

मैंने कहा, "अच्छा तो इनमें सबसे अधिक उपहास्य बात तुमको क्या प्रतीत होती है ? प्रत्यक्षतः यही न कि अल्प अवस्था की ही नहीं बल्कि अधिक अवस्थावाली नारियाँ नग्न होकर पुरुषों के साथ व्यायामशाला में व्यायाम करती हों, जिस प्रकार कि झुर्रियाँ वाले कुरुप वृद्धपुरुष व्यायामशाला में व्यायाम करने में जुटे रहते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, वास्तव में आजकल की स्थिति में तो यह बात उपहासास्पद प्रतीत होगी ही।"

"तो, क्योंकि हमने अपने मन की बात कहने का निर्णय कर लिया है अतएव हमको उन सब उपहासों से नहीं डरना चाहिये जिनसे विदग्ध लोग इस महान क्रान्ति का, स्वागत करेंगे और न उन उक्तियों से डरना चाहिये जो वे व्ययाम और संस्कार-शिक्षा के विषय में और सर्वोपरि (स्त्रियों के) कवच धारण करने और अश्वारोहण के विषय में कहेंगे।"

उसने कहा, "आप ठीक कहते हैं।"

"परन्तु, क्योंकि हमने आरंभ कर दिया है अतएव इन विदग्ध जनों से अपना सामान्य अभ्यास छोड़ कर संयत होने की प्रार्थना करने के उपरान्त हमको नियम के कर्कश मार्ग का अनुसरण करना ही चाहिये, तथा उनको यह स्मरण कराना चाहिये कि अभी अधिक समय नहीं हुआ जब कि हैलास् लोग नग्न दिखलाई पड़ना इसी प्रकार परिहासास्पद मानते थे जैसा कि आजकल अधिकांश बर्बर लोग मानते हैं। और जब पहले पहल क्रीतीनिवासियों ने तथा तदुपरान्त लाकेदैमॉन्-निवासियों ने व्यायाम की प्रथा प्रारंभ की तो भी तत्कालीन विदग्धजनों को उसकी खिल्ली उड़ाने की छूट रही होगी। क्या तुम ऐसा नहीं समझते ?"

"ऐसा ही समझता हूँ।"

"परन्तु मैं समझता हूँ कि जब अनुभव ने यह दिखला दिया कि इस प्रकार की सब वस्तुओं को ढाँक कर रखने की अपेक्षा नग्न रखना अच्छा है, तब आँखों का हँसना उस तथ्य के समक्ष अन्तर्धान हो गया जिसको विवेक ने सर्वोत्तम प्रकट किया और इसने यह बात भी स्पष्ट कर दी वह मनुष्य नासमझी की बात करता है जो बुराई को छोड़ अन्य किसी बात को परिहास योग्य समझता है, और मूर्खता एवं हानि के अतिरिक्त निरर्थकता के अन्य नमूने पर खिल्ली उड़ाने की चेष्टा करता है अथवा अपनी गांभीर्य-गरिमा के लिये 'शिव' के अतिरिक्त सुन्दर का कोई अन्य मानदण्ड स्थापित करता है।"

उसने कहा, "पूर्ण निश्चयेन ऐसा ही है।"

४—तो क्या इन प्रस्तावों के संबंध में सबसे पहली बात जिस पर हमको एक मत होना यही नहीं है कि ये प्रस्ताव व्यवहारिक हैं या नहीं ? तथा हमको यह विवाद उन सब के लिये खुला छोड़ रखना चाहिये जो परिहास में अथवा गंभीरता पूर्वक यह प्रश्न उठाते हैं किनारी की प्रकृति पुरुष के सब कार्यों में भागीदार बनने की योग्यता रखती है अथवा किसी कार्य में भी भागीदार बनने की क्षमता नहीं रखती, अथवा कुछ कार्यों में भागीदार बनने की योग्यता रखती है शेष में नहीं, एवं युद्ध व्यापार इनमें से किस कोटि में आता है। क्या यही इस विषय को प्रारंभ करने का सर्वोत्तम मार्ग नहीं है, जो कि स्वाभाविकतया और लोकोक्ति के अनुसार श्रेष्ठ परिणति को पहुँचाने वाला है ?"

उसने कहा, "हाँ, यही सब से श्रेष्ठ मार्ग है।"

"तो क्या उन प्रतिपक्षियों की ओर से भी अपने से शास्त्रार्थ करें जिससे कि विरोधियों का पक्ष भी असमर्थित तथा अनुपस्थित न रहे ?"

उसने उत्तर दिया, "इसको कौन रोकता है ?"

"तो क्या हम उनकी ओर से यह कहें, 'सॉक्रातीस्, और ग्लौकोन

तुम्हारे विरुद्ध अन्य लोगों के विवाद करने की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि अपने राष्ट्र की स्थापना के आरंभ में ही तुम इस बात पर एक मत हो चुके हो कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य के रूप में उसी एक काम पर ध्यान देना चाहिये जिसके लिये वह व्यक्ति स्वभाव से ही उपयुक्त है ?' 'मैं समझता हूँ कि हम निःसन्देह इस विषय में एकमत हैं।' 'तब क्या यह बात अस्वीकार की जा सकती है कि पुरुष और स्त्री में प्रकृति से ही महान् अन्तर है ?' 'सो तो निश्चय ही है।' 'तो क्या यह उचित नहीं है कि इनमें से प्रत्येक के लिये इस अन्तर के अनुरूप भिन्न कार्य निरूपित किया जाय ?' 'अवश्यमेव।' 'तो जब तुम एकदम इस स्थिति को पीठ देकर यह कहते हो कि, यद्यपि पुरुष और स्त्री का स्वभाव एक दूसरे से बिलकुल अलग है, तो भी उन दोनों को एक से ही काम करने चाहिये तो तुम यह बात कैसे अस्वीकार कर सकते हो कि तुम गलती पर हो और स्वयं अपने कथन का ही विरोध कर रहे हो ?' चतुर मित्र, क्या इस प्रश्न का उत्तर देकर तुम मुझे चकित कर सकते हो ?"

उसने उत्तर दिया, "इस आकस्मिक अभियोग का सहसा उत्तर देना सरल नहीं है। परन्तु मैं आप से प्रार्थना करूँगा और करता हूँ कि हमारी ओर से जो कुछ भी युक्तियाँ संभव हों उनको उद्‌घाटित करने में आप अपनी वाणी का उपयोग करें।"

मैंने कहा, "ग्लौकोन, यह और इसी प्रकार की बहुत सी कठिनाइयाँ मैं बहुत पहले से जानता था, इसीलिये स्त्रियों की प्राप्ति और बालकों के पोषण के कानून की चर्चा छेड़ने में सकुचाता था।"

उसने कहा, "भगवान् जानते हैं कि यह सरल काम नहीं है। नहीं, ईश्वर की सौगन्द सरल नहीं है।"

मैंने कहा, "नहीं, सरल नहीं है। पर असल बात तो यह है कि चाहे कोई सरोवर में गिर पड़े चाहे समुद्र में, तैरना तो उसको पड़ेगा ही।"

"सर्वथा, यही बात है।"

"तब हमको भी युक्तियों के सागर में से बच निकलने के लिये इस आशा में तैरते रहना चाहिये कि कोई मछली (डेलफ़िना) हमको अपनी पीठ पर उठा लेगी अथवा अन्य कोई अतर्कित सुत्राणोपाय प्राप्त हो जायगा।"

उसने कहा, "ऐसा ही सूझ पड़ता है।"

मैंने कहा, "अच्छा आओ, यदि इस कठिनाई से बाहर होने का कोई मार्ग मिल सके तो उसका विचार करें। इस बात पर तो हम एकमत हो ही चुके कि विभिन्न प्रकृतियों का व्यवसाय विभिन्न प्रकार का होना चाहिये और पुरुषों और स्त्रियों की प्रकृति परस्पर भिन्न है। और तिस पर भी, अब, हम यह कहते हैं कि इन विभिन्न प्रकृतियों का काम एकसा होना चाहिये। यही तो अभियोग है न ?"

"बिलकुल यही है।"

मैंने कहा, "ग्लौकोन, यह विसंवादिता की कला भी क्या ही भव्य कला है !"

"ऐसा क्यों ?"

मैंने कहा, "क्योंकि बहुत से आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध भी इसमें फिसल पड़ते हैं और कल्पना करते है कि वे विवाद नहीं बल्कि युक्तिपूर्ण तर्क कर रहे हैं, क्योंकि वे विवेचना के विषय का उचित विभाजन और पृथ्क्करण नहीं कर पाते। वे केवल शब्दात्मक विसंवादिता का अनुसरण करते हुए वितण्डा करते हैं न कि तर्क।"

उसने कहा, "हाँ, बहुतों के विषय में ऐसा ही होता है; परन्तु क्या यह कथन इस क्षण हमारे विषय में लागू होता है ?"

मैंने कहा, "सर्वथा ! कुछ भी हो, मुझे शंका होती है कि हम अनजाने वितण्डावाद में फिसले पड़ रहे हैं।"

"किस प्रकार ?"

"असमान प्रकृतियों को एक ही प्रकार की प्रवृत्तियों में (व्यापारों में) भागीदार नहीं होना चाहिये, इस सिद्धान्त का अनुसरण हम बड़े पौरुष के साथ एवं वितण्डा की तरह शब्दशः और अक्षरशः कर रहे हैं। परन्तु हम यह विचार करने के लिये तनिक भी नहीं ठहरे कि जब हमने पृथक् प्रकृतियों के लिये पृथक् और समान प्रकृतियों के लिये समान कार्य निरूपित किये थे तो उस समय हमारे मस्तिष्क में किस विशिष्ट प्रकार की भिन्नता और अभिन्नता थी तथा किस वस्तु के सम्बन्ध में हम उसको लक्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे।"

उसने कहा, "नहीं, हमने इस बात का विचार नहीं किया।"

मैंने कहा, "इसी तर्कपद्धति की पुष्टि में, हम अपने आप से यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या खल्वाट मनुष्यों और लम्बकेशों की प्रकृतियों में परस्पर विरोध है अथवा नहीं। तथा यह मान लेने के उपरान्त कि उनकी प्रकृतियों में विरोध है, यदि खल्वाट मोची का कार्य करते हों तो हम लम्बकेशों को ऐसा करने का निषेध कर सकते हैं और यदि लम्बकेश ऐसा करते हों तो खल्वाटों को निषेध कर सकते हैं।"

उसने कहा, "यह तो परिहास की सी बात होगी।"

मैंने कहा, "परन्तु ऐसा क्या इस कारण के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से होगा कि हमने उस समय समानता और भिन्नता को प्रत्येक अर्थ में निरूपित नहीं किया था परन्तु हम अपना ध्यान केवल उस प्रकार की भिन्नता और समानता की ओर लगाये हुए थे जिनका औचित्य किसी व्यापार विशेष के सम्बन्ध में है? उदाहरण के लिये, हमारा तात्पर्य यह है कि एक पुरुष और एक स्त्री जिनका मस्तिष्क वैद्यों का सा है, एक सी प्रकृति वाले कहे जा सकते हैं। क्या तुम ऐसा नहीं समझते?"

"मैं ऐसा ही समझता हूँ।"

परन्तु एक पुरुष वैद्य और पुरुष बढ़ई की प्रकृति एक दूसरे भिन्न होगी ?"

"निश्चयमेव ऐसा ही है।"

५—मैंने कहा, "तो, इसी प्रकार, यदि पुरुष और स्त्रियाँ किन्हीं कलाओं अथवा धन्धों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् योग्यता रखते प्रतीत हों तो हम यह कहेंगे जो कला या धन्धा जिसकी योग्यता के उपयुक्त हो वह उसको दिया जाय। परन्तु यदि ऐसा प्रतीत हो कि उसमें केवल इतना अन्तर है कि स्त्री जननी और पुरुष जनक होता है तो हम कहेंगे कि इस बात का अभी तक कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया कि स्त्रियाँ पुरुषों से हमारे प्रकृत विषय (युद्ध में भाग लेने) के सम्बन्ध में भिन्न होती हैं, इसके विपरीत हम ऐसा ही समझते रहेंगे कि हमारे रक्षकों और उनकी पत्नियों को एक समान धन्धों का अनुसरण करना चाहिये।"

उसने कहा, "और ऐसा ही उचित है।"

"तो दूसरी बात जिसको बतलाने का आदेश हमको अपने प्रतिपक्षी से करना चाहिये क्या यही नहीं है कि राष्ट्र संचालनकार्य की ठीक-ठीक वह कौन सी कला या धन्धा है जिसके संबंध में ति स्त्री की प्रकुपुरुष की प्रकृति से भिन्न है ?"

"यह तो किसी भी प्रकार उचित होगा।"

"तब तो स्यात् कोई अन्य व्यक्ति भी वही बात कह सकेगा जो कि तुम अभी तनिक देर पहले कह रहे थे कि तत्क्षण संतोषप्रद उत्तर देना सरल काम नहीं है परन्तु चिन्तन के लिये समय मिलने पर कोई कठिनाई नहीं होगी।"

"वह ऐसा उत्तर दे सकता है।"

"तो क्या हम इस प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित करने वाले सज्जन से प्रार्थना करेंगे कि वह हमारे साथ आयें; सम्भव है कि स्यात् हम उनके

प्रति यह स्पष्ट करने में समर्थ हो सकें कि राष्ट्र के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाला कोई धन्धा ऐसा नहीं है जो कि स्त्रियों से ही विशेष रूप से सम्बन्ध रखता हो ?"

"सर्वथा।"

"अच्छा तो आइये, हम उससे कहेंगे, हमारे प्रश्न का उत्तर दीजिये। क्या किसी व्यक्ति के स्वाभाविकतया किसी कार्य के लिए क्षमता सम्पन्न होने और किसी अन्य व्यक्ति के किसी कार्य के लिये क्षमतासम्पन्न न होने के भेद का आधार तुम्हारे मत में यही है न कि पहला व्यक्ति उस कार्य को सरलता से सीख लेता है तथा दूसरा कठिनता से; पहला व्यक्ति थोड़ी सी शिक्षा के द्वारा अधीत विषय में अपने आप बहुत कुछ खोज निकालता है, परन्तु दूसरा बहुत अधिक शिक्षा तथा अभ्यास के उपरान्त जो उसने अध्ययन किया है उसको याद भी नहीं रख सकता, तथा एक की शारीरिक शक्तियाँ उसके मस्तिष्क की उचित सेवा करती हैं, जब कि दूसरे का शरीर उसके लिये बाधास्वरूप है ? क्या इसके अतिरिक्त कोई और भी बातें हैं जिनके द्वारा तुम प्रकृति-प्रदत्त-प्रतिभा वाले व्यक्ति को प्रतिभा शून्य व्यक्ति से पृथक् कर सकते हो ?"

उसने कहा, "कोई भी व्यक्ति इनके अतिरिक्त कोई अन्य बात नहीं बतला सकेगा।"

"तो क्या तुम मनुष्य द्वारा किये जाने वाले किसी ऐसे धन्धे को जानते हो कि जिसमें पुरुष उर्पयुक्त सब बातों में स्त्रियों से बढ़कर नहीं होता ? क्या हमको बुनना, खजलों की देखरेख करना, उबालना और अचार-मुरब्बे इत्यादि बनाने का उल्लेख करके गाथा को विस्तार देना होगा, क्योंकि यह काम ऐसे हैं जिन पर स्त्रियों को बड़ा गर्व है तथा जिनमें उनका हार जाना अत्यन्त उपहासास्पद माना जाता है ?"

उसने कहा, "आप बिलकुल ठीक कहते हैं कि पुरुषों को प्रायः सभी

धन्धों में स्त्रियों से बहुत अधिक बढ़ कर माना जा सकता है। यह सच है कि बहुत सी स्त्रियाँ बहुत सी बातों में बहुत से पुरुषों से बढ़ कर होती हैं पर सामान्यरूपेण तो जैसा तुम कहते हो वैसा ही है।"

"तब तो, प्रियमित्र, राष्ट्र के प्रबन्धकों का कोई धन्धा ऐसा नहीं है जो स्त्रियों से इसलिये संबन्ध रखता हो कि वे स्त्रियाँ हैं अथवा पुरुषों से इसलिये संबंध रखता हो कि वे पुरुष हैं; बल्कि प्रकृति की देन तो दोनों में ही समानरूपेण वितरित हुई है तथा स्त्रियाँ भी सब धन्धों में स्वभावतः भागीदार होती हैं और पुरुष भी——तथापि सभी कार्य के लिये स्त्रियाँ पुरुषों से निर्बलतर होती हैं।"

"निश्चयमेव।"

"तो क्या हम उन सब कार्यों को पुरुषों के लिये निरूपित करेंगे और स्त्रियों के लिये कुछ भी न छोड़ेंगे?"

"सो हम कैसे कर सकेंगे?"

"मैं समझता हूँ कि इसकी अपेक्षा तो हम यह कहेंगे कि किसी स्त्री में आयुर्वेद विज्ञान के लिये प्रज्ञा होती है और किसी अन्य में ऐसी प्रज्ञा नहीं होती; कोई प्रकृत्या संगीत विद्या जानने वाली होती हैं एवं कोई अन्य संगीतविद् नहीं होती।"

"अवश्यमेव।"

"तब क्या हम इस तथ्य को अस्वीकार कर सकते हैं कोई स्त्री प्रकृत्या मल्ल विद्या जानने वाली योद्धृ-स्वभाव वाली होती हैं और कोई दूसरी अशूरा और व्यायाम के प्रतिकूल होती हैं?"

"मैं समझता हूँ कि हम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते।"

"और फिर कोई बुद्धिमता से प्रेम करने वाली और कोई उससे घृणा करने वाली हो सकती है? कोई साहस-संपन्न होती है और कोई साहस-शून्य?"

यह भी सत्य है ।"

"तब, इसी प्रकार यह भी सत्य है कि कोई स्त्री संरक्षक के गुणों से युक्त तथा अन्य कोई स्त्री उन गुणों से रहित होती है । जिन मनुष्यों को हमने संरक्षक पद के लिये चुना था क्या उनके भी स्वाभाविक गुण यही नहीं थे ?"

"हाँ, यही थे ।"

"तब तो इतनी सी बात को छोड़ कर कि स्त्री निर्बलतर होती हैं और पुरुष बलवत्तर, स्त्रियों और पुरुषों दोनों का ही स्वभाव राष्ट्र की संरक्षकता के संबंध में एकसा ही होता है ।

"ऐसा ही प्रतीत होता है ।"

६—"तब तो इस प्रकार की स्त्रियाँ संरक्षक रूप में इस प्रकार के पुरुषों की सहवासिनी और सहकारिणी बनने के लिये चुनी जानी चाहिये क्योंकि वह इस पद की योग्यता रखती हैं और प्रकृत्या उनके सदृश् हैं ।"

"सर्वथा ऐसा ही है ।"

"और क्या एक सदृश प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिये हमको एक-सदृश धन्धे निर्धारित नहीं करने चाहिये ?"

"ऐसा ही करना चाहिये ।"

"तो लो हम, चक्कर खाकर फिर अपने पूर्वकथन पर आये जाते हैं कि संरक्षकों की पत्नियों के लिये संगीत और व्यायाम निरूपित करना प्रकृति के प्रतिकूल नहीं है ।"

"सर्वथा यही बात है ।"

"क्योंकि जिस क़ानून को हमने प्रस्तुत किया वह प्रकृतिसंवादी है अतएव हमारा विधान-निर्माण अव्यवहारिक अथवा कल्पनामात्र (गंधर्व-नगर) नहीं था । इसकी अपेक्षा तो, ऐसा प्रतीत होता है कि आजकल

प्रचलित काम करने का ढंग अस्वाभाविक है।"

"प्रत्यक्ष ही है।"

"हमारे अन्वेषण का लक्ष्य यही था न कि हमारा प्रस्तावित आयोजन संभव और वांछनीय है या नहीं?"

"हाँ, यही था।"

"यह बात तो मान ली गई कि यह संभव (व्यवहारिक) है।"

"हाँ।"

"दूसरी बात जिस पर सहमत होना है यह है कि यह सर्वश्रेष्ठ (वांछनीय) मार्ग है।"

"स्पष्ट ही है।"

"तो नारी-संरक्षक के उत्पादन के लिये ऐसा नहीं होगा कि हमारी शिक्षा पुरुषों के लिये एक हो और स्त्रियों के लिये दूसरी; विशेष कर तब जब कि शिक्षा को हम जो प्रकृति सौंपते हैं वह एक ही प्रकार की हैं।"

"नहीं, दोनों की शिक्षा एक सी होगी।"

"अच्छा, अब यह बतलाइये कि इस विषय में तुम्हारा मन्तव्य क्या है?"

"किस विषय में?"

"कुछ मनुष्यों को अपेक्षाकृत अच्छा और कुछ को अपेक्षाकृत बुरा मानने के विषय में। अथवा तुम सब को एक समान मानते हो?"

"कदापि नहीं।"

"तो जिस नगर की हम स्थापना कर रहे हैं उसमें कौन मनुष्य अपेक्षाकृत अच्छे सिद्ध होंगे—हमारे द्वारा वर्णित शिक्षा पाने वाले संरक्षक अथवा मोचीकला द्वारा शिक्षित मोची?"

उसने कहा, "यह तो उपहास के योग्य प्रश्न है।"

मैंने कहा, "मैं तुम्हारा अभिप्राय समझता हूँ । अच्छा तो क्या ये (संरक्षक) श्रेष्ठ नागरिक नहीं हैं ?"

"अत्यन्त श्रेष्ठ ।"

"और क्या ये (संरक्षक) स्त्रियाँ सब स्त्रियों में श्रेष्ठ नहीं होंगी ?"

"हाँ, यह भी अत्यन्त श्रेष्ठ होंगी ।"

"क्या किसी राष्ट्र के लिये कोई बात इससे बढ़ कर हो सकती है कि उसमें श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों की उत्पत्ति हो ?"

"नहीं हो सकती ।"

'तथा यह परिणाम, हमारे द्वारा वर्णित प्रकार से संगीत एवं व्यायाम के उपयोग द्वारा घटित होगा ।"

"निश्चयमेव ।"

"तब तो जो विधान (कानून) हमने प्रस्तुत किया है वह केवल संभव (व्यवहारिक) ही नहीं, बल्कि राष्ट्र के लिये सर्वोत्तम है ।"

"ऐसा ही है ।"

"अतः संरक्षकों की पत्नियों को व्यायाम के लिये नग्न होना चाहिये क्योंकि उन का (सच्चा) आवरण उनके सत्कर्म होंगे एवं युद्ध तथा नगर-रक्षकों के अन्य कर्तव्यों में पुरुषों के साथ हाथ बटाना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य धन्धों में उनको नहीं फँसाना चाहिये । परन्तु इन कर्त्तव्यों में स्त्रियों के लिये हलके कार्य निर्धारित किये जाने चाहिये क्योंकि उनका वर्ग अपेक्षाकृत दुर्बल होता है । परन्तु जो पुरुष स्त्रियों को (सर्वोत्तम कार्य के रूप में) नग्न होकर व्यायाम करते देख कर हँसता है, वह अपने परिहास के रूप में बुद्धिमत्ता के अपरिपक्व फल का ही चयन करता है, और मालूम पड़ता है कि वह हँसने के उद्देश्य को नहीं जानता और न यही जानता है कि वह कर क्या रहा है । क्योंकि सर्वश्रेष्ठ उक्ति तो यह है

और सर्वदा रहेगी कि जो लाभदायक है वह सुन्दर तथा जो हानिप्रद हैं वह कुरूप है।"

"सर्वथा सत्य है।"

७—स्त्रियों से संबंध रखने वाले नियमों के विषय में हमने अपने लोकविरुद्ध कथन की एक लहर को तो बिना डूबे पार कर लिया, ऐसा हम कह सकते हैं, और यह नियम बनाते हुए भी हमारे पैर नहीं उखड़े कि पुरुष संरक्षकों और स्त्री संरक्षकों के काम समान होने चाहिये, प्रत्युत हमारी युक्ति इस आस्था में एक प्रकार से आत्मसंवादी ही रही कि उसमें जो कुछ प्रस्तुत किया गया है वह संभव और लाभदायक दोनों ही है।"

उसने कहा, "यह लहर जिसको तुमने पार किया कोई छोटी मोटी लहर नहीं थी।"

मैंने कहा, "पर जब तुम आगे आने वाली दूसरी लहर को देखोगे तब इसको बड़ी नहीं समझोगे।"

उसने कहा, "अच्छा आगे कहिये और उनको भी मुझे देखने दीजिये।"

मैंने कहा, "इस नियम और इसके पूर्व निर्धारित नियमों से मेरी सम्मति में निम्नलिखित नियम परिणामतः निष्पन्न होता है।"

"वह क्या ?"

"यह कि यह सब स्त्रियाँ इन सब पुरुषों की समसंबंधिनी होंगी और कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगतरूप में सहवास नहीं कर सकेगा; तथा उनकी सन्तानें भी समानरूप से सब की ही होंगी और न तो माता-पिता अपनी संतान को जान सकेंगे और न संतान माता-पिता को।"

उसने कहा, "यह कथन तो पहले कथन की अपेक्षा कहीं अधिक लोकविरुद्ध है तथा अपनी संभावना एवं उपादेयता के संबंध में बहुत अधिक संदेह को जगाने वाला है।"

मैंने कहा, "मैं तो यह मानता हूँ कि इसकी उपादेयता (वांछनीयता)

के विषय में तो कोई विवाद होगा ही नहीं। स्त्रियों और सन्तानों का समाज से समान संबंध होना सर्वोच्च श्रेय है इसको अस्वीकार किया नहीं जा सकता, यदि हम इस नियम की व्यवहारिकता मान लें। परन्तु हाँ, इसकी संभावना (व्यवहारिकता) अथवा अव्यवहारिकता अवश्यमेव विवाद का प्रधान विषय होगी।"

उसने कहा, "दोनों ही के विषय में तीव्र विवाद किया जा सकता है।"

मैंने कहा, "तो तुम्हारा अभिप्राय यह है कि मुझे सम्मिलित युक्तियों का सामना करना होगा। परन्तु मैं उनमें से एक से बचना चाहता था; यदि तुम यह मान लेते कि यह योजना उपयोगी है तो मेरे लिये उसकी व्यवहारिकता के विषय में ही बोलना रह जाता।"

उसने कहा, "पर तुम्हारी यह बच निकलने की प्रचेष्टा भाँप ली गयी, अतएव अब कृपया दोनों ही के पक्ष की युक्तियाँ बतलाइये।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है मैं अपने किये का दण्ड भोगने को तैयार हूँ; पर मुझ पर इतना अनुग्रह कीजिये; जिस प्रकार आलसी मस्तिष्क वाले लोग अकेले भ्रमण करते समय मन के मोदक खाया करते हैं इसी प्रकार मुझको मनमोदकों का आस्वादन करने की छूट दे दीजिये। ऐसे व्यक्ति इस बात को खोज निकालने के लिये प्रतीक्षा नहीं करते कि उनकी काम-नाएँ कैसे पूर्ण होंगी; इस विषय को तो वे संभावनाओं और असंभावनाओं के विचार के श्रम से बचने के लिये अलग छोड़ देते हैं और अपनी कामनाओं को पूर्ण हुआ मान लेते हैं और फिर कल्पना में सारे प्रपंच का विस्तार करने लगते हैं तथा उनको इस कल्पना में बड़ा आनन्द आता है कि अपनी कामना के पूर्ण हो जाने पर वे क्या करेंगे और इस प्रकार वह अपने उस मस्तिष्क को जो कि इसके बिना ही पर्याप्तरूपेण आलसी था और भी सुस्त बनाते रहते हैं। बस इस समय मैं भी इस आलस्य के वशीभूत हुआ जाता हूँ, और संभावना के प्रश्न को आगे फिर कभी परीक्षण करने के लिये टाल देना

चाहता हूँ परन्तु इस समय उसको (संभावना) को मान कर, आपके आदेश को पाकर, मैं यह अनुसंधान लगाऊँगा कि शासक लोग व्यवहार में इस योजना का विस्तार किस प्रकार करेंगे तथा यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि राष्ट्र और संरक्षकों के लिये हमारी योजना के प्रभावशाली वर्त्तन (व्यवहार) से अधिक लाभदायक अन्य कोई वस्तु नहीं हो सकती। यदि आप का आदेश हो तो मैं सर्वप्रथम आपके साथ इसी के विचार का प्रयत्न करूँगा और तत्पश्चात् दूसरे विषय का विचार करूँगा।"

उसने कहा, "मैं आदेश करता हूँ; अपनी गवेषणा को चालू रखिये।"

मैंने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि यदि हमारे संरक्षक अपने नाम के योग्य होंगे एवं तथैव उनके सहायक भी, तो वे कुछ विषयों में हमारे नियमों के विधाना नुसार आज्ञा मानने के लिये और आज्ञा देने के लिये (इच्छुक होंगे) तथा अन्य बातों में, जिनको हम उनके विवेक के लिये छोड़ते हैं, हमारे नियमों का अनुकरण करने के लिये इच्छुक होंगे।"

उसने कहा, "उचित है।"

मैंने कहा, "तुम नियमस्थापकों ने इन पुरुषों को चुना है, अब इसी प्रकार इन पुरुषों को प्रदान करने के लिये तुम स्त्रियाँ चुनोगे जो कि यथा-संभव इन पुरुषों के समान स्वभाव वाली होनी चाहिये। और क्योंकि इनके निवासगृह और भोजन समान होंगे, किसी के पास व्यक्तिगत संपत्ति बिलकुल नहीं होगी, अतः वे सब एक साथ रहेंगे, तथा व्यायाम में एवं समग्र जीवन और शिक्षा में घुले मिले रहने के कारण, अपनी आन्तरिक आवश्यकता-वश काम सहवास की ओर प्रेरित होंगे। जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह अनिवार्य परिणाम है या नहीं ?"

उसनें उत्तर दिया, "हाँ, भूमिति शास्त्र की आवश्यकताओं से तो नहीं, परन्तु प्रेम की आवश्यकताओं से; जो कि जनसमुदाय के लिये सहमत करने और विवश करने में (उपर्युक्त) अन्य आवश्यकताओं की अपेक्षा

स्यात् अधिक तीव्र और प्रबल होती हैं।"

८—मैंने कहा, "सचमुच वे (आवश्यकताएँ) ऐसी ही होती हैं; परन्तु ग्लौकोन, इसके आगे, सहवास संगतियों में अथवा उनके द्वारा किये जाने वाले अन्य कामों में (अव्यवस्था और घालमेल होना) सुखी राष्ट्र में अपावन बात होगी और शासकों द्वारा कदापि आदेश नहीं की जाएगी।

उसने कहा, "ऐसा न्यायोचित नहीं होगा।"

"तब तो स्पष्ट ही हमको यथासंभव संस्कारशुद्ध विवाहों की व्यवस्था करनी चाहिये। तथा परम शुद्ध (धार्मिक) विवाह वह होंगे जो कि सबसे अधिक लाभदायक होंगे।"

"सर्वथा।"

"तो, फिर सबसे अधिक लाभ कैसे प्राप्त होगा? ग्लौकोन, यह बात तुम मुझे बतलाओ। क्योंकि मैंने देखा है कि तुम्हारे घर पर शिकारी कुत्ते और अच्छी जाति के कुक्कुट दोनों ही पले हुए हैं। क्या तुमने कभी उनके समागम और प्रजनन के विषय में भी कुछ विचार किया है?"

उसने कहा, "किस प्रकार?"

मैंने कहा, "प्रथम बात तो यह है कि यद्यपि वे सब चुनी हुई जाति (नस्ल) के हैं तो भी क्या इनमें अपने ही मध्य में क्या कुछ दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छे सिद्ध नहीं होते?"

"होते हैं।"

"तो क्या तुम सबसे घालमेल में बच्चे जनवाते हो अथवा सर्वश्रेष्ठ से ही बच्चे उत्पन्न करवाने का ध्यान रखते हो?"

"सर्वश्रेष्ठ से ही।"

"अच्छा, फिर यह बतलाओ कि सबसे कम अवस्था वाले से बच्चे उत्पन्न करवाएं या सबसे अधिक अवस्था वाले से; अथवा जहाँ तक संभव

है वहाँ तक उनसे बच्चे उत्पन्न करवाते हो जो अपने पूर्ण तारुण्य को प्राप्त हो गये हैं ?"

"पूर्ण तारुण्य को प्राप्त हुओं से।"

"और यदि बच्चों का प्रजनन इस प्रकार न हो तो क्या तुम यह आशा नहीं रखते कि तुम्हारी चिड़ियों की जाति और कुत्तों की जाति बहुत अवनत हो जायगी ?"

उसने कहा, "हाँ, ऐसी ही आशा करता हूँ।"

मैंने पूछा, "और घोड़ों तथा अन्य पशुओं के विषय में क्या बात है ? क्या उनके विषय में कुछ और नियम है ?"

उसने उत्तर दिया, "यदि ऐसा हुआ तो अनोखी बात होगी।"

मैंने कहा, "वाहवाह, मित्र, यदि यह सिद्धान्त मनुष्य जाति के लिये भी लागू हो तो हमारे शासकों में उच्चतम कुशलता होने की कितनी अनिवार्य आवश्यकता है।"

उसने कहा, "हाँ, मानव जाति के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है; पर इससे क्या हुआ ?"

मैंने कहा, "यह होगा कि उनको कई एक उन ओषधियों का प्रयोग करना पड़ेगा जिनका हम वर्णन कर चुके हैं। हमारा ख्याल था कि जो शरीर भोजन और पथ्य को स्वीकार कर लेते हैं और जिनको ओषधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती उनके लिये निम्नकोटि का वैद्य ही पर्याप्त होता है। परन्तु जब ओषधि का प्रयोग आवश्यक हो जाता है तब अपेक्षाकृत अधिक पराक्रमी और साहसी वैद्य की आवश्यकता पड़ती है।"

"सत्य है, पर प्रस्तुत प्रकरण से इसका क्या संबंध है ?"

मैंने कहा, "प्रस्तुत विषय से इसका संबंध यह है कि ऐसा संभव प्रतीत होता है कि हमारे शासकों को प्रजाजनों के लाभार्थ असत्य और प्रवंचना का पर्याप्त प्रयोग करना पड़ेगा। और, यदि तुम स्मरण करोगे तो तुमको

याद आ जायेगा कि हमने कहा था इस प्रकार का व्यवहार ओषधि रूप में उपयोगी होता है ।"

उसने कहा, "और यह ठीक ही था ।"

"तो, ऐसा लगता है कि विवाहों और प्रजनन में इस 'ठीक' व्यवहा की अनल्प आवश्यकता पड़ेगी ।"

"सो कैसे ?"

मैंने कहा, "हमारी पूर्ववर्त्ती स्वीकारोक्तियों से यह अनुमान निकलता है कि यदि इस समुदाय को श्रेष्ठ अवस्था में बनाए रखना हो तो श्रेष्ठ पुरुषों का श्रेष्ठ स्त्रियों से अधिक से अधिक संभवदशाओं में सहवास होना चाहिये तथा निकृष्ट पुरुषों का निकृष्ट स्त्रियों के साथ कम से कम एवं प्रथम प्रकार के संयोगों की सन्तानों का पोषण किया जाना चाहिये और दूसरे प्रकार के संयोगों की संतान का परित्याग होना चाहिये । और फिर यदि संरक्षकों के समुदाय को पारस्परिक फूट और कलह से यथासंभव मुक्त रखना हो तो उपर्युक्त प्रबन्ध के उपाय की जानकारी शासकों के अतिरिक्त और किसी को नहीं होनी चाहिये ।"

उसने कहा, "नितान्त सत्य है ।"

"तो हमको कुछ उत्सवों और यज्ञों का विधान करना होगा जिनमें वर और बधुओं का सम्मिलन होगा, तथा हमारे कवियों को उस समय सम्पन्न होने वाले विवाहों के अनुरूप स्तोत्रों की रचना करनी होगी । परन्तु विवाहों की संख्या हम शासकों की सद्बुद्धि पर छोड़ देंगे; जिससे कि वे युद्धों एवं रोगों इत्यादि को ध्यान में रखते हुए नागरिकों की संख्या को लगभग सर्वदा एक सा रख सकें और हमारा नगर न तो बहुत बड़ा हो जाय और न बहुत छोटा रह जाय ।"

उसने कहा, "ठीक ।"

"तब तो, मेरा ख्याल है कि उनको एक अत्यन्त चतुरतापूर्ण शलाका-

ग्रहण पद्धति की योजना करनी होगी जिससे निकृष्ट जन वरवधूवरण के अवसर पर शासकों को दोष न देकर दैव को दोष दें।"

उसने कहा, "हाँ, सचमुच ऐसा ही होना चाहिये।"

९—"तथा उन युवा पुरुषों को जो कि युद्ध अथवा अन्य व्यवसायों में विख्याति लाभ करें, सम्मान एवं उपहार मिलने चाहिये तथा विशेष कर स्त्रियों के सहवास के अधिक सतत अवसर प्राप्त होने चाहिये, जिससे उनसे अधिक से अधिक सन्तान प्रजनन के लिये यह बात एक बहाना हो जाय।"

"ठीक।"

"एवं इस प्रकार उत्पन्न हुए बच्चे जन्म से ही, इस कार्य के लिये नियुक्त पदाधिकारियों द्वारा ले लिये जायेंगे जो स्त्रियाँ या पुरुष अथवा दोनों हो सकते हैं क्योंकि मैं ख्याल करता हूँ कि पदाधिकार भी स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से प्राप्त हो सकेगा।"

"हाँ।"

"मैं समझता हूँ कि यह पदाधिकारी अच्छे मातापिताओं की सन्तानों को शिशुगृहों में उन धायों के पास पहुँचा देंगे जो कि नगर के एक अलग मुहल्ले में रहती हैं परन्तु निकृष्ट मातापिताओं की सन्तानों को अथवा अन्य लोगों की सन्तानों को जो कि जन्म से ही सदोष हैं वे गुप्त रूप से अज्ञात स्थान में छिपा देंगे, जिससे कि किसी को यह पता न चले कि उनका क्या हुआ।"

उसने कहा, "यदि वास्तव में संरक्षकों की जाति (नस्ल) की शुद्धता की रक्षा करनी इष्ट है (तो ऐसा ही होना चाहिये)।"

"और यही पदाधिकारीगण बच्चों के पालन-पोषण की भी देख-रेख करेंगे; माताओं के स्तनों में दूध भर आने पर वे उनको शिशुगृहों में पहुँचायेंगे पर इस बात के निमित्त सब उपायों को काम लायेंगे कि कोई

माता अपने शिशु को पहचान न सके । यदि माताओं को दूध कम उतरता हो तो वे अन्य दूधवाली धायों को नियुक्त करेंगे । परन्तु वे इस बात का ध्यान रखेंगे कि माताएँ स्वयं बहुत देर तक दूध न पिलाने पाएँ; रातों जागने का कष्ट और इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ उनको दूध वाली या बिना दूधवाली धायों पर डालनी होंगी ।"

"तुम तो संरक्षकों की पत्नियों के लिये शिशुपालन को एक बड़ा सरल काम बनाए दे रहे हो ।"

मैंने कहा, "सो तो होना ही चाहिये । पर आइये हम अपनी योजना का अनुसरण करें । हमने कहा था न कि पूर्णयौवन को प्राप्त माता-पिताओं से सन्तान उत्पन्न होनी चाहिये ।"

"सत्य है ।"

"क्या तुम इस बात में मुझसे सहमत हो कि पूर्ण यौवन काल स्त्रियों के संबंध में बीस वर्ष और पुरुषों के संबंध में तीस वर्ष का कूता जा सकता है ?"

उसने कहा, "इसकी गणना तुम कैसे करोगे ?"

मैंने कहा, "स्त्रियाँ बीस वर्ष की अवस्था से लेकर चालीस वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिये सन्तान उत्पन्न करेंगी और पुरुष जीवन में पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने के उपरान्त से (दौड़ने में सबसे अधिक तेज़ी प्राप्त कर लेने के उपरान्त से) लेकर (अर्थात् पच्चीस वर्ष की अवस्था से लेकर) पचपन वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिये सन्तान पैदा करेंगे ।"

उसने कहा, "शरीर और मस्तिष्क दोनों के लिये यही स्त्रियों और पुरुषों का परिपक्वता और पूर्णता का समय है ।"

"तब, यदि, विहित अवस्था से कम अथवा अधिक उम्र वाला व्यक्ति राष्ट्र के लिये सन्तानोत्पत्ति के कार्य में हस्तक्षेप करेगा तो यह कहा जायगा

कि उसका यह दोष धर्म-विरुद्ध और अन्याय है क्योंकि वह राष्ट्र के लिये ऐसी सन्तान को पैदा कर रहा है जिसका जन्म (ठीक पता न लगने पर) उन स्तुतियों से समन्वित नहीं होगा जो कि पुजारी और पुजारिनों तथा समग्र नगर के द्वारा विवाहोत्सव के समय इस उद्देश्य से प्रस्तुत की गयी थीं कि राष्ट्र के लिये सहायक और अच्छे मातापिताओं से सर्वदा और भी अधिक अच्छी तथा राष्ट्र के लिये और भी अधिक सहायक सन्तान उत्पन्न हो सके । इसके विपरीत ऐसी सन्तति अन्धकार में अनुष्ठित अमेध्य व्यभिचार का परिणाम होगी ।"

उसने कहा, "ठीक है ।"

मैंने कहा, "और यही नियम तब भी लागू होगा जब प्रजनन अवस्था में वर्त्तमान कोई पुरुष ऐसी स्त्री से सहवास करेगा जिससे उसका संयोग शासकों द्वारा नियुक्त नहीं किया गया है । क्योंकि हम उस व्यक्ति पर यह दोषारोपण करेंगे कि वह राष्ट्र के मत्थे अविहित, अप्रमाणित एवं अपावन सन्तान को थोप रहा है ।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक ।"

"परन्तु मैं ख्याल करता हूँ कि जब पुरुष और स्त्रियाँ निर्धारित प्रजनन अवस्था को पार कर जायेंगे तो हम पुरुषों को, पुत्री एवं माता तथा उनके प्रत्यक्ष पूर्वज अथवा सन्तान को छोड़ कर, और किसी से भी सहवास करने की स्वतंत्रता दे देंगे, और इसी प्रकार स्त्रियों को भी पुत्र और पिता इत्यादि को छोड़ कर अन्य किसी से सहवास करने की स्वतंत्रता दे देंगे । परन्तु इसके पूर्व ही उनको यह कठोर आज्ञा दे देंगे कि इस अवस्था में स्थापित गर्भ को जन्म न लेने दिया जाय और यदि वह इस प्रकार के प्रजनन को रोकने में असमर्थ हों तो उनको यह समझ लेना होगा कि हम (राष्ट्र) ऐसी सन्तति का पालन पोषण नहीं कर सकते ।"

उसने कहा, "यह सब कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होता है; परन्तु वे लोग

पिता, पुत्री एवं आपके द्वारा बतलाये गये अन्य संबंधियों को अलग अलग पहचानेंगे कैसे ?"

मैंने कहा, "वे कभी नहीं पहचानेंगे। केवल यह होगा कि पुरुष तो वर बनने के पश्चात् सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के मध्य में उत्पन्न हुए बच्चों को पुरुष होने पर पुत्र और स्त्री होने पर पुत्री कहेगा और वे सन्तानें उसको पिता कहेंगी। और इसी प्रकार वह इन की सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे उनके समुदाय के पुरुषों और स्त्रियों दादा और दादी कहेंगी। तथा वे सब बच्चे जो कि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन-काल में उत्पन्न हुए हैं परस्पर एक दूसरे को भाई और बहन मानेंगे। जिस सहवास-निषेध का हमने अभी उल्लेख किया है उसके लिये इतना पर्याप्त है। परन्तु, यदि शलाकापात का संकेत हो और डैल्फ़ी की दैववाणी भी अनुमोदन करे तो कानून भाई बहिन के सहवास का आदेश कर सकेगा।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक है।"

१०—"ग्लौकोन, हमारे राष्ट्र में संरक्षकों के मध्य प्रचलित स्त्रियों और सन्तानों के समविभाजन का यह प्रकार है। इसके आगे जिस बात को हमको युक्ति के द्वारा स्थापित और पुष्ट करना है, वह यह है कि यह योजना हमारी शेष राष्ट्रनीति से मेल खाती है और सर्वोत्तम मार्ग है। क्यों, क्या ऐसा नहीं है ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, सचमुच ऐसा ही है।"

"इस विषय पर ऐकमत्य की ओर प्रथम पग क्या यही नहीं होगा कि हम अपने से पूछें कि किसी नगर की व्यवस्था में सर्वोच्च पूर्णता का नाम, जिस पर कि विधान निर्माता को अपना लक्ष्य रखना चाहिये, हम किस बात को दे सकते हैं, और सबसे बड़ी बुराई क्या है; और इसके उपरान्त हम यह मालूम करें कि जिस योजना (प्रस्ताव) का हमने अभी वर्णन किया

हैं वह पूर्णता के चरणचिह्न से मेल खाती है और बुराई के चिह्न से मेल नहीं खाती ?"

उसने कहा, "सर्वथा।"

"तो क्या हमको किसी राष्ट्र के लिये इससे बड़ी बुराई का पता है जो कि उसको छिन्न भिन्न करके अनेक राष्ट्रों में विभक्त करा देती हैं अथवा इससे बड़ी भलाई का ज्ञान है जो कि उसको एकता के सूत्र में बाँध कर एक बनाये रहती है ?"

"इससे बढ़ कर बुराई भलाई हम नहीं जानते।"

"तो क्या सुख-दुःख में भावों की समानता ही—अर्थात जब वे सब यथासंभव एक ही लाभ (जन्म) अथवा हानि (मृत्यु) पर सुख और दुःख का अनुभव करते हैं—वह ग्रंथि नहीं है जो कि नागरिकों को एकता के सूत्र में बाँधती है ?"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही है।"

"परन्तु क्या इन भावों का व्यक्तिशः पृथक् होना—अर्थात् जब नगर और उसके नागरिकों पर घटित होने वाली एक ही घटना पर कुछ लोग अत्यधिक शोक मनाते हैं और कुछ दूसरे लोग अत्यधिक आनन्द मनाते हैं—ही विग्रह का मूल नहीं है ?"

"अवश्यमेव।"

"और क्या इस स्थिति को उत्पन्न करने वाला मुख्यकारण नागरिकों द्वारा मेरा (मम)—अपना और 'मेरा नहीं'—पराया (नमम) तथा इसी प्रकार 'विदेशी' शब्दों का एकमत से प्रयोग न करना (युगपद् प्रयोग न करना) ही नहीं है ?"

"बिलकुल ऐसा ही है।"

"तब तो क्या सबसे अधिक सुव्यस्थित राष्ट्र वही नहीं है जिसमें नागरिकों की अधिकतम संख्या "मम' और 'नमम' शब्दों का प्रयोग एक

ही प्रकार से एक ही वस्तु के लिये करती है ।"

"ऐसा नगर अत्यन्त उत्तम है ।"

"अथवा फिर, वह नगर जिसकी दशा 'एक' व्यक्ति के अधिक से अधिक समान है । उदाहरणार्थ, यदि हम में से किसी की अंगुली में चोट लग जाती है तो सारे शरीर का समाज, जो कि जीवात्मा के केन्द्र की ओर आकृष्ट होता हुआ उस केन्द्र में स्थित शक्ति से नियंत्रित है उस पीड़ा से अवगत हो जाता है और समग्र शरीर एक साथ व्यथा को अनुभव करता है, यद्यपि शरीर का एक देश ही आहत होता है, और इसी कारण हम कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति की अंगुली में दर्द है । और मनुष्य के अन्य किसी अंग के विषय में भी यही कथन लागू होता है फिर चाहे कोई अंग पीड़ा का अनुभव करता हो या (पीड़ा का भार, हलका होने पर सुख का अनुभव करता हो ।"

उसने कहा, "एक ही कथन लागू होगा । और प्रस्तुत प्रश्न के विषय में कह सकते हैं कि श्रेष्ठ-शासित राष्ट्र इस प्रकार के शरीर के अधिक से अधिक समान होता है ।"

"तो मैं ख्याल करता हूँ कि यह राष्ट्र ऐसा होगा कि यदि उसके किसी एक व्यक्ति पर सुख दुःख आ पड़े तो, वह राष्ट्र अन्य किसी राष्ट्र की अपेक्षा, सुख दुःख सहने वाले अंग को अपना अंग मानेगा और सारा राष्ट्र उसके सुख दुःख में समवेदना प्रकट करेगा ।"

उसने कहा, "हाँ, यदि राष्ट्र सुव्यवस्थित हो तो ऐसा होना अनिवार्य है ।"

११—मैंने कहा, "अब समय आ गया है कि हम अपने नगर की ओर मुड़ें और देखें कि जिन गुणों के विषय में हम युक्तियों द्वारा एकमत हो चुके हैं वे गुण उच्चतम कोटि में हमारे नगर में पाये जाते हैं अथवा अन्य कोई नगर इन गुणों में हमारे नगर से बढ़ कर है ।"

उसने कहा, "ऐसा ही करना उचित है ।"

"अच्छा तो अन्य नगरों में, और उन्हीं के समान हमारे नगर में भी, शासक और सामान्य प्रजाजन होते हैं न ?"

"हाँ होते हैं ।"

"और वे सब परस्पर एक दूसरे को नागरिक नाम से संबोधन करेंगे न ?"

"क्यों नहीं ?"

"पर अन्य नगर-राष्ट्रों में सामान्यजन अपने शासकों को नागरिक या "पौरत्य" के अतिरिक्त और क्या कह कर संबोधन करते हैं ?"

"अधिकांश नगरों में प्रभु कहते हैं, प्रजातंत्र नगरों में शासक मात्र कहते हैं ।"

"पर हमारे नगर की जनता की क्या स्थिति है । वे अपने शासकों को 'पौरत्य' के अतिरिक्त और क्या कह कर संबोधन करते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "संरक्षक और सहायक ।"

"और वे (शासक) सामान्य जनों को क्या कहते हैं ?"

"भृतिदाता और अवलंब ।"

"अन्य राष्ट्रों में शासक लोग सामान्य जनता को क्या कहते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "सेवक ।"

"और शासक लोग परस्पर एक दूसरे को क्या कहते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "सह-शासक ।"

"और हमारे शासक लोग ?"

"सह-संरक्षक ।"

"क्या तुम यह कह सकते हो कि अन्य नगर राष्ट्रों में शासक एक दूसरे की चर्चा करते समय एक को अपना संबंधी और दूसरे को पराया (या अज्ञात) जन कह सकता है या नहीं ?"

"हाँ, अनेकों ऐसा कहेंगे ।"

"और ऐसा करने में क्या वह एक को अपना निजी व्यक्ति तथा

दूसरे को अपना असंबंधी व्यक्ति नहीं समझता अथवा कहता है ?"

"हाँ, यही बात है।"

"अच्छा क्या हमारे संरक्षकों में से कोई एक व्यक्ति किसी अन्य सहसंरक्षक को पराया मान सकता है अथवा कह सकता है ?"

उसने उत्तर दिया, "कदापि नहीं। क्योंकि, चाहे वह किसी से मिले वह यही समझेगा कि वह भाई अथवा बहिन, पिता या माता, पुत्र अन्यथा पुत्री अथवा इन्हीं किन्हीं की सन्तानों अथवा जननी या जनक से मिल रहा है।"

मैंने कहा, "परमोत्तम उत्तर है। पर इसके आगे एक और प्रश्न का उत्तर और बतला दो; क्या तुमने उनके लिये केवल इन संबन्ध-सूचक नामों का ही नियम विधान किया है, अथवा उनके सभी कार्य भी पिताओं के प्रति रीत्यनुमोदित व्यवहार में और माता-पिता के प्रति उचित आतंक, सावधानी और विधेयता (आज्ञाकारिता) में भी मेल खायेंगे; अन्यथा उनको ईश्वर और लोक दोनों की ही अनुकूलता प्राप्त नहीं हो सकेगी, क्योंकि अन्य प्रकार का आचरण न तो उचित ही होगा और न धार्मिक ही ? क्या तुम्हारे बच्चों को जन्म से ही उन लोगों के प्रति व्यवहार के संबंध में जो कि उनके पिता कह कर निर्दिष्ट किये गये हैं अथवा अन्य संबंधी बतलाये गये हैं, इन दोनों के ही संबन्ध में, सब लोगों के मुख से यही (उपर्युक्त) ध्वनियाँ एकमत से देवादेश के रूप में सुनने को मिलेंगी अथवा किसी अन्य प्रकार की शिक्षा उनके कानों में सब ओर से सुनाई देगी ?"

उसने उत्तर दिया, "यही ध्वनियाँ; क्योंकि वास्तविक व्यवहारों की अनुपस्थिति में उनके द्वारा कौटुम्बिक नामों का ओष्ठों से उच्चारण तो उनके लिये परिहासोत्पादक होगा।"

"तब तो, अन्य नगरों की अपेक्षा इस नगर में जब किसी एक नागरिक का भला अथवा बुरा घटित होता है, तब सब नागरिक एकमत होकर उन वाक्यों का अधिक प्रयोग करेंगे जिनका हमने (अभी कुछ समय पूर्व)

उल्लेख किया था, अर्थात् 'हमारे अपने संबंधी का भला हुआ' 'हमारे अपने संबंधी का बुरा हुआ'।"

उसने कहा, "यह बात परम सत्य है।"

"और क्या हमने यह नहीं कहा था कि इस प्रकार की श्रद्धा और वाणी समसुखदुःख की भावना से समन्वित होती है ?"

"हाँ, और हमन यह ठीक ही कहा था।"

"तो यह नागरिक, अन्य नगरों के निवासियों की अपेक्षा इस बात में विलक्षण होंगे कि इनका सामान्य स्वार्थ (हित) एक ही होगा और उसको यह 'मम' कहेंगे तथा इस समानहित की भावना के फल स्वरूप उनके सुखदुःख समान होंगे। क्यों है न ?"

"अन्य नगरों की अपेक्षा हमारे नगर में ऐसा कहीं अधिक होगा।"

"और क्या, नगर की सामान्य व्यवस्था के अतिरिक्त, इस (विलक्षणता) का कारण स्त्रियों और बच्चों का समविभाजन ही नहीं होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "निश्चयमेव यही उसका प्रमुख कारण होगा।"

१२—"परन्तु अंगों के सुखदुःख के अनुभव में सुशासित राष्ट्र की मानव शरीर से तुलना करते हुए, हमने यह भी स्वीकार किया था कि यह (भावना की) एकता ही राष्ट्र के लिये सर्वोच्च श्रेयस् है ?"

"हाँ, और इस प्रकार सहमत होकर हमने उचित ही किया था।"

"तब तो हमने यह प्रदर्शित कर दिया कि राष्ट्र की सर्वोच्च परिपूर्णता का कारण हमारे राष्ट्र के (संरक्षकों के) सहायकों में प्रचलित स्त्रियों और बच्चों का समविभाजन है।"

उसने कहा, "बिलकुल यही बात है।"

"तथा यह बात हमारे पूर्वोक्त कथनों से मेल खाने वाली है। क्योंकि मुझे विश्वास है कि हमने कहा था इन संरक्षकों के पास न अपने व्यक्तिगत घर होने चाहिये न भूमि और न कोई अन्य सम्पत्ति, लेकिन उनको अपने

भरणपोषण के लिये अन्य नागरिकों से उनकी संरक्षकता की भृति मिलनी चाहिये और उसको सबको मिल कर व्यय करना चाहिये। उनके वास्तविक संरक्षक बने रहने की शर्त यही है।"

उसने कहा, "सच है।"

"अच्छा तो क्या पूर्व निर्धारित नियम, और उनसे भी अधिक वे नियम जिनका अब वर्णन किया जा रहा है, उनको अपेक्षाकृत और भी सच्चा संरक्षक बनाने में प्रवृत्त नहीं होते और क्या यह नियम उनको, अपनी योग्यता से उपार्जित वस्तु को दूसरों से अलग अपने घर ले जाने से, (दूसरों के भी ऐसा ही करने से) तथा पृथक् पृथक् स्त्री बच्चों के रखने से, नगर में व्यक्तिगत सुख-दुख की भावना का प्रवेश करके 'अपना' शब्द का प्रयोग एक ही वस्तु के लिये नहीं बल्कि पृथक् व्यक्ति के विषय में पृथक् वस्तु के लिये प्रयोग कराके, नगर की एकता को छिन्न-भिन्न होने से नहीं रोकते? इसकी अपेक्षा उनको परस्पर अपने स्वत्व के विषय में एक ही आस्था रखनी चाहिये, एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना चाहिये, तथा जहां तक संभव हो सुखदुःख का समान अनुभव करना चाहिये।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही है।"

"क्या तब, यह नहीं कहा जा सकता कि इन लोगों के परस्पर दोषारोपण और मुकदमेबाज़ी इत्यादि सब लोप नहीं हो जाएँगे, क्योंकि एक मात्र शरीर को छोड़ कर किसी के पास कुछ भी व्यक्तिगत संपत्ति होगी ही नहीं, सब वस्तुएँ समान रूप से सब की सम्पत्ति होंगी? अतएव क्या हम उनके विषय में यह भरोसा नहीं कर सकेंगे कि वे उन सब कलहों से मुक्त होंगे जो कि मनुष्यों में सम्पत्ति, बच्चों और स्त्रियों पर अधिकार रखने के कारण उत्पन्न होते हैं?"

उसने उत्तर दिया, "वे अवश्यमेव इनसे मुक्त हो जायेंगे।"

"और फिर, यह भी उचित ही है कि उनके मध्य मारकाट और शारीरिक आघात से सम्बन्ध रखने वाले मुकदमें भी नहीं होंगे। क्योंकि हम यह नियम निश्चित कर देंगे कि समान अवस्था वाले साथियों में अपनी रक्षा करना सम्मान्य और न्यायोचित है और इस प्रकार उनको अपने शरीर को स्वस्थ और सुरक्षित रखने के लिये बाध्य कर देंगे।"

उसने कहा "ठीक।"

मैंने कहा, "इस प्रकार के नियम से यह लाभ और होगा कि यदि किसी एक व्यक्ति का एक दूसरे से झगड़ा हो जायगा तो वह अपने क्रोध को इस प्रकार सन्तुष्ट कर लेगा तथा फिर उसके लिये कलह को गंभीर या भयावह रूप देना बहुत कम संभव होगा।"

"अवश्य।"

"रही अधिक अवस्था वालों की बात, उनको अपने से कम अवस्था वालों पर शासन करने, और उनको सजा देने का अधिकार सदा प्राप्त रहेगा।"

"स्पष्ट ही है।"

"पुनश्च, मैं समझता हूँ यह भी स्पष्ट ही है, कि शासकों की आज्ञा के अतिरिक्त, युवापुरुष स्यात् वृद्ध के प्रति बलात्कार (बलप्रयोग) अथवा चोट नहीं करेंगे अथवा किसी अन्य प्रकार से भी उसका अपमान नहीं करेंगे। क्योंकि दो समर्थ रक्षक उसको ऐसा करने से रोकेंगे; एक भय दूसरे लज्जा। लज्जा उसको इसलिये रोकेगी कि जिस पर वह हाथ डालना चाहता है वह उसका पितृस्थानीय व्यक्ति हो सकता है; तथा उसको भय यह लगा रहेगा कि कहीं दूसरे लोग—कोई पुत्र, भाई या पिता उस सताये हुए की सहायता को न दौड़ पड़ें।

उसने कहा, "इस (नियम) का यही परिणाम होगा।"

"तब तो सब प्रकार से यह नियम नागरिकों के परस्पर शान्ति-पूर्वक रहने में सहायक होंगे।"

"बड़ी शान्ति से।"

"और यदि ये (संरक्षक) अपने समुदाय में कलह से मुक्त रहेंगे तो इस बात का भी कोई भय नहीं है कि नगर के शेष नागरिक इनके विरुद्ध अथवा अपने मध्य आपस में झगड़े खड़े करेंगे।"

"नहीं, कुछ भय नहीं है।"

"परन्तु कुछ तुच्छ बाधाएँ जिनसे वह मुक्त हो जायँगे ऐसी नगण्य और अपरूप हैं कि मुझे उनका उल्लेख करने में भी झिझक मालूम पड़ती है; यथा, धनवानों की चापलूसी, वह क्लेश और पीड़ा जो मनुष्य अपने बच्चों के पालनपोषण करने में और अपनी गृहस्थी के लिये आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध करने के लिये धन प्राप्त करने में अनुभव करते हैं, ऋण लेना, लिये हुए ऋण का प्रतिवाद करना, उन सब अप्रशस्त उपायों का प्रयोग जिनके द्वारा धन प्राप्त करके वे अपनी स्त्री और सेवकों को व्यय करने (प्रबन्ध करने) के लिये दे देते हैं, वे सब अपमान जो उनको इन प्रसंगों में सहने पड़ते हैं जो कि, प्रियमित्र, स्पष्ट है, तिरस्कार के योग्य हैं और उल्लेख योग्य नहीं है।'

उसने कहा, "यह बातें तो अन्धों के लिये भी स्पष्ट हैं।"

१३.

१३. "तो वे इन सब बुराइयों से मुक्त हो जाएँगे, तथा उनका जीवन सब से अधिक सुखी समझे जाने वाले जीवन—औलिम्पिया-विजेताओं के जीवन-से भी अधिक सुखी रहेगा।"

"सो कैसे ?"

"जिन वस्तुओं के पाने के कारण औलिम्पिया के विजेता सुखी समझे जाते हैं वे उन वस्तुओं का एक अंश मात्र हैं जो कि इन (संरक्षकों) को उपलब्ध होती हैं। इस (संरक्षकों) की विजय उनकी अपेक्षा अधिक सुन्दर होती है और जनता से प्राप्त होने वाला उनका आश्रय परिपूर्ण होता है। क्योंकि जिस उपहार को वह विजय में पाते हैं वह सारे राष्ट्र की मुक्ति है, तथा उनके मस्तक पर जो मुकुट बांधा जाता है वह उनको तथा उनकी सन्तान को प्राप्त होने वाला जनाश्रय है—वे जब तक जीवित रहते हैं नगर के द्वारा सम्मान का उपहार पाते हैं और मरने के पश्चात उनका सम्मानपूर्ण मृतक संस्कार किया जाता है।"

उसने कहा, "हां यह बड़े सुन्दर पुरस्कार हैं।"

मैंने कहा, "क्या तुम्हें याद है, कि पूर्वोक्त तर्क में न जाने किस प्रतिवादी ने हम पर इस कारण संरक्षकों को सुखी न बनाने का आरोप किया था कि नागरिकों का सर्वस्व ले सकने की शक्ति रखते हुए भी उनके पास कुछ भी नहीं था, और मुझे विश्वास है कि हम ने कहा था कि हम अवसर आने पर इस विषय की ओर फिरेंगे, इस समय तो हमारा उद्देश्य संरक्षकों को सचमुच संरक्षक और नगर को यथासंभव अधिक से अधिक सुखी बनाना है तथा हम अपनी दृष्टि को किसी एक वर्ग पर ही गड़ा कर उसको ही सुखी चित्रित नहीं कर रहे हैं?"

उसने कहा "हां, मुझे यह बात याद है।"

"अच्छा तो, क्योंकि हमारे सहायकों का जीवन ओलिम्पिया-विजेताओं के जीवन से अधिक सुन्दर और अधिक अच्छा प्रदर्शित कर दिया गया है, क्या अब वह मोची के अथवा अन्य किसी शिल्पी के या कृषक के जीवन से तुलना करने के योग्य है?"

उसने उत्तर दिया, "मैं ख्याल करता हूँ कि ऐसा नहीं है।"

"तथापि, जो बात मैं उस समय भी कह रहा था उसको हम इस समय औचित्य के साथ दोहरा सकते हैं कि यदि संरक्षक ऐसे सुख को पाने का प्रयत्न करेगा जिससे वह सच्चा संरक्षक न रहे तथा इस जीवन-मार्ग से संतुष्ट न रहेगा जो कि इतना मर्यादित सुरक्षित , एवं हमारे मत में सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु यदि सुख की बालिश और मूढ़ धारणा उसको विमोहित कर के, नगर के सर्वस्व को स्वायत्त करने के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करने को प्रेरित करेगी, तो उसको पता चल जायेगा कि हेसियड वास्तव में परम बुद्धिमान मनुष्य था क्योंकि उसका कथन है कि एक अर्थ में 'आधा सारे से अधिक होता है ।"

उसने कहा, "यदि वह मेरी सलाह माने तो उसको इसी जीवनपथ पर स्थिर रहना चाहिये ।"

"तो, शिक्षा के क्षेत्र में, बालकों के भरणपोषण के विषय में एवं अन्य नागरिकों की संरक्षकता के सम्बन्ध में, हमारे द्वारा वर्णित यह स्त्री-पुरुषों की सहभागिता तुमको स्वीकार है, और तुम यह मानते हो कि नगर के भीतर और नगर के बाहर युद्धयात्रा में, दोनों ही अवसरों पर उनको चौकसी रखने का कार्य साथ साथ करना चाहिये और शिकारी कुत्तों के समान शिकार भी साथ साथ करना चाहिये और सब वस्तुओं को सब प्रकार से समान बरतना चाहिये तथा ऐसा करना ही उनके लिये सर्वोत्तम (सर्वाधिक वांछनीय) होगा और इसमें कोई ऐसी बात नहीं होगी जो पुरुष की तुलना में स्त्री स्वभाव के अथवा उनकी पारस्परिक स्वाभाविक संगति के विपरीत हो ।"

उसने कहा, "मैं यह स्वीकार करता हूँ ।

१४.

१४. मैं बोला, "तो क्या जो बात अब निर्धारित करने को रह गयी है वह यही नहीं है कि ऐसे समाज का मनुष्यों में (पशुओं के समान) संघटित

किया जाना संभव है या नहीं और यदि संभव है तो किस प्रकार संभव है ?"

उसने कहा, "यह तो तुमने वही बात कही जो मैं उठाने वाला था ।"

मैंने कहा, "जहां तक उनके युद्धों का प्रश्न है, यह बात कि वे उनका संचालन किस प्रकार करेंगे, इतनी स्पष्ट है कि इसके विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं ।"

उसने पूछा, "क्यों ?"

"क्योंकि, स्त्रियां और पुरुष दोनों ही युद्ध के लिये एक साथ प्रयाण करेंगे, और इसके अतिरिक्त अपने ऐसे बच्चों को भी अपने साथ ले जायँगे जो पर्याप्त रूपेण बलवान हैं जिससे कि अन्य शिल्पियों के बालकों के समान वे उन प्रक्रियाओं को देख सकें जिनमेंउनको वयःप्राप्त होने पर पारंगत होना है; तथा वे, युद्ध को देखने के साथ ही साथ, अपने बालकों से युद्ध के सब कार्यों में सेवक और परिचारक इत्यादि का कार्य भी करायेंगे और वे अपने माता-पिता की सेवा में उपस्थित रहेंगे । क्या तुमने शिल्पियों के व्यवहार का कभी निरीक्षण नहीं किया है, कि उदाहरणार्थ कुम्हारों के बच्चे, बर्तन बनाने के कार्य में हाथ लगाने से बहुत पहले से किस प्रकार अपने माता-पिता के काम को देखते हुए उनके लिये धरने-उठाने, तथा लाने-ले जाने के कार्य में उनकी सहायता किया करते हैं । ?"

उसने कहा "हां, मैंने उनको देखा है ।"

"तो क्या ये लोग (कुम्हार इत्यादि) अपने बच्चों के (अपने) भावी कार्य के निरीक्षण और अनुभव द्वारा शिक्षा के सम्बन्ध में हमारे संरक्षकों की अपेक्षा अधिक सावधानी बरतेंगे ?"

उसने कहा, "ऐसी बात तो उपहासास्पद होगी ।"

"परन्तु, इससे भी आगे एक बात यह है कि, लड़ने का प्रसंग आने पर प्रत्येक जीवधारी अपनी सन्तान की उपस्थिति में अधिक वीरता से लड़ेगा ।"

"सत्य है; परन्तु सॉक्रातीस युद्ध में प्राय: होने वाली घोर पराजयों के प्रसंग में इस बात का बड़ा भय रहेगा कि कहीं मातापिताओं के साथ बालकों की भी बलि न हो जाय जिससे कि शेष राष्ट्र के लिये भविष्य में फिर से क्षतिपूर्ति करना असंभव हो उठे।"

मैंने उत्तर दिया, "यह सत्य है; परन्तु पहले तुम यह बतलाओ कि क्या तुम्हारा विचार ऐसा है कि समग्र संकटों से बच जाना ही केवल वह कार्य है जिसका हम को प्रबन्ध करना चाहिये?"

"कदापि नहीं।"

"और, यदि उनको संकटों का सामना करना पड़े ही तो क्या वह किसी ऐसी स्थिति (वस्तु, प्रसंग) में ही नहीं होना चाहिये जिसमें सफलता की प्राप्ति से उनका सुधार हो?"

"स्पष्ट ही है।"

"क्या तुम यह समझते हो कि जिन लोगों को आगे चल कर योद्धा बनना है उन का लड़कपन में युद्ध को देखना अथवा न देखना ऐसी बात है जिससे नाममात्र का अन्तर पड़ता है तथा जो संकट उठाने के योग्य नहीं है?"

"नहीं, इस बात से तो जिस उद्देश्य का तुम वर्णन कर रहे हो उसमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है।"

"हमको अपने बालकों को युद्ध का दर्शक बनाना है, यह तो सर्वप्रथम बात (नियम) होनी चाहिये, इसके आगे हमको उनकी कुशलक्षेम का कोई उपाय करना चाहिये। बस फिर सब भला होगा; क्यों ठीक है न?"

"हां।"

मैंने कहा, "पहली बात तो यह है, क्या उनके पिता लोग, जहां तक मनुष्य के लिये संभव है, युद्ध से अभिज्ञ नहीं होंगे, क्या वे चतुरतापूर्वक यह निर्णय नहीं कर सकेंगे कि कौन से अभियान संकटमय हैं और कौन से नहीं हैं?"

उसने उत्तर दिया, "यह बात ठीक मानी जा सकती है कि वे ऐसा जानते होंगे।"

"वे संकटशून्य अभियानों में लड़कों को अपने साथ ले जायेंगे तथा संकटमय अभियानों में ऐसा नहीं करेंगे; क्यों ?"

"ठीक।"

मैंने कहा, "और उन बालकों के अध्यक्षों के स्थान पर वे ऐसे अधिकारियों को नियुक्त नहीं करेंगे जो सर्वथा अयोग्य हों बल्कि ऐसे लोगों को नियुक्त करेंगे जो अवस्था और अनुभव दोनों ही के कारण बच्चों के नेता और अभिभावक दोनों ही का काम करने के योग्य हों।"

"हां, यही समुचित उपाय होगा।"

"तथापि, हमको कहना पड़ेगा कि, अनेकों बार अनेकों व्यक्तियों के विषय में अप्रत्याशित घटनाएँ घटित होती हैं।"

"हां, वास्तव में ऐसा होता है।"

"तो, ऐसे दैवयोगों का सामना करने के लिये हम को आरम्भ से ही अपने बच्चों के पर लगा देने चाहिये, जिससे यदि आवश्यकता आ पड़े तो वे उड़ कर बच सकें।"

उसने पूछा, "इससे तुम्हारा क्या आशय है।"

मैंने कहा, "हम को उन्हें अत्यन्त छोटी अवस्था में घोड़े पर बैठा देना चाहिये और सब से पहले उन्हें घोड़े की सवारी करना सिखलाना चाहिये और तब उनको सवार करके युद्ध दिखलाने के लिये ले जाना चाहिये, परन्तु उनके घोड़े बहुत ओजस्वी और युद्ध के काम के नहीं प्रत्युत सीधे किन्तु अत्यन्त तेज चलने वाले होने चाहिये ; क्योंकि इस प्रकार वह अपने भावी जीवनकार्य को भली भांति देख सकेंगे तथा यदि आवश्यकता हुई तो अपने अधिक अवस्था वाले पथप्रदर्शकों का अनुसरण करते हुए अपने को बचा भी सकेंगे।

उसने कहा, "मेरी समझ में आप ठीक कहते हैं।"

"पर अब युद्ध-संचालन के विषय में क्या ? सैनिकों की परस्पर एक दूसरे के प्रति और शत्रु के प्रति कैसी चित्तवृत्ति होगी ? इस विषय में मेरी धारणाएँ उचित हैं अथवा नहीं ?"

उसने पूछा "कौन सी धारणाएँ, मुझे बतलाइये तो ?"

"कोई भी योद्धा जो अपने मोर्चे से हट जाता है, अथवा अपने हथियार फेंक देता है अथवा इसी प्रकार कोई अन्य डरपोकपन के कार्य करने का अपराधी है तो उसको शिल्पियों अथवा कृषकों के वर्ग में गिरा देना चाहिये। कहिये ऐसा होना चाहिये या नहीं ?"

"सर्वथैव।"

"और जो कोई शत्रु के द्वारा जीवित ही पकड़ लिया जाय तो हम उसको पकड़ने वालों को उपहार स्वरूप दे देंगे कि वे अपने बन्दी के साथ जैसा चाहें वैसा बरताव करें। क्यों, क्या ऐसा नहीं करेंगे?"

"बिलकुल ठीक।"

"और उस योद्धा के विषय में, जो कि युद्ध में शूरवीरता का पुरस्कार पाता है तथा अपने को दूसरों से बढ़कर सिद्ध करता है, क्या तुम इस बात से सहमत नहीं हो कि उसको अपने अभियान-सहचरों के द्वारा , सेना में ही, बारी बारी से पहले युवकों के हाथों से, तदुपरान्त लड़कों के हाथों से मालाएँ पहनायी जायेंगी ?"

"मैं सहमत हूँ।"

"और फिर सब के द्वारा उसको दक्षिणहस्त प्रदान किया जायेगा ?"

"यह भी, होना चाहिये।"

"पर मैं ख्याल करता हूँ कि तुम इतना आगे नहीं बढ़ सकोगे ?"

"कितना ?"

"कि वह सब का चुंबन करे और सब के द्वारा उसका चुंबन किया जाय ?"

उसने कहा, "अवश्यमेव; और मैं तो इस नियम में इतना विधान और जोड़े देता हूँ कि उस अभियान के स्थिति काल में वह जिस किसी का भी चुंबन करना चाहे तो उसको उसकी मांग अस्वीकार करने का अधिकार नहीं होना चाहिये, जिससे कि यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष से प्रेम करता हो तो वह इस उपहार को जीतने के लिये और भी अधिक उत्कंठित हो जाए।"

मैंने कहा, "परमोत्तम ! और यह बात तो हम पहले ही कह चुके हैं कि अच्छे (वीर) पुरुष के लिये विवाह का सुअवसर अधिक उत्सुकता के साथ प्रदान किया जायेगा और वह इस प्रकार के कामों लिये दूसरों की अपेक्षा प्रायेण अधिक बार चुना जायेगा जिससे कि ऐसे पिता से यथासंभव अधिक से अधिक बच्चे उत्पन्न हो सकें।"

उसने कहा, "हां, हम ऐसा कह चुके हैं।"

१५.

१५. "पर इससे भी आगे बढ़ कर हम होमेर का भी प्रमाण उद्धृत कर सकते हैं कि अपने युवकों के मध्य वीरों का इस प्रकार सम्मान करना न्यायोचित है। क्योंकि होमेर ने कहा है कि जब अयास ने युद्ध में विशिष्ट पराक्रम प्रदर्शित किया तो वह लम्बे लम्बे (गो) मांसखंडों के उपहार से सम्मानित किया गया; मानों होमेर ने ऐसा यह मानते हुए कहा है कि पूर्ण-यौवन को प्राप्त वीर पुरुष के लिये सर्वोत्तम एवं उचित पुरस्कार वह है जिससे उसको सम्मान और सामर्थ्य दोनों ही उपलब्ध हो सकें !"

उसने कहा, "परम सत्य बात है।"

मैंने कहा, "तो, कम से कम इस विषय में हम होमेर को पथ-दर्शक मानेंगे। यज्ञों और इसी प्रकार के अन्य उत्सवों पर, हम भी, अपने वीर पुरुषों को उनकी प्रदर्शित वीरता की मात्रा के अनुसार, स्तोत्रों एवं उन अन्य विशेष अधिकारों से जिनका हम अभी वर्णन कर चुके हैं, तथा एवमेव "सम्मानित आसनों, नाना व्यंजनों (आमिषादिकों) तथा उद्वेलित

चषकों से" भी सम्मानित करेंगे, जिससे कि शारीरिक साधन और मानदान दोनों का सम्मिलन हो सके।"

उसने कहा, "यह तो परम सुन्दर बात है।"

"बहुत अच्छा। और युद्धाभियान में मरने वालों में से यदि किसी की मृत्यु विशेष प्रकार से कीर्तियुक्त हुई तो क्या, पहले पहल हम यह घोषित नहीं करेंगे कि वह सुवर्ण जाति का पुरुष है ?"

"निश्चयेन ऐसा ही कहेंगे।"

"और क्या हम हेसियड् का विश्वास नहीं करेंगे जिसका कथन है कि जब कोई इस जाति का व्यक्ति मरता है तो वह 'पूतात्मा पृथ्वी पर निवास करते हैं, दुरित क्षय करते हैं तथा वाग्धारी मर्त्यों के सावधान और श्रेयस्कर संरक्षक बन जाते हैं।"

"हां, हम अवश्य उसका विश्वास करेंगे।"

"तो क्या हम देवता से पूछ कर मालूम करेंगे कि अतिमानव अथवा दिव्य गुणों से युक्त व्यक्तियों को हम किस विशिष्टता के साथ और कैसे समाधिस्थ करें और तदुपरान्त उसके उत्तर के ही अनुसार उसके प्रति व्यवहार करेंगे ?"

"क्यों नहीं करेंगे ?"

"और फिर भविष्य में सर्वदा हम उनके समाधिस्थलों पर दिव्यात्माओं के प्रति की जाने वाली पूजा और उपासना अर्पित करेंगे। और इसी प्रकार का सम्मानप्रदर्शन हम उस व्यक्ति के भी वृद्धावस्था में अथवा अन्यथा मरने पर भी करेंगे जो सामान्य जीवन यात्रा में असामान्यरूप से भला (वीर) समझा जाता है। क्यों ठीक है न ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो निश्चय ही उचित होगा।'

"पर फिर, हमारे योद्धा शत्रुओं के प्रति कैसा आचरण करेंगे ?"

"किस सम्बन्ध में ?"

चोट पहुँचाने वाले पत्थरों पर तो गुर्राते हैं पर पत्थर फैंकने वालों को नहीं छूते।"

"तनिक भी नहीं।"

"तो हमको शवों को लूटने की प्रथा और उनकी अन्त्येष्टि में विघ्न डालनेकी प्रथा को छोड़ देना चाहिये ?"

उसने कहा, "भगवान के नाम पर ,हमको यह बातें अवश्यभेव छोड़ देनी चाहियें।"

(१६)

"पुनश्च हम शत्रुओं के अस्त्र शस्त्रों को समर्पण करने के लिये मन्दिरों में नहीं ले जायेंगे, और यदि अन्य हैलैनेस लोगों के साथ हमको मित्रता का संबंध बनाए रखने की तनिक भी चिन्ता है तो उनके शस्त्रास्त्र तो हम विशेष रूप से नहीं ले जायेंगे। इस के विपरीत, हमको यह भय खाना चाहिये कि जब तक स्वयं देवता की ही अन्यथा आज्ञा न हो तब तक यदि हम अपने ही जाति भाइयों से जीते हुए इन जयचिह्नों को मन्दिर में ले जायेंगे तो मन्दिर अपवित्र हो जायेगा।"

उसने कहा, "आपका कथन नितान्त सत्य है।"

"और हैलेनेस लोगों की भूमि को नष्ट भ्रष्ट करने एवं घरों को जलाने के विषय में तुम्हारे सैनिकों का शत्रुके प्रति कैसा व्यवहार होगा ?"

उसने कहा, "इस विषय में, मैं आपकी सम्मति अत्यन्त हर्षपूर्वक सुनूँगा ?"

मैंनें कहा,र "मेरी राय में तो उनको इन दोनों कार्यो में से एक भी नहीं करना चाहिये, किन्तु अपने को वार्षिक उपज को लेने तक सीमित रखना चाहिये। क्या तुम्हे बतलाऊँ कि ऐसा क्यों करना चाहिये ?"

"कृपया कहिये।"

,'मुझे ऐसा लगता है कि जिस प्रकार हमारी भाषा में दो भिन्न शब्द

हैं युद्ध और कलह (पॉलीमास और स्तासिस्) इसी प्रकार इन शब्दों के अनुसार दो विशेषणों (अवच्छेदकों) से विशिष्ट (अवच्छिन्न) इनके द्वारा सूचित वस्तुएँ भी दो हैं। जिन दो वस्तुओं से मेरा तात्पर्य है उनमें से एक मित्रों और संबंधियों से तथा दूसरी परायों और विदेशियों से संबंध रखती है। मित्रों और संबंधियों के विरोध को सूचित करने के लिये 'कलह' शब्द का प्रयोग किया जाता है तथा विजातीय एवं विदेशीय जनों के विरोध सूचित करने के लिये 'युद्ध' शब्द का।"

उसने कहा, "तुम्हारा कथन तनिक भी अप्रकृत नहीं।"

"अच्छा, अब देखो कि यह बात भी उचित है या नहीं। मेरा कथन है कि हैलेनेस् जाति अपने मध्यमें परस्पर मैत्रीवद्ध है और एक परिवारगत है तथा बर्बरों के प्रति विदेशीय और विजातीय है।"

उसने कहा, "ठीक।"

"तब हम यह कहेंगे कि हैलैनीस लोग बर्बरों से लड़ते और युद्ध करते हैं और बर्बर हैलैनेस् लोगों से, तथा ये दोनों परस्पर निसर्गतः शत्रु हैं एवं इस प्रकार के वैर और वैमनस्य के लिये 'युद्ध' शब्द उचित है। किन्तु हैलैनेस् परस्पर लड़ने पर भी निसर्गतः हैलैनेस् के मित्र हैं, परन्तु ऐसी स्थिति में हैलैनेस् जाति रोगिणी है और कलह के कारण टूक टूक हो रही हैं और इस प्रकार के वैर के लिये हमको जो नाम देना चाहिये वह 'कलह' है।"

उसने कहा, "मैं इस (भाषण) पद्धति से सहमत हूँ।"

मैंने कहा, "तो ध्यान रक्खो कि जब किसी प्रस्तुत अर्थ में 'कलह' कहलाने वाली स्थिति में इस प्रकार की कोई घटना घटित हो और कोई राष्ट्र अन्तर्विभक्त हो गया हो तो यदि दोनों दलों में से प्रत्येक दूसरे की भूमि को नष्ट भ्रष्ट करे और घरों को आग लगाये तो ऐसी कलह को पाप (या अभिशाप) समझा जाता है तथा दोनों दलों में से कोई भी देश-

प्रेमी नहीं माना जाता। क्योंकि यदि वे देशप्रेमी होते तो वे अपनी धात्री और माता का इस प्रकार अंगभंग करना सहन न कर पाते। किन्तु मर्यादित और युक्तियुक्त बात तो यही समझी जाती है कि विजेता लोग पराजितों की वर्ष की उपज लेलें परन्तु उनका मनोभाव ऐसे मनुष्यों का सा होना चाहिये जिनको पुनर्मिलन की आशा होती है तथा जो सर्वदा युद्ध करते रहना नहीं चाहते।"

उसने कहा, "यह मनोभाव अपेक्षाकृत कम पाशविक है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्या जिस नगर की तुम स्थापना कर रहे हो वह हैलैनेस् नगर नहीं होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "सो तो अवश्य होगा ही।"

"तो क्या वे (नगरनिवासी) लोग भले और सभ्य नहीं होंगे ?"

"वे वास्तव में ऐसे ही होंगे।"

"और क्या वे हैलैनेस्-प्रेमी नहीं होंगे, क्या समग्र हैला (प्रदेश तथा जाति) को अपना ही नहीं समझेंगे और क्या वे समग्रजाति के पावन देवस्थानों की यात्रा और पूजा में भाग नहीं लेंगे ?"

"अवश्यमेव लेंगे।"

"तो क्या वे हैलैनेस् लोगों के साथ, जो कि उनके अपने ही जातिबन्धु हैं, किसी भी विरोध को कलह का ही एक प्रकार नहीं मानेंगे, और उसको युद्ध का नाम तक देना स्वीकार (नहीं) करेंगे ?"

"क़दापि नहीं।"

"तो वे अपनी क़लह को सर्वदा इस प्रकार चलायेंगे कि मानों उनको भविष्य में मेलजोल हो जाने की आशा है। क्यों ठीक है न ?"

"सर्वथा।"

"तब तो वे उनको उनकी भलाई के लिये ही सम्हाल कर ठीक करेंगे, उनको दास बनाने अथवा नष्ट करने के लिये उनका निग्रह नहीं करेंगे,

उनके सम्हालन वाले के समान आचरण करेंगे न कि शत्रुओं के समान ।"

"ठीक ऐसा ही करेंगे ।"

"हैलैनेस् होने के कारण, वे हैलैनेस् धरती को नष्ट भ्रष्ट नहीं करेंगे न निवासस्थानों को ही जलायेंगे, और न यह बात स्वीकार करेंगे कि किसी नगर के स्त्री, पुरुष एवं बालक सब के सब निवासी उनके शत्रु हैं बल्कि ऐसा कहेंगे कि किसी भी अवसर पर केवल थोड़े से व्यक्ति ही—जो कि कलह के लिये दोषी हैं—उनके शत्रु हैं। तथा इन्हीं सब विचारों के हेतु वे न तो भूमि को नष्ट भ्रष्ट करना चाहेंगे और न घरों को धराशायी, क्योंकि अधिकांश मनुष्य तो उनके मित्र हैं; एवं वे इस द्वन्द्व को तब तक चलायेंगे जब तक कि सताये गये निर्दोष जनों के दबाव से दोषी लोग न्याय करने के लिये बाध्य न हो जायँ ।"

उसने कहा, "मैं इस बात से सहमत हूँ कि हमारे नागरिकों को अपने हैलैनेस् प्रतिद्वन्द्वियों से इसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, तथा बर्बरों के प्रति ऐसा बर्ताव करना चाहिये जैसा हैलैनेस् आजकल हैलैनेस् के प्रति करते हैं ।"

"तो क्या हम अपने संरक्षकों के लिये यह नियम भी निर्धारित करेंगे कि वे न तो भूमि को उजाड़ेंगे और न घरों को जलायेंगे ?"

उसने उत्तर दिया, "हमको ऐसा ही करना चाहिये और यह मान लेना चाहिये कि यह नियम तथा हमारे द्वारा निर्धारित पहले नियम दोनों ही अच्छे हैं ।"

— १७ —

१७. "परन्तु, सॉक्रातेस, मुझे तो ऐसा लगता है, यदि तुमको इसी ढंग से बोलने दिया जाय तो तुम उस विषय पर कभी कुछ न कह पाओगे जिसको तुमने इन सब बातों के कहने के निमित्त स्थगित कर दिया था—अर्थात् यह प्रदर्शित करना कि क्या इस प्रकार की व्यवस्था संभव है और

इनको किस प्रकार घटित किया जा सकता है। इस बात को मान लेने के लिए तो मैं भी तैयार हूँ कि यदि यह वास्तविक हो सके तो इस व्यवस्था वाले नगर में सब कुछ बड़ा सुन्दर होगा। तथा जो बात तुमने कहने से छोड़ दी है मैं उसको भी कहे देता हूँ कि तुम्हारे नागरिक युद्ध में अत्यन्त अधिक सफलता लाभ करेंगे और एक दूसरे का साथ छोड़ देने की संभावना उनमें सब से कम होगी, क्योंकि वह एक दूसरे से भाई, पिता, या पुत्र का नाता मानने वाले होंगे तथा इन्हीं नामों से एक दूसरे को संबोधन करने वाले होंगे। और यदि उनके अभियानों में स्त्रियां भी उनमें सम्मिलित हो जाएँ, चाहें तो वे पुरुषों की ही पंक्ति में हों, अथवा शत्रु को त्रस्त करने के लिए सेना के पश्चाद् भाग हों अथवा आवश्यकता आ पड़ने पर सुरक्षित सेना के रूप में हों, तो यह बात भी उनको अजेय बना देगी। इसके अतिरिक्त घर पर भी मैं ऐसी बहुत सी सुविधाएँ देख पाता हूँ जिनका उल्लेख तुमने नहीं किया है। परन्तु, इस शासन व्यवस्था के वास्तव में घटित होने पर ये सब लाभ तथा इनके अतिरिक्त और भी अगणित सुविधाएँ उपलब्ध होंगी यह तथ्य मेरे द्वारा स्वीकृत मान कर अब आप इस विषय पर परिश्रम न कीजिये। इसकी अपेक्षा तो अब हम अपने आपको इस विषय में आश्वस्त करें कि ऐसी व्यवस्था व्यवहारिक है और किस प्रकार व्यवहारिक है तथा शेष प्रश्नों को छोड़ दें।"

मैंने कहा, "मेरे स्वाभाविक संकोच (झिझक) की तनिक भी परवा न कर के यह तो तुम ने मेरी युक्ति (सिद्धान्त) पर अकस्मात् धावा बोल दिया। स्यात् तुम नहीं समझ पाए हो, कि जब कि मैं कठिनाई से पहली दो लहरों को पार कर पाया हूँ, तुम मेरे विरुद्ध तीसरी तथा सब से बड़ी लहर लुढ़का रहे हो, जो कि सब से बुरी है। परन्तु जब तुम उस को देख और सुन चुकोगे, तो यह जान कर कि ऐसे अलौकिक विवेचन को प्रारंभ

करने से सकुचाने और डरने का मेरे लिये अच्छा खासा कारण था, तुम मेरे प्रति दयालु होने के लिए अधिक जल्दी उद्यत हो जाओगे।"

उसने कहा, "तुम जितने ही इस प्रकार के बहाने अधिक बनाओगे उतना ही कम तुमको इस बात की व्याख्या करने से छुटकारा मिलेगा कि यह नीति किस प्रकार संभव है। अतएव अविलम्ब अपनी व्याख्या आरंभ कीजिये, टालमटूल न कीजिये।"

मैंने कहा, "अच्छा तो, पहली बात जो हमको याद रखनी चाहिये वह यह है कि न्याय और अन्याय के स्वरूप के अन्वेषण ने ही हमको इस स्थिति पर पहुँचाया है।"

वह बोला, "हां, पर इससे क्या हुआ ?"

मैंने उत्तर दिया, "कुछ भी नहीं। केवल इतनी सी बात है कि यदि हम यह आविष्कार कर लें कि न्याय क्या है तो क्या हमको यह मांग उपस्थित करनी होगी कि न्यायी मनुष्य किसी भाव में उससे (न्यायसे) भिन्न नहीं होगा, वलिक सब प्रकार (सोलहों आने) से आदर्श के अनुरूप होगा ? अथवा यदि वह आदर्श के समीप यथासंभव अधिक से अधिक पहुँचता हो और अन्य लोगों की अपेक्षा उसको अधिक अंगीकार किये हो तो हमारे लिए इतना ही पर्याप्त होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "हमारे लिये इतना ही पर्याप्त होगा।"

मैंने कहा, "जब कि हम आदर्श न्याय के स्वरूप का अनुसंधान कर रहे थे और यह पूछ रहे थे कि पूर्णरूपेण न्यायी मनुष्य का यदि अस्तित्व हुआ तो उसका आचरण कैसा होगा और इसी प्रकार अन्याय और पूर्णरूपेण अन्यायी मनुष्य के संबंध में विचार कर रहे थे तो हमारा इष्ट प्रयोजन आदर्श की खोज करना था। हम उनको आदर्श प्रतिमा मान कर उनका निरीक्षण करना चाहते थे जिससे हम को उनमें जो कुछ सुख दुःख दिखलाई पड़े, उसको इस अर्थ में अपने प्रति भी लाग

कर के देखें कि जो कोई भी अधिक से अधिक उनके सदृश है उसको सुख दुःख का वितरण भी उन्हीं के सदृश् प्राप्त होगा। हमारा उद्देश्य इन आदर्शों के वास्तवीकरण की संभावना का प्रतिपादन करना नहीं था।"

उसने कहा, "तुम्हारा यह कथन सत्य है।"

"तो क्या तुम यह समझते हो कि, वह चित्रकार, जो कि आदर्श सौन्दर्य सम्पन्न व्यक्ति की प्रतिमा अंकित कर के, तथा चित्र की पूर्णता में एक विन्दुमात्र त्रुटि न छोड़ कर यदि यह सिद्ध न कर सके कि ऐसे मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व संभव है, तुम्हारी दृष्टि में हीनकोटि का चितेरा है ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, ईश्वर की सौगन्ध मैं ऐसा नहीं समझता।"

"तो क्या हमारा अभ्युपगम (प्रतिज्ञा, कथन) भी यही नहीं था कि हम शब्दों में एक आदर्श राष्ट्र की प्रतिमा रचने का उद्योग कर रहे हैं ?"

"हां, निश्चय ही।"

"तो क्या यदि हम यह सिद्ध करने में समर्थ न हो सकें कि हमारे बचनों (सिद्धान्तों) के अनुसार किसी राष्ट्र का शासित होना संभव है तो क्या हमारा (सिद्धान्त) वचन कोई कुवचन (अथवा अपसिद्धान्त) हो जाएगा ?"

उसने उत्तर दिया, "निश्चय ही नहीं।"

मैंने कहा, "इस प्रसंग में सत्य बात तो यही है। परन्तु यदि तुम्हें प्रसन्न करने के लिए मुझको यह भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न करना हो कि किस विशिष्ट प्रकार से और किन अवस्थाओं में यह आदर्श (बातें) वास्तविक होना अत्यधिक संभव हैं तो इसके प्रतिपादन के के लिए पुनः मुझे पूर्व स्वीकृति प्रदान करो।"

"कौन सी पूर्व स्वीकृति ?"

"क्या किसी वस्तु के लिए व्यवहार में वास्तविक स्वरूप ग्रहण करना उसी प्रकार संभव है जैसा कि उसको शब्दों में व्यक्त किया जाता है; अथवा क्या वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है, कि चाहे कुछ लोग इसको भले ही स्वीकार न करें, कार्य, शब्दों की अपेक्षा सत्य के यथार्थ स्वरूप को कम ग्रहण कर पाते हैं ? तुमको यह बात मान्य है अथवा नहीं ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं यह मानता हूँ।"

मैंने कहा, "तब तो जो बात हमने शब्दों में विवृत की है उसको क्रियात्मक रूप में ज्यों का त्यों वास्तविक रूप ग्रहण किए हुए मेरे द्वारा प्रदर्शित किया जाना चाहिये, ऐसा आग्रह तुम्हें नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि हम यह पता चला सकें कि हमारे विवरण से बहुत अधिक मेल खाने वाले राष्ट्र को किस प्रकार संघटित किया जा सकता है तो तुमको कहना पड़ेगा कि हमने इस राष्ट्र की व्यवहारिकता की उस संभावना को खोज लिया जिसकी तुमने मांग की है। क्या तुम इतना पाकर तृप्त नहीं हो जाओगे ? अपनी तो मैं कहता हूँ कि मैं तो संतुष्ट हो जाऊँगा।"

उसने कहा, "मैं भी हो जाऊँगा।"

— १८ —

१८. तो, दूसरी बात जिसका हमको पता लगाना चाहिये, और नदिश करना चाहिये, प्रतीत होता है, यह है कि हमारे राष्ट्रों के व्यवहार में वह क्या दुर्व्यस्थित वस्तु है जो उनको इस (आदर्श) प्रकार से शासित होने से रोक रही है, तथा वह कौन सा अल्पतम परिवर्त्तन है जो किसी राष्ट्र को इस प्रकार के शासन-स्वरूप को ग्रहण करने के योग्य बना देगा। वांछ-नीय तो यह है कि यह परिवर्त्तन एक ही वस्तु में हो, यदि ऐसा संभव न हो तो दो वस्तुओं में सही, और इससे भी काम न चले तो ऐसी वस्तुओं में हो जो संख्या में न्यूनतम तथा प्रभाव में लघुतम हों।"

उसने कहा, "सर्वथा यही होना चाहिये।"

मैंने कहा, "एक परिवर्त्तन ऐसा है, जो मैं समझता हूँ हम सिद्ध करके दिखा सकते हैं, इस वांछित परिणाम को घटित कर सकता है। यह कोई तुच्छ अथवा सरल काम तो नहीं है, पर संभव है।"

उसने पूछा, "वह क्या है ?"

मैंने कहा, "लो भाई मैं अब बिल्कुल उस कथन के समीप हूँ जिसको मैंने सबसे बड़ी लहर कहा है। परन्तु मैं इसको कहूँगा अवश्य, फिर चाहे, आलंकारिक भाषा में, इसका हमको परिहास और तिरस्कार की तरङ्गों पर बहा ले जाना भी संभव क्यों न हो। लो मेरे शब्दों को ध्यान से सुनो।"

उसने कहा, "कहिये।"

मैंने कहा, "जब तक, या तो हमारे राष्ट्रों में दार्शनिक (विद्याप्रेमी) राजा नहीं हो जाते या वह लोग जिनको हम आजकल राजा अथवा शासक कहते हैं, गंभीरता और समीचीनता के साथ दर्शनाभ्यासी नहीं बन जाते एवं जब तक राजकीय शक्ति और दार्शनिक बुद्धिमत्ता इन दोनों का संगम नहीं हो जाता तथा विविध स्वभाव वाले साधारण जनों का समुदाय, जो अधुना इन दोनों में से किसी एक को छोड़ कर दूसरे अंग का अनुसरण करते हैं, विबाधित (विवश) करके अलग नहीं कर दिये जाते, तब तक, प्यारे ग्लौकोन, हमारे राष्ट्रों के लिये कष्टों का अन्त नहीं हो सकता और मेरा ख्याल है कि मनुष्य जाति के लिये भी नहीं हो सकता। और न, जब तक, उपर्युक्त बात घटित होती है, तब तक यह व्यवस्था भी जिसकी व्याख्या हम सिद्धान्तरूप में करते रहे हैं यथासंभव व्यवहार में ही आ सकती अथवा दिन का प्रकाश देख सकती है। परन्तु यही बात है कि मैं क्यों इतनी देर से इसको कहने में संकोच कर रहा था, क्योंकि मैं जानता था कि यह बात

नितान्त अनोखी सी है। कारण, कि यह समझ लेना, कि सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवन में सुख की उपलब्धि का अन्य कोई मार्ग ही नहीं है, अत्यन्त कठिन काम है।"

और इस पर वह कहने लगा, "सॉक्रातीस्, इस प्रकार के भाव एवं वाक्यों को उच्चारण करने के उपरान्त तो तुमको यही आशा करनी चाहिये कि हमारे बहुत से असाधारण मनुष्यों द्वारा तुम पर आक्रमण किया जाय और वे मानों अपने अँगरखों को उतार कर, जो भी हथियार उनके समीपतम हो उसको उठा कर पूर्णवेग और शक्ति से, भगवान जाने क्या न कर डालने के लिये तुम पर झपट पड़ें। और यदि उनसे अपनी रक्षा करने के लिये तुमको शब्द न मिलें, और तुम उनके आक्रमण से न बच सको तो सचमुच ही तुमको तिरस्कृत और अपहसित होने का दण्ड तो अवश्यमेव भरना पड़े।"

मैंने कहा, "और इस सब (विपत्ति) को मेरे ऊपर ढहाने वाला दोषी, यदि तुम नहीं हो तो और कौन है?"

उसने उत्तर दिया, "हां, और मैंने ठीक ही किया। परन्तु मैं तुम्हें अकेला छोड़ कर भागूँगा नहीं बल्कि, जो भी हथियार मुझे मिल सकेंगे उनसे तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैं अपनी साख (सद्भावना) और प्रोत्साहन द्वारा तुम्हारी सहायता करूँगा एवं तुम्हारे प्रश्नों का अन्य लोगों की अपेक्षा, स्यात्, अच्छी तरह से उत्तर दे सकूँगा। अतएव ऐसी सहायता के बल पर तुमको, संशयालु लोगों के प्रति यह स्पष्टतया प्रदर्शित करने का प्रयत्न करना चाहिये कि तुम्हारा कथन सत्य है।"

मैंने कहा, "क्योंकि तुम मुझे इतनी अमूल्य सहायता प्रदान कर रहे हो, तो मुझको प्रयत्न अवश्यमेव करना चाहिये। अब यदि हमको तुम्हारे द्वारा वर्णित आक्रमणकारियों से बचना हो, तो मैं यह उचित समझता हूँ कि हम उन लोगों के लिये पहले पहल बतला दें कि दार्शनिक की परि-

भाषा क्या है और उन दार्शनिकों से, जिनके विषय में हमने यह कहने का साहस किया है कि उनको शासन करना चाहिये, हमारा क्या तात्पर्य है। जब कि उनका चरित्र पूर्णतया स्पष्टरूपेण प्रत्यक्ष हो जायगा तब हमारे लिये यह प्रदर्शित करके अपनी रक्षा करना संभव होगा कि दर्शन-शास्त्र का अध्ययन और राष्ट्र का नेतृत्व प्रकृत्या उन्हीं का भागधेय है, जब कि अन्य लोगों के लिये यही उचित है कि वे दर्शनशास्त्र में टांग न अड़ायें तथा अपने नेताओं का अनुसरण करें।"

उसने कहा, "इस परिभाषा को प्रस्तुत करने के लिये यह उचित समय है।"

"तो आओ, इस पथ पर मेरा अनुसरण करो जिससे यदि हो सके तो हम किसी न किसी प्रकार अपने अर्थ को स्पष्ट कर सकें।"

उसने कहा, "चलिये।"

मैंने कहा, "तो क्या मुझे तुम्हें यह बात स्मरण करानी पड़ेगी अथवा तुमको इसका स्मरण है कि जब हम यह कहते हैं कि कोई मनुष्य किसी वस्तु का प्रेमी है तो यह स्पष्ट प्रतीत होना चाहिये कि वह उस समग्र का प्रेमी है ? यह कहने से काम नहीं चलेगा कि वह उसके कुछ भाग को प्रेम करता है और कुछ भाग को प्रेम नहीं करता।"

— १९ —

१९. उसने कहा, "मैं समझता हूँ कि तुम्हें मुझको याद दिलानी ही पड़ेगी क्योंकि मैं आपकी बात बिलकुल नहीं समझ पाया।"

मैंने कहा, "ग्लौकोन, ऐसा उत्तर तो तुम्हारी अपेक्षा किसी और को शोभा देता। तुम सरीखे स्नेहप्रवण व्यक्ति को यह भूल जाना नहीं सोहता कि सभी तरुण कुमार किसी न किसी प्रकार रसिक प्रणयी को मथित एवं व्यथित (उत्तेजित) करते हैं एवं उसको सप्रणय परायणता के योग्य

और वांछनीय प्रतीत होते है। क्या सुन्दर व्यक्तियों के प्रति तुम्हारा व्यवहार इसी प्रकार का नहीं है ? एक की प्रशंसा में तुम कहते हो कि उसका मुख मनोहर है क्योंकि उसकी नाक उद्वर्तित है, अंकुशतुल्य नासिका वाले के रूप को तुम राजसी बतलाते हो; तीसरा, जिसकी नासिका उपर्युक्त दोनों लड़कों की नासिकाओं की तुलना में मध्यमाकृति वाली है तुम्हारी दृष्टि में संतुलित सौन्दर्य से समन्वित है : सांवले के लिये तुम्हारा कहना है कि उनकी आकृति पौरुषपूर्ण है और गौरवर्ण तो देवपुत्र ही ठहरे। और क्या तुम अनुमान लगा सकते हो कि 'जितपीत' शब्द स्वयं किसी ऐसे प्रेमी की रचना के अतिरिक्त और क्या है, जिसको विकासशील तारुण्य के साथ आने वाली पतिता से भी अरुचि नहीं थी ? और, किं बहुना, प्रफुल्लित यौवन को प्राप्त किसी भी युवा को अस्वीकृत न करने के लिये तुम कौन सा बहाना नहीं बनाते और किस शब्दावलि का प्रयोग नहीं करते ?"

उसने उत्तर दिया, "यदि प्रेमियों की इस विलक्षणता के लिये मुझको दृष्टान्त स्वरूप उपस्थित करना ही तुम्हारी मौज है तो युक्ति के निमित्त मैं इसको माने लेता हूँ।"

मैंने कहा, "फिर, क्या यही बात तुम मदिरा के प्रेमियों में भी नहीं देखते ? वे किसी न किसी बहाने प्रत्येक मदिरा का स्वागत करते हैं।"

"हां, सचमुच वे ऐसा ही करते हैं।"

"और इसी प्रकार मैं समझता हूँ कि तुमने यह भी देखा है जो लोग सम्मान लोलुप होते हैं वे यदि अपने को सेनाध्यक्ष मनोनीत न करा सकें तो कम से कम मण्डली के तो नेता बन ही जाते हैं। यदि वे महापुरुषों एवं अधिकारियों द्वारा सम्मानित न हो सकें तो छोटे एवं महत्वशून्य अकि-ञ्चन मनुष्यों के समादर से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। पर समादर की कामना उनको अवश्य होती है और वह उनको अवश्य मिलना चाहिये।"

"हां, सत्य है।"

"अच्छा तो अब निम्नलिखित विषय में अपनी सम्मति 'हाँ अथवा न' में बतलाओ। जब हम यह कहते हैं कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के लिये उत्कण्ठित है तो क्या हम यह कहेंगे कि उसको समग्र वर्ग (जाति) की स्पृहा है अथवा यह कहेंगे कि उसको केवल एक अंश मात्र की इच्छा है और शेष अंश की इच्छा नहीं है?"

उसने उत्तर दिया, "समग्र की स्पृहा।"

"तो क्या फिलॉसफ़र (विद्याप्रेमी) के विषय में भी यही नहीं कहेंगे कि वह समग्र विद्या का इच्छुक है तथा ऐसा नहीं है कि वह उसके एक अंश का इच्छुक है और अन्य का नहीं?"

"सत्य है।"

"तो उस विद्यार्थी को, जो कि हेयोपादेय के विवेक से शून्य प्रारम्भिक अवस्था में अपने अध्ययन के विषय में अरुचि प्रदर्शित करता है, हम ज्ञान प्रेमी अथवा विद्या प्रेमी नहीं कहेंगे जिस प्रकार कि उस व्यक्ति को, जो कि भोजन के विषय में चोचले दिखलाता है, हम वास्तव में भूखा नहीं कहते, उसको भोजन की क्षुधा नहीं होती, वह भोजन का प्रेमी नहीं है, प्रत्युत अल्पभक्षी है।"

"और हमारा ऐसा कहना उचित होगा।"

"परन्तु उस व्यक्ति को, जो कि सब प्रकार के अध्ययन के आस्वादन के लिये प्रस्तुत और इच्छुक है, जो अध्ययन-व्यापार में आह्लादपूर्वक जुटता है और उससे कभी तृप्त नहीं होता, उसको हम न्यायोचित प्रकार से विद्या का प्रेमी अथवा फिलॉसॉफ़र कहेंगे। क्यों कहेंगे या नहीं?"

इसके उत्तर में ग्लौकोन ने कहा, "तब तो तुम इस नाम को एक बहु-संख्यक एवं अनोखे जनसमुदाय को प्रदान करोगे। क्योंकि, मैं ख्याल करता हूँ कि सब तमाशबीन भी कुछ सीखने में आनन्द प्राप्त करने के कारण,

इस समुदाय में सम्मिलित किये जाने चाहिये। तथा जिनको कुछ (संगीत) सुनने में मजा आता है वे भी फिलासाफ़रों के समुदाय में परिगणित होने वाले एक अद्भुत ही व्यक्ति होंगे। किसी दार्शनिक शास्त्रार्थ अथवा ऐसे ही किसी अन्य मनोरंजन में, जहां तक उन से बन पड़ेगा वे कदापि उपस्थित नहीं होंगे, परन्तु दियोनिसियस के उत्सवों में तो चाहे वे नगर में हों चाहे देहात में, दौड़ दौड़ कर जायेंगे, और एक भी उत्सव में उपस्थित होने से नहीं चूकेंगे जैसे मानों उन्होंने देश भर की मण्डलियों के गाने सुनाने के लिये अपने कानों को भाड़े पर देदिया हो। तो क्या इन सब लोगों को, तथा इन्हीं के समान रुचि वाले अन्य व्यक्तियों को एवं निम्मकोटि के शिल्पों का अभ्यास करने वालों को—सभी को हम फिलाँसाफर संज्ञा प्रदान करेंगे ?"

मैंने उत्तर दिया, "कदापि नहीं, परन्तु वे फिलाँसाफ़रों से कुछ मिलते जुलते हैं।"

— २० —

२०. उसने पूछा, "फिर सच्चा विद्याप्रेमी (फिलॉसफर) तुम किस को कहते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "उनको जो कि सत्य के दर्शन के प्रेमी हैं"

उसने कहा, "यह भी ठीक है, परन्तु यह बात तुम किस अर्थ को सूचित करने के लिये कहते हो ?"

मैंने कहा, "किसी अन्य व्यक्ति को यह बात समझाना सरल काम नहीं होगा, परन्तु मैं समझता हूँ कि तुम यह तो स्वीकार करोगे ही।"

"क्या ?"

"येही कि सुरूप और कुरूप दो भिन्न (वस्तुएँ) हैं। क्योंकि वे एक दूसरे के प्रतिकूल हैं।"

"क्यों नहीं ?"

"तथा क्योंकि वे दो हैं अतएव उनमें से प्रत्येक एक पृथक् वस्तु है।"

"यह भी स्वीकार है।"

"तथा न्याय एवं अन्याय, अच्छा और बुरा, एवं अन्य सब जाति अथवा भावों के संबंध में भी यही बात लागू होती है कि अपने निर्विशेष रूप में प्रत्येक वस्तु एक है परन्तु अन्य कार्यों और शरीरों के सम्मिलन के कारण तथा एक दूसरे के पारस्परिक संबंध के कारण उनमें से प्रत्येक विविध प्रकाश और विविध आकारों में विविध वस्तुओं जैसी प्रतीत होती है।"

उसने कहा, "ठीक है।"

मैंने कहा, "बस यह मेरा विभाजन है। एक ओर मैं उनको पृथक् करता हूँ जिनका तुम अभी उल्लेख कर रहे थे—अर्थात् तमाशों और कलाओं के प्रेमी और क्रिया कुशल व्यक्ति इत्यादि तथा तत्पश्चात् उनको इनसे पृथक् करता हूँ जिनका हमारे विवेचन से संबंध है एवं जो एक मात्र फिलॉसफर अथवा विद्याप्रेमी संज्ञा के पाने के अधिकारी हैं।"

उसने कहा, "क्या मतलब ?" (अथवा "तुम उनको कैसे पृथक् करते हो ?")

मैंने उत्तर दिया, "दर्शन (देखना) और श्रवण के प्रेमी सुन्दर ध्वनियों, रंगों और आकृतियों एवं इन्हीं से निर्मित प्रत्येक कलाकृति से आनन्दित होते हैं, परन्तु उनकी विचारशक्ति निर्विशेष सौन्दर्य के स्वरूप को समझने और उससे आनन्दित होने के अयोग्य है।"

उसने कहा, "हां, निश्चयमेव ऐसा ही है।"

"परन्तु इसके विपरीत, क्या उन लोगों की संख्या अत्यल्प नहीं होगी जो स्वयमेव सौंदर्य का सन्निकर्ष प्राप्त करने एवं उसके निर्विशेष स्वरूप का चिन्तन करने योग्य हैं ?"

"वास्तव में ऐसा ही होगा।"

"तो वह मनुष्य जो सुन्दर वस्तुओं के अस्तित्व को तो स्वीकार करता है परन्तु स्वयं सौन्दर्य को स्वीकार नहीं करता और जब कोई उसको इसका ज्ञान प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है तो उसकी बात को समझने की योग्यता भी नहीं रखता—तो तुम्हारी समझ में ऐसे मनुष्य का जीवन स्वप्नमय है अथवा प्रबुद्ध? तनिक विचार करो। चाहे कोई सोता है अथवा जागता है, स्वप्नावस्था यही है न कि भ्रमवश सादृश्य को अभेद मान लेना?"

उसने उत्तर दिया, "ऐसी स्थिति वाले मनुष्य को तो स्वप्नस्थ ही कहना चाहिए।"

"अच्छा अब इसके विपरीत उदाहरण लो, अर्थात् ऐसे मनुष्य को लो जिसकी बुद्धि स्वयं सौन्दर्य को ही स्वीकार करती है तथा जो कि शुद्धभाव को भावयुक्त वस्तुओं से पृथक् करने की योग्यता रखता है और न तो वस्तु को भ्रमवश भाव कल्पना करता है और न भाव को वस्तु—क्या ऐसे मनुष्य का जीवन तुम्हारी सम्मति में प्रबुद्ध जीवन है अथवा स्वप्नस्थ?"

उसने उत्तर दिया, "वह तो बहुत अधिक जागा हुआ है।"

"तो क्या हमारा यह कहना ठीक नहीं होगा कि एक (जानने वाले) की मनोदशा ज्ञान (मय है) तथा दूसरे आभासमात्र जानने वाले की मनोदशा आभासमात्र है?"

"अवश्यमेव।"

"अच्छा अब मान लो, वह मनुष्य, जिसको किसी वस्तु का आभास मात्र प्राप्त है, ज्ञान प्राप्त नहीं है, रुष्ट हो जाये और हमारे कथन को असत्य कह कर उसका विरोध करे—तो क्या उससे स्पष्ट यह कहने के अतिरिक्त कि उसकी मनोदशा ठीक नहीं है, हमको उसे नम्रतापूर्वक

शान्त करने और मनाने का कोई और उपाय प्राप्त हो सकता है ?"

उसने उत्तर दिया, "हमको प्रयत्न करना चाहिए।"

"अच्छा तो आओ विचार करें कि हमको उससे क्या कहना है। पहले यह मान कर कि यदि वास्तव में उसको किसी वस्तु का ज्ञान है तो किसी को उसके ज्ञान से डाह नहीं होगी, बल्कि इसके विपरीत उसे ज्ञान संपन्न जान कर हमको प्रसन्नता ही होगी, क्या तुम उससे हमारा इस प्रकार प्रश्न करना पसन्द करोगे—हम कहेंगे कि हमारे इस प्रश्न का उत्तर दीजिये "जब कोई व्यक्ति ज्ञानवान होता है तो या तो वह (कुछ) जानता है, अथवा कुछ नहीं ? ग्लौकोन, उसके स्थान पर तुम ही उत्तर दो।"

उसने कहा, "मैं तो यह उत्तर दूंगा कि किसी वस्तु को जानता है।"

"यह वस्तु सत् है अथवा असत् ?"

"सत्; असत् का ज्ञान भला किस प्रकार हो सकता है ?"

"तो क्या हम इस तथ्य के विषय में बिलकुल निश्चित हैं कि चाहे कितने ही विविध प्रकार से हम परीक्षण करें जो सर्वथा सत् है वह सर्वथा ज्ञेय है तथा जो सर्वथा असत् है वह सर्वथा अज्ञेय है ?"

"अत्यधिक पर्याप्तरूपेण।"

"अच्छा ठीक। तो यदि कोई वस्तु ऐसे लक्षण वाली हो कि सत् असत् दोनों ही हो तो क्या उसकी सत्ता निर्विशेष सत् और निर्विशेष असत् वस्तुओं के मध्य में ही नहीं होगी ?"

"हां, उनके मध्य में होगी।"

"तो क्योंकि ज्ञान का संबंध सत् वस्तु है और अज्ञान का संबंध अवश्यमेव असत् से है, तो क्या सत् और असत् वस्तुओं की मध्यवर्ती वस्तु से संबंध रखने वाले ज्ञान और अज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान के सदृश पदार्थ की—यदि कोई ऐसा पदार्थ हो तो—खोज नहीं करनी चाहिए ?"

"सर्वथा ऐसा ही करना चाहिए।"

"जिसको हम आभास (राय) कहते हैं क्या वह कुछ वस्तु है?"

"क्यों नहीं?"

"क्या हम इसको ज्ञान शक्ति से भिन्न ख्याल करते हैं अथवा अभिन्न?"

"भिन्न।"

"तो अपनी अपनी पृथक् पृथक् शक्तियों के प्रभावानुसार आभास और ज्ञान पृथक् पृथक् वस्तुओं से संबंध रखते हैं।"

"यही बात है।"

"तो क्या (यह कहा जा सकता है कि) ज्ञान का संबंध स्वाभाविकतया सत् से है और उसका स्वभाव सत् को जानना और यह जानना है कि सत् किस प्रकार सत् है? पर आगे बढ़ने के पूर्व यह अधिक अच्छा होगा कि हम निम्नलिखित भेद निर्धारित कर लें।"

"कौन से?"

—२१—

"हम यह मानेंगे कि शक्तियां (योग्यताएँ, क्षमताएँ) एक ऐसी जाति के पदार्थ है कि जिनके द्वारा हम तथा अन्य सब वस्तुएँ उन कार्यों को करते हैं जिनको कि हम करने के योग्य है। यदि तुम उस जाति की वस्तुओं को समझ सके हो जिनका मैं वर्णन कर रहा हूँ तो मैं उदाहरण स्वरूप यह कहूँगा कि श्रुति और दृष्टि शक्तियां हैं।"

उसने कहा, "मैं पूर्णतया समझता हूँ।"

"तो मैं तुम्हें उनके विषय में अपना दृष्टिकोण बता दूँ। शक्ति में मैं कोई वर्ण, आकृति, अथवा चिन्ह ऐसा नहीं देख पाता जैसे लक्षणों को अन्य बहुत से प्रसंगों में दृष्टिगत कर के मैं अपने विचार में एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् कर सकता हूँ। शक्ति के प्रसंग में तो मैं एक बात ही देखता हूँ—उसका क्षेत्र और उसका परिणाम, इसी के आधार पर

मैं उनमें से हर एक को शक्ति कहता हूँ; जिनका क्षेत्र और परिणाम एक है उनको मैं एक (अभिन्न) शक्ति कहता हूँ तथा जिनका क्षेत्र और परिणाम भिन्न होता है उनको भिन्न शक्ति कहता हूँ। पर तुम्हारी प्रवृत्ति इस विषय में कैसी है ?"

उसने उत्तर दिया, "यही।"

मैंने कहा, "प्रिय मित्र, आओ अब प्रकृत विषय की ओर लौटें। ज्ञान के विषय में तुम क्या कहते हो ? क्या यह एक शक्ति है ? अथवा तुम इसको किस वर्ग में रक्खोगे ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं इसको शक्ति जाति में रखता हूँ। यह सब शक्तियों में बलिष्ठ है।"

"और आभास—क्या हम आभास को शक्ति-जाति के अतिरिक्त किसी अन्य जाति से जोड़ें ?"

उसने कहा, "किसी प्रकार नहीं; क्योंकि जिसकी सहायता से हम आभास (राय) बनाते हैं वह आभास शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

"परन्तु अधिक देर नहीं हुई जब कि तुमने यह मान लिया था कि ज्ञान और आभास अभिन्न नहीं हैं।"

उसने कहा, "कोई समझदार मनुष्य भला अस्खलनशील और स्खलनशील को अभिन्न कैसे मान सकता है ?"

मैंने कहा, "बहुत अच्छी बात है; और हम इस विषय में स्पष्टतया एक मत हैं कि आभास सुनिश्चित ज्ञान से भिन्न वस्तु है।"

"हां (पृथक्) इतर वस्तु है।"

"तो, क्योंकि इनमें से प्रत्येक की शक्ति पृथक् है, अतएव उनका क्षेत्र (संबद्ध पदार्थ) भी भिन्न है ?"

"अवश्यमव।"

"ज्ञान का क्षेत्र मेरे ख्याल में सत् (पदार्थ) है तथा उसका अर्थ सत् के स्वभाव (स्वरूप) को जानना है। क्यों?"

"हां।"

"पर आभास के विषय में हम यह कहते हैं कि वह आभास प्रदान करता है।"

"हां।"

"क्या आभास वही आभास प्रदान करता है जो ज्ञान जानता है? अर्थात् क्या आभास्य और ज्ञेय दोनों अभिन्न हैं? अथवा ऐसा होना असंभव है?"

"उसने कहा, "यह बात तो स्वयं हमारी अभ्युपपत्तियों (स्वीकारोक्तियों) से ही असंभव है। अर्थात् यदि विभिन्न शक्तियों के विषय (क्षेत्र) विभिन्न होते हों, तथा आभास और ज्ञान दोनों शक्तियां हों, किन्तु प्रत्येक दूसरी से भिन्न हैं, जैसा कि हम कहते हैं, तो यह स्वीकारोक्तिया ज्ञेय और आभास्य दोनों की अभिन्नता के लिए कुछ भी अवकाश नहीं छोड़तीं।"

"तब यदि जो सत् है वह ज्ञेय हो तो वह जो कि सत् से इतर है आभास्य होगा?"

"हां, सत् से इतर।"

"क्या आभास असत् का होता है, अथवा जो असत् है उसका आभास तक होना असंभव है? विचार कर के देखो; क्या वह व्यक्ति जो आभास अथवा राय प्रकट करता है तो वह राय किसी वस्तु के विषय में ही होती है? अथवा क्या हम अपनी बात उलट कर यह कह सकते हैं कि आभास अथवा राय होना संभव है पर राय का विषय अकिञ्चित् भी हो सकता है?"

"यह असंभव है।"

"तब वह व्यक्ति जो कि कोई आभास (राय) रखता है किसी एक वस्तु के विषय में रखता है?"

"हां।"

"पर निश्चय ही असत् (कोई) एक वस्तु नहीं कहला सकता, प्रत्युत अत्यधिक उचित तो (सत्य तो) उसको अकिंचित् कहना होगा।"

उसने कहा, "ठीक है।"

"जो असत् है उसके विषय में हमने अपरिहार्यतया अनभिज्ञता का निरूपण किया था और सत् के विषय में ज्ञान का।"

उसने कहा, "ठीक ही किया।"

"तब तो आभास (राय) का विषय न सत् है न असत्?"

"प्रतीत तो नहीं होता।"

"तो आभास न तो अनभिज्ञान होगा और न ज्ञान?"

"मालूम तो ऐसा ही पड़ता है।"

"तब क्या यह इन दोनों से परे कोई शक्ति है जो या तो ज्ञान से स्पष्टता में अतिशय रखती है या अज्ञान से अस्पष्टता में?"

"दोनों में किसी से अतिशय नहीं रखती।"

"किन्तु क्या तुम आभास को ज्ञान की अपेक्षा कुछ अस्पष्टतर परन्तु अज्ञान की अपेक्षा कुछ स्पष्टतर समझते हो?"

उसने कहा, "बहुत कुछ ऐसा।"

"क्या यह दोनों की सीमाओं के मध्य में अवस्थित है?"

"हाँ।"

"तो आभास दोनों का मध्यवर्त्ती है।"

"निश्चयमेव।"

"क्या तनिक देर पहले हम यह नहीं कह रहे थे कि यदि कोई वस्तु ऐसी हो कि जो सत् और असत् दोनों हो वह पूर्णतया या विशुद्ध सत् और पूर्णतया असत् की मध्यवर्त्तिनी होगी तथा उससे संबंध (सन्निकर्ष) रखने वाली शक्ति न तो ज्ञान होगी और न अनभिज्ञान परन्तु अनभिज्ञान और ज्ञान के मध्यवर्ती अन्तराल में स्थित प्रतीत होगी।"

"सत्य है।"

"और अब इन दोनों के मध्यवर्त्ती वस्तु वह निकली है जिसको हम आभास कहते हैं।"

"निकली तो है।"

— २२ —

२२. तब तो, जैसा कि प्रतीत होता है, हमारे लिये यह बात खोजने को रह गयी है कि वह वस्तु (पदार्थ) कौन सी है जो, सत् और असत् दोनों ही के लक्षणों से युक्त है तथा जो पूर्णतया इन दोनों में से कोई भी नहीं कही जा सकती, जिससे कि खोज हो जाने पर हम इस वस्तु (पदार्थ) को आभास्य कह सकें और इस प्रकार सीमावर्त्तिनी वस्तु को सीमा और मध्यवर्त्तिनी को अन्तराल में स्थिति प्रदान कर सकें। क्यों यही बात है या नहीं?"

"यही बात है।"

"इन बातों के प्रतिज्ञास्वरूप स्वीकृत हो जाने के उपरान्त मैं कहूँगा कि वह (प्रतिपक्षी) हमको बतलाये, वह भला आदमी (जो स्वतः सुन्दर वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, अथवा सौन्दर्य के नित्य अपरिवर्त्तनीय भाव की सत्ता को नहीं मानता, परन्तु जो सुन्दर पदार्थों की विविधता को स्वीकार करता है), हमको उत्तर दे—मेरा तात्पर्य उस तमाशों के प्रेमी से है जो किसी का यह कहना सहन नहीं कर सकता कि सुन्दर एक है, तथा न्याय एक है और अन्य वस्तुएँ भी ऐसी हैं—और उससे मेरा प्रश्न

यह होगा कि "श्रीमन्महोदय,क्या इन अनेकों सुन्दर और सम्मान्य वस्तुओं में कोई एक भी ऐसी है जो किसी समय कुरूप और अनादरणीय (निकृष्ट) प्रतीत न हो सके ? तथा न्यायोचित वस्तुओं में कोई ऐसी वस्तु है जो अन्याय्य प्रतीत न हो सके ? तथा पवित्र वस्तुओं में कोई ऐसी है जो अपवित्र प्रतीत न हो सके ?"

उसने कहा, "नहीं, यह तो अनिवार्य तथ्य है कि वे किसी दृष्टि विन्दु से सुन्दर और कुरूप दोनों ही प्रतीत होंगी, तथा यही बात उन सब अन्य बातों के विषय में भी लागू होगी, जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया है।"

"और फिर, क्या अनेकों द्विगुण वस्तुएँ क्या द्विगुण की अपेक्षा कोई कम अर्द्ध प्रतीत होती हैं ?"

"नहीं, बिलकुल कम नहीं।"

"और इसी प्रकार बड़ी और छोटी वस्तुओं, हल्की और भारी वस्तुओं के विषय में भी—क्या उनके यह गुण कहना इनके विरोधी गुणों की कहने की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, यह दोनों ही प्रकार के गुण सर्वदा उनके लिये कथन किये जा सकेंगे।"

"तब तो इन अनेकों वस्तुओं में से प्रत्येक वस्तु, जैसा कोई उसको बतलाता है वैसी न होने की अपेक्षा, वैसी अधिक है ?"

उसने उत्तर दिया, "ये वस्तुएँ भोजों में पूछी जाने वाली द्व्यर्थक पहेलियों के सदृश हैं तथा बच्चों में प्रचलित नपुंसकपुरुष और उसके चिमगादड़ के ढेला मारने वाली पहेली से मिलती जुलती हैं जिसमें गूढ़ प्रकार से यह बतलाया गया है कि उसने चिमगादड़ को किस चीज़ से मारा और वह किस स्थान पर बैठी थी। क्योंकि यह वस्तुएँ भी द्विस्वभाव हैं और उनके विषय में दृढ़तापूर्वक यह विचार नहीं किया जा सकता कि वे सत् हैं अथवा असत्, या सदसत् दोनों हैं और दोनों में से एक भी नहीं हैं।"

मैंने कहा, "तो क्या तुम यह जानते हो कि उनका क्या करें ? और क्या तुम सत् तथा असत् के मध्यवर्त्ती स्थान से बढ़ कर और कोई स्थान उनको स्थापित करने के लिये बतला सकते हो ? क्योंकि हम असत् की अपेक्षा और अधिक अन्धकारमय स्थान नहीं खोज सकते जिससे कि इनको अधिक असत् माना जाय और न सत् की अपेक्षा अधिक प्रकाशमय स्थान पा सकते हैं जिससे इनको अधिक सत् माना जाय ।"

उसने कहा, "पूर्णतया सत्य है ।"

"तब तो ऐसा लगता है कि हमने यह खोज पाया है कि अधिकांश में प्रचलित सौन्दर्य न्याय एवं अन्य शेष विषय संबंधिनी अधिकांश धारणाएँ पूर्ण एवं शुद्ध सत् तथा पूर्ण असत् के मध्यवर्त्ती प्रदेश में इतस्ततः मँडराती रहती हैं ।"

"हाँ, हमने ऐसा ही पाया है ।"

"पर इस विषय में तो हम पहले ही सहमत हो चुके थे कि यदि किसी एसी वस्तु का पता चला—यानी मध्यवर्त्तिनी शक्ति के द्वारा गृहीत मध्य में मँडराने वाली वस्तु का पता चला—तो उसको आभास्य (आभास शक्ति का विषय) संज्ञा दी जानी चाहिये, न कि ज्ञेय (ज्ञन शक्ति का विषय) संज्ञा ।"

"हाँ, हम इस बात पर सहमत हो चुके हैं ।"

"तो, हम यह कहेंगे कि जो लोग अनेकों सुन्दर वस्तुओं को तो देखते हैं परन्तु सौन्दर्य की आत्मा को नहीं देखते एवं उसको निर्देश करने वाले पथप्रदर्शक के निर्देश का अनुसरण करने की भी योग्यता नहीं रखते, जो अनेकों न्याय्य बातों को देखते हैं परन्तु स्वयं न्याय (न्याय की आत्मा) को नहीं देखते और अन्य प्रसंगों में ऐसा ही करते हैं, वे लोग सब वस्तुओं के विषय में आभास (राय) रखते हैं, परन्तु जिन वस्तुओं के विषय में आभास मात्र रखते हैं उनके विषय में कुछ भी नहीं जानते ।"

उसने कहा, "अवश्यमेव ऐसा ही है।"

"परन्तु, दूसरी ओर, उन लोगों के विषय में क्या कहें जो वस्तुओं के शाश्वत एवं अविकार्य स्वरूप (आत्मा) का चिन्तन करते हैं ? क्या हम यही नहीं कहेंगे कि वे ज्ञानवान् हैं केवल आभासवान् नहीं ?"

"यह भी अनिवार्य निष्कर्ष है।"

"क्या हम यह भी नहीं कहेंगे कि इस प्रकार का व्यक्ति उन वस्तुओं का स्वागत करता है और उनको प्रेम करता है जो ज्ञान का विषय हैं—दूसरे लोग उन वस्तुओं का स्वागत करते हैं और उनको प्रेम करते हैं जो कि आभास का विषय हैं ? क्या हमको स्मरण नहीं है कि हमने कहा था कि ये (दूसरे प्रकार के) लोग सुन्दर नादों को सुनना और सुन्दर वर्णों को देखना तो प्रिय मानते हैं परन्तु सुन्दर की आत्मा (स्वतः सुन्दर की सत्ता) की चर्चा भी इनको सह्य नहीं है ?"

"हमको याद है।"

"तो यदि हम इन लोगों को विद्याप्रेमी (फ़िलॉसॉफ़र) की अपेक्षा आभास प्रेमी कहें तो क्या इनके कानों को बुरा तो नहीं लगेगा (कोई गलती होगी ?) और हमारे ऐसा करने से क्या वे अत्यन्त अप्रसन्न होंगे ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, यदि मेरी सलाह मानेंगे तब तो अप्रसन्न नहीं होंगे, क्योंकि सत्य से अप्रसन्न होना उचित नहीं।"

"अतएव, जो लोग सर्वत्र वास्तविक सत्ता (सब वस्तूओं की नित्य कूटस्थ आत्मा) का आलिंगन (स्वागत) करते हैं, उनको हमें विद्याप्रेमी (फिलॉसॉफर) नाम देना चाहिये न कि आभास-प्रेमी।"

"सर्वथा।"

———

छठी पुस्तक

१

मैंने कहा, "ग्लौकोन, हमारे संवाद ने इतना लम्बा और श्रान्तिपूर्ण मार्ग चलने के पश्चात् अब हमारे प्रति यह स्पष्ट प्रकट कर दिया कि कौन व्यक्ति फिलासॉफर अर्थात् विद्याप्रेमी हैं और कौन नहीं है।"

उसने कहा, "हां, पर स्यात् छोटे मार्ग से ऐसा होना सरल नहीं था।"

मैंने कहा, "मालूम पड़ता है कि सरल नहीं था। तथापि मैं समझता हूँ यदि हमको इसी एक बात की विवेचना करनी होती और यदि कितनी ही ऐसी बातें शेष न रह गयीं होतीं जो कि न्यायी और अन्यायी जीवन के अन्तर को जानने के हमारे उद्देश्य के लिए विवेचित होना आवश्यक हैं, तो यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो गया होता।"

उसने पूछा, "तो इसके पश्चात् अब कौन सा प्रश्न आता है?"

मैंने उत्तर दिया, "और कौन सा वही तो जो इसके उपरान्त क्रम प्राप्त है। क्योंकि फिलासॉफर वह व्यक्ति होते हैं जो नित्य और अपरिवर्त्तनीय तत्त्व के स्वरूप को ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं, और वे व्यक्ति जो यह योग्यता नहीं रखते तथा बहुविध वस्तुओं के नानात्व में खोये हुए भ्रान्त रहते हैं, फिलासॉफर नहीं होते। तो इन दोनों कोटियों में से कौन से व्यक्ति राष्ट्र के नेता होने चाहिए?"

उसने उत्तर दिया, "समुचित कथन के लिए इस प्रश्न का उत्तर मैं कैसे दूं?"

मैंने बतलाया, "इन दोनों वर्गों में से जो भी समाज के नियमों और अनुष्ठानों की रक्षा करने में समर्थ प्रतीत हों, वही हमारे रक्षकों के स्थानों पर नियुक्त किये जाने चाहिए।

उसनेकहा, "ठीक।"

मैं बोला, "तो, क्या यह स्पष्ट है कि जो रक्षक किसी वस्तु की चौकसी करने के लिए है वह अन्धा होना चाहिए अथवा तीव्र दृष्टि ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो निश्चय ही स्पष्ट है।"

"क्या तुम्हारे विचार में अन्धे व्यक्तियों में और उन व्यक्तियों में कुछ भी सूझ पड़ने वाला अन्तर है जो कि वस्तुओं के वास्तविक तत्त्व के ज्ञान से सचमुच वंचित हैं, तथा जिनकी आत्मा में स्पष्ट जीवन्त आदर्श उपलब्ध नहीं है, एवं जो, चित्रकार के आदर्श पर दृष्टिपात करने के समान, परमार्थ सत्य पर अपनी दृष्टि निहित नहीं कर सकते एवं, जो सर्वदा उस आदर्श के मापदण्ड के सम्पर्क तथा उसके अत्यन्त सूक्ष्म एवं यथार्थ मनन के द्वारा आवश्यकता पड़ने पर ऐहिक सुन्दर, न्याय और श्रेय-सम्बन्धी नियमों की स्थापना नहीं कर सकते अथवा जो स्थापित हैं उनकी रक्षा नहीं कर सकते ?"

उसने उत्तर दिया, "भगवान की शपथ, इन दोनों में कोई अधिक अन्तर नहीं है।"

"तो क्या, उन व्यक्तियों की अपेक्षा, जिन्होंने कि प्रत्येक वस्तु की आदर्श वास्तविकता को जानना सीख लिया है, जो अनुभव में अन्य लोगों से घट कर नहीं है तथा जो साधुता के किसी भी अंग में उनसे पीछे नहीं हैं, हम अन्धात्माओं को अपना संरक्षक नियुक्त करेंगे ?"

उसने कहा, "यदि ये (विद्याप्रेमी) व्यक्ति इन अन्य गुणों से रहित न हों तो इनकी अपेक्षा अन्य लोगों को वरण करना वास्तव में असंगत होगा, क्योंकि यह आदर्श का ज्ञान ही संभवतया सब उत्कर्षों में महत्तम होगा।"

"तो अब जो बात कहनी है यह है कि एक ही व्यक्ति में यह दोनों गुण होना कैसे संभव है। यही है न ?"

"सर्वथा यही बात है।"

"तब तो, जैसा कि हमने इस विवेचना के प्रारंभ में कहा था, सब से पहले समझ लेने की चीज इन लोगों का सहज स्वभाव है। और मेरा ख्याल तो यह है कि यदि इस विषय में हम लोग पर्याप्त रूपेण एकमत हो सकें, तो हम इस बात पर सहमत हो जायेंगे कि जिन गुणों के संयोग की हम खोज कर रहे हैं एक ही व्यक्ति में मिल सकते हैं एवं राष्ट्रों के संरक्षक बनाने के लिए अन्य लोगों की आवश्यकता नहीं है।"

"सो कैसे?"

२

विद्याप्रेमियों के स्वभाव के इस एक लक्षण को तो हमको सर्वसम्मत मान लेना चाहिए कि वे उस विशिष्ट प्रकार के ज्ञान के प्रति नित्य बद्धानुराग रहते हैं जो उनको शाश्वत सारतत्व को थोड़ा बहुत स्पष्ट प्रदर्शित करने वाला है तथा जो ज्ञान उत्पत्ति और विनाश की कोटियों के द्वारा भ्रमित किया जाने वाला नहीं है।"

"इसको सर्वसम्मत मान लिया जाय।"

मैंने कहा, "तथा, इसके आगे हमको इस विषय में भी सहमत हो जाना चाहिए कि उनकी कामना इसको सामग्र्येण उपलब्ध करने की है, तथा स्वेच्छा से वे इसके किसी भी अंश को नहीं त्यागना चाहते, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, समाहृत हो या असमाहृत। प्रेमियों और महत्वाकांक्षियों वाले पूर्वोक्त दृष्टान्त का लक्ष्य यही प्रदर्शित करता था।"

उसने कहा, "आप ठीक कहते हैं।"

"इसके उपरान्त अब यह विचार करना चाहिए कि जिन मनुष्यों को हमारे वर्णन के अनुरूप होना है, उनके स्वभाव में क्या यह एक और गुण होना चाहिए या नहीं।"

"कौन सा गुण?"

"सत्यपरायणता की भावना, किसी भी रूप में असत्य को स्वीकार

करने से झिझकना उससे घृणा करना और सत्य से प्रेम करना।"

उसने कहा, "हां, ऐसा संभवपर है।"

"प्रिय मित्र, यह केवल संभवपर ही नहीं प्रत्युत पूर्णतया अनिवार्य तथ्य है कि जो व्यक्ति स्वभाव से ही किसी वस्तु में अनुरक्त होता है वह उस प्रिय वस्तु से संबद्ध और उसकी सजातीय वस्तुओं मे भी अवश्यमेव आनन्दित होगा।"

उसने कहा, "सत्य है।"

"और क्या सत्य की अपेक्षा बुद्धिमत्ता की अधिक सजातीय अन्य कोई वस्तु तुम उपलब्ध कर सकते हो?"

उसने उत्तर दिया, "असंभव।"

"तो क्या कोई एक ही स्वभाव बुद्धिमत्ता का और असत्य का युगपद् अनुरागी हो सकता है?"

"कदापि नहीं।"

"तब तो सच्चे विद्यावल्लभ को, बालकपन से ही, सर्वापेक्षया परिपूर्ण सत्यानुसरण का ही सघन संलग्नतापूर्वक उद्योगी होना चाहिए।"

"पूर्णतया ऐसा ही होना चाहिए।"

"पर फिर, हम निश्चय ही यह जानते हैं कि जब किसी मनुष्य की इच्छाएं किसी एक ओर अत्यन्त प्रबलतापूर्वक झुकी होती हैं तो वे अन्य वस्तुओं के प्रति दुर्बल पड़ जाती हैं। उनकी दशा मानों उस धारा के समान होती है जो अन्य प्रणाली में प्रवाहित कर दी गयी हो।"

"निश्चयमेव यही बात है।"

"अतः जब किसी मनुष्य की इच्छाएँ ज्ञानाध्ययन एवं तदानुषंगिक विषयों की ओर प्रवाहित होना सीख जाती हैं, तो मेरे विचार में वे आध्यात्मिक आनन्द में ही निमग्न रहने लगती हैं, और यदि वह आदमी,

दिखावटी नहीं बल्कि सच्चा विद्याप्रेमी होता है तो उसकी इच्छाएँ उन सुखों की ओर से उदासीन हो जाती हैं जिनका साधन शरीर है।"

"यह तो नितान्त आवश्यक है।"

"इस प्रकार का मनुष्य संयतशील होगा और किसी प्रकार भी धन-लोलुप नहीं होगा क्योंकि जिन वस्तुओं के लिए अत्यधिक धनोपलब्धि और महान व्यय का उद्योग किया जाता है, वे अन्य लोगों की दृष्टि में भले ही महत्त्वपूर्ण हों, उसकी दृष्टि में ऐसी नहीं होतीं।"

"ऐसा ही है।"

"फिर, विद्याप्रेमी (दार्शनिक) स्वभाव को तद्‌भिन्न स्वभाव से पृथक् करने के लिए एक यह और तथ्य विचारणीय है।"

"कौन सा तथ्य ?"

"तुमको अनुदारता के लेशमात्र भी स्पर्श की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जो आत्मा सम्पूर्ण मानव और दिव्य वस्तुओं में परिपूर्ण एवं अखण्ड सत्य की खोज में संलग्न रहती है, उसका मानसिक तुच्छता से बड़ा और कोई शत्रु नहीं हो सकता।"

उसने कहा, "परम सत्य।"

"और क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि वह आत्मा जो कि सर्वकाल और सर्वसत्ता के मनन करने का अभ्यासी है, इस मानव जीवन को बहुत अधिक महत्वपूर्ण समझेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "असंभव।"

"अतः ऐसा व्यक्ति मृत्यु को भी भयावह ख्याल नहीं करेगा ?"

"सब से कम भयावह समझेगा।"

"तब तो ऐसा प्रतीत होता है कि कायर एवं अनुदारात्मा वास्तविक दर्शनशास्त्र का भागी नहीं हो सकता।"

"मेरे ख्याल में नहीं हो सकता।"

"तब क्या? क्या कोई व्यक्ति, जो कि सुसंयतात्मा हो, धनलोलुप न हो, अनुदार न हो, अहंवादी (आत्मश्लाघी) न हो, कायर न हो, क्या ऐसा व्यक्ति अन्यायपरायण अथवा कठोर व्यवहार करने वाला हो सकता है?"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

"विद्याप्रेमी (दार्शनिक) तथा अविद्याप्रेमी (अदार्शनिक) आत्मा के पृथक्करण में एक यह बात भी तुमको निरीक्षण करनी होगी कि कोई व्यक्ति युवावस्था से लेकर न्यायपरायण और मृदुलस्वभाव है अथवा अमिलनसार और चण्ड स्वभाव है।"

"निश्चयमेव।"

"मेरा ख्याल है कि तुम इस बात की भी उपेक्षा नहीं करोगे।"

"कौन सी बात की?"

"यह कि वह सुशिक्ष्य है अथवा दुःशिक्ष्य। अथवा क्या तुम्हारा यह विचार है कि कोई व्यक्ति ऐसे काम से उचित प्रकार से प्रेम कर सकता जिसको करने में उसको दुःख होता है तथा जिसमें बहुत अधिक परिश्रम से अत्यल्प फलोपलब्धि होती है?"

"ऐसा नहीं हो सकता।"

"और यदि फिर स्मृतिशैथिल्य में निमग्न होने के कारण वह सीखी बात को याद न रख सके तो क्या वह ज्ञानशून्य हुए बिना रह सकता है।"

"भला वह अन्यथा किस प्रकार हो सकता है?"

"तो क्या, अपना सारा परिश्रम व्यर्थ होने पर, वह अन्ततोगत्वा अपने आप को और अपने व्यवसाय को धिक्कारने के लिए विवश नहीं हो जायेगा?"

"क्यों नहीं?"

"तब तो हमको विस्मृतिपरायण जीवों (आत्माओं) को कदापि समर्थ विद्याप्रेमियों की पंक्ति में सम्मिलित नहीं करना चाहिए, बल्कि विद्याप्रेमियों में परिगणित होने के लिए बहुत अच्छी स्मृति आवश्यक है।"

"सर्वथा ऐसा ही होना चाहिए।"

"किन्तु निश्चय ही हमको यह भी नहीं कहना चाहिए कि स्वभाव में एकतानता (हार्मनी) एवं शोभनता का अभाव, मर्यादा एवं समानुपात के अभाव के अतिरिक्त किसी अन्य परिणाम का जनक हो सकता है।"

"निश्चयमेव ठीक है।"

"तथा क्या तुम्हारे विचार में सत्य समानुपात का सजातीय है अथवा असमानुपातका ?"

"समानुपात का।"

"तब तो विद्या प्रेमियों के स्वभाव के अन्य वांछित गुणों के साथ ही साथ हम ऐसे मस्तिष्क की खोज करें जो मर्यादा एवं चारुता से समन्वित हो, जिसकी सहज प्रवृत्ति उसको प्रत्येक वस्तु (सब वस्तुओं) में आदर्श वास्तविकता के पक्ष की ओर सरलता से उपनीत होने के योग्य बना सके।"

"क्यों नहीं।"

"तब (और) क्या ? क्या हमने यह सिद्ध नहीं कर दिखलाया कि जो गुण हमने गिनाये हैं वे परस्पर अविरोधी हैं तथा उस आत्मा के लिए आवश्यक हैं जिसको वास्तविकता का पर्याप्त एवं परिपूर्ण दर्शन (समवधारण) प्राप्त करना है ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, वे परमावश्यक है।"

"तो उस अनुसंधान (अध्ययन) में क्या तुमको कोई दोष दिखालाई पड़ता है जिसका अभ्यास उचित प्रकार से कोई व्यक्ति

तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वभावतः स्मृतिमान, त्वरित-बुद्धि, उदाराशय, शोभनशील, एवं सत्य, न्याय, धीरता तथा संयम का मित्र और बंधु न हो?"

उसने उत्तर दिया, "स्वयं मोमॉस (दोषान्वेषी देवता) तक इस पर दोषारोपण नहीं कर सकते।"

मैंने कहा, "अच्छा, जब इस प्रकार के मनुष्य शिक्षा और परिपक्वावस्था द्वारा परिपूर्णता को प्राप्त हो जाएँ, तो क्या तब भी राष्ट्र को तुम उनके हाथ में नहीं सौंपोगे?"

२

और इस पर अदैइमान्तस् कहने लगा, "सॉक्रॉतीस् तुम्हारे इन कथनों का प्रत्याख्यान कोई नहीं कर सकता। परन्तु तो भी जो व्यक्ति तुमको इस प्रकार तर्क करते हुए सुनते हैं उनके ऊपर कुछ विचित्र प्रभाव पड़ता है। वे यह कल्पना करते हैं कि प्रश्नोत्तर (उत्तर प्रत्युत्तर) की कला में अकुशलता के कारण वे तुम्हारे प्रत्येक प्रश्न पर तर्क के द्वारा क्रमशः थोड़ा थोड़ा कर के बहकते जाते हैं और इस प्रकार विवाद (विवेचना) के अन्त में यह थोड़ा थोड़ा बहकना मिल कर उनके लिए घोर पतन और उनकी पूर्वोक्तियों की साक्षात् प्रतिवादिता (असंवादिता) उपस्थित कर देता है। तथा जिस प्रकार शतरंज के खेल में अकुशल खिलाड़ी, चतुर खिलाड़ियों द्वारा अन्त में ऐसे जिच्च कर (बाँध) दिये जाते हैं कि वे एक चाल भी नहीं चल पाते इसी प्रकार वे (तुम्हारे प्रतिपक्षी) भी अन्ततोगत्वा गतिरुद्ध कर दिये जाते हैं तथा इस अन्यविध शतरंज के खेल में जो कि गोटियों से नहीं शब्दों से खेला जाता है, उनका मुख बन्द कर दिया जाता है; परन्तु तो भी इस परिणाम से सत्य तो अप्रभावित (यथापूर्व) ही रहता है। मैं यह बात प्रस्तुत प्रकरण के संबंध में कह रहा हूँ। क्योंकि इस विषय में कोई भी व्यक्ति तुमसे कह सकता है कि प्रत्येक

प्रश्न के अवसर पर वह युक्तियों में शब्दों द्वारा तुम्हारा सामना करने में असमर्थ है, किन्तु जब वास्तविक तथ्यों की ओर दृष्टिपात करता है तो वह देखता है कि फ़िलासाफ़ी की ओर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति, जो कि अपनी शिक्षा को परिपूर्ण करने के लिए इसका केवल स्पर्शमात्र कर के युवावस्था में ही इसको नहीं त्याग देते, प्रत्युत जो इसके अध्ययन में अतिदीर्घ समय लगाते हैं उनमें से अधिकांश धूर्त होने का तो कहना ही क्या अनोखे या अलौकिक हो जाते हैं, तथा उनके मध्य में जो उत्तम आत्मा माने जाते हैं वे भी तुम्हारे द्वारा पुरस्कृत अध्ययन (अध्यवसाय) से संसार के किसी काम के नहीं रहते।"

और यह सुनकर मैंने कहा, "क्या तुम यह समझते हो कि वे ऐसा कहने में कोई गलती करते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता, परन्तु मैं तुम्हारी एतद्विषयक सम्मति हर्षपूर्वक सुनना चाहूँगा।"

"तो लीजिए सुनिये, मेरी समझ में उनका कहना ठीक है।"

उसने कहा, "तब यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि हमारे नगर तब तक बुराइयों से मुक्त नहीं होंगे जब तक कि विद्याप्रेमी (दार्शनिक) लोग—जिनको हम समाज के लिए (उन नगरों के लिए) निकम्मा मान चुके हैं—उनके शासक नहीं हो जाते ?"

मैंने उत्तर दिया, "तुम्हारा प्रश्न ऐसा है कि उसका उत्तर एक दृष्टांत द्वारा दिया जा सकता है।"

उसने कहा, "और तुम, मेरा ख्याल है, अवश्य ही दृष्टान्त कथन के अभ्यस्त नहीं हो!"

४

मैंने कहा, "ओह, मुझे इस दुष्प्रतिपाद्य तर्क में फँसा कर अब तुम मेरा परिहास कर रहे हो फिर भी, यह दृष्टान्त भी सुन लो, जिससे

कि तुम और भी भली प्रकार देख सको कि मेरी कल्पना कैसी गुंठल या पंगु है। क्योंकि राष्ट्र के संबंध में सज्जन पुरुषों की स्थिति ऐसी निर्दयतापूर्ण होती है कि संसार में किसी अन्य वस्तु से उसकी तुलना नहीं हो सकती। किन्तु इस स्थिति की समता प्राप्त करने के लिए, एवं उनके पक्ष का समर्थन करने के लिए अनेकों वस्तुओं को ऐसे संश्लेषण में, एकत्रित करना पड़ेगा जैसा कि चित्रकार लोग अजा-मृग एवं अन्य ऐसे ही जीवों का चित्रण करते समय करते हैं। अनेको (जहाजों) नावों या एक नाव में निम्नलिखित घटना होने की कल्पना करो। कल्पना करो कि पोतनायक अन्य किसी भी नाविक से ऊँचाई (लम्बाई) और बल में अधिक है परन्तु थोड़ा बधिर है और वैसे ही दृष्टि दोष से भी युक्त है तथा उसका नौकाचालन कला का ज्ञान भी उसकी श्रुति एवं दृष्टि के ही समान है। ध्यान करो कि नाविक परस्पर कर्णाधिकार प्राप्त करने के लिए झगड़ रहे हैं, उनमें से प्रत्येक का दावा है कि नाव का संचालन उसका अपना अधिकार है, यद्यपि उसने आज तक नौकाचालन कला नहीं सीखी है न अपने गुरू का ही नाम बतला सकता है, और न उस समय का ही निर्देश कर सकता है जब कि उसने इस कला को सीखा था। और इससे भी बढ़ कर बात यह है कि वे यह प्रतिपादित करते हैं यह कला सिखाई बिलकुल नहीं जा सकती, और जो कोई यह कहे कि यह सिखाई जा सकती है उसको काट कर खण्ड खण्ड करने के लिए तैयार हैं। इसी बीच में वे लगातार नौकाध्यक्ष के चारों ओर झुंड के झुंड इकट्ठे होकर प्रत्येक प्रकार के आग्रह से उससे अनुनय विनय करते हैं कि वह संचालनाधिकार उनको सौंप दे। और जब कभी वे असफल हो जाते हैं, और अन्य लोग अधिक सफलता प्राप्त करते हैं तो वे उन दूसरों को मार डालते हैं या नौका से समुद्र में फेंक (निर्वासित कर) देते हैं। और तदुपरान्त अभिजात नौकाध्यक्ष को भाँग-धतूरे अथवा अन्य किसी मादक द्रव्य या अन्य प्रकार से हतचेत कर के वे नौका की अध्यक्षता

प्राप्त कर लेते हैं, नौका के भण्डार को मनमाना उड़ाने लगते हैं तथा आनन्द से खाते पीते मौज उड़ाते ऐसी यात्रा करते हैं जैसी कि ऐसे लोगों से आशा की जा सकती है। तथा मानों इतना ही पर्याप्त न हो अतएव इसके अतिरिक्त, जो कोई भी नाविक नौकापति को नौकाधिकार इन लोगों को सौंप देने के लिए समझाने अथवा विवश करने में अत्यन्त चतुरता से सहायता प्रदान करता है उसको यह लोग नौका चालक, दिग्दर्शक, नाविककला-विशारद इत्यादि पदवी देकर उसकी स्तुति एवं प्रशंसा करते हैं, तथा जो व्यक्ति इस चातुर्य से शून्य होता है उसको निकम्मा समझ कर उसकी निन्दा करते हैं। इस बात का उनको लेशमात्र चेत भी नहीं होता कि सच्चे कर्णधार को यदि उसको नौका का वास्तविक शासक बनना अभीष्ट हो तो वर्ष के समय को, ॠतुओं को, आकाश को, हवाओं को, तारों को तथा उन अन्य सब बातों को, जिनका उसकी कला से संबंध है ध्यान से निरीक्षण करना चाहिए, तथा वह इस बात में विश्वास नहीं रखता कि अन्य लोगों की सम्मति अथवा असम्मति से कर्णाधिकार हस्तगत करने की कोई कला अथवा विद्या है अथवा इस तथाकथित कला को अधिगत करने, तदनुसार व्यवहार करने एवं नाविक विद्या को प्राप्त करने की युगपत् सम्भावना है। नौका की ऐसी गतिविधि होते हुए क्या तुम नहीं समझ सकते कि इस प्रकार शासित नौका के नाविकों द्वारा वास्तविक कर्णधार सचमुच ही तारे गिनने वाला, व्यर्थ का बकवादी, निकम्मा, इत्यादि कहलायेगा ?"

अदेइमान्तस् ने उत्तर दिया, "ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "मैं समझता हूँ कि तुम मेरा तात्पर्य समझते हो और तुमको इस बात की आवश्यकता नहीं है कि मैं इस दृष्टान्त को सिद्ध कर के दिखलाऊँ और यह प्रदर्शित करूँ कि जिस स्थिति का मैंने वर्णन किया है वह हमारे राष्ट्र और विद्याप्रेमी (दार्शनिक) के संबंध का ठीक ठीक प्रतिबिंब है।"

उसने कहा, "ठीक है।"

"अतएव, जिस मनुष्य को यह जान कर अचरज हो रहा हो कि दार्शनिक गण हमारे राष्ट्रों द्वारा सम्मान भागी नहीं होते उसको प्रथम तो तुम यह दृष्टान्त सिखाओ और तदुपरान्त उसको यह प्रतीति दिलाने का प्रयत्न करो कि यदि वे सम्मानित हों तो ऐसा होना कहीं अधिक आश्चर्यजनक बात होगी।

उसने कहा, "मैं ऐसा ही (उपदेश) करूँगा।"

और इसके आगे उससे यह भी कहना कि तुम्हारा यह कथन ठीक है कि विद्याप्रेमियों (दार्शनिकों) में उत्तम आत्माएँ दुनिया के किसी काम की नहीं। परन्तु उसको यह आदेश भी करना कि वह इस निकम्मेपन के लिए उन उदारात्माओं को दोष न दे बल्कि उनको दोष दे जो उनका उपयोग करना नहीं जानते। क्योंकि यह प्रकृति की पद्धति नहीं है कि कर्णधार नाविकों से यह प्रार्थना करे कि वे उसके द्वारा शासित हों अथवा 'बुद्धिमान लोग धनिकों के द्वार पर जाएँ।' इस सूक्ति का रचयिता झूठ बोलने वाला था। परन्तु यथार्थ सत्य यह है कि रोगी मनुष्य चाहे धनी हो, या निर्धन, उसको स्वयं ही वैद्य के द्वार पर जाना पड़ेगा, तथा प्रत्येक उस व्यक्ति को जो कि शासित होना चाहता है उस मनुष्य के द्वार पर जाना होगा जो शासन करने की योग्यता रखता है; ऐसा नहीं हो सकता कि, यदि शासक वास्तव में कसी योग्य है, तो उसको अपनी स्वाभाविक प्रजाओं से, अपने द्वारा शासित होने की विनती करनी पड़े। परन्तु हमारे आधुनिक शासकों की तुलना हमारे द्वारा अभी वर्णन किये नाविकों से एवं उन लोगों की तुलना सच्चे कर्णधारों से (जिनको यह लोग तारे गिनने वाले और निकम्मे बतलाते हैं) करने में तुम गलती नहीं करोगे।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक।"

"इसलिए, और इस प्रकार की परिस्थितियों में हम यह आशा नहीं कर सकते कि यह सर्वोत्तम व्यवसाय (फिलासफी) उन लोगों से यथोचित

उच्च सम्मान पायेगा जिनकी जीवन पद्धति उसके बिलकुल विपरीत है। परन्तु दर्शन की इससे भी कहीं अधिक दुःखदायी और महती अवज्ञा तो उसके ऊपर इस मार्ग के प्रवंचक पथिकों द्वारा लादी जाती है—अर्थात् उन लोगों के द्वारा लादी जाती है जो उस समय तुम्हारे ध्यान में थे जबकि तुमने कहा था कि दर्शन शास्त्र पर दोषारोपण करने वालों का कथन है कि उसके अनुसरण करने वालों में अधिकांश धूर्त्त हैं और अच्छे प्रकार वाले निकम्मे हैं तथा जब मैंने यह स्वीकार किया था कि तुम्हारा कथन ठीक है। यही बात है या नहीं ?"

"हाँ।"

५

तो क्या हमने अच्छी कोटि के (दार्शनिकों के) निकम्मेपन का कारण ठीक ठीक नहीं समझा दिया ?

"हाँ, समझा दिया।"

"इसके उपरान्त क्या हम अब अधिकांश (दार्शनिकों) की पतितावस्था की अनिवार्यता की मीमांसा करें और यह दिखलाने का प्रयत्न करें कि इस विषय में भी फिलासफ़ी (दर्शनशास्त्र) को दोष नहीं दिया जानाचाहिये।"

"सर्वथा ऐसा ही कीजिये।"

"तो हमको, भावी उदारचेता विद्वान् के वांछनीय सहज स्वभाव के वर्णन के आरंभ को पुनः स्मरण करके जो कुछ हमको कहना है उसको सुनना आरंभ करना चाहिये। यदि तुम्हें याद होगा तो तुम जानते होगे कि ऐसे मनुष्य के चरित्र का सर्व प्रमुख लक्षण सत्य है। उसका कर्तव्य सर्वदा और सर्वत्र उसी की खोज करना था, अन्यथा अपराधी होने का दण्ड यह था वह वंचक सिद्ध हो(ता) और उसको फिलासफ़ी में भाग न मिलता।"

उसने कहा, "हाँ, यह कहा गया था।"

"क्या यही एक बात (गुण) दार्शनिक के विषय में प्रचलित धारणा (सम्मति) के नितान्त प्रतिकूल नहीं है?"

उसने उत्तर दिया, "अवश्य है।"

"क्या, सच्चे ज्ञानप्रेमी के पक्ष के समर्थन में यह कहना समुचित युक्ति नहीं होगी कि सच्चे ज्ञानप्रेमी का यह स्वभाव ही है कि वह यथाशक्ति यथार्थ सत् की उपलब्धि के लिये सयत्न रहता है वह उन नाना पृथक् पदार्थों में नहीं विरमता जिनकी यथार्थता आभासाश्रित है, प्रत्युत वह अपने मार्ग पर अग्रसर रहता है, और तब तक न तो उसके अनुराग की धार ही गुट्ठल पड़ती है और न उसकी इच्छा ही शिथिल पड़ती है, जब तक कि वह प्रत्येक वस्तु की आत्मा के स्वरूप को, अपनी आत्मा के उस संवेदनात्मक एवं सजातीय अंश के द्वारा अवगत नहीं कर लेता जिसका कार्य इस प्रकार की यथार्थ सत्ता को उपलब्ध करना है अर्थात् जो उस सत्ता का सजातीय है; इस प्रकार उसकी सम्प्राप्ति के पश्चात् वास्तविक यथार्थता के साथ सच्चा संगम करके वह बुद्धिमत्ता और सत्य को जन्म देगा (उत्पन्न करेगा) ज्ञान लाभ करेगा सच्चे अर्थ में जीवित रहेगा और बढ़ेगा और इस प्रकार आत्मा की वेदना का अन्त प्राप्त करेगा—परन्तु इसके पूर्व नहीं?"

उसने कहा, "कोई अन्य युक्ति इससे अधिक उचित नहीं हो सकती।"

"अच्छा तो क्या उसके स्वभाव में असत्य के प्रेम का कोई अंश होगा अथवा इसके विपरीत वह उससे घृणा करेगा?"

उसने उत्तर दिया, "वह उससे घृणा करेगा।"

"जब सत्य पथप्रदर्शन करेगा तो, मैं ख़्याल करता हूँ, हम यह कदापि नहीं कह सकते कि बुराइयों का समुदाय (मंडली) उसका अनुसरण करेगा।"

"सो कैसे हो सकता है?"

"उसकी अपेक्षा संयमसंवलित स्वस्थ एवं न्यायोचित स्वभाव (चरित्र) उसका साथी होगा।"

उसने कहा, "ठीक है।'

"तब फिर, दार्शनिक स्वभाव के नित्य साथ रहने वाले गुणों की मंडली के क्रम के पुनः प्रारंभ से प्रतिपादन को दोहराने की क्या आवश्यकता है? तुमको निश्चय ही स्मरण होगा कि हमने धैर्य, आत्मौदार्य शिक्षाप्रवणता, एवं स्मृति को इस (दार्शनिक) प्रकार के स्वभाव से संवद्ध पाया था। और इसपर तुमने यह आपत्ति की थी की यद्यपि प्रत्येक मनुष्य हमारे कथन को मानने को बाध्य होगा, तथापि जब कोई केवल शब्दो को छोड़ कर उन शब्दों द्वारा संकेतित पुरुषों पर दृष्टिनिहित करेगा तो प्रत्येक व्यक्ति यही कहेगा कि उसने उनमें से कुछ को प्रत्यक्ष ही निकम्मा पाया और अधिकांश को सब दूषणों से दूषित (पूर्णतया पतित) पाया। इस पर इस बदनामी के कारणों की खोज करते हुए हम प्रस्तुत प्रश्न पर आ पहुँचे कि अधिकांश दार्शनिकों के दुष्ट (पतित) होने का क्या कारण है। और इसी के निमित्त हमने सच्चें दार्शनिकों के स्वभाव को पुनः विवृत किया और हमको उसकी परीक्षा और परिभाषा करके यह बतलाना पड़ा कि वह स्वभाव निश्चयमेव कैसा होना चाहिये ?"

उसने कहा, "यही बात है।"

६

६. मैंने कहा, "तो अब हमको अधिकांश मनुष्यों में इस दार्शनिक स्वभाव के भ्रष्ट हो जाने के कारणों का चिन्तन करना है, जिससे बहुत थोड़े से ऐसे व्यक्ति बच पाते हैं जो भ्रष्ट तो नहीं पर निकम्मे कहलाते हैं। इसके पश्चात् क्रमशः हम उन व्यक्तियों पर दृष्टिपात करेंगे जो इस स्वभाव का अनुकरण और इस वृत्ति का अनधिकारपूर्ण ग्रहण करते ह और यह मालूम करेंगे कि ये लोग किस कोटि के जीव हैं जो उस जीवन

पथ को ग्रहण करके, जो उनके लिये कहीं ऊँचा और उनकी शक्तियों से परे है, अपने चरित्र की विविध कलहपूर्णता एवं विसंवादिताओं से सर्वत्र और सब मनुष्यों में फिलासफ़ी (दर्शनशास्त्र) पर वह (दोष) आरोपण करवाते हैं जिसका तुमने वर्णन किया है।"

उसने पूछा, "तुम कौन से दोषों का वर्णन कर रहे हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "यदि हो सका तो मैं उनको तुम्हें समझाने का यत्न करूँगा। मैं समझता हूँ कि इस विषय में तो सभी हमसे सहमत होंगे कि पूर्ण विद्याप्रेमी के लिये जैसे स्वभाव का हमने अभी (निर्धारण) वर्णन किया है वह मनुष्यों में विरलतया एवं असाधारतया उपजने वाला है और बहुत ही थोड़े से व्यक्तियों में उपलब्ध होता है। क्या तुम ऐसा नहीं समझते ?"

"मैं पूर्ण शक्ति से तुम्हारे कथन का समर्थन करता हूँ।"

"तो अब यह देखो कि इन थोड़े से व्यक्तियों को (स्वभावों को) विनष्ट करने के लिये तत्पर वस्तुओं की संख्या और विस्तार कितना अधिक है।"

"वह क्या है ?"

"सबसे अधिक अचंभे में डालने वाली बात तो यह है कि प्रकृति का प्रत्येक वरदान जिसकी हम प्रशंसा किया करते हैं अपने धारण करने वाले की आत्मा को दूषित करने और उसको दर्शनशास्त्र (फिलासफ़ी) से मार्गच्युत करने की ओर प्रवृत्त होता है। मेरा अभिप्राय वीरता, संयम इत्यादि गुणों की पूरी सूची से है।"

उसने कहा, "यह बात सुनने में तो बड़ी अटपटी प्रतीत होती है।"

मैंने कहा, 'इसके अतिरिक्त, जीवन की सब तथाकथित सुविधाएँ—यथा सुन्दरता और धनवत्ता, और शारीरिक शक्ति, और नगर में प्रबल

कौटुम्बिक संबन्ध तथा इन्हीं की सजातीय अन्य वस्तुएँ—भी दूषित और भ्रष्ट करने वाली हैं। तुम मेरा तात्पर्य समझते हो न ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, मैं समझता हूँ। परन्तु मैं इसका सुव्यस्थित कथन अधिक प्रसन्नता पूर्वक सुनना चाहूँगा।"

मैंने कहा, "इस सत्य को इसके पूर्ण रूप में ठीक ठीक ग्रहण कर लो, बस तब सारी बात स्पष्ट प्रतीत होने लगेगी और मेरा पूर्वोक्त कथन तुमको इतना अद्भुत नहीं मालुम पड़ेगा।"

उसने पूछा, "तो मुझे आप क्या करने का आदेश करते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया, "हमको यह ज्ञात है कि सब बीज और सब वृद्धि को प्राप्त होने वाली वस्तुएँ, चाहे वह वनस्पति हों अथवा जीवकोटि हों, जितनी ही अधिक प्राणशक्ति पूर्ण होती है, ठीक पोषण उचित ऋतु और योग्य भूमि से वंचित होने पर,उतनी ही अपनी परिपूर्णता को पहुँचने से पिछड़ जाती है। क्योंकि बुराई असत् की अपेक्षा सत की कहीं अधिक विरोधिनी है।"

"क्यों नहीं ?"

"अतएव, मैं समझता हूँ कि श्रेष्ठ स्वभाव पोषण की अनुकूल स्थिति में निम्नकोटि के स्वभावों की अपेक्षा कहीं अधिक हानि उठाते हैं।"

"यही बात है।"

मैंने कहा,"अदैइमान्ताॅस्, तो क्या इसी प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि श्रेष्ठ सहज गुणों वाली आत्माएँ, कुशिक्षा के परिणाम स्वरूप अन्य आत्माओं की अपेक्षा हीनतर हो जाती हैं ? अथवा क्या तुम यह समझते हो कि घोर अपराध एवं विशुद्ध अमिश्रित नीचता पोषण दोष से दूषित अत्यन्त सत्त्वसंपन्न आत्मा से उत्पन्न नहीं होते बल्कि लघु आत्मा से उत्पन्न होते हैं, अथवा अक्षम आत्मा कभी कोई महान कार्य नहीं कर सकेगी चाहे वह अच्छा हो या बुरा ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, आपका कहना ठीक ।"

"तब तो दार्शनिक (विद्याप्रेमी) के स्वीकृत स्वभाव को यदि उचित शिक्षा मिले तो विकसित विवर्द्धित होकर उसको अवश्य परिपूर्णता लाभ करनी चाहिये परन्तु यदि उसका वपन, आरोपण और विवर्धन प्रतिकूल भूमि (परिस्थितियों) में हो तो जब तक कोई देवता सहाय न करे, परिणाम बिलकुल उलटा होगा। अथवा तुम भी उस साधारण जन समुदाय में से एक हो जिनका विश्वास है कि कुछ युवक गुरुओं से बिगाड़े गये हैं, और कतिपय व्यक्तिगत गुरु लोग ऐसे हैं जो उल्लेख योग्य सीमा तक (युवक शिष्यों को) दूषित करते हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं वे ही स्वयं क्या बड़े से बड़े सोफ़िस्ट नहीं हैं? तथा क्या वे ही युवाओं और वृद्धों को, पुरुषों और स्त्रियों को एक परिपूर्ण रीति से (अपने ख्याल के अनुसार) शिक्षण देकर पूर्ण नहीं बनाते तथा अपनी इच्छानुसार घटित नहीं करते?

उसने पूछा, "कब, (ऐसा होता है)?"

मैंने उत्तर दिया, "जब कभी जनसमुदाय परिषदों में एकत्रित होता है अथवा न्यायालयों में या थियेटरों में अथवा शिविरों में या जनसमूह के किसी सार्वजनिक सम्मेलन में, तथा तुमुलनाद के साथ कुछ कही तथा की गई बातों की निन्दा करता है और कुछ की प्रशंसा करता है और दोनों ही की अति कर देता है; इसके साथ ही साथ वे गला फाड़ कर चिल्लाते हैं और करतल ध्वानि करते हैं एवं, चट्टानों एवं एकत्रित होने के स्थान की प्रतिध्वनि मिल कर उनकी निन्दा एवं प्रशंसा की तुमुल ध्वनि को द्विगुणित कर देते हैं। ऐसे अवसरों पर, क्या, लोकोक्ति के अनुसार, युवक का हृदय भीतर ही भीतर नहीं उछलने लगेगा? क्या तुम समझते हो कि कोई भी व्यक्तिगत शिक्षा इस निन्दा एवं प्रशंसा की प्रबल वेगवती धारा के समक्ष डटी रहेगी और बह नहीं जायगी; इसके प्रबल प्रवाह में प्रवाहित नहीं हो जायगी, जिससे कि वह भी उन्हीं वस्तुओं को आदरणीय अथवा

नीच हेय (नहीं) कहने लगेगा जिनको वे ऐसा कहते हैं, वैसा ही (नहीं) करेगा जैसा वे करते हैं तथा वैसा ही हो तक (नहीं) जायेगा जैसे कि वे हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "सॉक्रातीस् ! यह तो परम अनिवार्य है ।"

७

७. मैंने कहा, "और इससे भी आगे जो प्रमुख आवश्यकता तथा विवशता है उसका तो हमने अभी उल्लेख ही नहीं किया है ।"

उसने पूछा, "वह क्या है?"

"वही जो कि यह शिक्षक और सॉफ़िस्त उस समय क्रियात्मक रूप में आरोपित करते हैं जब उनके शब्द निष्फल हो जाते हैं। क्या तुम नहीं जानते कि वे अविधेय को नागरिकाधिकारों के अपहरण का, धन का तथा मृत्यु तक का दण्ड देते हैं ?"

उसने कहा, "हाँ ऐसा ही करते हैं तथा अत्यन्त बलात्कार के साथ।"

"तो फिर इसके विपरीत तुम्हारी समझ में, किस सॉफ़िस्ट अथवा किस व्यक्तिगत शिक्षण की (बात) चल सकती है ?"

उसन कहा, "मैं समझता हूँ किसी की नहीं चल सकती ।"

मैंने कहा, "नहीं जी, इसके विरुद्ध प्रयत्न तक करना अतिशय मूर्खता है। क्योंकि (मानव) चरित्र तथा सद्‌गुणों का कोई ऐसा विलग अथवा विभिन्न नमूना न तो है, न हुआ है, और न कभी होना संभव ही है जो उनकी शिक्षा से विपरीत दिशा में जाने वाली अन्य शिक्षा से उत्पन्न हुआ हो—मेरे कहने का तात्पर्य मानवोद्योग है, मित्र, क्योंकि लोकोक्ति के अनुसार देवताओं के सम्बन्ध में सब नियमों के अपवाद हो जाते हैं। इस विषय में तो तुमको निश्चय हो जाना चाहिये कि यदि समाज और शासन (सरकार) की वर्त्तमान स्थिति में कोई वस्तु सुरक्षित रहती है अथवा सुपरिणत होती है तो उसके विषय में तुम्हारे यह कहने में कोई बुराई

नहीं होगी कि भगवान की महिमा (विधि के विधान नें) उसकी रक्षा की है।"

उसने कहा, "और न मैं ही अन्यथा समझता हूँ।"

मैंने कहा, "तो इसके साथ ही तुम निम्नलिखित बात और समझ लो।"

"क्या ?"

"प्रत्येक वेतनार्थी व्यक्तिगत शिक्षक जो जनसमुदाय द्वारा (राजनीतिज्ञों के द्वारा) सोफिस्ट कहलाता है तथा जिसको वे अपना प्रतिस्पर्धी समझते हैं वे वास्तव में जनसमुदाय के बहुमत की उन सम्मतियों के अतिरिक्त और कुछ भी उपदेश नहीं करता जिनको कि वे अपने परिषद् में एकत्रित होने के समय प्रकट करते हैं और वह (सोफ़िस्ट) इसी ज्ञानको बुद्धिमत्ता (शुभा) कहता है। यह स्थिति इस प्रकार की है कि मानो कोई व्यक्ति अपने यहाँ पले हुए किसी विशालकाय और बलवान पशु की मनोवृत्तियों और इच्छाओं का ज्ञान प्रात कर रहा हो—यथा, उसके समीप कैसे जाया जाय, उसको कैसे स्पर्श किया जाय, किस समय और किन बातों से वह अत्यन्त उग्र या अत्यन्त मृदु हो जाता है, तथा (उग्रता और मृदुता) प्रत्येक के अवसर पर वह कौन सी पृथक् पृथक् ध्वनियाँ करने का अभ्यस्त है एवं दूसरों द्वारा उच्चरित कौन सी ध्वनियाँ इसको शान्त अथवा क्रुद्ध कर देती हैं—और जब उस पशुके साथ सुदीर्घकाल तक बस कर उसके सम्पर्क से इन सब बातों में वैशारद्य प्राप्त कर ले तब इस ज्ञान को बुद्धिमानी (शुभा) कहने लगे और इस ज्ञान को सुव्यस्थित करके एक विद्या या कला का रूप प्रदान कर दे एवं उसका उपदेश करने लगे, यद्यपि वास्तव में उसको इस विषय का किंचिन्मात्र भी ज्ञान न हो कि इन सम्मतियों और इच्छाओं में से कौन सी आदरणीय अथवा नीच है, अच्छी अथवा बुरी है, न्याय्य या अन्याय्य है परन्तु तो भी वह इन शब्दों का प्रयोग इस महान् पशु की

निर्धारणाओं के विषय में करे अर्थात् जो वस्तुएँ उस पशु को प्रिय लगें उन्हें अच्छा कहे तथा जो उसको अप्रिय हों उनको बुरा कहे—— अच्छे और बुरे की अन्य कोई व्याख्या उसके पास न हो एवं जो अनिवार्यतया आवश्यक है उसी को न्यायोचित और आदरणीय कहे, कारण कि उसने स्वयं कभी यह अनुभव ही नहीं किया है आवश्यक और अच्छे के बीच कितना महान् अन्तर है और इसीलिये जो इस बात को समझाने में असमर्थ है। परमेश्वर के नाम पर क्या तुम यह नहीं समझते कि ऐसा व्यक्ति अनोखा शिक्षक होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ मैं ऐसा ही समझता हूँ।"

"क्या तुम ख़्याल करते हो कि ऐसे (उपर्युक्त) मनुष्य और उस मनुष्य के बीच में कोई अन्तर है जो बहुरंगी जनसंमर्द के जमघट के पास से चित्रकारी, संगीत अथवा राजनीति तक के संबंध में उसकी मनोवृत्तियों एवं प्रसन्नताओं को सीख लेने को ही शुभा (बुद्धिमानी) समझता है ? क्योंकि यदि कोई व्यक्ति जनसंघ की संगति करता है तथा अपनी कविता या अपनी कला की अन्य कोई कृति अथवा कोई राष्ट्र राजनीतिक सेवा उसको प्रदान और प्रदर्शित करता है, तथा जनसमूह को अपने ऊपर इतना अधिकार देता है जितना नितान्त अनिवार्य अधिकार से अधिक है तो दियोमीदीस् की लोकविश्रुत आवश्यकता उसको जनता की रुचि के अनुसार भेंट प्रदान करने के लिये विवश कर देगी। परन्तु जो यह (जनसमूह) पसंद करता है वही सचमुच सुन्दर और आदरणीय है क्या इस विषय में चेष्टापूर्वक प्रस्तुत की गई किसी ऐसी उपपत्ति को तुमने सुना है जो मात्र उपहासास्पद न हो ?"

उसने कहा, "नहीं ! और मैं कल्पना करता हूँ कि कभी भविष्य में सुनूँगा भी नहीं।"

८

८. इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, अब हमारे पूर्व प्रश्न को

स्मरण करो। क्या जनसमुदाय के लिये अनेकों सुन्दरवस्तुओं की अपेक्षा सौन्दर्य तत्त्व की वास्तविकता को सहन करना अथवा उसमें आस्था रखना सम्भव है, अथवा क्या वे नाना व्यक्त पदार्थों के वरुद्ध उनमें निहित सार तत्त्व में विश्वास कर सकते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "लेशमात्र भी नहीं।"

मैंने कहा, "तो जनसमुदाय के लिये फिलासफ़र होना असंभव है।"

"असंभव है।"

"और इसीलिये यह अनिवार्य है कि विद्या (शुभा) से प्रेम करने वाले उनके (जनसमूह) द्वारा निन्दित होने चाहिये।"

"अनिवार्य है।"

"और इसी प्रकार उन सामान्य जनों द्वारा भी जो जनसमूह की संगति में रह कर उनकी अनुकूलता संपादित करना चाहते हैं।

"स्पष्ट ही है।"

"इस दृष्टिकोण से क्या तुमको कोई सुत्राण का ऐसा उपाय सूझ पड़ता है जो सहज दार्शनिक (विद्याप्रेमी) को अपने व्यापार में तब तक लगा रहने देगा जब तक कि वह अपने मन्तव्य पर्यन्त पहुँचता है ? जो कुछ पहले कह चुके हैं उसके प्रकाश में इस पर विचार करो। हम इस विषय में सहमत हो चुके हैं कि सीखने में शीघ्रता, अच्छी स्मृति, धीरता एवं ओजस्विता दार्शनिक के स्वभाव के लक्षण हैं।"

"हाँ।"

"तब तो क्या ऐसा व्यक्ति लड़कपन से ही सब वातों में सर्वप्रथम नहीं होगा, विशेषकर यदि उसके शरीर का स्वभाव (स्वास्थ्य) उसकी आत्मा की समता का हो ?"

उसने उत्तर दिया, "भला, क्यों नहीं ?"

"तब तो मैं समझता हूँ कि उसके संबंधीगण और साथी नागरिक उसक बड़े होकर उनका कार्य सिद्ध करने योग्य होने पर उसका उपयोग करने की इच्छा करेंगे।"

"क्यों नहीं ?"

"तब तो उसके समक्ष प्रणिपातपूर्वक उसकी प्रार्थना और स्तुति पाठ करेंगे जिससे कि उसकी भावी शक्ति पहले से ही खुशामद करने से उनके हाथ में आ जाए।"

उसने कहा, "हाँ, सचमुच प्रायः ऐसा ही हुआ करता है।"

"तो, तुम्हारे विचार में, ऐसा युवक, इस प्रकार की परिस्थितियों में कैसा आचरण करेगा विशेषकर यदि उसका जन्म किसी महान नगर के सम्पन्न परिवार में हुआ हो और इसके साथ ही साथ वह सुन्दर और प्रलम्बकाय हो ? क्या उसका हृदय (आत्मा) असीम उच्चाभिलाषाओं से परिपूर्ण नहीं होगा, क्या वह अपने आपको हैलेनी और बर्बर दोनों ही का प्रबन्ध करने के योग्य नहीं समझेगा, और इसी कारण धृष्टाकृति, वितथ-गर्वोत्फुल्ल एवं बेसमझ होकर अपने को परमोच्च नहीं समझने लगेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "निश्चय ही वह ऐसा समझने लगेगा।"

"अब यदि इस प्रकार की मनोदशा वाले व्यक्ति के पास कोई नम्रतापूर्वक आकर जो सत्य बात है उसको बतलाए कि उसको समझ बूझ प्राप्त नहीं है और उसको इसकी प्रगाढ़ आवश्यकता है, तथा उसको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उसकी उपलब्धि के लिए दासवत् परिश्रम करना है, तो क्या तुम्हारी समझ में इन विकृत परिस्थितियों में तथा उनके प्रतिकूल इस शान्त पुकार को सुनना उसके लिए कोई सरल कार्य होगा ?"

उसने कहा, "कहीं इससे प्रतिकूल।"

मैंने कहा, "यदि यह भी मान लिया जाय कि सौभाग्यपूर्ण सहज स्वभाव के कारण तथा विवेकपूर्ण सीख के शब्दों पर ध्यान देने से किसी ऐसे युवक को कुछ समझ आ जाए तथा वह फिलासफी द्वारा प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट हो, तो जो लोग ऐसा होने से उसकी सेवाओं और मित्रता से वंचित होने की आशंका करने लगेंगे, तुम्हारी समझ में उनका बरताव कैसा होगा? क्या उसको सुप्रवृत्ति के वशीभूत न होने देने के लिए तथा उसके समझाने वाले (के प्रयत्नों) को व्यर्थ कर देने के लिए वे लोग प्रच्छन्न (एवं व्यक्तिगत) षड्यंत्रों एवं सार्वजनिक अभियोगों द्वारा कोई कथन अनकहा और कोई काम विना करा छोड़ेंगे?"

उसने उत्तर दिया, "ऐसा होना नितान्त अनिवार्य है।"

"तो क्या ऐसी स्थिति में व्यक्ति के लिए दार्शनिक बने रहने की कोई संभावना है?"

"बिलकुल नहीं।"

९

मैंने कहा, "तो तुमने देख लिया न, कि हमारा यह कथन अयथार्थ नहीं था कि वे ही गुण जो कि दार्शनिक स्वभाव के घटक हैं, जब परिस्थितियां एवं पालन पोषण विकृत होता है, तब वास्तव म उसका दशनाध्ययन से पराङ्मुख करने का कारण हो जाते हैं, और यही परिणाम, धनसंपन्नता एवं इसी प्रकार की अन्य तैयारियों का भी होता है जो कि जीवन की तथाकथित सुविधाएँ मानी जाती हैं?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, आपका कथन ठीक ही था।"

मैंने कहा, "मेरे श्रेष्ठ मित्र, ऐसा और इतना महान विनाश एवं पतन होता है सर्वोत्तम स्वभाव का, इस परमोदार प्रवृत्ति के सम्बन्ध में—उस सर्वोत्तम स्वभाव का जो हमारे कथनानुसार, यों ही अत्यन्त विरल होता है। तथा इसी प्रकार के व्यक्तियों में से वे लोग निकलते हैं जो समाजों

(राष्ट्रों) तथा व्यक्तियों को सब से बड़ी हानि पहुँचाते हैं, एवं जब दैवात् धारा अच्छी प्रणालिका की ओर मुड़ जाती है तो यही लोग सब से महान भलाई भी करते हैं; परन्तु तुच्छ स्वभाव वाला व्यक्ति किसी मनुष्य अथवा पुर के लिए कभी कोई महान कार्य नहीं कर सकता।"

उसने कहा, "परम सत्य बात है।"

"जो फिलासफी के योग्य वर (अधिकारी) हैं उन लोगों के इस प्रकार पराङमुख होकर उसको अनाथ और अपरिगृहीता (अपरिणीता) छोड़ देने पर, वे स्वयं अयथार्थ और पराया जैसा जीवन व्यतीत करते हैं, जब कि अयोग्यवर, उसको (दर्शन को) नाथहीना अरक्षिता पाकर भ्रष्ट कर देते हैं और उस पर उन कलंकों को आरोपित कर देते हैं जिनके द्वारा तुम्हारे वचनानुसार उसके बदनाम करने वाले लोग उसको यह घोषित करते हुए उलाहना देते हैं कि उस (दर्शन शास्त्र) के कुछ संगी किसी काम के नहीं होते और अधिकांश बहुत बुराइयों (अथवा दण्ड) के योग्य होते हैं।"

उसने कहा, "और क्या ? लोग ऐसा तो सामान्यतया कहते ही हैं।"

मैंने कहा, "और ठीक ही कहते हैं। क्योंकि अन्य तुच्छ मनुष्य, इस क्षेत्र को रिक्त एवं खुला किन्तु बड़े बड़े नामों एवं भड़कीली उपाधियों से भरापुरा देख कर, अपने परिश्रमसाध्य शिल्प को छोड़ कर कूद कर इस क्षेत्र में आ धमकते हैं,जिस प्रकार कि बन्दीगण (कैदी) बन्दीगृह से भाग कर धर्म स्थान में शरण लेते हैं; और यह लोग वह होते हैं जो अपने तुच्छ शिल्प में अत्यन्त निपुण होते हैं। क्योंकि यद्यपि दर्शन शास्त्र इस पतितावस्था में हैं, तथापि अन्य शिल्पों की तुलना में वह अब भी उच्च महिमा बनाये है; और इस महिमा को प्राप्त कर लेना ही उस कपटी जनसमुदाय की आकांक्षा और अभिलाषा है जो सहज स्वभाव से इसके अयोग्य है, जिनकी आत्माएँ उनके नीच चरित्रों से इतनी बुरी प्रकार से दबी और कटी फटी हो गई हैं जितने कि उनके शरीर उनके तुच्छ शिल्पों से विकृत

हो चुके हैं। क्या यह अनिवार्य नहीं है?"

उसने उत्तर दिया, "बिल्कुल ठीक।"

मैंने कहा, "क्या जो चित्र वे उपस्थित करते हैं वह बिल्कुल एक बौने खल्वाट कसेरे से नहीं मिलता जिसने धन कमा लिया है, दास्यता (बेगार) से अभी अभी मुक्त हुआ है, एवं स्नान कर के तथा नवीन वस्त्र धारण कर के जिसने अपने को वर की भाँति सजा लिया है और अब अपने स्वामी की कन्या से विवाह करने जा रहा है जो कि अब अकिंचन और परित्यक्ता है?"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल भी अंतर नहीं है।"

"तो ऐसों की सन्तति किस प्रकार की होगी? क्या वे नीच और जारजन्मा नहीं होंगे?"

"परम अनिवार्यतया ऐसा ही होगा।"

"जब संस्कृति और शिक्षा के अयोग्य व्यक्ति दर्शनशास्त्र के (आन्वीक्षिकी) के समीप पहुँचते हैं और उसके साथ (जो कि उनसे उच्चतर कोटि की वस्तु है) अनुचित समागम करते हैं तो इस समागम से उत्पन्न विचारों और सम्मतियों के विषय में हम क्या कहेंगे? क्या वे वास्तव में ऐसे ही विचारों का उत्पादन नहीं करेंगे जिनको चालबाजी कहना समुचित होगा तथा जिनमें कुछ भी निर्व्याज तत्व नहीं होगा और न कोई वास्तविक बुद्धिमत्ता का ही भाग होगा?"

उसने उत्तर दिया, "बिल्कुल ऐसा ही होगा।"

१०

मैंने कहा, "अदेइमान्तॉस् तब तो आन्वीक्षिकी के साथ योग्य समागम करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी सी बच रहती है; यथा, सयात् कोई संभ्रान्त एवं सुशिक्षित व्यक्ति निर्वासन से विवश हो कर अपने

स्वभाव के आदेशानुसार कुप्रभावों की अनुपस्थिति में इस (आन्वीक्षिकी) विद्या का सच्चा भक्त रह जाये; या स्यात् ऐसा हो कि किसी महात्मा का छोटे से नगर में जन्म हो और वह इस नगर की तुच्छ स्थानीय राजनीति की ओर कुछ भी ध्यान न दे; और स्यात् मनुष्यों का एक छोटा समुदाय ऐसा भी हो सकता है जो आन्वीक्षिकी के साथ अपनी स्वाभाविक सजातीयता के कारण अन्य शिल्पों की समुचित अवज्ञा कर के उसकी ओर आकृष्ट हुआ हो, एवं कुछ अन्य प्रसंगों में हमारे मित्र थियागस् की लगाम भी कुछ रोक थाम करने में क्रियाशील हो सकती है। क्योंकि थियागस के प्रसंग में अन्य सब ऐसी परिस्थितियां समुपस्थित थीं जो उसको दर्शन शास्त्र से विमुख कर देतीं पर उसके शरीर की रुग्णावस्था ही उसको राजनीति से बहिष्कृत कर के रोके हुए है। स्वयं मेरे अपने विषय में दिव्य चिन्ह (दाइ-मोनियन्) की तो चर्चा ही करना व्यर्थ है, क्योंकि मैं ख्याल करता हूँ कि मेरे पूर्व यह (अद्भुत) वस्तु स्यात् ही कभी किसी व्यक्ति को मिली हो। जो व्यक्ति इस छोटे से समुदाय के अन्तर्गत हैं, जिन्होंने इस सम्पत्ति की मधुरता तथा धन्यता का आस्वाद पा लिया है, जो बहुजनों के पागलपन को भी पर्याप्त रूपेण समझ चुके हैं, जिन्होंने देख लिया है कि आजकल की राजनीति में कुछ भी स्वस्थ एवं उचित तत्त्व नहीं है (अथवा कोई भी आजकल का राजनीतिज्ञ ईमानदार नहीं है) तथा ऐसा कोई भी सहायक नहीं है जिसकी सहायता से न्याय का रक्षक न्याय के पक्ष में लड़ता हुआ त्राण पास के, बल्कि इसके प्रतिकूल उस (न्याय रक्षक) की दशा वन्य पशुओं के मध्य में फँसे हुए व्यक्ति के समान है जो उनके कुकृत्यों में साझा नहीं करना चाहता एवं जो एकाकी उन सब की पशुता का सामना करने के अयोग्य है, अतएव जो इस प्रकार अपने मित्रों एवं राष्ट्र की किसी प्रकार की भलाई के पूर्व ही बिना अपना या पराया भला किए बिना ही असमय में अन्त को प्राप्त हो जायगा---इन्हीं सब कारणों से, मेरा कहना

है, दार्शनिक शान्त रहता है और अपने काम में लगा रहता है (अथवा, अपनी राह पर चलता रहता है), मानों वह उस मनुष्य के समान है जो ओलों और धूल के अंधड़ में किसी दीवार की ओट में खड़ा हुआ हो, तथा अन्य लोगों को पूर्णतया उच्छृंखलता से भरा देख कर, यदि वह जीवन में अपने को अन्याय एवं कुकृत्यों से मुक्त रख सके और अन्त समय आने पर शान्तिपूर्वक एवं तृप्त रहते हुए आशा सहित इस लोक से विदा ले सके तो इतने से संतुष्ट रहता है।"

उसने कहा, "परन्तु विदा होने के पूर्व इतना प्राप्त कर लेना कोई अत्यन्त मामूली सी बात नहीं है।"

मैंने उत्तर दिया, "यदि उसको अपने स्वभाव के अनुकूल राष्ट्र में रहना नसीब हो तो इतना कर लेना कोई बड़ी भारी सिद्धि भी नहीं है। ऐसे (––स्वभाव के अनुकूल) राष्ट्र में ही वह अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर सकेगा तथा अपने कुशलक्षेम के साथ सर्वसाधारण के सौख्य की रक्षा कर सकेगा।"

– ११ –

११. दर्शनशास्त्र की बदनामी के कारण और बदनामी का अनौचित्य यह दोनों ही मैं ख्याल करता हूँ भली भाँति प्रदर्शित कर दिये गये, हाँ यदि तुमको कुछ और कहना (आपत्ति––हो) तो दूसरी बात है।"

उसने कहा, "नहीं, इस विषय पर मुझे अब आगे कुछ नहीं कहना है। पर तुम्हारे विचार में हमारी वर्त्तमान शासन प्रणालियों में से कौन सी व्यव था दर्शनशास्त्र के अनुकूल है।"

मैंने कहा, "कोई भी नहीं, परन्तु मेरी शिकायत (आक्षेप) का आधार ही यह है कि आजकल की कोई भी शासन व्यवस्था दार्शनिक के स्वभाव के लिए योग्य (उपयुक्त) नहीं है। इस (स्वभाव) के विकृत और परिवर्तित

होने का ठीक ठीक कारण भी यही है; जिस प्रकार कोई विदेशी बीज अन्य देश में बोया जाने पर तद्देशीय भूमि गुणों से अभिभूत होकर अपना गुण गँवा देता है और उसी भूमि के सामान्य पौदों के समान हो जाता है, इसी प्रकार यह (दार्शनिक) जाति भी अपने स्वाभाविक गुणों को सुरक्षित नहीं रख सकती और पतित एवं विकृत हो कर अन्य स्वभाव वाली हो जाती है। परन्तु जैसा उत्तम यह दार्शनिक स्वभाव है यदि इसको ऐसी ही उत्तम राज्यव्यवस्था मिल जाए तो यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाएगी कि यह स्वभाव दिव्य है और अन्य सब स्वभाव एवं व्यापार केवल मानवीय हैं। और इसके पश्चात स्पष्ट ही तुम्हारा अगला प्रश्न यह होगा कि यह उत्तम व्यवस्था क्या वस्तु है?"

उसने कहा, "नहीं, तुमने ठीक नहीं समझा। मैं यह नहीं पूछने जा रहा था बल्कि यह जानना चाहता था कि यह उत्तम व्यवस्था वही है जिसका हमने राष्ट्र की स्थापना करते हुए वर्णन किया है, या कोई और।"

मैंने उत्तर दिया, "और अन्य सब बातों में तो यह वही है, पर एक और विशेष बात यह है तथा इसका हमने तब भी उल्लेख किया था कि ऐसे राष्ट्र में सर्वदा एक ऐसा अधिकारी वर्ग (शासक शक्ति) रहना चाहिए जिसकी विधान व्यवस्था संबंधी धारणा वही हों जो कि नियम निर्धारण करते समय तुम नियामकों (नियमनिर्माताओं) की थी?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, यह बात कही जा चुकी है।"

मैंने कहा, "हाँ, परन्तु तुम्हारे उन आक्षेपों के भय से जिनसे यह स्पष्ट हो गया है कि इस विषय का प्रतिपादन लम्बा, उकताने वाला और कठिन होगा, इसकी पर्याप्त व्याख्या नहीं की गयी थी। और इसके अतिरिक्त भी जो विवरण शेष रह गया है वह किसी प्रकार सरल नहीं है।"

"शेष से तुम्हारा क्या तात्पर्य है?"

"यह कि दर्शनशास्त्र का उपयोग करने वाला राष्ट्र पूर्ण विनाश से बचने के लिए उसका किस प्रकार उपयोग करे। क्योंकि सब महान् वस्तुएँ भयावह होती हैं, जैसा कि लोकोक्ति में भी सच कहा गया है कि 'सुन्दर वस्तु कठिन होती है'।"

उसने कहा, "तथापि, इस बात को स्पष्टतया समझा कर हमारा विवरण तो पूरा कर ही दिया जाना चाहिए।"

मैंने कहा, "इस कार्य में इच्छा की कमी के कारण तो रुकावट होगी नहीं, हाँ यदि योग्यता की कमी के कारण ऐसा हो तो हो सकता है। मेरा उत्साह तो तुम स्वयं अपनी आँखों से देख सकते हो। और फिर इस बात को भी तुमको ध्यान देकर देख लेना चाहिए कि मैं कितने उत्साह और निधड़कता के साथ यह घोषित करने के लिए उद्यत हूँ कि राष्ट्र (राज्य) को इस दर्शनशास्त्र के अनुसंधान को आधुनिक लोक व्यवहार के विपरीत प्रकार से स्वीकार करना चाहिएँ।"

"किस प्रकार?"

मैंने कहा, "आजकल जो व्यक्ति इस (दर्शन शास्त्र के अध्ययन) को अंगीकार करते हैं वे लड़कपन को पार कर के आए हुए युवक होते हैं जो गार्हस्थ्य और धनोपार्जन के धंधों में संलग्न होने के पूर्ववर्ती कालांश में (अथवा गृहस्थी एवं धनार्जन के धंधों से बचे खुचे समय में) इसके सब से कठिन भाग में (चंचु प्रवेश करते) हाथ डालते हैं और तदुपरान्त इसको छोड़ देते हैं—तथा यही लोग निश्चय के साथ दार्शनिकों के आदर्श माने जाते हैं। सब से कठिन भाग से मेरा तात्पर्य तर्कविद्या से है। पीछे जीवन में, यदि निमंत्रित होने पर वे दूसरों के दार्शनिक विवेचन सुनने का अनुग्रह करते हैं तो यह समझते हैं कि उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत कुछ कर लिया है। उनके विचार में इस प्रकार का कार्य गौण होना चाहिए। और वृद्धावस्था के आने पर, कतिपय अपवादों को छोड़ कर उनका

(दर्शन शास्त्र का) प्रकाश हेराक्लाइतस् के सूर्य के प्रकाश से भी अधिक बुझ जाता है, क्योंकि वह फिर प्रज्वलित किया ही नहीं जाता।"

उसने पूछा, "तो उनको क्या करना चाहिए?"

"इसके बिलकुल विपरीत। अपने बचपन और लड़कपन में तो उनको अपनी कुमारावस्था के अनुकूल शिक्षण और दर्शनाध्ययन में लगे रहना चाहिए और जब उनके शरीर बढ़ते हुए पूर्ण पुरुषावस्था को प्राप्त कर रहे हों उस समय उनको अपने शरीर पर ही ठीक ठीक ध्यान देना चाहिए जिससे (भावी) बौद्धिक (दार्शनिक) जीवन के लिए आधार और सहारा उपलब्ध हो सके। परन्तु अवस्था के बढ़ने के साथ ही साथ जब बुद्धि परिपक्वता लाभ करने लगे तो उनको उसका व्यायाम अधिक कठोर कर देना चाहिए। तथा जब शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगे, और वे राजनैतिक एवं सैनिक सेवा की आयुसीमा का अतिक्रमण कर चुकें तो यदि उनको सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना हो और अन्त समय आने पर इस जीवन को इसी के तुल्य सुखसौभाग्य से युक्त पारलौकिक जीवन से चरितार्थ करना हो तो अन्त में उन्हें अपने को मुक्त विचरण करने को छोड़ देना चाहिए तथा दार्शनिक चिन्तन के अतिरिक्त प्रासंगिक अवसरों को छोड़ कर उनको और कुछ नहीं करना चाहिए।"

१२

१२. उसने कहा, "सॉक्रातीस्, वास्तव में तुम बड़े ही अभिनिविष्ट प्रतीत होते हो, परन्तु मैं समझता हूँ कि थ्रासीमाक़स् प्रभृति तुम्हारे अधिकांश श्रोतागण तुम्हारे विरोध में और भी अधिक अभिनिविष्ट हैं और तनिक भी समाहित अथवा आश्वस्त होने को तैयार नहीं हैं।"

मैंने कहा, "हम दोनों के, थ्रासीमाक़स् तथा मेरे, बीच फिर से कलह उपजाने का उद्योग मत करो, क्योंकि हम अभी अभी आपस में मेल और मित्रता स्थापित कर चुके हैं तथा इसके पूर्व भी हम कोई शत्रु नहीं थे।

क्योंकि हम तो तब तक कोई प्रयत्न उठा हीन रक्खेंगे जब तक या तो उस (थ्रासीमाक़स्) को एवं अन्य सब (श्रोताओं) को पूरा विश्वास उत्पन्न न करा दें अथवा ऐसी कोई सिद्धि प्राप्त न कर लें जो उनको प्राप्तव्य भावी जीवन में ऐसे ही विवेचनों के प्रस्तुत होने पर लाभदायक हो।"

उसने कहा, "तुम्हारी भविष्यवाणी भी क्या ही थोड़े से समय के लिये है।"

मैंने उत्तर दिया, "नहीं, अनन्तकाल की तुलना में तो यह समय नहीं के बराबर है। फिर भी, इन कथनों में विश्वास न करने की बहुजनों की प्रवृत्ति कुछ भी आश्चर्यकर नहीं है। क्यों कि यहाँ कही हुई बातों का प्रत्यक्षीकरण उन्होंने कभी किया ही नहीं है, बल्कि इसके स्थान पर) केवल बलात् कृत्रिम ढंग से ठूँसेठाँसे शब्दों और वाक्यांशों की तुकबंदी ही देखी है, ऐसे स्वाभाविक और आनुषंगिक विवेचन नहीं देखे हैं जैसा अब (यहाँ) चल रहा है। परन्तु किसी ऐसे मनुष्य (की आकृति) को जो वाचा और कर्मणा यथाशक्य साधुता की आत्मा के पूर्णतया समान एवं सदृश् है, एवं तदनुरूप नगर में शासन करता है, यह ऐसी बात है जो उन्होंने एक अथवा अनेक उदाहरणों में कभी नहीं देखी है। क्या तुम्हारे विचार में उन्होंने ऐसा देखा है ?"

"कदापि नहीं।"

"और न, मेरे प्रिय मित्र, वे कभी गंभीरतापूर्वक ऐसे पक्षपातशून्य एवं स्वतंत्र विवेचनों को सुनने के लिये प्रवृत्त हुए हैं, जिनकी एकमात्र चेष्टा ज्ञानप्राप्ति के निमित्त किसी भाव,सत्य की खोज हो,तथा जो उन सब बाल की खाल खींचने वाले शास्त्रार्थों एवं मिथ्या विवादों से (जो कि न्यायालयों और व्यक्तिगत वार्त्तालापों में चलते हैं,तथा जिनका फल केवल आभास और झगड़े उत्पन्न करना है), अलग रहते हैं और (उनको) दूर से ही नमस्कार करते हैं।"

उसने कहा, "नहीं, (उन्होंने) यह भी नहीं किया।"

मैंने कहा, "इसी कारण, और इसी बात को पहले से ही देख कर, हमने अपनी आशंका के होते हुए भी सत्य के अनुरोध से उस समय यह बात प्रकट की थी कि उस समय तक हमारे नगर, उनकी व्यवस्था एवं मनुष्य कोई भी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकेंगे जब तक कोई दैवयोग उन थोड़े से अविकृत शेष दार्शनिकों को (जिनके माथे इस समय निकम्मेपन का टीका लगा हुआ है)—चाहे वे ऐसा चाहे अथवा न चाहे—राष्ट्र के शासन का दायित्व ग्रहण करने के लिये विवश एवं नागरिकों को उनकी आज्ञा मानने के लिये बाधित नहीं कर देगा, अथवा, अन्यथा जब तक किसी दैवी अन्तःप्रेरणा से उन लोगों के पुत्र जो कि इस समय शासनशक्ति एवं राज्यत्व में अधिकृत है, अथवा वे स्वयं ही दर्शनशास्त्र के उत्कट अनुराग से आविष्ट नहीं हो जायेंगे। यह कहना (दावा करना) कि उपर्युक्त दोनों बातों में से कोई एक अथवा दोनों का घटित होना संभव नहीं हो सकता, मैं कहता हूँ, नितान्त अयुक्तियुक्त है। यदि ऐसा होता तब ही हमको दिवास्वप्न सी बातें कहने का परिहास पूर्ण दोष लगाना उचित होता। यही बात है न ?"

"ऐसा ही है।"

"तब तो यदि निरवधि भूतकाल में,अथवा वर्त्तमान काल में ही किसी बर्बर प्रदेश में जो कि हमारी दृष्टि से अगोचर है कोई श्रेष्ठ दार्शनिक स्वभाव वाला व्यक्ति राष्ट्र के शासन का दायित्व ग्रहण करने के लिये बाधित हुआ हो अथवा भविष्य काल में होवे तो हम अपने विवदमान सिद्धान्त के विषय में प्राणान्त तक शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हैं कि जब कभी यह दर्शनशास्त्र की देवी राष्ट्र में अधिकारिणी होगी तो जो शासन विधान हमने वर्णन किया है वह या तो वास्तविक व्यवहार में आया होगा, आ रहा है अथवा आयेगा। यह ऐसी बात नहीं है जिसका घटित होना

असंभव हो और न हम असंभव बातों के विषय में वार्तालाप ही कर रहे हैं। और यह हम भी स्वीकार करते हैं कि यह कार्य कठिन है।"

उसने कहा, "मुझे भी ऐसा लगता है।"

मैंने कहा, "परन्तु क्या तुम यह कहना चाहते हो कि बहुजनों का ऐसा विचार नहीं है ?"

उसने उत्तर दिया, "स्यात् ऐसा हो।"

मैंने कहा, "प्रिय मित्र, बहुजनों को इस प्रकार एकान्ततः दोष मत दो। यदि विवाद की भावना को त्याग कर उनको शान्त करते हुए एवं (उनके चित्त में बद्धमूल) विद्याप्रेम की निन्दा को दूर करने का उद्योग करते हुए तुम उनको यह बतलाओ कि दार्शनिक (विद्याप्रेमी) से तुम्हारा अभिप्राय किस व्यक्ति से है, तथा जिस प्रकार हमने अभी अभी उन (दार्शनिकों) के स्वभाव एवं व्यवहार का लक्षण-प्रतिपादन किया है उसी प्रकार उनको भी समझाओ, जिससे कि उनको यह ख़याल न हो सके कि तुम्हारा तात्पर्य भी उन्हीं व्यक्तियों से है जिनको वे (दार्शनिक) समझे हुए हैं, तो वे निश्चय ही अपनी राय बदल देंगे। अथवा, यदि वे लोग दार्शनिकों के प्रति ऐसी उदात्त (दृष्टि) रक्खेंगे, तो क्या तब भी तुम यह बात स्वीकार नहीं करोगे कि वे अपनी सम्मति बदल देंगे और दूसरी प्रकार से उत्तर देंगे ? या तुम्हारा यह विचार है कि यदि कोई व्यक्ति स्वयं ईर्ष्या रहित और मृदुल हो तो भी दूसरे व्यक्ति मृदुल के प्रति कठोर एवं ईर्ष्या रहित के प्रति ईर्ष्यालु होंगे ? मैं इस प्रश्न के तुम्हारे उत्तर को तुमसे पहले ही बतलाये देता हूँ और कहता हूँ कि ऐसा अविनम्र अथवा रूक्ष स्वभाव कुछ थोड़े से ही मनुष्यों में पाया जाता है अधिकांश मनुष्यों में नहीं।"

उसने कहा, "और मैं सर्वथा तुमसे सहमत हूँ।"

"और क्या तुम इस बात में भी मुझसे सहमत नहीं हो कि बहुजनों के दर्शनशास्त्र के प्रति इस रूक्ष भाव का दोष उस विप्लवी नाविकवर्ग

पर है जो कि उस वर्जित प्रदेश में अनधिकृत एवं अनिमंत्रित प्रवेश किये हुए हैं जहाँ उनका कोई संबंध नहीं है, एवं जो द्वेष भावना से परिपूर्ण होने के कारण परस्पर कलह करते रहते हैं, तथा सर्वदा व्यक्तियों की ही बात करते हैं—जो कि ऐसी बात है जो दर्शनशास्त्र के लिये सबसे कम शोभा देती है ?"

उसने उत्तर दिया, "सब से कम।"

१३

१३. क्योंकि, हे अदेईमान्तस्, निश्च ही जिस मनुष्य का मस्तिष्क वास्तव में शाश्वत तत्त्वों के चिन्तन में रमा रहता है उसको मनुष्यों के तुच्छ धन्धों पर दृष्टिपात करने और उनके साथ कलहों में जुटने तथा ईर्ष्या और घृणा से परिपूर्ण होने का अवसर ही नहीं मिलता, वह तो अपनी दृष्टि को नित्य एवं अपरिवर्त्तनशील कोटि की वस्तुओं पर ही स्थिरतापूर्वक लगाये रहता है, और यह देखते हुए कि वे (वस्तुएँ) न तो किसी अन्य को हानि पहुँचाती हैं और न उनको ही (अन्यों के द्वारा) हानि पहुँचायी जाती हैं, किन्तु विवेक के आदेशानुसार सब परस्पर हेलमेल (संवादिता, समन्वय) से रहती हैं, वह यही उद्योग करेगा कि (जहाँ तक हो सके) वह उनका अनुकरण करे, और जहाँ तक हो सके, अपने को उनके सदृश बनाये। अथवा, इसके विपरीत क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि किसी व्यक्ति के लिये उन वस्तुओं का अनुकरण न करना संभव है जिनमें वह (प्रशंसा करते हुए) आसक्त है ?"

उसने उत्तर दिया, "असंभव है।"

"तब तो विद्याप्रेमी (फिलासफ़र) दिव्य कोटिक्रम (सृष्टिक्रम) की संगति करते हुए स्वयं भी मानवोचित मर्यादा (या सीमा) तक दिव्य एवं सुव्यवस्थित (अथवा दिव्य व्यवस्थायुक्त) हो जायगा। पर निन्दा तो सर्वत्र ही ढेरों होती ही है।"

"बिल्कुल ठीक।"

मैंने कहा, "तब, यदि, उसके ऊपर केवल अपने को ही घड़ने और ढालने के लिये नहीं बल्कि अन्य मनुष्यों के स्वभाव को भी व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में उन दृष्टान्तों (उदाहरणों) से अंकित करने के लिये जो कि उसने (शाश्वत दिव्य जगत्) में देखे हैं, कुछ दबाव डाला जाय, तो क्या तुम्हारा यह ख्याल है, कि वह संयम, न्याय एवं अन्य प्रत्येक नागरिक गुण का मामूली सा शिल्पी सिद्ध होगा?"

उसने उत्तर दिया, "इस की अत्यन्त कम संभावना है।"

"अच्छा, यदि बहुजन को यह विदित हो जाये कि हम फिलासफरों के विषय में जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य है, तो क्या तब भी वे दार्शनिकों के प्रति रुष्ट बने रहेंगे, और क्या तब भी वे हमारे इस कथन पर भरोसा नहीं करेंगे कि जब तक किसी नगर की रूपरेखा उन कलाकारों द्वारा अंकित न की जाये जो कि दिव्य (—स्वर्गिक) आदर्श का अनुकरण करते (उपयोग करते) हैं तब तक कोई भी नगर धन्य (कृतकृत्य वा सुखी) नहीं हो सकता?"

उसने कहा, "यदि उनको इसका चेत हो जाये तो वे रुष्ट नहीं रहेंगे। पर जो चित्रांकन का विचार तुम्हारे मस्तिष्क में है उसका प्रकार तो मुझको बतलाइये।"

मैंने कहा, "नगर एवं मनुष्यों को चित्र फलक के रूप में स्वीकार करके वे प्रथम उसको मार्जन द्वारा स्वच्छ करेंगे—यह कोई सरल कार्य नहीं है। तथापि यह तो तुमको ज्ञात ही है कि साधारण सुधारकों से उनके कार्य में यह भेद का प्रथम विषय होगा कि वे व्यक्ति अथवा राष्ट्र के कार्य में तब तक हस्तक्षेप नहीं करेंगे और नियमनिर्माण नहीं करेंगे जब तक या तो उनको स्वच्छ चित्राधारफलक नहीं मिलेगा या वे स्वयं उसको स्वच्छ नहीं बना लेंगे।"

उसने कहा, "और उनका ऐसा करना ठीक होगा।"

"और तत्पश्तात्, क्या तुम नहीं समझते कि वे विधानव्यवस्था का रेखाचित्र प्रस्तुत करेंगे ?"

"क्यों नहीं ?"

"इसके उपरान्त, मैं ख्याल करता हूँ कि रेखाचित्र पूरण-कार्य में वे प्रायः उभय दिशाओं में दृष्टिपात करते हुए न्याय, सौन्दर्य, संयम एवं इसी प्रकार के अन्य गुणों के विशुद्ध तात्त्विक रूप की ओर देखेंगे और उसके पश्चात् पर्यायक्रम से उस पर दृष्टिपात करेंगे जिसको वे मानव जाति में अनुसृष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं, तथा इस प्रकार नानाविध व्यापारों (अथवा तत्त्वों या अध्ययनों) से सम्मिश्रण और संयोजन करते हुए मानव-वर्ण प्रतिकृति प्रस्तुत करेंगे, एवं उनकी आन्तरिक धारणा उस मूर्त्ति अथवा आकृति से परिगृहीत होगी जिसको मनुष्य जाति में प्रकट होने के समय होमर ने भी ईश्वर की मूर्त्ति अथवा प्रतिमा कह कर वर्णन किया है।" इ० १.१३१. ओ० ३.४१६

उसने कहा, "ठीक है।"

"और वे तब तक एक चिह्न को मिटा कर उसके स्थान पर दूसरा बनाते जायेंगे जब तक कि शक्य की मर्यादा के भीतर वे मानव चरित्रों को यथासंभव ईश्वर को प्रिय लगने वाला न बना दें।"

उसने कहा, "सचमुच ही यह परम सुन्दर चित्र होगा।"

मैंने पूछा, "तो क्या हम उन लोगों पर कोई प्रभाव उत्पन्न कर रहे (उनके हृदय पर छाप लगा रहे) हैं जो तुम्हारे कथनानुसार हम पर बल एवं वेगपूर्वक आक्रमण करने के लिये बढ़े आ रहे थे ? क्या हम उनके हृदय में यह विश्वास जमा सकते हैं कि इस प्रकार के विधान चित्रों के चितेरे की सत्ता उस व्यक्ति के रूप में है जिसकी हम उस समय प्रशंसा

कर रहे थे जब कि राष्ट्र को उसे सौंप देने के प्रस्ताव ने उन (हमारे विरोधियों) को क्रुद्ध कर दिया था तथा क्या वे अब हमारे इस प्रस्तुत कथन को सुन कर कुछ मृदुतर चित्तवाले हो गये हैं ?''

उसने उत्तर दिया, ''यदि उनमें कोई समझ है तब तो वे बहुत ही मृदुल-चित्त हो गये होंगे ।'

''वे भला इसका प्रतिवाद कर ही किस प्रकार सकते हैं ? क्या वे इस तथ्य का प्रत्याख्यान करेंगे (कर सकेंगे) कि विद्याप्रेमी यथार्थसत्ता एवं सत्य के प्रेमी होते हैं ?''

उसने कहा, ''ऐसा समझना तो परम उपहासास्पद होगा ।''

''अथवा क्या वे इस तत्त्व का प्रत्याख्यान करेंगे कि उनका स्वभाव, जैसा कि वह हमारे द्वारा चित्रित हुआ है उत्तम एवं श्रेष्ठ चरित्र के समान है ?

''यह भी नहीं कर सकते ।''

''अच्छा तो क्या वे यह बात अस्वीकार करेंगे कि इस प्रकार के स्वभाव वाला मनुष्य उचित प्रवृत्तियों में पोषित होकर (अनुकूल परिस्थितियों में स्थित हुआ) उस सीमा (मात्रा) तक पूर्णतया अच्छा एवं विद्याप्रेमी (दार्शनिक) होगा जितनी कि किसी भी व्यक्ति के विषय में कही जा सकती है ? अथवा वे यह कथन उन व्यक्तियों के विषय में कहेंगे जिनको हमने बहिष्कृत कर दिया है ?''

''निश्चय ही नहीं ।''

''तो क्या अब भी, जब हम यह कहेंगे कि जब तक शासनाधिकार दार्शनिक वर्ग के हाथ में नहीं आ जायेगा तब तक नगर और नागरिकों के कष्टों का अन्त नहीं होगा और न वह नगरनीति जिसको हमने शब्दों में कल्पित किया है क्रियात्मक रूप में वास्तविक हो सकेगी, वे हमारे प्रति उग्र ही बन रहेंगे ?''

उसने कहा, ''स्यात् कुछ कम उग्र हो जायेंगे ।''

"क्या कुछ कम उग्र होने की अपेक्षा हम यह नहीं कह सकते कि वे बिलकुल ही अपदस्थ और आश्वस्त हो गये हैं, जिससे कि यदि और किसी कारण नहीं तो केवल लज्जावश ही वे अपनी स्वीकृति देदें ?"

उसने कहा, 'सर्वथा तुम ऐसा कह सकते हो ।"

१४

१४. मैंने कहा, "तो हमको मान लेना चाहिये कि वे (हमारे प्रतिपक्षी) लोग इस राय से सहमत हो गये । क्या कोई यह अपवाद खड़ा करेगा कि राजाओं और शासकों की सन्तति का दार्शनिकों के स्वभाव सहित जन्म लेने का कोई संयोग ही नहीं हो सकता ?"

उसने उत्तर दिया, "एक भी ऐसा नहीं कहेगा ।"

"और क्या कोई यह सिद्ध कर सकता है कि यदि कोई (बच्चा) ऐसे स्वभाव वाला उत्पन्न भी हो तो वह अवश्यमेव पतित ही हो जाना चाहिये ? उनके उद्धार की कठिनता तो हमको भी मान्य है; परन्तु क्या कोई इस पक्ष का प्रतिपादन कर सकेगा कि सर्वकाल में ऐसे सब व्यक्तियों में से एक का भी उद्धार नहीं हो सकेगा ?"

"सो कैसे ?"

मैंने कहा, "परन्तु ऐसे एक व्यक्ति का भी प्रादुर्भाव (यदि उसका नगर उसका आज्ञापालक हो) उन सब बातों को संभव कर देने के लिये पर्याप्त है जो इस समय असंभव और अविश्वास के योग्य प्रतीत हो रही हैं ।"

उसने कहा, "हाँ, एक ही पर्याप्त है ।"

मैंने कहा, "क्योंकि यदि ऐसा शासक हमारे द्वारा वर्णित नियमों तथा प्रथाओं (संस्थाओं)को लागू करे तो निश्चय ही यह बात असंभव नहीं है कि नागरिक लोग उनके अनुसार काम करने के लिये राजी हों ।"

"कदापि नहीं।"

"तो फिर क्या अन्य लोगों का भी उसी सम्मति पर आ जाना जिस पर कि हम पहुँचे हैं तनिक भी अद्‌भुत अथवा असंभव बात होगी ?"

उसने कहा, "नहीं' मैं ऐसा नही, समझता।"

"और फिर, मैं ख़्याल करता हूँ कि यह बात तो पहले ही पर्याप्त-रूपेण स्पष्ट करके दिखला दी गयी है कि यदि यह सब (उपर्युक्त) बातें संभव हों तो सर्वोत्तम हैं।"

"हाँ, पर्याप्तरूपेण दिखला दी जा चुकी है।"

"तब तो इस नियम विधान के विषय में अब हमारी वर्त्तमान सम्मति यह है कि यदि हमारी योजना वास्तविकता प्राप्त कर सके तो सर्व-श्रेष्ठ योजना है और यह वास्तविकता की साधना कठिन है तथापि असंभव नहीं है।"

उसने कहा, "यही सम्मति (निर्णय) है।"

१५

१५. अतएव इस उद्देश्य के बड़ी कठिनाई और परिश्रम से सिद्ध हो जाने के पश्चात् अब हमको जो बातें शेष रह गयी हैं उनके विषय में कहना है——यथा, किस प्रकार से तथा किन अध्ययनों और अनुशीलनों के परिणाम स्वरूप यह विधान के रक्षक राष्ट्र के लिये उपलब्ध हो सकेंगे और किस वयस् में वे पृथक् अध्ययनों में संलग्न होंगे।"

उसने कहा, "हाँ, निश्चय ही अब हमको इसी विषय पर बातचीत करना है।"

मैंने कहा, "स्त्रियों पर अधिकार रखने और सन्तान उत्पन्न करने तथा शासकों को नियुक्त करने के अप्रिय एवं जटिल विषय को मैंने

पहले छोड़ दिया था क्योंकि मैं जानता था कि नितान्त सत्य और उचित मार्ग निन्दा की भावना को उत्पन्न करेगा और उसको वास्तविक स्वरूप प्रदान करना कठिन होगा; पर मेरी इस चतुराई से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि अब मुझको फिर यथावत् इसका विवेचन करने के लिये बाध्य होना पड़ा है। स्त्रियों और सन्तानों का विषय तो निबटाया जा चुका है, परन्तु शासकों की शिक्षा के विषय का तो पुनः आरम्भ से ही अन्वेषण (परीक्षण) किया जाना चाहिये। यदि तुम्हें स्मरण हो तो तुमको विदित होगा कि हम कह रहे थे कि सुख दुःख की कसौटी पर कसे जाने पर उन (शासकों) को अपने को राष्ट्र प्रेमी सिद्ध करना पड़ेगा तथा इस बात की प्रतीति करानी पड़ेगी कि वे परिश्रम के भार अथवा भय अथवा अन्य किसी भाग्य- विवर्त्तन में इस अटल श्रद्धा (राष्ट्रप्रेम) को नहीं त्यागेंगे, एवं जो कोई इसको अक्षुण्ण नहीं रख सकेगा उसको त्याग देना होगा और वह जो कि इस परीक्षण में, अग्नि में परीक्षित स्वर्ण के समान शुद्ध एवं अक्षत प्रकट हो उसी को शासक रूप में स्थापित किया जायेगा एवं उसी को जीवन में तथा मरण के उपरान्त सम्मान प्राप्त होगा एवं पुरस्कार भी। हम कुछ इसी प्रकार की बातचीत कर रहे थे, तभी हमारी विवेचना इस प्रस्तुत प्रश्न के छिड़ जाने के भय से अपना मुख छिपा कर सटक गई।"

उसने कहा, "आप बिल्कुल सत्य कहते हैं; मुझे ठीक ठीक याद है।"

मैंने कहा, "प्रिय मित्र, मैं उस समय उन धृष्ट शब्दों को कहने में सकुचा रहा था जिनको प्रकट करने के संकट को अब ओढ़ना पड़ा है। परन्तु अब तो मुझे साहस के साथ यह निर्णायक कथन कहने दिया जाय कि श्रेष्ठ और परिपूर्ण संरक्षकों के स्थान पर हमको दार्शनिकों (फिलास-फरों) को स्थापित करना चाहिये।"

उसने कहा, "हाँ, इसको कहा हुआ मान लीजिये।"

"यह भी बात ध्यान में रखनी चाहिये कि स्वाभाविकतया इन लोगों की संख्या बहुत थोड़ी होगी । क्यों कि उनके स्वभाव के विभिन्न गुण जो कि हमारे वर्णनानुसार उनकी शिक्षा के लिये पहले से चाहिये अत्यन्त विरलतया एकाधार में उपलब्ध होते हैं, पर प्रायः यह गुण पृथक् पृथक् पाये जाते हैं ।"

उसने कहा, "इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?"

यह तो तुम जानते ही हो कि प्रत्युत्पन्नमतित्व, अच्छी स्मृति, चतुरता, शीघ्र समझने की शक्ति एवं इन्हीं की अन्य सहचर सुवृत्तियाँ, यौवनसुलभ-स्फूर्त्ति, तथा आत्मौदार्य यह सब ऐसे गुण हैं जो मानव स्वभाव में नियमित, शान्त एवं स्थिर जीवन बिताने की प्रवृत्ति के साथ अत्यन्त विरलता के साथ सयुंक्त उपलब्ध होते हैं, इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति अपने स्वभाव की चपलता के कारण संयोगानुसार इतस्ततः दिग्भ्रान्त होते रहते हैं तथा समग्र स्थैर्य उनके जीवन से निकल जाता है।"

उसने कहा, "सत्य कहते हो ।"

"दूसरी ओर, धैर्यवान एवं स्थिर स्वभाव वाले व्यक्ति, जिन पर व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक भरोसा किया जा सकता है, एवं जो युद्ध में सरलता से भयभीत और विकम्पित नहीं होते, अध्ययन में प्रायः ऐसा ही करते हैं । उनको सरलता से सजग नहीं किया जा सकता वे कठिनता से सीखते हैं मानों जड़ित हो गये हैं, तथा जब कोई बुद्धिसंबंधी कार्य उनको करने के लिये दिया जाता है तो ऊँघने और जमुहाई लेने लगते हैं ।"

उसने कहा, "ऐसा ही है ।"

"पर हमने प्रतिपादन किया था कि किसी भी व्यक्ति में उपर्युक्त दोनों स्वभावों का वांछनीय एवं उचित संयोग होना चाहिये अन्यथा न तो उसको

निर्दिष्टतम शिक्षा में भाग लेना चाहिये, न सम्मान में और न शासन कार्य में।"

उसने कहा, ,"ठीक है।"

"और ऐसा स्वभावसंगम विरल होगा न ?"

"क्यों नहीं ?"

"तब तो उनका परीक्षण हमारे द्वारा पहले वर्णित कठिन श्रम,भय और आमोद में ही नहीं होना चाहिये,बल्कि अब हमको एक और परीक्षण बतलाना है जिसका हमने उस समय उल्लेख नहीं किया था, और वह यह कि उनको नाना प्रकार के ज्ञानाध्ययन व्यापार में भी अभ्यस्त करना चाहिये और यह निरीक्षण करना चहिये कि क्या उनका स्वभाव कठिनतम अध्ययन को सहन करने के योग्य है अथवा वह इस परीक्षण से इस प्रकार शिथिल एवं विचलित हो जाता है जैसे कि अन्य व्यक्ति दूसरे प्रकार के परीक्षणों और व्यायामों से शिथिल एवं विचलित हो जाते हैं।"

उसने कहा, "उनका इस प्रकार निरीक्षण करना योग्य ही है। पर यह बतलाइये कि उत्तम अध्ययन से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?"

— १६ —

१६. "मैं ख्याल करता हूँ कि तुमको स्मरण होगा, हमने मानवात्मा में तीन भेद करने के उपरान्त न्याय, संयम, वीरता और बुद्धिमत्ता के लक्षणों की पृथक् पृथक् स्थापना की थी।"

उसने कहा, "यदि मुझे याद न रहा हो तो मैं आगे के विवेचन को सुनने के योग्य नहीं हूँ।"

"क्या तुमको उसके पूर्व का भी कथन याद है ?"

"कौन सा ?"

"मुझे विश्वास है कि हम यह कह रहे थे कि इन बातों के परिपूर्ण विवेक के लिये एक दूसरा लम्बा मार्ग ग्रहण करना आवश्यक है एवं उस

मार्ग को ग्रहण करने वाले को वह मार्ग इन सब तथ्यों को स्पष्ट कर देगा; परन्तु फिर भी इस विषय में पूर्वोक्त विवेचन की कोटि की ही सर्वगम्य उपपत्तियाँ उपस्थित कर देना भी संभव है। और तुमने कहा था कि इतना (यही) पर्याप्त होगा, बस इसी समझौते के कारण ही वह कथन प्रस्तुत किया गया था, जो मेरी समझ में तो पूर्ण यथार्थता से घट कर थापर यदि उससे तुम संतुष्ट हो गये हो तो तुम वैसा कहो।"

उसने कहा, "मुझको वह पर्याप्त मात्रा में संतोषप्रद था और दूसरों को भी संतोषप्रद था एसा लगता है ।"

मैंने कहा, "परन्तु मित्र इस विषय में वह मात्रा (माप) जो कि पूर्ण सत्य से लेशमात्र भी कम होती है उचित अथवा पर्याप्त मात्रा नहीं होती (हो सकती) क्योंकि कोई भी अपूर्ण वस्तु किसी वस्तु की माप नहीं हो सकती, यद्यपि लोग कभी कभी यह ख्याल करने लगते हैं कि बस (पर्याप्त माथापच्ची) हो चुकी और आगे अनुसंधान की आवश्यकता नहीं है ।"

उसने कहा, "हाँ, सचमुच यही बात है, बहुतों का आलस्य के कारण ऐसा अनुभव होता है ।"

मैंने कहा, "परन्तु यह एक ऐसा अनुभव है जो किसी राष्ट्र और उसके नियमों के संरक्षकोंको सबसे कम शोभा देता है ।"

उसने कहा, "ऐंसा ही है ।"

मैंने कहा, "तब तो मित्र, ऐसे व्यक्ति को लम्बे मार्ग से घूम कर जाना चाहिये एवं शारीरिक व्यायाम की अपेक्षा अपने अध्ययन में कदापि भी कम परिश्रम नहीं करना चाहिये । अन्यथा जैसा अभी हम कह रहे थे, वह उस सर्वोच्च ज्ञान (अध्ययन) को कदापि प्राप्त नहीं होगा जो कि सर्वाधिक मुख्यतया उसकी अपनी वृत्ति है ।

उसने पूछा, "क्यों, क्या वही सर्वोत्तम तत्त्व नहीं है किन्तु न्याय एवं अन्य वर्णित गुणों से भी महत्तर कोई तत्त्व है ?"

मैंने उत्तर दिया, "सो तो है ही । पर इतना ही नहीं, किन्तु इन तत्त्वों की भी रूपरेखा मात्र का चिन्तन करना चाहिये, जैसा कि हम अब (तक करते) रहे हैं, परन्तु हमको उनके परिपूर्ण और यथार्थ अंकन में कुछ भी कसर नहीं छोड़नी चाहिये । अन्यथा अन्य तुच्छ महत्त्व की वस्तुओं के विषय में परिपूर्ण यथार्थता एवं ज्ञान की स्पष्टता प्राप्त करने के लिये यथा साध्य पूरापूरा परिश्रम करना किन्तु सर्वोत्तम वस्तुओं के विषय में सबसे अधिक यथातथ्यता की माँग न करना क्या उपहासास्पद बात नहीं होगी ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, ऐसा ही है, यह अत्यन्त श्रेष्ठ भावना है । परन्तुक्या तुम यह ख्याल करते हो कि कोई तुमसे यह बिना पूछे छोड़ देगा कि वह सर्वोच्च ज्ञान (अध्ययन) क्या है और उसका संबंध किससे है ?"

मैंने कहा, "कदापि नहीं । तुम चाहो तो पूछो । निश्चय ही तुम इस बात को प्रायः सुन चुके हो, पर इस समय या तो तुम इसको समझे नहीं हो और या मेरी युक्ति का विरोध करके तुम मेरे लिये बखेड़ा खड़ा करने का विचार रखते हो । मैं समझता हूँ कि दूसरी बात अधिक ठीक है । क्योंकि यह बात तुम प्रायः सुन चुके हो कि सत् का स्वरूप सर्वोच्च जानने योग्य (ज्ञान) वस्तु है एवं उचित (न्याय) वस्तुएँ और शेष अन्य वस्तुएँ इसी के उपयोग से उपयोगी और लाभदायक होती हैं । मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि तुम यह जानते हो कि मैं इसी के विषय में बोलने वाला हूँ और आगे यह कहने वाला हूँ कि हमको इसका सम्यक् ज्ञान नहीं है । तथा यदि हम इसको न जानते हो तो चाहे हम इस सत् के ज्ञान के बिना हम अन्य सब वस्तुओं को कितना ही भली प्रकार क्यों न जानते हों तो भी वह ज्ञान किसी काम का नहीं होगा, जिस प्रकार सत की प्राप्ति

के बिना अन्य सब प्राप्तियाँ (अधिकार) भी किसी काम की नहीं होतीं। अथवा, क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि सत् को छोड़ कर अन्य सब वस्तुओं को स्वायत्त करना कोई लाभ है अथवा सुन्दर और सत् के विषय में कुछ न जानते हुए, सत् से पृथक् (विलग) अन्य सब वस्तुओं को जानना कुछ लाभप्रद है ?"

उसने उत्तर दिया, "देव की सौगन्ध मेरा ऐसा विचार नहीं है।"

१७

परन्तु इसके अतिरिक्त तम यह भी जानते हो कि बहुजन तो हृद्य को (प्रिय क.) ही सत् मानते ह और उत्तम बुद्धि वाले लोग बुद्धि अथवा ज्ञान को ही सत् मानते हैं।"

"क्यों नहीं ?"

"और प्रिय मित्र, यह भी तुमको विदित ही है कि यह दूसरी सम्मति वाले लोग यह नहीं बतला सकते कि यह बुद्धि अथवा ज्ञान है क्या, और अन्त में वे यही कहने के लिये विवश हो जाते हैं यह बुद्धि अथवा ज्ञान सत् की बुद्धि अथवा सत् का ज्ञान है।"

उसने कहा, "और यह कितनी अधिक हास्यास्पद बात है।"

मैंने कहा, "हाँ, यह कितनी असंगत बात है कि हमको सत् के विषय में अज्ञान रहने पर उलाहना देते हुए वे तत्काल मुड़ कर हमसे ऐसी बातें करने लगते हैं कि मानों हम उसको जानते हों। क्योंकि वे कहते हैं कि उनका ज्ञान सत् का ज्ञान है, मानों उनके सत् शब्द के उच्चारण मात्र से हम उनका तात्पर्य समझ गये हों।"

उसने कहा, "बिलकुल सत्य बात है।"

'अच्छा, फिर यह लोग, जो कि सत् की परिभाषा हृद्य (प्रिय) शब्द द्वारा उपस्थित करते हैं,इन दूसरे लोगों की अपेक्षा विचार मूढ़ता से कुछ कम संक्रान्त हैं ? या क्या वे भी उन्हीं के समान यह मानने को विवश

नहीं कर दिये जाते कि प्रेय आनन्द कुछ बुरी प्रकार के (असत्प्रेय) भी होते हैं ?"

"पूर्ण निश्चयेव ।"

"मैं समझता हूँ कि इसका परिणाम यह हुआ कि वे एक ही वस्तु को अच्छा और बुरा दोनों स्वीकार करते हैं । क्यों है या नहीं ?"

"सत्य है ।"

"तो क्या यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है कि इसके विषय में प्राय: बहुत से विकट विवाद होते हैं ?"

"क्यों नहीं ?"

"और लीजिये, क्या यह भी स्पष्ट नहीं है कि जब कि न्याय्य और सम्मान्य के विषय में बहुत से लोग व्यवहार (action) अधिकार और सम्मति में यथार्थता के बिना आभास को ही अच्छा समझते हैं, सत् के प्रसंग में कोई भी आभास मात्र से संतुष्ट नहीं होता, सब यथार्थता की ही खोज करते हैं और इस विषय में सभी आभास का तिरस्कार करते हैं ।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक ।"

"तो वह वस्तु जिसका प्रत्येक व्यक्ति अनुसंधान करता है, तथा जो कुछ करता है उसी के निमित्त करता है, और यह सब इस अन्तर्ज्ञान के विश्वास पर करता है कि वह वास्तविक सत्य है पर तो भी इसके स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझने में अथवा इसके विषय में अन्य वस्तुओं के समान स्थायी आस्था प्राप्त करने में भग्नाश ही रहता है और इसी कारण अन्य वस्तुओं से भी संभव लाभ पाने में असफल रहता है—जो वस्तु ऐसे लक्षण और महत्त्व वाली है, मैं तुमसे पूछता हूँ क्या उसके विषय में हम उन श्रेष्ठ नागरिकों में, ऐसी ही अन्धता और अज्ञान रहने दे सकते हैं, जिनके हाथों में हमको सर्वस्व सौंपना है ?"

उसने कहा, "सबसे कम (ऐसा होने देंगे) ।"

मैंने कहा, "कुछ भी हो, मैं तो यह ख्याल करता हूँ कि यदि सुन्दर और उचित (न्याय्य) के विषय में भी यह ज्ञात न हो कि उनका सत् से क्या संबंध एवं संपर्क (वे किस प्रकार सत्) है तो उनके विषय में अज्ञान व्यक्ति उनक अधिक योग्य रक्षक नहीं हो सकता और मुझे तो यह सन्देह है कि सत् को जानने से पहले कोई भी व्यक्ति उन (सुन्दर और उचित या न्याय्य) को भी नहीं समझ सकेगा।"

उसने कहा, "तुम्हारा सन्देह ठीक ही है।"

"तब तो हमारी राष्ट्र व्यवस्था का परिपूर्ण और सुनिर्णीत संघटन तभी होगा न जब कि ऐसा संरक्षक उसकी चौकसी करने वाला होगा जो इन बातों को जानता है ?"

– १८ –

१८. उसने कहा, "अवश्यमेव। परन्तु सॉक्रातीस्, तुम स्वयं क्या ज्ञान को सत् समझते हो अथवा प्रेय को अथवा इन दोनों से भिन्न किसी अन्य वस्तु को ?"

मैंने कहा, "क्या खूब आदमी हो जी; मैं तो कभी से यह जानता हूँ कि तुम इस विषय में अन्य मनुष्यों के विचारों से सन्तुष्ट नहीं होगे।"।

उसने कहा, "सॉक्रातीस्, मुझको भी यह उचित नहीं प्रतीत होता कि कोई मनुष्य, जिसने (तुम्हारे समान) इतने दीर्घकाल तक इस विषय क चिन्तन किया हो, अपनी सम्मति न दे कर दूसरों की ही सम्मति कहने के लये प्रस्तुत रहे।"

मैंने कहा, "पर तब क्या तुम अज्ञात वस्तुओं के विषय में सज्ञान के समान बातचीत करना उचित समझते हो ?"

उसने उत्तर दिया, "ज्ञानवान् के समान तो कदापि नहीं, परन्तु तो भी अपनी सम्मति को सम्मति रूप में व्यक्त करने को तैयार रहना मैं उचित समझता हूँ।"

मैंने कहा, 'नहीं, क्या तुमने यह नहीं देखा है कि विज्ञान से निरस्त सम्मतियाँ भद्दी होती हैं ? अच्छी से अच्छी होने पर भी ऐसी सम्मतियाँ अन्धी होती हैं। अथवा क्या तुम्हारा यह विचार है कि जो लोग सद्बुद्धि के बिना भी सत्सम्मतिवान् होते हैं वे उन अन्धे मनुष्यों से कुछ बढ़ कर हैं जो ठीक राह पर चलते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "उनमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता।"

"तो क्या, जब कि तुम दूसरों की ऐसी बातों को सुन सकते हो जो प्रकाशमय और सुन्दर हैं, तब भी क्या तुम कुरूप बातों का चिन्तन करना अधिक पसन्द करोगे, उन बातों का जो कि अन्धी कुरूप और वक्रांग हैं ?"

ग्लौकोन् न कहा, "हे सॉक्रातीस्, भगवान के नाम पर, लक्ष्य को पहुँचते पहुँचते अब मत मुड़ो। क्योंकि यदि तुम सत् की भी ऐसी ही व्याख्या कर दोगे जिस प्रकार कि तुमने न्याय संयम एवं अन्य सद्गुणों की की है तो हमको सन्तोष हो जाएगा।"

मैंने कहा, "प्रिय मित्र, तुम्हारे ही समान में भी बिलकुल सन्तुष्ट हो जाऊँगा, पर मुझे यह भय है कि कहीं मेरी शक्ति जवाब न दे बैठे तथा कहीं मेरी मूढोचित उत्कण्ठा मुझको परिहासका पात्र न बना दे और मैं काठ का उल्लू न प्रतीत होऊँ। नहीं, मेरे प्यारे, इस समय तो सत् के यथार्थ स्वरूप के विवेचन को एक ओर छोड़ देना चाहिये; क्योंकि आज मेरी उड़ान जिस अन्तः प्रेरणा के बल पर भरी जा रही है, सत् के मेरी कल्पना के स्वरूप को उपलब्ध करना उसकी शक्ति की पहुँच से अधिक ऊँचा है। परन्तु जो सत् की सन्तान (प्रजा) के तुल्य लगता है तथा बहुत कुछ (लगभग) उसकी प्रतिभा के समीपतम है उसके विषय में, यदि आप लोग भी चाहते हों तो, मैं बोलने के लिये इच्छुक हूँ, अन्यथा नहीं।"

उसने कहा, "अच्छा बोलते चलिये, क्योंकि पिता के विवरण का ऋण तुम फिर आगे चुका दोगे।

वह देखा जा सकता है उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता जब कि दूसरे वर्ग की वस्तु (अर्थात् आइडिया) चिन्तन का विषय हो सकती है देखी नहीं ज सकती ।"

"बिलकुल यही बात है।"

"तो दृश्यमान वस्तुओं को हम अपनी किस इन्द्रिय से देखते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "दृष्टि (नेत्र) से ।"

मैंने कहा, "तथा क्या हम श्रोत्रेन्द्रिय से सुनने एवं अन्य इन्द्रियों से अन्य सब इन्द्रियगोचर पदार्थों को प्रत्यक्ष करने का काम नहीं करते ?"

"क्यों नहीं ?"

मैंने कहा, "क्या तुमने कभी इस बात का भी विचार किया है कि इन्द्रियों के स्रष्टा ने दर्शन और दृश्य की शक्ति अथवा इन्द्रिय पर कितना अधिकतम व्यय किया है ?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं मैंने कभी विचारा ।"

"अच्छा तो इस विषय का इस प्रकार विचार करो । क्या श्रोत्र और वाक् को इसलिये किसी अन्य वस्तु (माध्यम) की आवश्यकता होती है कि श्रवण सुन सकें और श्रोतव्य सुना जा सके तथा इस तीसरे तत्त्व की (माध्यम) की अनुपस्थिति (अभाव) में श्रवण सुन न सकें और श्रोतव्य सुना न जा सके ?"

उसने कहा, "किसी वस्तु (माध्यम) की आवश्यकता नहीं होती ।"

मैंने कहा, "मेरा ख्याल है कि इसी प्रकार अन्य किसी भी इन्द्रिय को माध्यम की आवश्यकता स्यात् ही होती हो । अथवा तुमको कोई ऐसी इन्द्रिय का पता है (जिसको माध्यम की आवश्यकता होती है) ?"

उसन उत्तर दिया, "नहीं, मुझे पता नहीं ।"

"परन्तु क्या तुम नहीं देखते कि दृष्टि और दश्य को इस अतिरिक्त वस्तु की आवश्यकता होती है ?"

"कैसे ?"

"यद्यपि दृगों में दृष्टि (दर्शन शक्तिं) हो तथा दृष्टा (दृष्टि का स्वामी) उसका उपयोग करने का इच्छुक भी हो, और यद्यपि रंग भी (पदार्थं में) वर्त्तमान हो तथापि तीसरी प्रकार की वस्तु की उपस्थिति के बिना, जो कि इस विशेष कार्य के लिये स्वाभाविकतया (नियुक्त) है, तुमको ज्ञात ही है कि दृष्टि कुछ देख नहीं सकेगी एवं रंग भी अदृश्य ही रहेंगे।"

उसने पूछा, "वह कौन सी वस्तु है जिसके विषय में आप यह कह रहे हैं ?"

मैंने उत्तर दिया, "यह वह वस्तु है जिसको तुम प्रकाश कहते हो।

उसने कहा, "आप सत्य कहते हैं।"

"तब तो, यदि प्रकाश तिरस्कार के योग्य न हो तो वह योग (बन्ध) जो कि दृश्यमत्ता को दृष्टि से जोड़ता (बाँधता) है उस योग (बन्ध) की अपेक्षा जो कि अन्य जोड़ों (युग्मों) को जोड़ते (बाँधते) हैं कहीं अधिक मूल्यवान् है।"

उसने कहा '"निश्चय ही प्रकाश कदापि तिरस्कार के योग्य नहीं है।"

१९

"इस (प्रकाश) तत्त्व के कर्त्ता और दाता के रूप में तुम आकाश के किस देवता का नाम बतला सकते हो ? यह किसका प्रकाश है जो हमारी दृष्टि को इतना उत्तम प्रकार से देखने योग्य और दृश्य पदार्थों को देखे जाने योग्य बनाता है ?"

उसने उत्तर दिया, "वह वस्तु जिससे तुम्हारा और अन्य लोगों का भी अभिप्राय है एक ही है, क्योंकि तुम्हारे प्रश्न का स्पष्ट संकेत सूर्य की ओर है।"

"तो क्या दृष्टि और इस देवता का संबंध वही ऐसा (निम्नलिखित) नहीं है?"

"कैसा?"

"न तो दृष्टि और न नेत्र जो कि दृष्टि का आश्रय कहलाते हैं, दोनों में से कोई भी सूर्य से अभिन्न नहीं हैं।"

"कदापि नहीं है।"

"परन्तु, मेरा ख्याल है कि सब इन्द्रियों के मध्य में यह नेत्रेन्द्रिय सूर्य के सदृशतम है।"

"अत्यधिक सदृश है।"

"और क्या वह शक्ति जो कि नेत्र को प्राप्त है उसको सूर्य के उमड़ते हुए प्रवाह के रूप में ही मानों प्राप्त नहीं हुई है?"

"बिलकुल ऐसा ही हैं।"

"क्या यह भी सत्य नहीं है कि सूर्य और दृष्टि एक ही वस्तु नहीं है, तथापि दृष्टि का कारण होते हुए वह स्वयं दृष्टि के द्वारा देखा जाता है?"

उसने उत्तर दिया, "यही बात है।"

"तो बस तुमको समझ लेना चाहिए कि सत् के पुत्र से मेरा अभिप्राय इसी (सूर्य) से था जिसको सत् ने कुछ कुछ अपनी अनुकृति (प्रतिमा) के रूप में जना है; बुद्धि क्षेत्र में सत् एवं विवेक तथा विवेक के विषयों के बीच जो सम्बन्ध है वही संबंध दृश्य जगत् में इस सूर्य एवं दृष्टि तथा दृष्टि के विषयों के मध्य में है।"

उसने कहा, "ऐसा क्यों कर है? इसको कुछ अधिक स्पष्ट कीजिये।"

मैंने कहा, "यह तो तुम जानते ही हो कि जब नेत्र ऐसे पदार्थों पर पड़ते हैं जिनपर अभी दिन का प्रकाश नहीं पड़ रहा है बल्कि रात्रि की धुंधली ज्योतियों चन्द्र और तारों का ही प्रकाश पड़ रहा है तो वह स्वयं

धुंधले या प्रायः अन्धे हो जाते हैं और ऐसा लगता है मानो वे दृक्शक्ति के आश्रय ही न हों।"

उसने कहा, "यह मैं भली भाँति जानता हूँ।"

"पर जब वे उन पदार्थों पर पड़ते हैं जो कि सूर्य से आलोकित हैं तो मैं समझता हूँ कि वे स्पष्टतया देख पाते हैं और उन्हीं नेत्रों में दृक्शक्ति रहती प्रतीत होने लगती है।"

"क्यों नहीं?"

"इस तुलना को आत्मा के संबंध में भी इस प्रकार घटित करो। जब आत्मा सत्य एवं वास्तविकता के चमकीले प्रकाश से आलोकित क्षेत्र में दृढ़ता (स्थिरता) पूर्वक अवस्थित होती है तो समझ सकती और ज्ञान प्राप्त कर सकती है तथा विवेकवान् प्रतीत होती हैं; परन्तु जब उस क्षेत्र की ओर झुकती है जो कि तमसावच्छिन्न है—अर्थात् संभूति और विनाश के (world of becoming and passing away) के संसार की ओर झुकती है तो इसको आभासमात्र की उपलब्धि होती है और इसकी गति कुंठित हो जाती है, तथा यह अपनी आभासमतियों को भी इतस्ततः दोलायमान करती रहती है और ऐसा लगता है मानो वह विवेक शून्य हो।"

"ऐसा ही है।"

"तब तो उस (शक्ति अथवा यथार्थ सत्ता) को जो ज्ञात विषयों को तन्निष्ठ सत्य प्रदान करती है एवं ज्ञाता को जानने की शक्ति प्रदान करती है, तुमको सत् का आइडिया (आकार, तत्त्व) समझना (या) कहना चाहिए, तथा इसको ज्ञान एवं सत्य का (जहाँ तक कि सत्य ज्ञान का विषय हो सकता है) उद्भव (कारण) समझना चाहिए। और यद्यपि ज्ञान एवं सत्य दोनों ही सुन्दर हैं, तथापि इस (सत्तत्त्व) को उन दोनों से अधिकतर सुन्दर विचार (कल्पना) करके तुम उसके विषय में सम्यक्

विचार कर सकोगे। ठीक जिस प्रकार हमारे उदाहरण में प्रकाश और दृष्टि को सूर्यसदृश समझना समुचित है, किन्तु वे सूर्य ही हैं ऐसा समझना कदापि ठीक नहीं है इसी प्रकार यहाँ भी (प्रकाश और दृष्टि) के प्रतिनिधियों (ज्ञान और सत्य) को सत्तत्व सदृश समझना तो ठीक है परन्तु उनमें से एक एक को भी यह समझना कि वह सत् है, गलत है। इसके विपरीत सत् के गुण को तो इससे भी कहीं ऊँचा सम्मान अधिगत होना चाहिए।"

उसने कहा, "यदि यह सत्तत्व ज्ञान और सत्य का उद्गम है तथा स्वरूपतया सौन्दर्य में उनसे भी बढ़ कर है तब तो (यह कहना चाहिए) कि तुम अचिन्त्य सौन्दर्य की बात कह रहे हो। क्योंकि निश्चय ही तुम्हारा तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि वह (सत्तत्व) आनंद (प्रेय) है।"

मैंने कहा, "चुप रहो जी, उसकी क्या चर्चा। परन्तु इस दृष्टान्त का इस प्रकार से और आगे परीक्षण करो।"

"किस प्रकार?"

"मैं ख्याल करता हूँ कि तुम यह कहोगे कि सूर्य सब दृश्य पदार्थों को केवल दृश्यता ही प्रदान नहीं करता बल्कि प्रजनन, पोषण और परिवर्द्धन भी प्रदान करता है यद्यपि वह स्वयं प्रजनन (शक्ति सम्पन्न) नहीं है।"

"अवश्य ही नहीं है।"

"इसी प्रकार तुमको यह भी कहना होगा कि ज्ञान के विषय सत् की सत्ता से केवल अपना ज्ञातत्व ही नहीं पाते, किन्तु उसकी सत्ता एवं मूलसार तक उनको उसी से उपलब्ध होता है यद्यपि सत् सारतत्व नहीं है प्रत्युत सारसत्ता से महिमा और अतिशायी शक्ति में कहीं अतिगामी है।"

२०

इस पर ग्लौकोन ने अत्यन्त परिहासपूर्णता के साथ कहा, "अहर्पति (अपोलो) की सौगन्ध, क्या ही दिव्य अतिशयोक्ति है।"

मैंने कहा, "ठीक है, पर इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए मुझे विवश करने का दोष तो तुम्हारे ही सिर पर है।"

उसने कहा, "तथापि आप रुकिये नहीं, यदि आप को कोई बात कहने को शेष रह गयी हो तो कम से कम सूर्य के दृष्टान्त की तो व्याख्या कर ही दीजिये।"

मैंने कहा, "निश्चय ही अभी तो मैं बहुत सी बातें छोड़े जा रहा हूँ।"

उसने कहा, "अच्छा तो लेशमात्र भी कहने से न छोड़िये।"

मैंने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि मुझे बहुत कुछ कहने से छोड़ना पड़ेगा परन्तु फिर भी जहाँ तक इस समय कह सकना संभव है मैं स्वेच्छा से कोई बात अवशिष्ट नहीं रखूंगा।"

उसने कहा, "हाँ, कृपया न रखिये।"

मैंने कहा, "तो तुम कल्पना करो (कि जैसा हम कह रहे थे) कि (संसार में) ये दो शक्तियाँ है और उनमें से एक बुद्धिगम्य व्यवस्था और प्रदेश के ऊपर प्रभुता रखती है एवं दूसरी अक्षिगोलक के (दिखलाई देने वाले) जगत् पर प्रभुता रखती है। मैं आकाशगोलक (खगोलक) की बात इसलिए नहीं करता कि तुम यह समझोगे कि मैं शब्दों की खिलवाड़ कर रहा हूँ। निश्चय ही तुम दोनों प्रकारों को समझ गये न?—एक दृष्टिगम्य, दूसरा बुद्धिगम्य।"

"हाँ समझ गया।"

"तो उनको अपनी कल्पना में एक ऐसी रेखा के रूप में निरूपित करो जो दो असमान भागों में विभक्त है, इनमें से प्रत्येक भाग को पुनः पूर्ववत् अनुपात में काटो (दृश्यमान् जगत् के खण्ड को भी एवं बुद्धिगम्य

खण्ड को भी) और तब यदि इन खण्डों को उनकी तुलनात्मक स्पष्टता एवं अस्पष्टता को अभिव्यक्त करने वाला मानों तो तुम परिदृश्यमान जगत् के एक खण्ड को प्रतिकृति (images) समझ सकते हो। प्रतिकृति अथवा प्रतिमा से प्रथम तो मेरा तात्पर्य छाया से है एवं द्वितीयतः जल में या ठोस, चिकने चमकीले पदार्थों में (दर्पण तुल्य पदार्थों में) प्रतिफलित प्रतिबिम्ब से एवं (यदि तुम समझ सको तो) इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं से है।"

"हाँ, मैं समझता हूँ।"

"द्वितीय खण्ड के रूप में उस (पदार्थ समूह) की कल्पना करो जिसकी यह (प्रथम खण्ड) प्रतिकृति या प्रतिच्छाया है—अर्थात् हमारे चारों ओर के पशु, सारे वृक्ष वनस्पति तथा मानव निर्मित सकल वस्तु समूह।"

उसने कहा, "मैं ऐसा ही माने लेता हूँ।"

मैंने कहा, "क्या तुम यह भी कहना स्वीकार करोगे कि वास्तविकता और सत्य अथवा उसके विपरीत गुण के संबंध में विभाजन इस अनुपात से सूचित होता है कि आभास्य का ज्ञेय से जो संबंध है वही संबंध प्रतिविम्ब से विम्ब का है?"

उसने कहा, "हाँ, एवं निश्चयपूर्वक स्वीकार करूँगा।"

"अच्छा तो अब इस बात का विचार करो कि हम बुद्धिगम्य पदार्थों वाले खण्ड का विभाजन किस प्रकार से करें।"

"कहिये किस प्रकार से?"

"इस प्रभेद के द्वारा कि इसका खंड ऐसा है कि जिसकी खोज (अन्वेषण) करने के लिए आत्मा पूर्ववर्ती विभाग में अनुकृत वस्तुओं को प्रतिकृति मान कर चलने के लिए बाध्य हो जाता है, तथा ऐसी मान्यताओं के द्वारा जिनसे कि वह (आत्मा) ऊपर की ओर आरंभिक तत्व की दिशा में नहीं जाता परन्तु नीचे निर्णय (निष्कर्ष) की ओर जाता है; जब कि

इसका दूसरा खंड ऐसा है जिसमें यह (आत्मा) अपनी मान्यता (assumption) से ऐसे आरंभ अथवा मूलतत्व की ओर अग्रसर होती है जो कि मान्यता से अतीत है, तथा दूसरे खंड में व्यवहृत प्रतिकृतियों का यह (आत्मा) कोई उपयोग नहीं करती केवल मूलाकृतियों (ideas) का आश्रय लेकर सुव्यवस्थित रूप से उन्हीं मूलाकृतियों में प्रगति करती है।"

उसने कहा, "मैं आपके कथन का तात्पर्य सम्यक् प्रकार से नहीं समझा।"

मैंने कहा, "अच्छा, मैं फिर से प्रयत्न करूँगा। कुछ प्रारंभिक वक्तव्य के पश्चात तुम मेरी बात और भी अच्छी प्रकार से समझ सकोगे। क्योंकि मैं ख्याल करता हूँ कि यह तो तुमको विदित ही है कि भूमिति शास्त्र और गणित शास्त्र एवं इसी प्रकार के अन्य विषयों के विद्यार्थी सर्व प्रथम विषम और सम संख्यायें, तथा विविध प्रकार की आकृतियाँ, तीन प्रकार के कोण एवं उसी जाति की अन्य वस्तुओं को अपने विज्ञान की प्रत्येक शाखा में प्रस्थापित (postulate) करते हैं। इनको वे ज्ञात मानते हैं, अपने प्रति अथवा अन्य लोगों के प्रति इनका इससे अधिक विवरण प्रस्तुत करने का कष्ट स्वीकार नहीं करते, तथा यह तथ्य सर्ववादिसम्मत मान लेते हैं कि यह वस्तुएं सब के लिए स्वतः स्पष्ट (स्वयं सिद्ध) हैं। इनसे आरंभ कर के वे इसके आगे अपने अन्वेषण का अविरोधेन अनुसरण करते हुए उस निर्णय पर (निष्कर्षपर) जा पहुँचते हैं जिसका अन्वेषण करने के लिए उन्होंने प्रस्थान किया था (या वे चले थे)।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक; यह तो मुझको विदित है।"

"और तब क्या तुम यह भी नहीं जानते कि वे इन परिदृश्यमान आकृतियों का और भी उपयोग करते हैं और उनके विषय में (बहुत कुछ) चर्चा करते हैं, यद्यपि वे उनके विषय में विचार नहीं कर रहे

होते बल्कि उन वस्तुओं के विषय में विचार कर रहे होते हैं जिनकी यह आकृतियाँ प्रतिकृति हैं, वे वर्ग के आत्मस्वरूप एवं कर्ण के आत्मस्वरूप के निमित्त अपने अन्वेषण का अनुसंधान करते हैं उसकी उस प्रतिकृति के निमित्त नहीं जिसको कि उन्होंने खींचा है ? ऐसी ही अन्य अवस्थाओं में भी होता है। उन्हीं वस्तुओं को, जिनको कि साँचे में ढाल कर बनाते (घड़ते) अथवा खींचते हैं, जिनकी छाया होती है और जिनका जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वे अब (इस बार) केवल प्रतिकृति के रूप में काम में लाते हैं, परन्तु जिस वस्तु की वास्तव में खोज है वह उन वास्तविक तथ्यों का दर्शन है जो कि केवल बुद्धि के द्वारा देखी जा सकती हैं।"

उसने कहा, "सत्य है।"

२१

"इसी वस्तु वर्ग को मैंने बुद्धिगम्य कह कर वर्णन किया था यद्यपि इस कथन में यह बात अन्तर्निहित थी कि प्रथम तो इसके अन्वेषण में आत्मा को मान्यताओं को काम में लाने के लिए बाध्य होना पड़ता है तथा वह आरम्भिक तत्व की ओर इसलिए प्रगति नहीं कर पाती क्योंकि वह इन मान्यताओं की उलझन से अपने को छुड़ाने और उनसे ऊपर उठने में असमर्थ रहती (होती) है। दूसरे यह कि वह स्वयं उन्हीं पदार्थों को प्रतिकृति अथवा सदृशकृति के रूप में काम में लाती है जो नीचे के वर्ग के द्वारा स्वयं अनुकृत अथवा प्रतिबिम्बत होते हैं, एवं जो इन (निचले वर्ग की वस्तुओं की) तुलना में अधिक स्पष्ट और मूल्यवान (सम्मान्य) समझे जाते हैं।

उसने कहा, "मैं समझता हूँ कि तुम भूमिति शास्त्र एवं उसी की जाति के अन्य शिल्पों के विषय क्षेत्र के विषय में बोल रहे हो।"

"तो, बुद्धिगम्य खण्ड के दूसरे विभाग से मेरा तात्पर्य तुमको उस वस्तु ज्ञान से समझना चाहिए जिसको विवेक (logos)

हेतुविद्या (तर्क विद्या) की शक्ति से ग्रहण करता है, तथा जिसमें वह मान्यताओं (hypotheses) को प्रारंभिक तथ्य के रूप में उपयोग नहीं करता बल्कि विशुद्ध (केवल) मान्यता के रूप में उपयोग में लाता है--अर्थात् उसे पैर रखने, सहारा लेने या उछलने के स्थान के रूप में उपयोग करता है कि जिससे यह ऊपर उठ कर अथवा उछल कर उस तत्व तक पहुँच सके जो सब मान्यताओं से परे है तथा सब कुछ का आदि उद्गम है, तथा उस तक पहुँच कर एवं उस पर अवलम्बित प्रथम तत्वों को ग्रहण करके वह इस प्रकार क्रमशः नीचे की ओर उतरते हुए (किसी) निर्णय (अथवा निष्कर्ष) पर पहुँचता है और इस प्रक्रिया में इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों का कोई उपयोग नहीं करता, बल्कि केवल (शुद्ध) भावों (ideas) का ही उपयोग करता है, उन्हीं के बीच गमन करता हुआ एक भाव से दूसरे भाव की ओर जाता है और उन्हीं में अन्त में प्रक्रिया को अवसित कर देता है।"

उसने कहा, "मैं तुम्हारी बात पूर्णतया नहीं समझा, क्योंकि तुम तो मुझको ऐसा कार्य वर्णन करते प्रतीत होते हो जो मामूली सी बात नहीं है, परन्तु कम से कम इतना तो मैं अवश्य समझता हूँ कि तुम्हारा तात्पर्य वास्तविक सत्ता तथा बुद्धिगम्य ज्ञान के क्षेत्र का स्पष्ट पृथक् वर्णन करना है, जिसका चिन्तन हेतु विद्या की शक्ति के द्वारा किया जाता है तथा तुम उनका ऐसा निरूपण करना चाहते हो जो अन्य ऐसी तथाकथित कलाओं और विद्याओं के विषयों से अधिक सत्य एवं सुनिश्चित हैं, जिनका आरंभ विन्दु उनकी मान्याएँ मात्र हैं। और यद्यपि, यह सत्य है कि जो लोग इनका चिन्तन करते हैं वे अपनी बुद्धि का उपयोग करने के लिए बाधित होते हैं, इन्द्रियों का नहीं तथापि क्योंकि वे मान्यता से आरंभ करके अपने अनुसंधान में आरंभिक तत्व (तथ्य) की ओर अग्रसर नहीं होते, अतएव तुम यह नहीं सोचते कि वे उनके विषय में उच्च (शुद्ध) विवेक का उपयोग करते

हैं, यद्यपि वे वस्तुएँ प्राथमिक तत्व के साथ (संयोग में) समझे जाने पर स्वयं बुद्धि (विवेक) गम्य हैं। एवं मैं ख्याल करता हूँ कि तुम भूमितिवेत्ताओं एवं उनके सदृश लोगों की मानसिक प्रवृत्ति को समझ (सम्बुद्धि) कहते हो, विवेक नहीं कहते क्योंकि तुम समझ को आभासज्ञान एवं विवेक के मध्यवर्तिनी वस्तु समझते हो।"

मैंने कहा, "तुम्हारी अवगति बिलकुल संतोषप्रद है (पर्याप्त है)। और अब इन चार खण्डों की प्रतिनिधि, (कीसंवादिनी) आत्मा में पाई जाने वाली चार अवस्थाएँ मान लो—सर्वोच्च खण्ड के जोड़ का विवेक, दूसरे खण्ड की जोड़ की समझ, तीसरे के जोड़ म आस्था को रक्खो, और अन्तिम के जोड़ में कल्पना (छाया कल्पना) को रक्खो, तथा यह विचार करते हुए इनको समनुपात में क्रमव्यवस्थित करो कि वे उसी मात्रा में स्पष्टता और सुनिश्चितता की भागिनी होती हैं जितनी मात्रा में उनके विषय सत्य और वास्तविकता के भागी होते हैं।"

उसने कहा, "मैं समझ गया: मैं तुमसे बिलकुल सहमत हूँ और उनको इसी क्रम में स्थापित करता हूँ।"

सप्तम पुस्तक

१

१. मैंने कहा, "इसके पश्चात् शिक्षा तथा शिक्षा के अभाव के संबंध में हमारे स्वभाव की तुलना इस (निम्नोक्त) अनुभव से करो। कल्पना करो कि (कुछ) मनुष्य एक प्रकार की भूगर्भस्थित गुफा में निवास कर रहे हैं, इस गुफा का मुख जो कि गुफा की समग्र लंबाई तक फैला है, प्रकाश की ओर खुला हुआ है। खयाल करो कि बाल्यकाल से ही उनकी गर्दनें और पैर जकड़ कर बँधे हुए हैं, जिससे वे एक ही ठौर पड़े रहते हैं केवल अपने सामने की ही ओर देख सकते हैं, क्योंकि वे बन्धनों के कारण अपना शिर तक घुमाने (मोड़ने में) अस-

मर्थ हैं (अथवा क्योंकि उनके बन्धन उनको शिर घुमाने से रोकते हैं)। इसके आगे कल्पना करो कि उनके पीछे कुछ दूरी पर कुछ ऊपर की ओर एक प्रज्वलित अग्नि का प्रकाश आ रहा है, तथा अग्नि और इन बन्दियों के मध्य में एक ऊँचा उठा हुआ मार्ग है जिसके बराबर एक नीची दीवार बनी हुई है, जैसी भीत या ओट पुतली का खेल दिखाने वाले अपने दर्शकों के सामने बना लेते हैं जिसके ऊपर वे अपना तमाशा दिखलाया करते हैं।

उसने कहा, "मैं (यह सब अपनी कल्पना में) देख रहा हूँ।"

"तो दीवार के परे सब प्रकार के उपकरणों को, मनुष्यों की प्रतिमाओं को तथा मनुष्यों की आकृतियों को भी ले जाते हुए (कल्पना में) देखो, यह वस्तुएँ दीवाल से ऊपर उठी हुई हैं तथा पत्थर, लकड़ी एवं अन्य प्रकार के उपकरणों से निर्मित हैं। इन मनुष्यों में से कुछ बीतचीत कर रहे हैं, कुछ चुप हैं।"

उसने कहा, "यह तो तुम अनोखे कल्पना चित्र और विचित्र बन्दियों का वर्णन कर रहे हो।"

मैंने उत्तर दिया, "वे (बिलकुल) हमारे ही सदृश हैं, क्योंकि पहले तो तुम मुझे यह बतलाओ कि क्या ये आदमी अपने तथा एक दूसरे के विषय में उन परछाइयों के अतिरिक्त कुछ और देख पाए होंगे जोकि अग्नि (के प्रकाश) से गुफा की सामने की भीत पर प्रति फलित होती है?"

उसने उत्तर दिया, "यदि वे आजीवन अपने शिर को अविचलित रखने के लिये बाध्य कर दिये गये हों, तो वे ऐसा कैसे कर सके होंगे।'

"पुनश्च, क्या जो पदार्थ उनके पीछे ले जाये जा रहे हैं उनके विषय में भी यह बात सत्य नहीं होगी?"

"क्यों नहीं?"

"तो यदि वे परस्पर वार्तालाप करने की क्षमता रखते हों तो क्या

तुम यह नहीं सोचोगे कि अपने द्वारा देखे हुए पदार्थों का नाम लेने में वे यही ख्याल करेंगे कि वे वास्तव में गतिमान पदार्थों का नाम ले रहे हैं ?"

"अवश्यमेव ।"

"और, यदि किसी आने जाने वाले के कुछ ध्वनि करने पर उनके बन्दी-गृह में उनके सामने की दीवार से प्रतिध्वनि उत्पन्न हुआ करती, तो क्या तुम ख्याल करते कि वे सामने की दीवार पर चलने वाली छाया के अतिरिक्त अन्य किसी को बोलने वाला कल्पना करते ?"

उसने उत्तर दिया, "भगवान की सौगन्द, मैं ऐसा ख्याल नहीं करता।"

तब तो ऐसे बन्दी लोग प्रत्येक प्रकार से वास्तविकता सत्य को कृत्रिम पदार्थों की परछाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझेंगे ।"

उसने कहा, "पूर्णतया अवश्यमेव ।"

मैंने कहा, "अब इस बात का विचार करो कि संसृति चक्र के गति चक्र में यदि उनका बन्धन मोचन हो जाय तो इन बन्धनों और इस मूर्खता से उनके छुटकारे और स्वास्थ्य लाभ का क्या प्रकार होगा। मानलो उनमें से कोई एक बन्धनों से मुक्त किया गया और एकदम खड़े होकर, शिर घुमा कर चलने तथा प्रकाश की ओर अपनी दृष्टि उठाने को विवश किया गया और यह सब करने में उसने पीड़ा का अनुभव किया, एवं प्रकाश की चका-चौंध और चमक के कारण वह उन पदार्थों को पृथक् पृथक् पहचानने में अस-मर्थ रहा जिसकी परछाई उसने पहले देखी थी, तब यदि किसी ने उस से कहा कि तुमने पहले जो कुछ देखा था वह सब प्रवंचना और माया थी तो इस पर तुम्हारे ख्याल में उसका उत्तर इसके अतिरिक्त और क्या होगा कि अब सत्य (वास्तविकता) के अधिक समीप होने एवं अधिक सत्य (वास्त-विक) पदार्थों के अभिमुख होने से यह अधिक सत्य देख सका है ? और यदि कोई उसको गतिशील पदार्थों को अंगुलिनिर्देश पूर्वक दिखला कर, प्रश्नों के द्वारा उसको यह बतलाने के लिये विवश कर दे कि यह क्या है

तो क्या तुम यह ख्याल नहीं करते कि वह हक्का बक्का रह जायगा एवं जो कुछ उसने पहले देखा था उसको उन वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत्य समझेगा जो कि उसको अब दिखलाई जा रही हैं ?"

उसने कहा, "कहीं अधिक सत्य समझेगा ।"

२

२. और यदि वह स्वयं प्रकाश को ही देखने के लिये वाध्य कर दिया जाय तो क्या इससे उसकी आँखें दुखने नहीं लगेंगी और क्या वह मुख मोड़ कर उन्हीं वस्तुओं की ओर नहीं दौड़ेगा (शरण में नहीं जायगा) जिनको वह स्पष्टतया देख सकता है, तथा क्या वह उनको सचमुच ही उन वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और सुनिश्चित (exact) नहीं मानेगा जो कि उसको अब दिखलाई जा रही हैं ?

उसने कहा, "यही बात है ।"

मैंने कहा, "और यदि कोई उसको बलात् वहाँ से घसीट कर कर्कश कठोर दुरारोह चढ़ाई पर से लेजाय और तब तक उसको न छोड़े जब तक कि उसको सूर्य के प्रकाश में खींच कर न ले आये, तब क्या तुम ख्याल नहीं करोगे कि इस प्रकार घसीटा जाना उसको पीड़ाप्रद प्रतीत होगा और इस पर उसको रोष आयेगा, एवं जब वह निकल कर बाहर प्रकाश में आयेगा तो उसकी आँखें उसकी किरणों से ऐसी चौंधिया जायेंगी कि वह उन वस्तुओं में से एक भी नहीं देख सकेगा जो कि अब सत्य या वास्तविक कही जाती हैं?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, एकदम तो नहीं देख सकेगा ।"

"मैं समझता हूँ कि ऊपर की दुनियाँ की वस्तुओं को देखने के योग्य होने के लिये अभ्यस्त होने की आवश्यकता होगी। पहले पहल वह परछाँई को ही अत्यधिक सरलता से पहचान सकेगा, तदुपरान्त प्रतिमाओं और जल में प्रतिफलित मनुष्यों एवं अन्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बों को पहचानेगा, इसके

पश्चात् स्वयं वस्तुओं को, एवं इनसे वह आगे बढ़कर आकाशस्थ रूपवर्गों एवं स्वयं आकाश का चिन्तन करेगा पर इस कार्य में वह दिन में सूर्य और सूर्य के प्रकाश को देखने की अपेक्षा, रात्रिमें तारों और चन्द्रमा के प्रकाश को देखते हुए, अधिक सरलता का अनुभव करेगा।"

"क्यों नहीं?"

"और मैं खयाल करता हूँ, कि सबसे अन्त में वह स्वयं सूर्य को ही देखने में समर्थ हो जायगा, तब वह उसके सत्य स्वरूप को जल में प्रतिबिम्ब अथवा किसी विजातीय पदार्थ में प्रतिफलित विकृत अभिव्यक्तियों के द्वारा नहीं देखेगा, प्रत्युत स्वयं उसी के द्वारा उसके स्वस्थान में उसके यथार्थ रूप को देखेगा।"

उसने कहा, "अवश्यमेव।"

"और इसके पश्चात वह तर्कणा करके यह निष्कर्ष निकालेगा कि यह (सूर्य) ही वह (वस्तु) है जो कि ऋतुओं तथा संवत्सर चक्र का प्रविधान करता है, परिदृश्यमान गोचर क्षेत्र में सब वस्तुओं पर प्रभुत्व रखता है तथा किसी एक प्रकार से उन सब वस्तुओं का कारण है जो उन सब (उसने तथा उसके साथियों) ने देखी थीं।

उसने कहा, "स्पष्ट ही इसके पश्चात् उसका अगला कदम यही होगा।"

"अच्छा, तब यदि वह अपने पुरातन स्थान को याद करेगा और उन बातों को भी याद करेगा जो वहाँ बुद्धिमत्ता समझी जाती थीं, एवं अपने बन्दी साथियों को स्मरण करेगा, तो क्या तुम्हारा ख्याल यह नहीं है कि वह इस परिवर्तन के लिये अपने को सुखी मानेगा और उनके प्रति करुणा प्रकट करेगा?"

सचमुच "ऐसा ही करेगा।"

"और यदि उन बन्दी लोगों में परस्पर सम्मान और प्रशंसा प्रदान करने की रीति हो तथा उन मनुष्यों को पुरस्कार देने का नियम हो जो

गतिशील परछाइयों को समझने में त्वरित बुद्धि हों, तथा उनके विधि-विहित पूर्वगामित्व अनुगामित्व एवं यौगपत्य को सबसे अच्छा याद रखनें में समर्थ हों एवं इसी कारण यह अनुमान लगाने म सब से अधिक सफल हों कि आगे क्या आनेवाला है, तो क्या तुम ख़्याल करते हो कि वह इन पुरस्कारों के विषय में अत्युत्सुक होगा, तथा उन लोगों से ईर्ष्या अथवा स्पर्धा करेगा जो कि इन बन्दी लोगों से समादृत होते और उन पर प्रभुता चलाते हैं, अथवा होमेर की तरह अनुभव करते हुए पृथ्वी पर अपने जीवनकाल में इन मनुष्यों के समान सम्मति रखने और इन्हीं के समान जीवन यापन करने की अपेक्षा किसी अकिंचन स्वामी का भूमिहारा दास होना एवं कुछ भी सहना कहीं अच्छा समझेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, मैं समझता हूँ इस प्रकार के जीवन की अपेक्षा वह कुछ भी (यातना) सहना वरण करेगा।"

मैंने कहा, "एवं यह बात भी विचार कर लो। यदि ऐसा व्यक्ति पुनः नीचे उतर कर अपनी पुरानी जगह जा पहुँचे तो इस प्रकार एकाएक सूर्य के प्रकाश से आने के कारण क्या उसकी आँखें अंधकार से नहीं भर जायेंगी।"

उसने कहा, "निश्चयमेव ऐसा ही होगा।"

"अब जब कि उसकी दृष्टि अभी धुँधली ही हो और उसकी आँख अंधेरे की अभ्यस्त न हुई हों (तथा अभ्यस्त होने के लिये जो समय लगेगा वह बहुत थोड़ा तो होगा नहीं) उसके पूर्व ही यदि उसको इन सनातन बन्दियों के साथ इन परछाइयों के मूल्यांकन में प्रतिस्पर्धा करनी पड़े तो क्या वह उपहासास्पद नहीं बन जायगा, और क्या उसके विषय में यह नहीं कहा जायेगा कि वह ऊपर की यात्रा से अपनी आँखें गँवा कर लौटा है एवं ऊपर जाने का उद्योग करना नितान्त निकम्मी बात है ? और यदि, जो आदमी उनको मुक्त करके ऊपर ले जाने का उद्योग करता है, उसको पकड़

कर अपने वश में कर लेना और मार डालना सम्भव हो तो क्या वे उसको मार नहीं डालेंगे ?"

उसने उत्तर दिया "बलात्कार वे से ऐसा करेंगे ।"

३

३. मैंने कहा, "प्रिय ग्लौकोन इस समग्र दृष्टान्त को हमको अपने विगत कथन पर घटित करना चाहिये, दृष्टि के द्वारा दिखलाई देने वाले गोचर क्षेत्र की समानता बन्दीगृह से करनी चाहिये तथा, उसमें के अग्नि के प्रकाश की समानता सूर्य की शक्ति से । और यदि तुम ऊपर की यात्रा एवं ऊपर की वस्तुओं के चिन्तन से आत्मा का बुद्धिगम्य क्षेत्र में आरोहण का अर्थ मान लो तो तुम मेरी अटकल को ग्रहण करने में नहीं चूकोगे क्योंकि तुम उसको सुनना चाहते हो । पर यह भगवान ही जानें कि यह सत्य है अथवा नहीं । किन्तु, यह जैसा भी हो, परन्तु जो भासमान (phonomena) तथ्य जैसा मुझको सूझ पड़ता है वह यह है कि ज्ञात वस्तुओं के क्षेत्र में (ज्ञानक्षेत्र में) सबसे अन्त में और सबसे कठिनता से दीख पड़ने वाली चीज़ है यह सत् की भावना या विचार, और जब यह दष्टिगोचर हो जाता है तो अवश्यमेव हमको इस निष्कर्ष की ओर निर्देश करता है कि सर्वत्र सब वस्तुओं में जो कुछ भी साधु एवं सुन्दर है उसका कारण यही है,—इस दृश्य जगत् में प्रकाश और प्रकाश के स्वामी (सूर्य) को यही जन्म देने वाला है, तथा बुद्धिगम्य लोक में स्वतः सत्य एवं विवेक का अव्यवहित उद्गम है—जिस किसी को भी व्यक्तिगत जीवन में अथवा सार्वजनिक जीवन में बुद्धिमत्ता से काम करना हो उसको इस पर अपनी दृष्टि डालनी चाहिये ।"

उसने कहा, "जहाँ तक मेरी (समझने की) सामर्थ्य है मैं तुमसे सहमत हूँ ।"

मैंने कहा, "तो आओ, मेरे साथ इस एक और बात में सहमत हो जाओ और आश्चर्य चकित न हो कि जो इस उच्चता को प्राप्त कर चुके हैं, वे मानवीय धन्धों में अपने को व्यापृत करने के लिये इच्छुक नहीं होते, किन्तु उनकी आत्मा नित्य उर्ध्वगामी प्रेरणा का अनुभव करती रहती है और उस उर्ध्वलोकगामिनी यात्रा के लिये उत्कण्ठित रहती है। क्योंकि म तो यह ख्याल करता हूँ कि यदि इस विषय में भी हमारे दृष्टान्त की सदृशता ठीक हो, तो ऐसा (होना) नितान्त संभवपर है।"

उसने कहा, "मैं (भी) ऐसा मानता हूँ।"

मैंने कहा, "और फिर, यदि उस आदमी, को जो दिव्य चिन्तनसे मानवीय हीनता की ओर लौट कर आया है अन्धकार में चौंधियाई हुई आँखों को टिमटिमाते हुए, चारों ओर परिवृत्त अन्धकार के अभ्यस्त होने के पूर्व न्यायालयों अथवा अन्य स्थानों में न्याय की छाया अथवा छायाजनक प्रतिमाओं के विषय में विवाद करने को बाधित होना पड़े और शास्त्रार्थ में इस प्रकार की वस्तुओं के विषय में उन लोगों की मनोगत धारणाओं का वादविरोध करना पड़े जिन्होंने कभी न्याय के वास्तविक स्वरूप की झलक नहीं देखी है एवं वह बुद्धू प्रतीत हो और उपहासास्पद बने तो क्या तुमको यह कोई आश्चर्यजनक बात प्रतीत होगी ?"

उसने उत्तर दिया. "मुझे यह बात किसी प्रकार भी आश्चर्यजनक नहीं लगेगी।"

मैंने कहा, "किन्तु समझदार आदमी यह याद रक्खेगा कि दृष्टि-विप्लव दो स्पष्ट प्रकार का होता है तथा दो कारणों से उत्पन्न होता है—अर्थात् एकदम प्रकाश से अन्धकार में जाने से या अन्धकार से प्रकाश में जाने से। तथा यह विश्वास रखते हुए कि, यही बात जीवात्मा के संबंध में भी घटित होती है, वह जब कभी किसी जीव को व्यग्रतापन्न, एवं वस्तुओं के विवेक में असमर्थ देखता है तो वह उस पर बेसमझेबूझे हँसेगा नहीं,

बल्कि यह परीक्षण करेगा कि क्या इसकी दृष्टि प्रकाशमय जीवन से अनभ्यस्त अंधकार में आने के कारण अन्धीकृत हो गयी है अथवा अज्ञान के गहरे अन्धकार से अधिक प्रकाशमय जगत् में प्रवेश करने के कारण प्रकाशाधिक्य ने उसकी दृष्टि को चौंधिया दिया है। और तब वह प्रथम को उसके अनुभव और जीवनमार्ग के कारण सुखी समझेगा (संवर्धना करेगा) और दूसरे के प्रति करुणा का अनुभव करेगा, और यदि उसकी मौज उस (दूसरी कोटि के जीव) पर हँसने की ही हुई तो उसकी हँसी, प्रकाश के उर्द्ध्वधाम से अवतीर्ण आत्मा की हँसी उड़ाने की अपेक्षा कम उपहास के योग्य होगी।"

उसने कहा, "आप का कथन ठीक ठीक नपातुला है।"

४

४. मैंने कहा, "यदि यह सत्य है, तो इन विषयों में हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप वह नहीं है जो कि कुछ लोग अपने प्रतिपादनों में बतलाते हैं। उनका जो कहना है वह तो यह है कि वे ज्ञानशून्य आत्मा में ज्ञान की स्थापना (संचार) कर सकते हैं, (मानों जैसे वे अन्धी आँखों में दृष्टि का आधान कर रहे हों)।"

उसने कहा, "वे सचमुच ऐसा ही करते हैं।"

मैंने कहा, "किन्तु हमारी प्रस्तुत युक्ति यह सूचित करती है कि आत्मा के अन्दर रहने वाली इस शक्ति, तथा उस इन्द्रिय (organan) का (जिससे हम में से प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान ग्रहण करता है) सच्चा उपमान नेत्रेन्द्रिय है जो कि बिना सारे शरीर को घुमाये हुए अन्धकार से प्रकाश की ओर नहीं फेरी जा सकती। ठीक इसी प्रकार यह ज्ञानग्राही इंद्रिय भी समग्र आत्मा के साथ ही भवजाल से (रंगमंच के दृश्य बदलने वाले चक्रों के सदृश्) यहाँ तक फेरी जानी चाहिये कि आत्मा सत्लोक

के सार एवं उज्ज्वलतम धाम के दर्शनचिन्तन को सह सकने में समर्थ हो सके । और हमारा कहना है कि यही सत् (agathon) है; क्यों है न ?"

"हाँ ।"

मैंने कहा, "तो इस प्रक्रिया की कोई कला (Texne) हो सकती है, जो कि आत्मा का शीघ्रतम एवं सर्वाधिक प्रभावशाली परिवर्त्तन प्रस्तुत करने वाली हो न कि उसमें दृष्टि उत्पन्न करने वाली । किन्तु यह कला यह मानकर चलती है कि आत्मा को दृष्टि तो प्राप्त है लेकिन वह उसको उस दिशा में फेर नहीं रही है जिसमें कि उसको उसे मोड़ना चाहिये । बस कला यही (दृष्टि संक्रान्ति) करने वाली हो ।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसा होना संभव है ।"

"अतः आत्मा के अन्य तथाकथित गुण तो शरीर के गुणों के सजातीय से प्रतीत होते हैं । क्योंकि यह सत्य है कि जहाँ वे पहले से ही उपस्थित नहीं होते वहाँ भी वे बाद को अभ्यास और आदत से प्रस्तुत किये जा सकते हैं । किन्तु बुद्धिमत्ता अथवा विवेक का गुण, इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत होता है, कि निश्चयमेव अपेक्षाकृत अधिक दिव्यगुण वाला है, अपनी शक्ति को कदापि नहीं खोता है, किन्तु परिवर्त्तन की दिशा के अनुसार या तो उपयोगी और लाभदायक हो जाता है या फिर निकम्मा और हानिप्रद हो जाता है । जो मनुष्य सामान्य लोगों द्वारा चतुर धूर्त्त कहलाते हैं, क्या तुमने उनके विषय में यह नहीं देखा है कि इन लघु आत्माओं की दृष्टि कैसी तीक्ष्ण होती है, जो वस्तुएँ उनके स्वार्थानुकूल होती हैं उनको यह दृष्टि कितनी शीघ्रता से ताड़ लेती है यह सब इसका प्रमाण है कि इस आत्मा की दृष्टि असमर्थ (दीन) नहीं है किन्तु बलात्कार (ज़बरदस्ती) से बुराईकी सेवा (दासता) में जोत दी गई है, और इसीलिये ऐसी आत्मा की दृष्टि जितनी ही अधिक तीक्ष्ण होती है उतनी ही अधिक धर्त्तता करने में वह सफल होती है ?"

उसने कहा, "निश्चयमेव ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "अच्छा अब यह विचार करो, यदि ऐसी आत्मा का स्वभाव बचपन से ही मानों (ठोक पीट कर) उन सीसे के से भारों से विमुक्त कर दिया जाता जो कि जन्म से ही उससे चिपटे रहते हैं, तथा जो खान-पान तथा इसी प्रकार के अन्य आमोदों एवं पेटूपने के द्वारा उस आत्मा से लिप्त होकर उसकी दृष्टि को निम्नगामिनी बना देते हैं—मैं कहता हूँ कि यदि इन (भारों) से मुक्त होकर, वह आत्मा उन पदार्थों की ओर परिवर्त्तित कर दी गयी होती जो वास्तविक और सत्य हैं तो उसी मनुष्य की वही शक्ति उच्च पदार्थों के दर्शन में भी उतनी ही तीक्ष्ण होती ठीक जितनी उन पदार्थों के दर्शन में है जिनकी ओर वह इस समय मुड़ी हुई है।"

उसने कहा, "यह सम्भवपर है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्या जो कुछ कहा जा चुका है उसका सम्भव-पर और आवश्यक परिणाम यह नहीं है कि न तो वे मनुष्य ही औचित्य के साथ नगरराष्ट्र के अधिरक्षक बनाये जा सकते हैं जो कि सत्य के विषय में अशिक्षित एवं अनभिज्ञ हैं और न वे जो कि संस्कृति के अनुसरण में (जीवन के) अन्त तक लगे रहने दिये गये हैं—एक (पहले) इसलिये नहीं, क्योंकि उनके जीवन का ऐसा कोई एक लक्ष्य अथवा उद्देश्य ही नहीं है जिसकी ओर उनके सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत कार्यों की गतिविधि हो सके, दूसरे इसलिये नहीं क्योंकि वे तो यह विश्वास करते हुए कि वे जीवित दशा में पुण्यवानों के द्वीपों में पहुँच गये हैं, (अर्थात् जीवन्मुक्त हैं) कभी स्वेच्छा से (बिना बाध्य किये हुए) कुछ कर्म नहीं करेंगे ?"

उसने कहा, "सच है।"

मैंने कहा, "तब तो नगरराष्ट्र के संस्थापक हम लोगों का यह कर्त्तव्य है कि हम श्रेष्ठ स्वभाव वाले व्यक्तियों को उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये विवश कर दें जिसको हमने सर्वोत्तम कह कर निर्दिष्ट किया है—

अर्थात् सत् के दर्शन की उपलब्धि के लिये उनको उस-चढ़ाई का आरोहण करने के लिये बाधित करें, तथा जब वे उस उच्चता के शिखर पर आरूढ़ हो कर (सत् का) समुचित दर्शन कर चुकें तो उनको वैसा न करने दें जैसा कि अब करने दिया जाता है।"

"वह क्या ?"

मैंने कहा, "यही कि वे वही विरम जाएँ तथा नीचे उतर कर उन बन्दी लोगों के मध्य में जाकर उनके श्रम और सम्मान में (चाहें वह अल्प-मूल्य वाले हों चाहे बहुमूल्य) साझा करने से इन्कार कर दें।"

उसने पूछा, "तो क्या (आप का अभिप्राय यह है कि) हम उनको यह हानि पहुँचाएँ तथा जब कि वे उच्चतर जीवनयापन करने की योग्यता रखते हैं तो उनको हीनतर जीवन व्यतीत करने के लिये विवश करें ?

५

५. मैंनकहा, "मित्र, तुम फिर यह बात भूल गये कि नियम (क़ानून) को नगर राष्ट्र में किसी वर्ग के विशिष्ट सुख की चिन्ता नहीं होती; वह सारे नगर में इस अवस्था (सुख) को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है; इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वह नागरिकों को समझाबुझा कर एवं बाध्य करके परस्पर मेल मिलाप के सूत्र में आबद्ध करता हैऔर उनसे यह आकांक्षा करता है कि वे पृथक् पृथक् जो लाभ व्यक्तिशः समग्र समाज को प्रदान करने के योग्य हैं एक दूसरे को पहुँचाएँ, तथा वह स्वयंराष्ट्रमें ऐसे (उच्च) मनुष्यों की सृष्टि इस निमित्त करता हैं कि राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने में उनका उपयोग करें न कि वह प्रत्येक व्यक्ति को मनमाना मार्ग ग्रहण करने दे।"

उसने कहा, "सत्य है, मैं भूल गया था।"

मैंने कहा, "तो ग्लौकोन तुम देखो कि हम उन फिलासफरों की कोई हानि तो नहीं करते बल्कि उनको अन्य नागरिकों के आरक्षक बन कर उनकी

व्यवस्था का भार स्वीकार करने के लिये बाधित करने के अपने कार्य का औचित्य भी सिद्ध कर सकते हैं। हम उनको समझायेंगे कि अन्य नगरों में उत्पन्न हुए तुम सरीखे मनुष्यों का वहाँ के उद्यमों में भागीदार न होना स्वाभाविक ही है। क्यों कि अनेकों राष्ट्रों में ऐसे व्यक्ति वहाँ की शासन व्यवस्था की संकल्प शक्ति के बिना आत्मतः ही विकसित होते हैं, तथा आत्मपुष्ट व्यक्ति के लिये, जो कि अपने भरणपोषण के लिये किसी का ऋणी नहीं है, यह न्यायोचित है कि वह भी अपने शिक्षणावेक्षण का मूल्य किसी को चुकाने के लिये सोत्साह न हो। पर तुमको तो हमने तुम्हारे और शेष नगर के दोनों के लिये ही राजमक्षिका एवं मधुचक्र के नायक जैसा बनने के लिये जन्म दिया है। तुमने अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक अच्छी और अधिक पूर्ण शिक्षा पायी है, तथा तुम उभय प्रकार के जीवन कर्मों में भागीदार होने के अधिक योग्य हो। अतएव तुममें से प्रत्येक को बारी बारी से अन्य जनसाधारण की बस्तियों में अवश्य उतर कर जाना चाहिये, और वहाँ की तमसावृत वस्तुओं के निरीक्षण करने का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि एक बार उनके (देखने) पहचानने के अभ्यस्त हो जाने पर तुम उनको वहाँ के निवासियों की अपेक्षा दश हज़ार बार अधिक अच्छी प्रकार देख सकोगे, तुम जान लोगे कि प्रत्येक प्रतिमा क्या है और किसके सदृश है, क्योंकि तुमने सुन्दर, न्याय्य और सत् के सत्य (की यथार्थता) को देख लिया है। और इस प्रकार हमारा नगर, हमारे और तुम्हारे द्वारा जागरूक बुद्धि द्वारा शासित होगा; वह अधिकांश ऐसे आजकल के अन्य नगरों के तुल्य नहीं होगा जो कि तमसावृत से हुए स्वप्नदृष्ट जनों द्वारा अधिवासित और शासित हो रहे हैं, और यह लोग परस्पर परछाइयों के लिये लड़ते हैं और पदों के लिये कलह करते हैं मानों वह सर्वोत्कृष्ट वरदान हों; जब कि सत्य यह है कि सबसे श्रेष्ठ शासित और सब प्रकार के (कलहों) द्वन्द्वों से मुक्त नगर वह है कि जिसमें

वह लोग जिनको कि शासन करना है पद स्वीकार करने के लिये सबसे कम उत्सुक होते हैं तथा वह राष्ट्र जिसको इसके विपरीत लक्षणों वाला शासक प्राप्त होता है इसके प्रतिकूल प्रकार का होता है।"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

"जब कि उनको अधिकांश समय एकसाथ उस शुद्धतर उच्च जगत् में रहने दिया जायेगा तो क्या तब भी यह (उपर्युक्त) बात करने पर वह (हमारे शिष्य) हमारे आदेश का उल्लंघन करेंगे, और बारी बारी से राष्ट्र के उद्यमों में भाग लेना स्वीकार नहीं करेंगे ?"

उसने उत्तर दिया, "यह असंभव है। वे न्यायी होंगें और यह आदेश भी न्याय्य ही है। तथापि यह बात निःसन्देह है कि वे पदाधिकार को हमारे आधुनिक नगरों के शासकों के स्वभाव से बिल्कुल विलक्षण प्रकार से—उसको अनिवार्य आवश्यकता (विवशता) मानकर-ग्रहण करेंगे।"

मैंने कहा, "सच कहते हो मित्र, यही बात है। यदि तुम अपने भावी शासकों के लिये पदाधिकार-ग्रहण करने की अपेक्षा इससे भिन्न और अधिक अच्छा जीवनक्रम अविष्कार कर सको तो तभी सुशासित नगर सम्भव हो सकता। क्योंकि ऐसे ही नगर म वह लोग शासन करते होंगे जो कि सम्पन्न हैं—स्वर्ण-सम्पन्न नहीं बल्कि उस धन से सम्पन्न जो कि सुखी बनाने वाला है—अर्थात् सद्गुण-एवं विवेक-पूर्ण जीवन से परन्तु यदि भिक्षुक और अपने ही लाभ के भूखे लोग सार्वजनिक शासन के कार्य में इस विचार से लगते हैं कि वे शासन कार्य से अपने व्यक्तिगत लाभ को हस्तगत कर सकेंगे तो यह (—सुशासित राष्ट्र) असंभव है। क्योंकि जब पदाधिकार और शासन विवाद का उपहार बन जाते हैं तो इस प्रकार की आन्तरिक जनकलह स्वयं पदलोलुप व्यक्तियों को भी नष्ट कर देती ह और नगर को भी।"

उसने कहा, "यह सबसे अधिक सत्य बात है।"

मैंने पूछा "सच्चे दार्शनिक के जीवन को छोड़ कर क्या तुम जीवन के किसी अन्य लक्षण अथवा आदर्श को बतला सकते हो जो राजनैतिक पदाधिकार को अवज्ञा की दृष्टि से देखता हो ?"

उसने कहा, "ईश्वर की सौगन्ध, मैं नहीं बतला सकता।"

मैंने कहा, "पर जो बात हम चाहते हैं वह यह है कि जो पदाधिकार स्वीकार करें वे शासन प्रेमी न हों। नहीं तो अन्य प्रतिपक्षी शासनप्रेमियों से उनका झगड़ा हो जाएगा।"

"क्यों नहीं ?"

"तब तो उन मनुष्यों को त्याग कर, जो कि सत्-शासन के उपायभूत सिद्धान्तों के विषय में सबसे अधिक बुद्धिमत्ता सम्पन्न है, जो अन्य प्रकार की भी विशिष्टताओं से विभूषित हैं तथा जिनका जीवन राजनैतिक-जीवन से अधिक स्पृहणीय है, तुम अन्य किन लोगों को नगर के आरक्षकों के कर्तव्यभार को ग्रहण करने के लिये बाध्य करोगे ?"

उसने उत्तर दिया, "अन्य किसी को भी नहीं।"

६

६. "तो क्या तुम हमसे यह चाहोगे कि हम आगे यह विचार करें कि इस प्रकार के मनुष्य किसी राष्ट्र में कैसे उत्पन्न होंगे तथा, जिस प्रकार दन्तकथाओं में कुछ लोग हेडीस् से देवलोक की ओर आरूढ़ हुए वर्णन किये गये हैं, इसी प्रकार यह लोग ऊपर प्रकाश की ओर कैसे आरूढ़ किये जा सकते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "क्यों नहीं चाहूंगा।"

"अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यह बच्चों के शुक्ति उत्क्षेप खेल में सीप के चक्कर खाने की सी खिलवाड़ की बात नहीं है, बल्कि जिसको हम सच्चा दर्शनशास्त्र कहते हैं वह तो आत्मा का रात्रि के सदृश (प्रस्तुत)

दिन के प्रकाश की ओर से फिर कर यथार्थ दिवाप्रकाश की ओर मुड़ जाना और परिवर्त्तित हो जाना अथात् हमारी (उपर्युक्त) कथा में वर्णित वास्तविकारोहण—है ।"

"बिलकुल यही बात है ।"

"तो क्या, अब हमको यह विचार नहीं करना चाहिये कि किस प्रकार का अध्ययन इस प्रकार का परिणाम घटित करने में समर्थ है ?"

"अवश्यमेव ।"

"ग्लौकोन्, बतलाओ, तो, वह कौन सा अध्ययन हो सकता है जो आत्मा को भव (gignomenos = becoming) सेसत् (on = being) की ओर प्रवृत्त करने वाला है ? बोलते बोलते मुझे एक विचार सूझ पड़ा है : क्या हमने यह नहीं कहा था कि इन लोगों (आरक्षकों) को युवावस्था में योद्धा (युद्ध-मल्ल) होना होगा ?"

"कहा तो था ।"

"तब तो जिस विद्या (अध्ययन) की हम खोज में हैं उसमें (अन्यगुणों के) साथ साथ यह गुण भी होना चाहिये ।"

"कौन सा गुण ?"

"यही कि वह योद्धाओं के लिये अनुपयोगी न हो ।"

उसने कहा, "यदि सम्भव हो तो, ऐसा होना ही चाहिये ।"

"हमारे विगत विवेचन में उनका व्यायाम और संगीत दोनों विद्याओं में शिक्षित होना बतलाया गया था ।"

उसने कहा, "यही बात है ।"

तथा, मैं ख्याल करता हूँ कि व्यायाम का संबन्ध उससे है जो बढ़ता और नष्ट होता है; क्योंकि वह शरीर की वृद्धि और क्षय के ऊपर अधिकृत है।"

"यह तो प्रत्यक्ष ही है"।

"तब तो यह (व्यायाम) वह विद्या नहीं हो सकती जिसको हम खोज रहे हैं।"

"नहीं।"

"पर संगीत के विषय में क्या कहते हो? क्या संगीत, (जिस सीमा तक हमने उसका वर्णन किया है) वह विद्या हो सकता है?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं; क्योंकि यदि तुमको स्मरण हो तो संगीत तो व्यायाम की ही प्रतिमूर्त्ति बतलाया गया था। यह आरक्षकों को शीलानु-वृत्ति द्वारा सिखाता है; यह उनको ज्ञान तो प्रदान नहीं करता पर संवादिता से आध्यात्मिक-संवादिता एवं लय (rhythm) से संयम और शोभनता प्रदान करने वाला है; तथा जिन शब्दों के द्वारा यह (संगीत) काल्पनिक विषयों अथवा सत्यकल्प विषयों का प्रतिपादन करता है उनके द्वारा भी उपर्युक्त गुणों के सजातीयगुणों को प्रदान करता है। पर इसमें किसी ऐसे अध्ययन का समावेश नहीं है जो तुम्हारे द्वारा मृग्यमाण सत् की ओर प्रवृत्त होने वाला हो।"

मैंने कहा, "तुम्हारी स्मृति नितान्त ठीक है, क्योंकि उसमें ऐसी किसी वस्तु का तनिक भी समावेश नहीं था। परन्तु श्रेष्ठ ग्लौकोन, इस प्रकार का अध्ययन कौन सा है? क्योंकि हमारी सम्मति में समग्र उपयोगी शिल्प तो पतनकारी (नीच) ठहरे थे।"

"निःसन्देह; पर फिर भी संगीत, व्यायाम और शिल्पों को छोड़ कर इनसे पृथक् अब कौन सा अध्ययन शेष रह गया है?"

मैंने कहा, "अच्छा आओ, यदि हम इनसे पृथक् और इनसे स्वतंत्र कुछ खोजने में समर्थ नहीं हो सके तो उस वस्तु को ग्रहण करें जो समान रूप से सर्वत्र उपयोगी है।"

"वह क्या?"

"उदाहरणार्थ वह सामान्यवस्तु (ग्रहण करें) जिसका सब शिल्प,सब विचारसरणियाँ एवं सब विज्ञान समानरूप से व्यवहार करते हैं, तथा जो उन आरंभिक वस्तुओं में से है जिसको हर एक व्यक्ति को अवश्य सीखना चाहिये ।"

"वह क्या है ?"

मैंने कहा, "यही तुच्छ सी बात—एक,दो, तीन का विवेक करना । संक्षेप में मैं इसको संख्या और गणना कहता हूँ । क्या इनके विषय में यह बात ठीक नहीं है कि प्रत्येक शिल्प और प्रत्येक विज्ञान को अवश्यमेव उनको ग्रहण करना ही पड़ता है ?"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल ठीक ।"

मैंने कहा, "युद्ध की कला को भी ?"

उसने उत्तर दिया, "परम आवश्यकता-परवश ।"

मैंने कहा,"तभी तो निश्चय ही पालामीडीस् त्रागेदी में अगामैमनॉन् को सर्वदा परम परिहासास्पद सेनाध्यक्ष प्रतीत करता रहता है । क्या तुमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि उसकी प्रतिज्ञा है कि संख्या के आविष्कार के द्वारा वह त्राय के रणक्षेण में सेना को पंक्तिशः एवं मण्डलियों में व्यूहित कर सका तथा उसने सब जहाजों एवं अन्य वस्तुओं को गिन लिया था, मानों वह कभी पहले गिनी न गयी हों और मानों अगामैमनॉन् को इसका भी ज्ञान नहीं था कि उसके कितने पैर हैं, और यदि उसको गिनना न आता हो तो ऐसा होना ही चाहिये ? फिर भी यदि यह ठीक है तो तुम्हारे ख़्याल में वह कैसा सेनाध्यक्ष रहा होगा ?"

उसने उत्तर दिया, ,'यदि यह सत्य है, तो वह मेरी सम्मति में अत्यन्त अनोखा (सेनाध्यक्ष) रहा होगा ।"

७

७· मैंने कहा, "तो क्या हम यह निर्धारित नहीं करेंगे कि हिसाब

लगाने और गणना करने की योग्यता योद्धा के लिये परम वांछनीय (अनिवार्य) अध्ययन (का विषय) है ?"

उसने उत्तर दिया, "यदि उसको सैन्यव्यवस्था को तनिक भी समझना है—अथवा इसकी अपेक्षा यह कहना चाहिये कि यदि उसको मनुष्य तक भी होना है, तो भी यह (ज्ञान) परमावश्यक है ।"

मैंने पूछा, "क्या इस अध्ययन के विषय में तुम्हारी धारणा मेरी धारणा के समान ही है ?"

"तुम्हारी धारणा क्या है ?"

"ऐसा संभव प्रतीत होता है यह उसी प्रकार का अध्ययन है जिसकी हम खोज में हैं तथा जो प्रकृत्या विचारोद्बोधन के प्रति ले जाने वाला है, यद्यपि यह वास्तव में बुद्धि को सारज्ञान (तत्त्वज्ञान) और यथार्थता (वास्तविक सत्ता) की ओर प्रवृत्त करता है, परन्तु आपाततः कोई भी इसका उचित (ठीक ठीक) उपयोग नहीं करता ।"

उसने पूछा, "तुम्हारे कथन का क्या तात्पर्य है ?"

मैंने कहा, "मैं अपनी सम्मति को तुम्हारे प्रति स्पष्टतया समझाने का प्रयत्न करूँगा । और जब मैं अपनी बुद्धि में उन वस्तुओं का विवेचनपूर्वक पृथक्करण करूँ जो हमारे उद्देश्य की सिद्धि की ओर ले जाने वाली और नहीं ले जाने वाली हैं तो तुम भी चौकस रह कर उन पर दृष्टि रक्खो तथा अपनी सहमति और असहमति (हाँ और न) को सूचित करो जिससे कि यहाँ भी हम अधिक स्पष्टतया देख सकें कि हमारी आशंका (हमारा अनुमान) ठीक है या नहीं ।"

उसने कहा, "उनको बतलाइये ।"

मैंने कहा, "मैं बतलाता तो हूँ यदि तुम यह देख सको कि हमारे प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात कुछ पदार्थ तो हमारी बुद्धि को चिन्तन के लिये प्रेरित नहीं करते क्योंकि उनके विषय में इन्द्रियों का निर्णय ही पर्याप्त प्रतीत होता

है, जब कि दूसरे कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो कि बुद्धि को सर्वदा चिन्तन के लिये आमंत्रित करते हैं क्योंकि उनके विषय में इन्द्रियजन्य ज्ञान तनिक भी विश्वास के योग्य नहीं होता ।"

उसने कहा, "स्पष्टतया ही तुम्हारा तात्पर्य दूरी पर देखे हुए पदार्थों तथा छाया (धूप-छाँह) चित्रों से है ।"

मैंने कहा, "तुमने मेरे कथन का तात्पर्य बिलकुल नहीं समझा ।"

उसने पूछा, "तो फिर आप के कथन का क्या तात्पर्य है ?"

मैंने उत्तर दिया, "वे अनुभव जो बुद्धि को प्रेरित नहीं करते, वह होते हैं जो कि युगपत् ही दो विसंवादी प्रत्यक्षों में अवसित नहीं होते । तथा जो इस प्रकार का परिणाम उपस्थित करते हैं उनको मैं विचारोत्तेजक कहता हूँ, जब कि विषय का सम्पर्क चाहे दूर से हो अथवा समीप से, दोनों ही दशाओं में प्रत्यक्ष-ज्ञान समान रूप से न तो स्पष्टतया किसी एक वस्तु को तर्शित करता है और न उसके प्रतिकूल वस्तु को । एक उदाहरण से मेरा प्रात्पर्य और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा । यह तीन अँगुलियाँ हैं, कनि-ष्ठका, अनामिका, मध्यमा ।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक !"

"मान लो कि मैं उनके अत्यन्त समीप से दिखलायी देने वाले रूप के विषय में बातचीत कर रहा हूँ । पर तुमको इस विषय पर विचार करना है ।"

"किस विषय पर ?"

"उनमें से प्रत्येक एक समान अँगुली प्रतीत होती है, और इस नाते उसके मध्य में या सिरों पर दिखलाई देने, स्वेत अथवा काली होने मोटी अथवा पतली होने अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी गुण से युक्त होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । क्योंकि इन गुणों के प्रसंग में अधिकांश मनुष्यों की आत्मा यह प्रश्न पूछने के लिये विचार नहीं करती कि अँगुली क्या

वस्तु है; कारण कि दृगिन्द्रिय (आत्मा) को यह कदापि सूचित नहीं करती की अँगुली एक ही समय अँगुली की विरोधिनी भी हो सकती है।"

उसने कहा, "नहीं, कदापि नहीं।"

मैंने कहा, "अतः, यह आशा की जासकती है कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष-ज्ञान चिन्तन और विचार का उत्तेजक अथवा प्रबोधक नहीं हो सकता।"

"ऐसा ही है।"

"पर यह बतलाओ कि इन (अँगुलियों) की गुरुता और लघुता के विषय में क्या कहा जाय ? क्या हमारी दृष्टि द्वारा प्राप्त किया उनका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्यक् प्रकार का है तथा किसी अँगुली का सिरे पर या मध्य में होना इस विषय में अन्तर उत्पन्न करने वाला होना है ? और इसी प्रकार क्या स्पर्श के द्वारा मोटेपन तथा पतलेपन एवं मृदुता कठोरता का समुचित ज्ञान उपलब्ध होता है ? तथा क्या ऐसी वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत करने में अन्य इन्द्रियाँ भी सदोष नहीं हैं ? अथवा, क्या वे सब इस (निम्न-लिखित) प्रकार से अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होतीं ?—कि प्रथमतः वही संवित् (Sensation) अथवा इन्द्रिय जिसका संबंध कठोर पदार्थों से है उसी का संबंध मृदु पदार्थों से भी है एवं वही हमारी आत्मा को यह सूचित करता है कि उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुसार एक ही वस्तु कठोर और मृदुल दोनों ही है।"

उसने कहा, "ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "तब तो, क्या यह भी एक ऐसा प्रसंग नहीं है कि जब हमारी आत्मा कठोरता के संवित् के अर्थ के विषय में विमोहित हो जायगी क्योंकि वहीं इन्द्रिय उसी पदार्थ को मृदुल भी बतलाता है ? और इसी प्रकार यदि भारसंवित् को सूचित करने वाली इन्द्रिय भारी को हल्का, तथा हलके को भारी सूचित करेगी तो क्या हमारी आत्मा इस विषय में विमूढ़

नहीं हो जायगी कि हलके और भारी के संवित् में हलके और भारी का अर्थ (सूचितव्य) क्या है ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, सचमुच आत्मा को पहुँचने वाले यह संदेश अनोखे से हैं और परीक्षण आवश्यक है।"

मैंने कहा, "तो ऐसे प्रसंगों में ही जैसे कि यह हैं, आत्मा स्वाभाविकतया आकलनशील विवेक की सहायता का आह्वान करती है और यह विचारने की चेष्टा करती है कि वह प्रत्येक वस्तु जो कि उसको संवित् द्वारा प्रस्तुत की गयी है एक ही है अथवा दो।"

"क्यों नहीं ?"

"और यदि दो प्रतीत हों तो दो में से प्रत्येक एक स्पष्ट और अलग इकाई होगी ?"

"हाँ।"

"तो यदि प्रत्येक एक इकाई है और दोनों दो हैं तब तो दो का अर्थ ही यह हुआ कि आत्मा उनको अलग अलग ग्रहण करेगी क्योंकि यदि वे अविभाज्य होतीं तो वह (आत्मा) इनको दो नहीं बल्कि एक ही समझती।"

"ठीक है।"

"और हम कहते हैं कि दृष्टि ने भी बड़े और छोटे को पृथक् पृथक् नहीं बल्कि मिश्रित ही देखा। क्यों यही बात है न ?"

"हाँ।"

"तथा इसके स्पष्टीकरण के लिये, बुद्धि को बड़े और छोटे का चिन्तन इस प्रकार अस्पष्ट और मिश्रित (मिथुनीकृत) रूप में नहीं प्रत्युत दृष्टि से विपरीत प्रकार से पृथक पृथक रूप से करना पड़ता है।"

"सत्य है।"

'क्या इसी प्रकार के अनुभवों में ही पहले पहल यह प्रश्न हमको नहीं सूझ पड़ता कि "यह बड़ा क्या है और छोटा क्या है ?"

"सर्वथा यही बात है ।"

"और बस यही एक के बुद्धिगम्य और दूसरे के प्रत्यक्ष कहलाने का हेतु है ।"

उसने कहा, "बिलकुल यही बात है ।"

८

८. बस ठीक यही बात तो मैं अभी समझाने का प्रयत्न कर रहा था, जब कि मैंने यह बतलाया था कि कुछ वस्तुएँ तो विचारोत्तेजक होती हैं और कुछ नहीं होतीं---प्रथम की परिभाषा यह बतलाई थी कि विचारोत्तेजक वह होती हैं जिनका इन्द्रियस्पर्श द्वन्द्वात्मक होता है, तथा जिनका (इन्द्रियस्पर्श ऐसा) नहीं होता वे (मैंने बतलाया था कि) विचार को उत्पन्न नहीं करतीं ।"

उसने कहा, "अब मैं आप की बात समझ गया और आप से सहमत हूँ ।"

"तो. तुम्हारे विचार में संख्या और एक (इकाई) कौन सी कोटि के अन्तर्गत हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं तो निर्णय नहीं कर सकता ।"

मैंने कहा, "अच्छा तो इसका उत्तर तो जो कुछ पहले कहा जा चुका है उस पर विचार करके पा सकते हो । क्योंकि यदि इकाई स्वतः अपने रूप में दृष्टि द्वारा अथवा अन्य किसी इन्द्रिय द्वारा सम्यक् प्रकार से देखी जा सके तो, जैसा कि हम अँगुली के प्रसंग में समझा रहे थे, यह हमारी बुद्धि को सारसत्ता के अवधारण की ओर प्रवृत्त नहीं करेगी । परन्तु यदि इसके साथ ही साथ कोई विरोध भी नित्य दिखलाई दे, जिससे कि वह एक और उसका विरोधी (अनेक) दोनों साथ साथ एक बराबर प्रतीत हों तो तत्काल इन दोनों के मध्य निर्णय करने के लिये किसी वस्तु की आवश्यकता

पड़ेगी और यह आत्मा को किंकर्त्तव्य विमूढ़ होने, तथा उसमें विचार को उत्पन्न करके यह अनुसंधान और परिप्रश्न करने के लिये बाध्य कर देगी कि "आखिर यह इकाई स्वरूपतया क्या है ?" और इस प्रकार इकाई का अध्ययन, एक इस तरह का अध्ययन सिद्ध होगा (ऐसी वस्तु सिद्ध होगा) जिसमें आत्मा का मत परिवर्त्तन करके उसको वास्तविक सत् की ओर ले जाने की क्षमता है।"

उसने कहा, "परन्तु निश्चय ही उसके दृष्टि प्रत्यक्ष में यह बात विशेषतया अन्तर्भुक्त है। क्योंकि हम एक ही वस्तु को एक ही समय एक और अनिश्चित अनेक दोनों रूपों में देखते हैं।"

मैंने कहा, "अतएव यदि यह बात इकाई के विषय में सत्य है तो यही बात सब संख्याओं के विषय में भी सत्य होनी चाहिये। क्यों है न यही बात ?"

"क्यों नहीं ?"

"परन्तु, फिर, गणना और अंकगणित शास्त्र का संबंध तो सामग्र्येण संख्या से ही है।"

"अवश्यमेव यही बात है।"

"और यह (जीव या बुद्धि को) सत्य की ओर ले जाते प्रतीत होते हैं।"

"अनन्यसामान्य प्रकार से।"

"तब तो, जैसा कि मालूम पड़ता है, यह उन अध्ययनों के मध्य एक अध्ययन होंगे जिसकी हम खोज में हैं। क्योंकि सिपाही (योद्धा) को तो अपनी सेना की व्यूह रचना करने के लिये इनको सीखना चाहिये और फिलासफ़र को उत्पत्ति (और विनाश शील जगत्) से ऊपर उठने और सारसत्ता को ग्रहण करने के लिये इसको सीखना चाहिये अन्यथा वह कदापि सच्चा आकलनकर्त्ता नहीं हो सकता।"

उसने कहा, "है तो यही बात।"

"और हमारा संरक्षक तो एकाधार में सिपाही और फिलासफ़र दोनों ही है।"

"क्यों नहीं ?"

"तब तो, हे ग्लौकोन, यह उचित होगा कि शिक्षण की इस शाखा को हमारे नियम विधान के द्वारा निर्धारित कर दिया जाय तथा हम उन लोगों को, जिनको कि नगरराष्ट्र के सर्वोच्च कार्यों के सम्पादन में भागीदार बनना है, मनाकर गणितशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त करने और उसको ग्रहण करने के लिये राज़ी करें, जिससे वे इस अध्ययन को शौकीनों की तरह (थोड़े समय के लिये ही) स्वीकार न करें, बल्कि तब तक इसका अनुसरण करें जब तक कि वे विशुद्ध विवेक की सहायता से संख्या के स्वरूप का मनन करना सीख लें, अथवा व्यापारी और दूकानदार बनने वालों के समान क्रयविक्रय कार्य के लिये वह इस शास्त्र को न सीखें बल्कि युद्ध के उपयोग के लिये एवं उत्पत्ति-विनाश-शील परिवर्तनमय जगत् से आत्मा को सार और सत्य की ओर मोड़ने में सहायता पहुँचाने के लिये इसको सीखें।"

उसने कहा, "आपका कथन परम सुन्दर है।"

मैंने कहा, "और फिर, अब इस गणितशास्त्र की चर्चा छिड़ जाने पर मुझे अभी यह सूझ पड़ा है कि यह विज्ञान कितना कमनीय है और यदि ज्ञान प्राप्ति के निमित्त इसका अनुसंधान (अध्ययन) किया जाय, न कि दूकानदारी के लिये, तो यह हमारे उद्देश्य के लिये कितने ही प्रकार से उपयोगी है।"

उसने पूछा "यह कैसे ?"

"यह ऐसे, कि जैसा हम अभी अभी कह रहे थे यह (विज्ञान) बड़ी प्रबलता से आत्मा को उच्चता की ओर प्रेरित करता है एवं उसको शुद्ध भावरूप संख्याओं के विषय में विवेचना करने को बाध्य करता है और यदि विवाद में कोई दृश्यमान और स्पृश्यमान पदार्थ संख्याओं के साथ

प्रस्तुत किये जाते हैं तो यह उनको कदापि स्वीकार नहीं करता (उनके विरुद्ध विद्रोह कर देता है) । क्योंकि इतना तो तुमको निःसन्देह विदित है कि यदि कोई व्यक्ति शास्त्रार्थ में इकाई को खंडित करने का उद्योग करता है तो इस विद्या के विशारद उसका परिहास करते हैं और उसको ऐसा नहीं करने देते; इसके विपरीत यदि तुम विभाजन करो तो वे गुणन करते हैं और सर्वदा इस बात के लिये चौकन्ने और सावधान रहते हैं कि इकाई अपने एकत्व को छोड़ कर कहीं खण्डों की अनेकता के रूप में प्रतीत न होने लगे ।"

उसने कहा, "आप परम सत्य कहते हैं ।"

"अच्छा, ग्लौकोन, अब मान लो कि कोई उनसे यह पूछे, "श्रेष्ठ मित्रों, आप यह जिन संख्याओं का वर्णन कर रहे हैं, जिनमें कि इकाई एसी है जैसी कि आप बतलाते हैं—अर्थात् लेशमात्र भी भेद बिना प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई के बराबर है तथा उसका खण्डन नहीं किया जा सकता—ये आप द्वारा वर्णित संख्याएँ, आखिर क्या वस्तुएँ हैं ?—तो तुम्हारे विचार में इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देंगे ?"

"मैं समझता हूँ कि उनका उत्तर यह होगा कि जिन इकाइयों की बात वे कह रहे हैं वे केवल विचारगम्य हैं, तथा अन्य किसी प्रकार से उनका चिन्तन नहीं किया जा सकता ।"

मैंने कहा, "तब तो मित्र तुम देखते हो न, कि यह अध्ययन की शाखा हमारे लिये अपरिहार्य प्रतीत होती है क्योंकि प्रत्यक्षतया ही यह (विद्या) आत्मा को शुद्ध सत्य के निमित्त शुद्ध बुद्धि का प्रयोग करने के लिये बाध्य करती है ?"

उसने कहा, "हाँ, और यह ऐसा अत्यन्त प्रबलता के साथ करती है ।"

"और फिर, क्या तुमने यह बात भी ध्यान से देखी है कि जो व्यक्ति गणित की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति रखते हैं वे स्वाभाविकतया लगभग

अपने सभी अध्ययनों में चतुर होते हैं ? तथा मन्दधी यदि इस विद्या में शिक्षित और अभ्यस्त कर दिये जाएँ तो, चाहे इससे अन्य कोई लाभ हो या न हो, वे सब के सब सुधर जाते हैंऔर पूर्वापेक्षा अधिक सयाने (चतुर) हो जाते हैं ?"

उसने कहा, "एसा ही है ।"

"और फिर, जैसा कि मुझे विश्वास है ऐसे अध्ययन (विज्ञान) जिनके प्राप्त करने में और अभ्यास में इसकी अपेक्षा अधिक श्रम की आवश्यकता होती है, खोजने पर हमको सरलता से नहीं मिलेंगे और फिर भी बहुत से नहीं मिलेंगे ।"

"नहीं, सचमुच, नहीं ।"

"तो इन सब कारणों से हमको इस विद्या की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, बल्कि सर्वोत्तम स्वभाव वाले व्यक्तियों की शिक्षा के लिये इसका उपयोग करना चाहिये ।"

उसने कहा, "मैं आप से सहमत हूँ ।"

९

९. मैंने कहा, "इस एक बात को सुनिर्धारित मान कर, अब आगे हमको यह विचार करना चाहिये कि वह अध्ययन जो इसके पश्चात् आता है वह हमारे उद्देश्य के अनुकूल है या नहीं ।"

उसने पूछा, "वह क्या ? क्या आप का तात्पर्य ज्याँमेट्री (भूमिति शास्त्र) से है ?"

मैंने उत्तर दिया, "बिलकुल ठीक; यही बात है ।"

उसने कहा, "इसका उतना भाग जितना कि युद्ध संचालन के काम आता है प्रत्यक्षतया ही उपयुक्त है । क्योंकि शिविर की स्थापना में, (युद्ध क्षेत्र में) सुदृढ़ स्थान ग्रहण करने में, सैन्यपंक्ति संकोचन और विस्तार में, एवं वास्तविक युद्ध एवं सैन्य प्रयाण के सभी अन्य व्यूहों में यदि किसी

सेनाध्यक्ष ने भूमिति-शास्त्र का अध्ययन किया है तो वह ऐसे सेनाध्यक्ष से बहुत कुछ भिन्न होगा जिसने इस विद्या का अध्ययन नहीं किया है।"

मैंने कहा, "परन्तु, तो भी ऐसे प्रयोजनों के लिये तो भूमितिविद्या की और अंकगणित की थोड़ी सी मात्रा पर्याप्त होगी। जिस प्रश्न पर हमको विचार करना है वह तो यह है कि इस विद्या का अधिकांश और उच्च भाग सत्-तत्त्व की अवगति में सहायक होता है या नहीं। हमारा कहना यह है कि यह प्रवृत्ति उन सब अध्ययनों में पाई जाती है जो कि आत्मा को अपनी दृष्टि को उस दिशा की ओर मोड़ने को बाध्य करते हैं जिसमें कि वास्तविक सत्ता के श्रेष्ठ (धन्यतम) अंश का निवास है तथा जिसको देखना आत्मा के लिये परमावश्यक है।"

उसने कहा, "आप का कथन ठीक है।"

"अतएव, यदि यह (भूमिति विद्या) आत्मा को सारसत्ता का चिन्तन करने के लिये बाध्य करती है तो हमारे काम की है; और यदि परिवर्तनशील जगत् के चिन्तन के लिये बाध्य करती है तो हमारे काम की नहीं है।"

"हाँ, हम भी ऐसा ही कहते हैं।"

मैंने कहा, "कम से कम यह एक बात ऐसी है कि जिसके विषय में भूमिति विद्या से लेशमात्र परिचित व्यक्ति भी विवाद नहीं करेंगे कि यह विद्या (शास्त्र) वास्तविकता में भूमितिवेत्ताओं द्वारा इसके प्रतिपादन में प्रयुक्त भाषा की पूर्णतया विरोधिनी है।"

उसने पूछा, "कैसे ?"

"उनकी भाषा नितान्त परिहासयोग्य होती है यद्यपि इस विषय में वे लाचार हैं, क्योंकि वे ऐसी बातें करते हैं कि मानों वे कुछ काम कर रहे हों और मानों उनके शब्द किसी व्यापार की साधना में प्रवृत्त हो रहे हों। क्योंकि उनकी सारी बातचीत, वर्ग बनाने, एक आकृति को दूसरी आकृति

पर रखने, और जोड़ने (या बढ़ाने) इत्यादि की ही होती है, जब कि समग्र अध्ययन का वास्तविक उद्देश्य शुद्ध ज्ञान है।"

उसने कहा, "यह सर्वथा सत्य है।"

"और क्या इससे आगे एक और विषय में हमको सहमत नहीं होना चाहिये ?"

"किस विषय में ?"

"यही कि वह शुद्धज्ञान जो कि भूमिति-विद्या का उद्देश्य है शाश्वत् सत्तत्त्व का ज्ञान है किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं है जो कभी उत्पन्न हो जाती है और फिर कभी नष्ट हो जाती है। (अथवा) संभूति और विनाश का ज्ञान नहीं है।"

उसने कहा, "यह बात तो तत्काल ही मानी जा सकती है क्योंकि भूमितिशास्त्र शाश्वत सत्तत्त्व संबंधी ज्ञान है।"

"तब तो मेरे श्रेष्ठ मित्र, इस (विद्या) की प्रवृत्ति हमारी आत्मा को सत्य की ओर आकृष्ट करने की होगी यह दार्शनिक दृष्टिकोण को उत्पन्न करेगी तथा उन (मानसिकशक्तियों) को जो कि अब गल्ती से निम्न-गामिनी हो रही हैं ऊर्ध्वगामिनी बना देगी।"

उसने कहा, "अन्य कोई वस्तु इससे अधिक सुनिश्चित नहीं हो सकती।"

मैंने कहा, "तब तो इस बात को छोड़ कर अन्य कोई भी बात अधिक कठोरता के (निश्चय के) साथ निर्धारित नहीं की जानी चाहिये कि तुम्हारी सुन्दर नगरी के नागरिक कदापि भी भूमिति शास्त्र की अवहेलना नहीं करेंगे। और फिर इस विद्या के गौण फल भी तो तुच्छ नहीं हैं।"

उसने पूछा, "वे क्या हैं ?"

मैंने कहा, "वे ही जिनका तुमने अभी उल्लेख किया था—अर्थात् युद्ध में उसके उपयोग, और जैसा कि हम जानते ही हैं, सब विद्याओं को चारुतर-प्रकार से ग्रहण करने में भी उस विद्यार्थी में जो कि भूमितिशास्त्र

के ज्ञान में निष्णात है और एक दूसरे विद्यार्थी में जो कि (इस विद्या में) निष्णात नहीं है अपरिमित अन्तर रहेगा।"

उसने कहा, "हाँ, भगवान् की सौगन्द अतीव अन्तर रहेगा।"

"तो क्या हम लोग अपने नवयुवकों के अध्ययन के लिये इस शास्त्र को द्वितीय विषय के रूप में निर्धारित करें ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, हमको ऐसा ही करना चाहिये।"

१०

१०. "क्या ज्यौतिष शास्त्र को तीसरा विषय निर्धारित करें, अथवा तुम इससे असहमत हो ?"

उसने कहा, "मैं तो निश्चय ही इससे सहमत हूँ, क्योंकि ऋतुओं, मासों वर्षों की गति के निरीक्षण की विचक्षण दृष्टि न केवल कृषि और नाविक कला के लिये उपयोगी है बल्कि युद्धकला के भी लिये हितकर है।"

मैंने कहा, "मुझे हँसी आती है कि जब मैं यह देखता हूँ कि प्रत्यक्ष ही तुमको इस बात का स्पष्ट भय लगा है कि कहीं दुनिया तुमको निकम्मी विद्याओं का पोषक न ख़्याल करने लगे। सचमुच ही इस बात को हृदयंगम कर लेना कोई सरल काम नहीं है, बल्कि बढ़ा कठिन काम है, कि प्रत्येक आत्मा में ज्ञान प्राप्त करने की एक ऐसी इन्द्रिय है जो अन्य साधारण धन्धों और अध्ययनों से नष्ट और अंधी हो जाने पर ऐसे ही अध्ययनों से फिर से परिष्कृत और संज्योतित की जाती है, यह इन्द्रिय ऐसी है कि इसका संरक्षण दशसहस्त्र चर्मचक्षुओं की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है, क्योंकि केवल इसी के द्वारा सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। अतएव जो लोग इस श्रद्धा में हमारे साथ एकमत हैं वे तुम्हारे शब्दों में बिना किसी संकोच के विश्वास कर लेंगे। परन्तु वे लोग जिन्हें इसकी अणुमात्र भी चेतना नहीं है वे उन्हें (तुम्हारे शब्दों को) स्वाभाविकतया बिलकुल व्यर्थ समझेंगे। क्योंकि उनको ऐसे अध्ययन व्यापारों से कोई अन्य कहने योग्य लाभ होता

दिखलाई नहीं देगा। इसलिये, इसी ठौर यह निर्णय कर लो कि इन दोनों में से कौन से पक्ष मे बात करना चाहते हो। अथवा क्या तुम दोनों में से किसी से भी बात नहीं कर रहे हो, बल्कि मुख्यतया अपने ही निमित्त विवेचन कर रहे हो, तथापि अन्य कोई व्यक्ति भी यदि इससे लाभ उठा सके तो तुम्हें कोई ईर्ष्या नहीं है ?"

उसने कहा, "मुझे यह दूसरा विकल्प ही पसन्द है कि मैं मुख्यतया अपने ही निमित्त वार्त्तालाप कर रहा हूँ और उत्तर प्रत्युत्तर (प्रश्नोत्तर) कर रहा हूँ।"

मैंने कहा, "तब तुम एक पग पीछे हटो, क्योंकि भूमिति विद्या के पश्चात् जो अध्ययन आना चाहिये उसको हमने ठीक ठीक निर्णय नहीं किया है।"

उसने पूछा, "उसमें क्या गल्ती हुई ?"

मैंने कहा, "एक तलीय आकृतियों के पश्चात्, स्थूल आकृतियों का स्वरूपतः अध्ययन किये बिना ही हम सीधे घूमते हुए स्थूलपदार्थों के अध्ययन पर जा पहुँचे। जब कि द्वितीय मान (दिक्) के पश्चात् ठीकक्रम तृतीय मान (दिक्) को ग्रहण करना होता। मेरे ख्याल में यह घनों एवं अन्य सब गहराई (मोटाई) वाले पदार्थों का मान (दिक्) है।"

उसने कहा, "हाँ, सो तो है ही, परन्तु, सॉक्रातीस् इन विषयों में तो अभी कुछ खोज हुई प्रतीत नहीं होती।"

मैंने कहा, "हाँ, और इसके दो कारण हैं; प्रथम तो यह है कि क्योंकि कोई नगरराष्ट्र इन विषयों का समादर नहीं करता अतएव अपनी आन्तरिक कठिनाई के कारण इन विषयों का अनुसंधान मन्थर गति से चला जा रहा है। और दूसरा कारण यह है कि खोज करने वालों को निर्देशक की आवश्यकता है जिसका होना सफलता की प्राप्ति के लिये अनिवार्य है, पर जो पहले तो मिल जाना ही आसान (सरल) नहीं है और यदि वह मिल भी

जाय तो, जैसी आजकल स्थिति है, इस क्षेत्र के शोधक इतने अभिमानी हैं कि वे उसके निर्देश के वशवर्ती नहीं रहना चाहेंगे। पर यदि कोई समग्र राष्ट्र एकीभूत होकर अध्यक्ष बन जाए और इस प्रकार के विषयों का समादर करे तो यह विशेषज्ञ लोग उसकी सम्मति को मान लेंगे, और निरन्तर और परिश्रमपूर्वक किया हुआ अनुसन्धान सत्य को उद्घटित कर देगा। क्योंकि अब भी, जब कि यह विषय लोक तिरस्कृत हैं, विद्यार्थियों को स्वयं उनके अनुसंधान के ठीक ठीक प्रयोजन के अज्ञान के कारण रुद्धमार्ग हैं, तो भी इस सब विघ्नबाधाओं के होते हुए भी वे अपनी अन्तर्हित मनोज्ञता के कारण बलपूर्वक अपने मार्ग पर अग्रसर हो ही रहे हैं, और यदि उनके विषय में सत्यज्ञान प्रकाशित हो जाय मुझे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।"

उसने कहा, "यह तो सच है कि इन विषयों में असामान्य आकर्षण और मनोज्ञता है। परन्तु मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपा कर जो बात अभी बतला रहे थे उसको अधिक स्पष्टता के साथ समझाइये। मैं ख़्याल करता हूँ कि एक धरातल (epipedos) के अध्ययन को आप भूमिति-शास्त्र मानते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ।"

उसने कहा, "और तत्पश्चात्, तुमने ज्यौतिष शास्त्र उसके उपरान्त ग्रहण किया और तब तुम एक पग पीछे हट आये।"

मैंने कहा, "हाँ, जल्दी समाप्त करने की धुन में मैं और विलम्बित गति में पड़ गया। क्योंकि, जब कि क्रमशः दूसरी विद्या तृतीय (दिक्) मान का—ठोस वस्तुओं का अध्ययन था, अपने लोगों की इस विद्या के अनुसंधान में विवेक शून्य अवहेलना के कारण मैं भी उसको छोड़ कर आगे बढ़ गया और मैं भूमिति विद्या के पश्चात् ज्यौतिष शास्त्र की चर्चा करने लगा जो कि गतिशील स्थूल पदार्थों की विद्या है।"

उसने कहा, "आप ठीक कहते हैं।"

मैंने कहा, "यह स्वीकार करते हुए कि यह विद्या जिसका विवरण छोड़ दिया गया है राज्याश्रय के द्वारा उपलब्ध हो ही जायगी, अब हमको चौथे अध्ययन के रूप में खगोल विद्या (ज्यौतिष शास्त्र) को स्थापित करना चाहिये।"

उसने कहा, "यह विचार बिलकुल उचित है। एवं, सॉक्रातीस्, सामान्य लोगों के उपयोगितामूलक समादर के स्थान पर, जिसके कारण अभी तुमने मेरी भर्त्सना की थी, मैं अब इसकी प्रशंसा तुम्हारे दृष्टिकोण के अनुसार करूँगा। क्योंकि मैं समझता हूँ कि यह बात तो सभी को प्रत्यक्ष है, कि इस विद्या का अध्ययन आत्मा को उच्चता की ओर देखने को विवश कर देता है और उसको इस दुनिया की वस्तुओं से हटा कर ऊँची दुनिया की ओर ले जाता है।"

मैंने कहा, "हो सकता है कि यह बात मेरे अतिरिक्त सब को स्पष्ट दिखलाई देती है क्यों कि मेरी सम्मति ऐसी नहीं है।"

उसने पूछा, "तो फिर तुम्हारी क्या सम्मति है?"

"जो लोग (हम लोगों को) फिलासफ़ी की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, आजकल उनके द्वारा जो इस (ज्यौतिष विद्या) का व्यवहार किया जा रहा है, वह तो मेरी समझ में आत्मा की दृष्टि को बहुत निम्नाभिमुखी बनाने वाला है।"

उसने पूछा, "आप के इस कथन का क्या तात्पर्य है?"

मैंने कहा, "मुझे तो तुम अपने मन में "उच्च वस्तुओं के अध्ययन" की अति उदार व्याख्या करते मालूम पड़ते हो क्योंकि यदि कोई व्यक्ति अपनी गर्दन को पीछे की ओर मोड़ कर और शिर ऊपर की ओर करके किसी चित्रित छत पर से कुछ बात सीखे तो स्पष्ट है कि तुम यह

समझोगे कि वह व्यक्ति उस चित्रित सजावट को नेत्रों से नहीं देख रहा बल्कि उच्च विवेक द्वारा उसका चिन्तन कर रहा है। स्यात् है कि तुम्हारा विचार बिलकुल ठीक है और मैं निरा बुद्धू हूँ। क्योंकि, मैं तो अपनी ओर से उस विद्या के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या को आत्मा की दृष्टि को ऊर्ध्वाभिमुखी बनाने वाला ख़्याल नहीं कर सकता जो कि सार और परोक्ष सत्ता का प्रतिपादन करती है। पर यदि कोई व्यक्ति इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के विषय में जानने का यत्न करे फिर चाहे वह ऊपर की ओर ताके, चाहे नीचे की ओर झाँके, मैं तो कभी नहीं कहूँगा कि वह वास्तव में कुछ सीख रहा है—क्योंकि इस प्रकार की कोई वस्तु वास्तविक ज्ञान का विषय नहीं हो सकती और न मैं यही कहूँगा कि उसकी आत्मा ऊपर की ओर देख रही है—प्रत्युत नीचे की ओर देख रही है—चाहे वह धरती अथवा जलपर उत्तानशयित होकर बहते हुए ही अध्ययन क्यों न कर रहा हो।"

११

११. उसने कहा, "मैं आप के उत्तर को उचित मान गया। आपका उलाहना सर्वथा योग्य ही है। परन्तु उस कथन से तुम्हारा क्या तात्पर्य था कि यदि ज्यौतिषशास्त्र हमारे उद्देश्य के लिये उपयोगी सिद्ध होने के ढंग से सिखाया जाय तो वह वर्तमान रीति से बिलकुल उलटे प्रकार से सिखाया जाना चाहिये ?"

मैंने कहा, "इस प्रकार; यह जो (तारिकाएँ) आकाश को बहुविध रंगों से रंजित करती है, एक परिदृश्यमान धरातल की सजावट होने के हेतु, उनको निश्चय ही हमको भौतिक वस्तुओं में सुन्दरतम और सर्वाधिक यथातथ समझना चाहिये, परन्तु हमको यह भी स्वीकार करना चाहिये कि वे सत्य से बहुत दूर हैं, अर्थात् पारस्परिक संबंध में, तथा जिन वस्तुओं को वे धारण और वहन करती हैं उनके वाहन के रूप में जो वेग और मन्दता की गतियाँ सब सच्ची संख्याओं और सच्ची आकृतियों में रहती हैं उनमे

बहुत दूर हैं। और वह केवल विवेक और विचार के ही द्वारा समझी जा सकती हैं न कि दृष्टि के द्वारा। क्या तुम्हारा विचार इससे कछ भिन्न है?"

उसने उत्तर दिया, "कदापि नहीं।"

मैंने कहा, "तब तो आकाश के इस बहुरंगीपन का उपयोग इन उच्च सत्यों (वास्तविकताओं) के अध्ययन में सहायक होने वाले मान चित्र के रूप में ठीक इसी प्रकार क रना चाहिये जिस प्रकार कोई व्यक्ति अकस्मात् प्राप्त हुए उन मानचित्रों का करेगा जो कि दईदालस् अथवा अन्य किसी शिल्पी अथवा चित्रकार के द्वारा विशेष सावधानी और बारीकी से खींचे गये हों। क्योंकि भूमिति विद्या से परिचित कोई भी व्यक्ति जिसने इन मानचित्रों को देखा हो, अवश्यमेव शिल्प कला के सौन्दर्य को स्वीकार करेगा, परन्तु इस आशा में गंभीरतापूर्वक उनका परीक्षण करना उसको मूर्खतापूर्ण प्रतीत होगा कि उनमें बराबरों, दुगुनों अथवा किसी अन्य अनुपात के संबंध में परिपूर्ण (परम) सत्य की उपलब्धि हो सकेगी।"

उसने कहा, "भला यह बात परिहासपूर्ण (बेहूदा) क्यों नहीं होनी चाहिये?"

मैंने कहा, "क्या तुम्हारा ख्याल यह नहीं है कि वास्तविक ज्योतिर्विद तारिकाओं की गतियों पर दृष्टिपात करते हुए इसी प्रकार अनुभव करेगा? वह यह तो मानने का इच्छुक होगा कि आकाश के कलाकार ने इस आकाश और इसमें अन्तर्भुक्त वस्तुओं को इस प्रकार की रचनाओं के सर्वोत्तम प्रकार से रचा है। परन्तु रात और दिन के अनुपात के विषय में, महीने के साथ इन दोनों के अनुपात के विषय में वर्ष के साथ मास के अनुपात के विषय में, अन्य तारों के इनके साथ अनुपात के विषय में अथवा उनके अपने पारस्परिक अनुपात के विषय में, क्या तुम्हारे विचार में वह उस मनुष्य को बड़ा अनोखा व्यक्ति नहीं ख्याल करेगा जिसका यह विश्वास हो

कि यह पिण्डधारी और दृश्यमान वस्तुएँ सदासर्वदा बिना परिवर्त्तन के या बिना मार्गच्युत हुए चलती रहती हैं, तथा जिसका यह विश्वास कि हो उसका अविरत श्रम उनके विषय में वास्तविक सत्य जानने के लिये है ?"

उसने कहा, "अब आपके मुख से यह सुन कर कम से कम मेरा विचार यही हो गया है।"

मैंने कहा, "हम खगोल विद्या को भी इसी प्रकार समस्यापद्धति से अध्ययन करेंगे जैसा कि भूमितिशास्त्र में होता है, और यदि हमको वास्तविक खगोल विद्या का ज्ञान प्राप्त करना है तथा तदनुसार आत्मा की आन्तरिक बुद्धिमत्ता को निरर्थकता से सार्थक बनाना है तो आकाश को एक ओर छोड़ देना होगा।"

उसने कहा, "यह तो तुम हमारे वर्त्तमान ज्यौतिषशास्त्र के अध्ययन की अपेक्षा कई गुने काम का आदेश कर रहे हो।"

मैंने कहा, "और मैं ख्याल करता हूँ कि यदि नियमनिर्माता के रूप में हमको कुछ उपयोगी होना है तो हमारे अन्य आदेश भी इसी ढंग के होंगे। अच्छा, अब तुम और कौन सा समुचित अध्ययन सुझाते हो ?"

१२

१२. उसने उत्तर दिया, "यों बिना विचारे हाथों हाथ तो मैं कुछ भी नहीं सुझा सकता।"

मैंने कहा, 'तथापि मेरी सम्मति में गति सामान्यतया, निश्चयमेव एक नहीं अनेक प्रकार अथवा भेदों वाली होती है। उन सब की गणना करना तो स्यात् किसी बुद्धिमान मनुष्य का ही काम है, पर हम सरीखों तक को उनमें से दो तो स्पष्ट ही हैं।"

"वे कौन सी हैं ?"

मैंने कहा, "इस (हमारे द्वारा वर्णित खगोल विद्या) के साथ साथ इसकी प्रतिमूर्ति।"

"वह क्या है ?"

मैंने कहा, "हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि जिस प्रकार आखें खगोल विद्या के लिये बनी हैं, उसी प्रकार कान संगीत के स्वरों की गति के लिये हैं; और यह दोनों, जैसा कि पिथागोरस्‌पंथियों का कहना है, एक प्रकार से एक ही कुटुम्ब की विद्याएँ हैं; तथा हम भी इस कथन को स्वीकार करते हैं। क्यों, ग्लौकॉन्, यही बात है न ?"

उस नें कहा, "यही बात है।"

मैंने कहा, "तब तो,क्योंकि यह कार्य बहुत बड़ा है, हम उन्हीं से क्यों न पूछें कि उनकी राय क्या है और क्या वे कुछ और भी बतला सकते हैं ? और इस सब पूछगछ में हम अपने उद्देश्य के विषय में पूर्णतया सतर्क (चौकन्ने) रहेंगे।"

"वह (उद्देश्य) क्या है ?"

"हमारे शिष्य किसी ऐसी बात को सीखने की चेष्टा न करें जो हमारे लक्ष्य की ओर ले जाने वाली नहीं है, तथा जो, (जैसा कि हम खगोलविद्या के विषय में कह रहे थे) सदा वहाँ तक नहीं पहुँचती जिसको हमने सब वस्तुओं अन्तिम गन्तव्य कहा है। अथवा क्या तुमको यह विदित नहीं है कि संगीत (हार्मानी) के विषय में भी लोग ऐसा ही किया करते हैं ? वे लोग (संगीतविद्) इसको श्रवणेन्द्रिय मात्र का विषय मानकर (जैसा कि खगोलविद्या विद् किया करते हैं) श्रव्य स्वर-समन्वयों (symphonies) और नादों को परस्पर नापने में ी बहुत सा व्यर्थ का परिश्रम किया करते हैं।"

उसने कहा, "हाँ, भगवान् की सौगन्द, बात तो यही है और ऐसा करते हुए वे अपने को परिहासास्पद बना डालते हैं। वे क्षुद्र (संक्षिप्त) स्वरों की चर्चा करते हैं और अपने कानों को तारों के समीप ले जाकर (मानों पड़ोसी की दीवाल से परे का शब्द सुनने का यत्न कर रहे हों)

एक दल तो यह कहता है कि वे अब भी अन्तवर्त्ती स्वर सुन सकते हैं यही स्वर कम से कम अन्तराल वाला है और माप की इकाई होना चाहिये तथा दूसरा दल कहता है कि अब सब (तारों के स्वर) सम हो गये—पर दोनों ही दल अपने कानों को अपनी बुद्धि से बढ़ कर मानते हैं और आगे रखते हैं।"

मैंने कहा, "तुम उन भले आदमियों की बात कहते हो जो तारों को तंग और परेशान किया करते हैं और उनको खूँटियों पर खींचा करते हैं; परन्तु—प्रहारक (कोण, शारिका) की चोट के द्वारा तुलना और संगीतज्ञों की मुँहज़ोर और लजीले होने की शिकायत के विस्तार को बिना बढ़ाते हुए इस अलंकार को छोड़ कर, मैं तो तुमको यह बतलाता हूँ कि मेरा अभिप्राय इन लोगों से नहीं है, बल्कि उन लोगों से है जिनसे हार्मानी के विषय पूछगछ करने के लिये हमने अभी अभी कहा था। वे बिलकुल ज्यौतिषियों के ढंग से काम करते हैं। क्योंकि वे अन्य (श्रुत) स्वरसमन्वयों की संख्या की ही खोज किया करते हैं, पर साधारणीकृत समस्याओं तक नहीं पहुँचते और न इस विचारणा तक पहुँचते हैं कि कौन सी संख्याएँ सहज स्वभाव से संवादी हैं और कौन सी नहीं हैं और प्रत्येक अवस्था में ऐसा होने का क्या कारण है।"

उसने कहा, "यह तो तुम अतिमानवीय (दानवीय) कार्य बतला रहे हो।"

मैंने कहा, "इसकी अपेक्षा यह कहो कि (यह कार्य) सुन्दर और सत् की शोध में उपयोगी है। पर यदि इसका अन्वेषण अन्य किसी निमित्त किया जाय तो यह व्यर्थ है।"

उसने कहा, "यह बात समुचित है।"

१३

मैंने कहा, "और इससे भी अधिक, मैं तो यह मानता हूँ कि यदि इन

सब अध्ययनों का अनुसंधान इतनी दूर तक बढ़े कि उनकी संगति और पारस्परिक संबंध को प्रकट कर दे और उनके सादृश्य का अनुमान लगा सके तब तो अपने को उनमें संलग्न करना अपने वांछित उद्देश्य के लिये उपयोगी है, तथा किया हुआ परिश्रम व्यर्थ नहीं है, परन्तु अन्यथा तो यह सब बेकार है।"

उसने कहा, "सूझ तो मुझको भी ऐसा ही पड़ता है। पर, सॉक्रातीस् जिस कार्य की तुम बात कर रहे हो वह परम विशाल कार्य है।'

मैंने पूछा, "तुम प्रारम्भ की बात कर रहे हो? अथवा किसी अन्य विषय की? अथवा क्या हमको यह विदित नहीं है कि यह तो उस नियम की भूमिका मात्र है, उस गीत का आरंभमात्र है जिसको हमें समझना (सीखना) है? क्योंकि निश्चय ही तुम इन विद्याओं के विशारदों को चतुर मीमांसक अथवा तार्किक नहीं मानने होगे?'

उसने उत्तर दिया, "ईश्वर की शपथ, जिनसे मेरी भेंट हुई है उनमें से विरलों को छोड़ कर मैं किसी को ऐसा नहीं मानता।"

मैंने कहा, "पर क्या तुमने कभी ऐसा ख्याल किया है कि जो व्यक्ति विवेचना (शास्त्रार्थ) में (प्रदर्शित) सम्मतियों का विवरण (कारण) न तो दे सकता है और न उपलब्ध (वसूल) कर सकता है वह कभी भी उन वस्तुओं के विषय में कुछ भी जान सकता है जो हमारी राय में जानने के योग्य है?"

उसने कहा, "इसका भी उत्तर 'नहीं' ही है।"

मैंने कहा, ""लो, ग्लौकोन, अन्ततोगत्वा यह वह नियम है (nomos) जिसका तर्क विद्या पारायण करती है वह गीत है जिसको यह गाती है। यद्यपि यह स्वयं बुद्धिगम्य जगत् में निवास करती है तथापि दृक्शक्ति की प्रगति में हम इसके अनुरूप सादृश्य को देख सकते हैं क्योंकि हम दृक्शक्ति के विकास के वर्णन में

कह आए हैं कि प्रथमतः वह स्वतः जीवधारियों के रूप को देखने की चेष्टा करती है, तत्पश्चात् तारों को देखने का और अन्त में स्वयं सूर्य को देखने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार, जब कोई व्यक्ति इन्द्रिय प्रत्ययों को छोड़ कर तर्क विद्या के द्वारा युक्तिपूर्ण विवेचन से प्रत्येक वस्तु की सारसत्ता को खोजने का उद्योग करता है और तब तक विराम नहीं लेता जब तक कि वह स्वतः विचार द्वारा सत् के स्वरूप को ग्रहण नहीं कर लेता, तब वह बुद्धि की सीमा पर जा पहुँचता है, जैसे कि हमारे दृष्टांत का व्यक्ति अन्त में दृष्टि की सीमा पर पहुँच जाता है।"

उसने कहा, "क्यों नहीं ? सर्वथा यही बात है।"

"तो क्या इस विचार प्रणाली (प्रगति) को तुम डाइलैक्टिक (dialektike) नहीं कहोगे ? "

"क्यों नहीं ?"

मैंने कहा, (बन्दियों) का बन्धनों से मुक्त होना, छाया चित्रों से छाया डालने वाली मूर्तियों की ओर, एवं प्रकाश की ओर दृष्टि फेरना, भूगर्भ की गुफा से ऊपर के जगत् में आरोहण, और वहाँ सूर्य के प्रकाश में प्रत्यक्षेण पशु और पादपों को देखने में अक्षम होना, किन्तु जल में प्रतिफलित छायाओं को (जो कि दिव्य कृतयाँ हैं) और पदार्थों की परछाइयों (न कि, पूर्ववत्, प्रतिमूर्तियों की प्रतिच्छाया) को जो कि सूर्य की तुलना में ऐसे प्रकाश के द्वारा प्रतिविम्बित होते हैं जो छायाओं के समान अवास्तविक हैं, देखने के योग्य होना—कला और विद्याओं (techne) की यह सारी प्रक्रिया जिसका हमने वर्णन किया है, उनकी उस शक्ति को सूचित करती है जो कि आत्मा के सर्वश्रेष्ठ अंश को वास्तविक सत्ताओं के सर्वश्रेष्ठ तत्व का चिन्तन करने के योग्य होने की ओर इसी प्रकार ले जाने वाली है, जिस प्रकार कि (हमारे दृष्टान्त में) शरीर की सब से अधिक स्पष्ट देखने वाली इन्द्रिय को स्थूल और दृश्यमान जगत्

के उज्ज्वलतम (सूर्य) तत्त्व के आकलन (चिन्तन) की ओर प्रवृत किया गया था।"

उसने कहा, "मैं आपके इस कथन को स्वीकार करता हूँ; और फिर भी मुझे इससे सहमत होना कठिन लगता है, तथा, एक दूसरे दृष्टिकोण से इसको अस्वीकार करना भी कठिन प्रतीत होता है। तथापि, क्योंकि इस बात को हमें केवल इस समय ही नहीं सुनना है, बल्कि इसके पश्चात् भी हम इसकी आवृत्ति करेंगे, अतएव हमको मान लेना चाहिए कि जैसा इस समय कहा गया, वास्तविक बातें ऐसी ही हैं, और अब आगे स्वयं गीत की ओर चलना चाहिए एवं जैसे पूर्वगीतिका को हमने पार कर लिया है इसी प्रकार इसको भी पार (पूर्ण) करना चाहिए। तो अब आप मुझे यह बतलाइये कि इस तर्क शक्ति का सामान्य लक्षण क्या है? इसके कितने विभाग हैं? और इसकी प्राप्ति के मार्ग (उपाय) क्या हैं? क्योंकि ऐसा लगता है कि यही बातें हमको उस स्थान पर पहुँचा देंगी जहाँ कि हम मार्ग में सुस्ता सकते हैं, और तदुपरान्त अपनी यात्रा की समाप्ति कर सकते हैं।"

मैंने कहा, "प्रिय ग्लौकोन, अब तुम इसके आगे मेरी बात नहीं समझ सकोगे, यद्यपि मेरी ओर से सद्भावना की (सदिच्छा) कोई कमी नहीं की जायगी। और मेरी इच्छा यह है कि यदि मुझसे हो सके तो, तुम मेरे तात्पर्य की प्रतिमूर्ति अथवा प्रतीक मात्र ही न देखो बल्कि, सत्य के उस वास्तविक स्वरूप को देख सको जैसा कि वह मुझको प्रतीत होता है—यद्यपि वह ठीक है या नहीं यह मैं कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता। पर इतना मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि लगभग कुछ ऐसी ही बात हमको देखनी है। यही बात है न?"

"क्यों नहीं?"

"और क्या हम यह भी घोषणा नहीं कर सकते कि केवल तर्कशक्ति

इस (सत्य) का उद्घाटन कर सकती है और वह भी केवल उस व्यक्ति के प्रति जो कि हमारे द्वारा पूर्व वर्णित विद्याओं में निष्णात है; तथा इसके अतिरिक्त ऐसा होना अन्य किसी प्रकार संभव नहीं है ?"

उसने कहा, "यह भी कहना हमारे लिए योग्य ही है।"

मैंने कहा, "इतना तो कोई किसी भाव हमारे प्रतिकूल विवाद में कह ही नहीं सकता कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा मार्ग है जो विधिपूर्वक सब अवस्थाओं में यह निर्धारित कर सके कि प्रत्येक वस्तु यथार्थ में क्या है। परन्तु अन्य सब कलाएँ तो मनुष्यों की सम्मतियों और कामनाओं को अधिकृत किए हैं (से संबद्ध हैं) अथवा प्रजनन (उत्पादन) और संस्थापन से (योग से) या उत्पादित और संस्थापित (संघटित) वस्तुओं की देखरेख (टहल चाकरी) से संबंध रखती हैं; जो शेष विद्याएँ—जैसे कि भूमिति शास्त्र और उसकी सहचरियाँ, जिनके विषय में हमने कहा था कि वे सत् को अधिकृत करती हैं, वे भी सत् के विषय में केवल स्वप्न सा देखती हैं; परन्तु इस (सत्) के विषय में स्पष्ट जाग्रत् दृष्टि प्राप्त करना उनके लिए तब तक असंभव है जब तक कि वे उन मान्यताओं (hypotheses) को छोड़े हुए हैं जिनका वे विना परीक्षण के उपयोग करती हैं तथा जिनका वे कोई विवरण नहीं दे सकतीं। क्योंकि जब आद्य (आधारभूत) मान्यता ही ऐसी है कि जिसको (प्रति) वादी नहीं जानता, तथा निर्णय और मध्य की सब कड़ियाँ, भी अज्ञात वस्तुओं से निर्मित हैं, तो ऐसी अवस्था में इन स्वीकारोक्तियों के कभी भी सत्यज्ञान अथवा विज्ञान में परिणत हो जाने की क्या संभावना हो सकती है ?"

उसने उत्तर दिया, "कोई नहीं।"

१४

मैंने कहा, "क्या तब केवल तर्कविद्या ही एकमात्र ऐसी अनुसंधान की प्रक्रिया नहीं है जो इस प्रकार प्रवृत्त होती है, जो अपनी मान्यताओं को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित करने के लिए उनको छोड़ कर उनकी जड़ तक (उनके आद्य रूप तक) पहुँचती है? और यह बात अक्षरशः सत्य है कि जब आत्मा की आँख (आर्फिक कथा की) वर्बर दलदल में डूबी होती हैं तो तर्कविद्या मृदुलता के साथ उसको वाहर निकाल कर ऊपर को खींचती है और इस परिस्थिति की प्रक्रिया में वह उन विद्याओं को सेवकाओं और सहायिकाओं के रूप में उपयोग करती है जिनका कि हमने विवेचन किया है। इनको विज्ञान तो हमने प्रचलित प्रथा के वश कहा है, यद्यपि वास्तव में तो उनके लिए और कोई नाम होना चाहिये, जो सम्मति की अपेक्षा अधिक स्पष्टता और विज्ञान की अपेक्षा अधिक अस्पष्टता को सूचित करने वाला हो। मुझे विश्वास है कि हमनें इसके लिए 'समझ' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु जब हमारे समक्ष विचारार्थ इतने महत्त्वपूर्ण विषय प्रस्तुत हैं तो मेरा ख़्याल है कि हम नाममात्र के विषय में विवाद नहीं करेंगे।"

उसने कहा, "नहीं, कदापि नहीं। (हमको तो केवल ऐसा नाम चाहिये जो मानसिक विचारों के लिए प्रयुक्त होने पर उनको स्पष्टतया वर्णन कर सके।)

मैंने कहा, "तो, कम से कम, पहले के समान, प्रथम विभाग को विज्ञान का नाम देना, दूसरे को 'समझ', तीसरे को धारणा और चौथे को कल्पना नाम देना संतोषप्रद है---तथा अन्तिम दो का सामूहिक नाम सम्मति और प्रथम दो का सामूहिक नाम बोध ठीक है। और सम्मति का विषय जन्यमान जगत् है तथा बोध का विषय सार सत्ता है; इस संबंध को निम्नलिखित अनुपात द्वारा व्यक्त किया जा सकता है; जो संबंध सार-

सत्ता का जन्यमान जगत् से है वही बोध का सम्मति (आभास) से है तथा; जो सम्बन्ध बोध का सम्मति (आभास) से है वही विज्ञान का धारणा से है और समझ का कल्पना से है। परन्तु, ग्लौकोन! इन (मनोदशाओं) के विषयों को (गोचर विषयों) तथा इसी के अनुरूप उनमें से प्रत्येक के दो विभाजनों को, जो कि आभास्य और बोध्य हैं, तो हमको इस समय स्थगित कर देना चाहिए, नहीं तो कहीं वह हमको इसकी अपेक्षा कई गुने लम्बे विवेचनों में न फँसा दे।"

उसने कहा, "अच्छी बात है, मैं इन अन्य सब बातों में, जहाँ तक मैं उनको समझ सका हूँ, तुमसे सहमत हूँ।"

"और क्या तुम तर्कविद् (dialektikes) उसी व्यक्ति को नहीं कहते हो जो कि प्रत्येक वस्तु की सार सत्ता का विचारपूर्ण विवरण उपलब्ध करने में समर्थ है? और क्या तुम यह भी नहीं कहोगे कि वह व्यक्ति जो ऐसा नहीं कर सकता, तो जहाँ तक वह अपने अथवा अन्य व्यक्तियों के प्रति युक्तिपूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं कर सकता, वहीं तक (उतनी ही मात्रा में) वह इस विषय में पूर्ण युक्ति अथवा बोध से शून्य है?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, भला मैं कैसे कह सकता हूँ कि वह (बोध युक्त) है?"

"और क्या यही बात सत् तत्त्व के विषय में भी ठीक नहीं है?—कि जो मनुष्य सत् के स्वरूप को अपने विवेचन में सुनिर्धारित नहीं कर सकता तथा अन्य सब वस्तुओं से पृथक कर के उसका निष्कर्षण नहीं कर सकता एवं जो प्रत्येक वस्तु का सारसत्ता द्वारा न कि आभास द्वारा परीक्षण करने का उद्योग करते हुए, युद्ध में सब वारों को झेलने के समान समग्र आपत्तियों (आक्षेपों) को ओड़ते हुए, अपनी तर्क योजना में विना डिगे हुए इस सब मार्ग को पार नहीं कर सकता—जिस मनुष्य में इस सामर्थ्य का अभाव है उसके विषय में तुम यही कहोगे कि वह न तो सत् तत्त्व की आत्मा को ही

जानता है और न किसी विशेष सत् (पदार्थ) को। परन्तु यदि इसके किसी छायारूप को वह समझ भी सका तो आभास के सम्पर्क से समझ सकेगा, ज्ञान द्वारा नहीं, और अपने ऐहिक (वर्त्तमान) जीवन भर स्वप्न देखते तथा ऊँघते हुए, यहाँ जागने के पूर्व ही वह यमसदन (Hades) जा पहुँचेगा और चिर निद्रा में सो जायेगा ?"

उसने कहा, "द्यौस की शपथ, इन सब बातों में मैं दृढ़तापूर्वक तुमसे सहमत हूँ।"

मैंने कहा, "परन्तु यह निश्चित बात है कि यदि तुम को अपने उन बालकों को, वास्तव में शिक्षा-दीक्षा देनी पड़ी, जिनकी शिक्षा की व्यवस्था तुम इस समय शब्दों में कर रहे हो तो मैं ख्याल करता हूँ कि जब तक वे लेखनी की टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं (grammas) के समान अविवेकी हैं तब तक तुम राष्ट्र में कदापि भी उनका शासनाधिकारारूढ़ होना और महत्वपूर्ण विषयों का निर्णय करना सहन नहीं करोगे ?"

उसने कहा, "नहीं, कदापि नहीं।"

"तब तो तुम नियम द्वारा यह निर्धारित कर दोगे कि वे उस विद्याभ्यास को विशेष ध्यान देवें जो उनको अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से प्रश्न पूछने और प्रश्नों का उत्तर देने योग्य बना दे ?"

उसने कहा, "हाँ, तुम्हारी सहायता से मैं ऐसा नियम निर्धारित करूँगा।"

मैंने पूछा, "तो क्या तुम इस बात से सहमत हो कि संवादविद्या (तर्क विद्या) को हमने सब विद्याओं के ऊपर स्थान दिया है मानो वह उन सब में मूर्धन्य (शृंगशिला) है—तथा कोई अन्य विद्या औचित्य के साथ उससे ऊपर स्थापित नहीं की जा सकती, और अब हमारा विद्याभ्यास का विवेचन पूर्ण हो गया ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं सहमत हूँ।"

१५

मैंने कहा, "अब तो तुम्हारे लिए बटवारे का काम शेष रह गया है, कि, इन विद्याओं को किस को और किस प्रकार सौंपा जाय।"

उसने कहा, "यह तो स्पष्ट ही है।"

"क्या तुम्हें स्मरण है कि हमने पहले नगर राष्ट्र के शासकों का निर्वाचन करने में किस प्रकार के व्यक्तियों को चुना था?"

उसने उत्तर दिया, "क्यों नहीं?"

मैंने कहा, "तुमको मान लेना चाहिए कि बहुत कुछ तो वैसी ही प्रकृति वाले व्यक्ति चुने जाने वाले हैं। अत्यन्त स्थिर स्वभाव वाले एवं अत्यन्त वीर और साहसशील व्यक्तियों को (अन्य लोगों की अपेक्षा) अधिक श्रेय मिलना चाहिए, एवं जहाँ तक व्यवहारिक हो सुन्दरतम व्यक्तियों को भी। परन्तु इसके अतिरिक्त हमको उनमें यह भी आकांक्षा रखनी चाहिए कि वे न केवल वीर, धीर, उदार और दृढ़ स्वभाव वाले हों, बल्कि उनको इस प्रकार की शिक्षा के उपयुक्त प्रकृति प्रदत्त गुण भी प्राप्त होने चाहिए।"

"इसके लिए आप कौन से गुणों का निर्देश करते हैं?"

मैंने कहा, "मेरे मित्र, उनमें अध्ययन के प्रति तीक्ष्ण अभिरुचि होनी चाहिए तथा उनको सीखने में कष्ट नहीं होना चाहिए। क्योंकि आत्माएं (मस्तिष्क) व्यायाम की अपेक्षा कठिन विद्याध्ययन में अधिक झिझकती और दौबर्ल्य का अनुभव करती है; कारण, यह परिश्रम विशेष रूप से मस्तिष्क को ही करना पड़ता है, शरीर इसमें साझा नहीं करता अतएव उसका भार उसी पर पड़ता है।"

उसने कहा, "सच है।"

"और हमको उनमें अच्छी स्मृति, अडिग लगन और परिश्रम का प्रेम इन गुणों की सर्वाधिक आकांक्षा करनी चाहिए। अन्यथा भला तुम यह कैसे

ख्याल कर सकते हो कि कोई सब प्रकार के शारीरिक श्रम करने को तथा इतने महान् अभ्यास और अध्ययन को पूर्ण करने के लिए प्रस्तुत किया जा सकेगा ?"

उसने कहा, "जब तक कि किसी को प्रकृति के उत्तम वरदान प्राप्त न हों, तब तक कोई ऐसा नहीं कर सकता।"

मैंने कहा, "हमारी आजकल की (वर्तमान) गलती तथा उसके परिणाम स्वरूप फिलासफी जिस अवधीरणा का पात्र बन गयी है, उन दोनों का कारण जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उसके सहचर और स्नेहीगण हैं। उनको जारजन्मा नहीं सच्चे अभिजात होना चाहिए।"

उसने पूछा, "इससे आपका क्या अभिप्राय है ?"

मैंने कहा, "सर्व-प्रथम तो फिलासफ़ी के भक्तों को उद्योग में लँगड़ा नहीं होना चाहिये, अर्थात् उनको आधा उद्यमी और आधा आलसी नहीं होना चाहिये। ऐसा तब होता है जब कि कोई व्यायाम, आखेट और अन्य सब प्रकार के शारीरिक श्रमों का तो प्रेमी होता है पर सीखने, सुनने, और पूछने में रुचि नहीं रखता किन्तु इन सब की ओर आलसी और उद्योग-द्वेषी होता है। तथा जिसका उद्योग इसके विपरीत में दिशा एकांगी होता है वह भी पंगु होता है।"

उसने कहा, "परम सत्य है।"

मैंने कहा, "और इसी प्रकार, सत्य के संबंध में भी क्या हम उस आत्मा को पंगु (लुंज) नहीं समझेंगे जो जानबूझ कर कहे गये असत्य से घृणा करता है, स्वतः अपने ऐसे असत्य से उद्‌विग्न होता है और दूसरों में ऐसे असत्य के कारण अप्रसन्न (क्रुद्ध) होता है पर अनजाने और यों ही कहे गये असत्य को सानन्द स्वीकार कर लेता है, तथा ज्ञानाभाव का दोषारोपण किये जाने पर दुःखित नहीं होता एवं अज्ञानकर्दम में इसी प्रकार अचेत भाव से लोटता रहता है जिस प्रकार कोई सूअर ?"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

मैंने कहा, "और संयम, साहस (वीरता) आत्मौदार्य एवं अन्य सब सद्गुणों के विभागों के संबंध में हमको वास्तविक कुलीन (अभिजात) और अकुलीन के विवेक के विषय में विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिये। क्योंकि जब कभी इस प्रकार का विवेक कर सकने के ज्ञान का व्यक्ति अथवा राष्ट्र में अभाव होता है तो वे अनजाने में बिना विचारे इन उद्देश्यों के लिये पंगु एवं अनभिजात स्वभाव वाले लोगों को मित्र अथवा शासक के रूप में नियुक्त कर लेते हैं।"

उसने कहा, "सचमुच यही बात है।"

मैंने कहा, "परन्तु हमको ऐसे सब प्रसंगों में सावधान रहना चाहिये, क्योंकि यदि ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के अध्ययन और ऐसे कठोर अभ्यास और अनुशासन के लिये हम स्वस्थांग और स्वस्थमना व्यक्तियों को उपलब्ध कर सकें तो स्वयं न्याय भी हम पर दोषारोपण नहीं कर सकेगा और हम अपने राष्ट्र और राष्ट्रनीति की रक्षा कर लेंगे। परन्तु यदि हमने इस (अध्ययन) में दूसरी प्रकार के व्यक्तियों को प्रविष्ट करा दिया तो परिणाम इसके बिलकुल विपरीत होगा और हम दर्शन शास्त्र के ऊपर वर्तमान समय की अपेक्षा कहीं अधिक परिहास की बाढ़ उँडेलने के दोषी होंगे।"

उसने कहा, "सचमुच ही यह लज्जाजनक बात होगी।"

मैंने कहा, "सो तो नितान्त निश्चय है; पर इस अवसर पर मैं फिर अपने को कुछ उपहासास्पद बनाये दे रहा हूँ।"

उसने पूछा, "कैसे ?"

मैंने कहा, "मैं यह भूल गया कि हम परिहास कर रहे हैं, और बड़ी गंभीरता के साथ बोलने लगा। क्योंकि बातचीत करते करते मैंने जब फिलासफ़ी की ओर दृष्टिपात किया और देखा कि वह निन्दा की पात्री न होते हुए भी कैसी तिरस्कृत हो रही है तो मेरा चित्त विद्रोह कर उठा और

जो मनुष्य फिलासफ़ी की अप्रतिष्ठा के कारण हैं उनके प्रति मैं इतना क्रुद्ध हो गया कि मैंने अपने विचार बड़े अभिनिवेश के साथ प्रकट किये ।"

उसने कहा, "द्यौस की शपथ, मुझ जैसे श्रोता के लिये तो कम से कम ऐसा नहीं लगा ।"

मैंने कहा, "पर मुझ जैसे वक्ता के लिये तो यह कथन अतीव अभिनिवेशमय है। लेकिन हमको यह नहीं भूल जाना चाहिये कि पहले निर्वाचन में हमने वृद्ध मनुष्यों को चुना था पर प्रस्तुत निर्वाचन में इससे काम नहीं चलेगा। क्योंकि हमको इस प्रसंग में सॉलोन के वचन को नहीं मान लेना चाहिये कि वृद्ध होता हुआ मनुष्य बहुत सी बातें सीख सकता है। वह (वृद्ध) दौड़ने की अपेक्षा सीख कम सकता है। गुरुतर एवं बहुत से कार्यों को करना युवकों का भागधेय है।"

उसने कहा, "अवश्यमेव।"

— १६ —

"अतएव अंकगणित, भूमितिशास्त्र, एवं अन्य सब प्रारंभिक विद्याएँ जो कि तर्कशास्त्र (आन्वीक्षिकी) के लिये पूर्व तैयारी रूप हैं उनको (शिष्यों को) उनके बचपन में ही सिखा देनी चाहिये, परन्तु ऐसे प्रकार से नहीं कि हमारी शिक्षा पद्धति उनके लिये अनिवार्य भार प्रतीत हो।"

"सो क्यों ?"

मैंने उत्तर दिया, "क्योंकि स्वतंत्र व्यक्ति को किसी भी विद्या का अभ्यास दासता के रूप में नहीं करना चाहिय। कारण यह है कि जब कि शारीरिक परिश्रम दबाव डालने पर (बाधित प्रकार से) किया जाता है तो वह शरीर को हानि नहीं पहुँचाता, पर बाधित प्रकार से सीखी हुई कोई बात मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं होती।"

उसने कहा, "सत्य है।"

"तब तो" मेरे श्रेष्ठ मित्र बच्चों को दबाव से पढ़ाई में मत लगाओ बल्कि क्रीडारूप में ऐसा करो। इससे तुम उनकी प्राकृतिक (स्वाभाविक) प्रवृत्तियों का पता लगाने में भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छे सफल हो सकोगे।"

उसने कहा, "आपका यह कथन है तो युक्तिपूर्ण।"

मैंने पूछा, "क्या तुमको याद नहीं रहा कि हमने यह उद्घोष किया कि हमको बच्चों को घोड़ों की पीठ पर दर्शकरूप में युद्धक्षेत्र में ले जाना चाहिये, और जहाँ भी स्थिति सुरक्षित हो वहाँ उनको छोटे पिल्लों के समान रक्त-पात का आस्वाद प्राप्त करने के लिये समरशीर्ष तक पहुँचाना चाहिये।"

उसने कहा, "मुझे याद है।"

मैंने कहा, "और इन सब बातों में—अर्थात् परिश्रम विद्याभ्यास और भयस्थलों में जो सबसे अधिक गतिदक्षता प्रदर्शित करें उनको चुन कर एक तालिका में उनके नाम लिख लेने चाहिये।"

उसने पूछा, "कितनी अवस्था में ?"

मैंने उत्तर दिया, "ज्योंही वे अनिवार्य व्यायाम की शिक्षा से छुटें तभी। क्योंकि इस समय में,चाहे वह दो वर्ष का हो, चाहे तीन वर्ष का वे अन्य कार्यों के योग्य नहीं रहते। कारण कि अधिक थकान और निद्रा का विद्याभ्यास से बैर है। और इसके अतिरिक्त उनमें से प्रत्येक का शारीरिक व्यायाम करते समय का व्यवहार भी हमारे लिये उनकी एक कसौटी-और वह भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी होगा।"

उसने कहा' "सो तो क्यों नहीं होगा ?"

मने कहा' "इस कालावधि के पश्चात् बीस वर्ष की आयुवालों में जिनको उत्कर्ष के आधार पर चुना जाय उनको अन्य लोगों की अपेक्षा

अधिक उच्च सम्मान प्रदान किया जाय। तथा जिन विद्याओं को उन्होंने बाल्यावस्था में अपनी प्रार्थमिक शिक्षा में असंबद्ध प्रकार से सीखा था, अब उन्हें उन सब (विद्याओं) को एक सर्वसंग्रही पर्यालोचन में सम्मिलित करना चाहिये जिससे कि वे उनके पारस्परिक प्रकृत संबंध को, एवं सत्तत्त्व के साथ उनके सम्बन्ध को जानने में समर्थ हो सकें (अथवा देख सकें)।"

उसने कहा, "निश्चयेन केवल यही शिक्षा ऐसी है जो प्राप्त करने वालों के साथ स्थिरतया रहती है।"

मैंने कहा, "और यह तार्किक स्वभाव और अतार्किक स्वभाव की महान कसौटी भी है। क्योंकि जो व्यक्ति संग्राहकदृष्टि है वही तार्किक है, जो (ऐसा) नहीं है वह (तार्किक) नहीं।"

उसने कहा "मैं आप से सहमत हूँ।"

मैंने कहा, "इन गुणों को दृष्टि में रखते हुए, तुम्हारा यह कर्तव्य होगाकि तुम उन व्यक्तियों के वर्ग में से जो विद्याभ्यास, युद्ध और अन्य नियमित कार्यों में सुदृढ़तया दत्तचित्त हैं उनको चुन लो जो इन गुणों को सर्वोत्तम प्रकार से अभिव्यक्त करें, तथा जब वे तीसवाँ वर्ष व्यतीत कर चुकें तब प्रथम चुनाव में चुने गये व्यक्तियों में से पुनः चुनाव करके उनको पूर्वापेक्षा और भी उच्च सम्मान प्रदान करो, तथा तर्क शक्ति के द्वारा उनका परीक्षण और निकषण कर यह देखो कि उनमें कौन ऐसा है जो नेत्र और अन्य इन्द्रियों के उपयोग के बिना ही केवल सत्य के साहचर्य में सत्तत्त्व तक पहुँचने में समर्थ है। और हे मित्र इस अवसर पर, बड़ी भारी सावधानी की आवश्यकता है।"

उसने पूछा, "क्यों, इतनी अधिक क्यों ?"

मैंने उत्तर दिया, "क्या तुम नहीं देखते कि तर्कशास्त्र के उपयोग के कारण सम्प्रति कितनी बुराई उत्पन्न होती है ?"

उसने पूछा, "कौन सी बुराई ?"

मैंने कहा, "तार्किक लोग नियमशून्यता से परिपूर्ण हैं।"

उसने कहा, "सचमुच ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "क्या तुम यह ख़्याल करते हो कि इस मनोदशा में कोई आश्चर्यजनक बात है, तथा क्या तुम इन व्यक्तियों को क्षन्तव्य नहीं समझते ?"

उसने पूछा, "किस विशेष कारण से ?"

मैंने उत्तर दिया, "उनकी दशा एक ऐसे कल्पित पुत्र के समान है जो बहुत चापलूस लोगों से घिरा हुआ प्रभूत धनधान्य-एवं जनसंपन्न परिवार में पला है, तथा वयःप्राप्त होने पर जिसको यह पता चलता है कि उसके माने हुए मातापिता उसके वास्तविक माता-पिता नहीं हैं, यद्यपि वह अपने सच्चे माता-पिता का भी पता नहीं लगा पाता है। क्या तुम अनुमान कर सकते हो कि चापलूस लोगों के और कल्पित माता-पिता के प्रति प्रथमतः अपने कल्पित पुत्र होने के संबंध को न जानने के समय उसकी भावना कैसी होगी और फिर उस संबंध को जान लेने पर कैसी होगी ? अथवा तुम मेरा अनुमान सुनना चाहोगे ?"

उसने उत्तर दिया, "चाहूँगा तो।"

१७

मैंने कहा, "अच्छा, तो मेरा अनुमान यह है कि, जब तक उसको सत्य का ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह संभवतया अपने तथा-ख्यात माता-पिता एवं अन्य संबंधियों का सम्मान चापलूस लोगों की अपेक्षा अधिक करेगा; तथा इस बात की अपेक्षाकृत कम संभावना होगी कि वह उनको किसी वस्तु का अभाव अनुभव करने दे, एवं वह उनके प्रति कोई भी अवैध कथन अथवा कार्य कहने या करने को प्रवृत्त

नहीं होगा और महत्वपूर्ण बातों में चापलूस लोगों की अपेक्षा उनके प्रति कम अविधेयता प्रदर्शित करेगा ।"

उसने कहा, "ऐसा संभवपर है ।"

"परन्तु सत्य का पता लग जाने पर, मेरा अनुमान यह है, वह उनके प्रति सम्मान और भक्ति भाव प्रदर्शित करने में अधिकाधिक प्रमादी होता जायेगा और चापलूस लोगों के प्रति अधिक आदर सूचित करने लगेगा और पूर्वापेक्षा उनकी बातों को अधिक ध्यान देगा, खुले ढंग से उनकी संगति करेगा और उन्हीं के नियमानुसार जीवनयापन करने लगेगा । इसके विपरीत जब तक वह बहुत ही अच्छे स्वभाव का न हो, तो वह अपने पूर्व पिता और स्वीकृत संबंधियों की तनिक भी चिन्ता नहीं करेगा ।"

उसने कहा, "जो कुछ आप ने कहा, यह सब घटित होना संभव है । परन्तु इस तुलना की तर्कशास्त्र के शिक्षार्थी के प्रसंग में चरितार्थता कहाँ है ?"

"इस प्रकार से है कि मैं समझता हूँ हम लोग बाल्यकाल से ही इस विषय में कुछ बद्धमूल विश्वास रखते हैं कि क्या न्याय्य है एवं क्या आदरणीय है तथा जिस प्रकार बच्चे अपने माता-पिता के प्रति आज्ञाकारी एवं सम्मानकारी होकर पलते हैं उसी प्रकार हम भी उनके विधेय और समादरकारी होकर इन विश्वासों में पलते हैं ।"

"हाँ एसा ही है ।"

"और क्या कुछ अन्य ऐसी प्रवृत्तियाँ भी (समाज में) नहीं रहती हैं जो इन (विश्वासों) की विपरीतगामिनी होती है, एवं जिनमें आमोद-प्रमोद सम्पृक्त रहते हैं तथा जो हमारी आत्मा की (झूठी) चापलूसी करके उसे स्वायत्त करने की अभ्यर्थना करती हैं पर जो किसी भी शालीनता सद्गुण सम्पन्न व्यक्ति को स्ववश नहीं कर सकती, और वे अपने

पिताओं की शिक्षा का सम्मान करते रहते हैं और उनकी आज्ञा मानते हैं ?"

"यही बात है।"

मैंने कहा, "अच्छा, तो जब इस अवस्था में स्थित व्यक्ति के समक्ष यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि 'आदरणीय अथवा शोभन किसको कहते हैं ?' और नियमकर्ता द्वारा सिखाया हुआ उत्तर देने पर युक्तियाँ उसका खण्डन कर देती हैं, एवं अनकों विविध प्रकार की युक्ति पराजय उसकी श्रद्धा को उथलपुथल कर देती हैं और उसके हृदय में यह विश्वास उत्पन्न कर देती हैं कि कोई अमुक वस्तु जितनी ही शोभन और सम्मान्य है उतनी ही अशोभन भी है, और जब उसको न्याय्य, सत् एवं अन्य मुख्य रूपेण समादरणीय वस्तुओं के विषय में भी इसी प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है, तो तुम स्वयं ख्याल कर सकते हो कि इसके पश्चात् परम्परागत सदाचार के संबंध में उसका व्यवहार कैसा होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो अनिवार्य है कि वह पूर्ववत् आदरपूर्ण और आज्ञाकारी नहीं बना रहेगा।"

मैंने कहा, "और तब, जब कि वह उन सिद्धान्तों का सम्मान करना तथा उनको अपने लिये आवश्यकीय मानना बन्द कर देता है और सच्चे सिद्धान्तों को खोज निकालने में सफल हो नहीं पात। तो उसके लिये इच्छाओं की संराधना करने वाले जीवन मार्ग को छोड़ कर अन्य किस मार्ग को स्वीकार करना संभव हो सकता है ?"

उसन कहा, (अन्य मार्ग को स्वीकार करना) संभव नहीं है।"

"तब तो वह पूर्ववत् नियमपालक रहने के बदले नियमों और रीति-रिवाजों का विरोध करने वाला बन गया प्रतीत होगा।"

मैंने कहा, "और क्या जो तर्कशास्त्र में प्रवृत्त होते हैं उनका ऐसा

अनुभव प्रत्याशित (अथवा स्वाभाविक) नहीं है, तथा जैसा, मैंने अभी कहा था, क्या यह अत्ययन्त क्षन्तव्य नहीं हैं ?"

उसने कहा, "हाँ, और दयनीय भी।"

"तब तो, क्या तुम अपने इन शिष्यों को तर्कशास्त्र में प्रवृत्त करते समय सब प्रकार की सावधानी नहीं बरतोगे, जिससे तुमको इन तीस वर्ष की आयु वालों के प्रति इस प्रकार दयनीयता का अनुभव न करना पड़े ?"

उसने कहा, "हाँ, वास्तव में ऐसा ही करना चाहिये।"

"तथा क्या यह एक महान् रक्षा का उपाय नहीं है कि उनको छोटी अवस्था में इसका आस्वादन न करने दिया जाय ? क्योंकि, मैं ख्याल करता हूँ कि तुम यह देखने में नहीं चूके होगे कि जब इन लोगों की जिह्वा को इस तर्कशास्त्र का स्वाद लग जाता है तो वे इसके साथ खिलवाड़ करते हुए इस का दुरुपयोग करते हैं और नित्य वितण्डा के रूप में इसका प्रयोग करके खण्डनकर्त्ताओं का अनुकरण करते हुए स्वयं भी दूसरों का खण्डन किया करते हैं; छोट पिल्लों के समान किसी भी पास आने वाले व्यक्ति को खींचने और नोचने में उनको आनन्द आता है।"

उसने कहा, "अत्यधिक ऐसा ही है।"

"अतएव जब वे स्वयं बहुतों का खण्डन कर चुकते हैं तथा बहुतों से अपन आप भी पराजित हो चुके होते हैं, तब वे बड़ी शीघ्रता और वेग से उन सब बातों का अविश्वास करन लगते हैं जिनको वे पहले सत्य (अच्छा) मानते थे; परिणाम यह होता है कि वे अपने आप तथा दर्शनशास्त्र का समग्र व्यापार दोनों ही अन्य लोगों की दृष्टि में गिर जाते हैं।"

उसने कहा, 'परम सत्य है।"

मैंने कहा, "अधिक अवस्था वाला व्यक्ति ऐसा पागलपन नहीं करेगा; प्रत्युत केवल खिलवाड़ और परिहास में ही खण्डन-मण्डन करने वालों की अपेक्षा वह उन तार्किकों का अधिक अनुसरण करेगा जो सत्य के अन्वेषण एवं परीक्षण के लिय तर्क करने को सहमत होते हैं, अतएव वह स्वयं विवेकानुगामी और मर्यादित रहेगा और इस प्रकार अप्रतिष्टा के बदले अपने व्यापार को प्रतिष्ठा प्रदान करेगा।"

उसने कहा, "ठीक।'

"और जब हमने यह कहा था कि जो लोग इस तर्क में प्रविष्ट हों वह सुव्यस्थित और स्थिर स्वभाव वाले व्यक्ति हों न कि आजकल की सी प्रथा रहे कि जो कोई भी अकस्मात् प्राप्त और अयोग्य व्यक्ति स्वीकार कर लिया जाय, तो क्या हमारे सारे पूर्वकथन इसी सावधानी को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत नहीं कि गये थे ?

उसने उत्तर दिया, "सर्वथा यही बात है।"

१८—"तो क्या, तर्कशास्त्र के निरन्तर और आयासपूर्ण अध्ययन को, अन्य सब धन्धों से निश्चिन्त होकर, (जैसा कि इसी के सदृश् शारीरिक व्यायाम के प्रसंग में हुआ था) उतने वर्षों के दुगुने वर्ष लगाना जितने शरीर साधाना में लगे थे, पर्याप्त होगा ?"

उसने पूछा, "आप का तात्पर्य छ वर्ष से है या चार से ?"

मैंने कहा, "इससे कुछ नहीं बनता बिगड़ता, पाँच वर्ष मान लो। इसके पश्चात् तुमको उन्हें फिर भू-गर्भ में स्थित गुहा में भेजना पड़ेगा तथा वहाँ पर युद्ध में सेनानायकत्व करने और अन्य युवकोचित पदों पर काम करने के लिये बाध्य करना पड़ेगा जिससे कि वे अन्य प्रकार के मनुष्यों की अपेक्षा लोकानुभव में भी घट कर न रह जाएँ। एवं इन पदों पर आरूढ़ होने पर भी यह देखने के लिये उनका परीक्षण होना चाहिये कि वे विभिन्न प्रकार के आकर्षणों तथा चाटु-

कारियों की खींचातानी में सुदृढ़तया स्थिर रहते हैं या डगमगा कर पथभ्रष्ट हो जाते हैं ।"

उसने पूछा, "इसके लिये तुम कितना समय निर्धारित करते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "पन्द्रह वर्ष; और पचास वर्ष की अवस्था हो जाने पर जो सब परीक्षणों को पार कर चुकें और सब प्रकार कामों और विद्याओं में अपने को सर्वथा श्रेष्ठ सिद्ध कर दें तो उनको अन्तिम लक्ष्य को पहुँचने दिया जाय। इस समय हम उनसे यह चाहेंगे कि वह अपनी आत्मदृष्टि ऊपर की ओर उठा कर उसकी ओर एकटक देखें जो अपने प्रकाश से सब को प्रकाशित करता है; तथा जब वे इस प्रकार स्वतः सत् के दर्शन कर लें तब वे अपने शेष जीवन भर राष्ट्र की, नागरिकों की एवं स्वयं अपने जीवन की सुव्यवस्था के लिये उसका अनुकरणीय आदर्श के रूप में उपयोग करें। दर्शनशास्त्र के अध्ययन को अपने जीवन का प्रमुख व्यापार बना कर, उनमें से प्रत्येक अपनी बारी आने पर राष्ट्र की सेवा के श्रम में भी लगे और नगर की भलाई के लिए पदाधिकार स्वीकार करे, पर इस कार्य को वांछनीय समझ कर नहीं आवश्यक कर्तव्य समझ कर करें। इस प्रकार जब प्रत्येक पीढ़ी के लोग आगामी पीढी के लोगों को शिक्षित बना कर अपने समान राष्ट्र-संरक्षकों का स्थान ग्रहण करने योग्य बना दें तो स्वयं विदा होकर पुण्यवानों के द्वीप (धाम को) चले जायें और वहाँ निवास करें। तथा यदि पिथिया की दिव्यवाणी की स्वीकृति मिल जाय तो राष्ट्र उनकी स्मृति में सार्वजनिक (व्यय से) स्मारक स्थापित करे और उनको देवता मान कर उनके लिये यश और बलिदान दिये जाएँ, पर यदि स्वीकृति न मिले तो उनको दिव्यमानव मान कर सम्मानित करे।"

उसने कहा, "सॉक्रातीस्, तुमने तो हमारे संरक्षकों (अर्हतों archons) की मूर्तियों को एक मूर्त्तिकार के समान अनिन्द्य सुन्दर बना दिया।"

मैंने कहा, "हाँ, ग्लौकोन और अर्हन्तियों को भी तो। क्योंकि तुम

यह ख्याल मत करना कि मैंने जो कुछ कहा है वह उन स्त्रियों की अपेक्षा, (जो कि वाञ्छनीय गुणों के सहित उनमें उपलब्ध हों) पुरुषों के लिये अधिक लागू होता है।"

उसने कहा, "यदि हमारे विवरण के अनुसार वे मनुष्यों के साथ सब बातों में समानता के आधार साझी होंगी तो आप का यह कथन बिलकुल ठीक ही है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्या तुम स्वीकार करते हो कि नगरराष्ट्र और उसकी नीति के संबंध में हमारी धारणा (सिद्धान्त) कोरा स्वप्नमात्र नहीं है, प्रत्युत इसकी साधना कठिन होते हुए भी यह एक प्रकार से संभव है, पर संभव केवल एकमात्र उसी प्रकार से है जो कि वर्णन किया जा चुका है, अर्थात्, बहुत से या कम से कम से एक वास्तविक दार्शनिक (किसी) राष्ट्र में प्रभुत्व पाकर एतत्कालीन प्रतिष्ठाओं को अनुदार और अयोग्य मान कर उन की अवहेलना करके केवल उचित (न्याय) को और तज्जनित सम्मान को ही मूल्यवान समझें एवं न्याय को ही मुख्य और एकमात्र अनिवार्य वस्तु मानते हुए उसी की सेवा और धारणपोषण में अपने नगरराष्ट्र का पुनःसंघटन और शासन करें।

उसने पूछा, "कैसे?

मैंने कहा, "वे उन सब नगरनिवासियों को देहात में निकाल देंगे जो दश वर्ष से अधिक अवस्था के हैं, और उनके बच्चों पर अधिकार कर लेंगे, उनको उनके माता-पिताओं के प्रभाव से दूर रक्खेंगे तथा उनको अपने रीतिरिवाजों के अनुसार पालपोसेंगे, यह रीतिरिवाज ऐसे होंगे जैसे कि हमने वर्णन किये हैं। बतलाओ, क्या जैसे नगरराष्ट्र और नगरनीति का हमनेचित्रण किया है उसकी स्थापना और संवृद्धि (समृद्धि) के लिये, तथा जिन मनुष्यों में यह उत्थापित हो उनका परमलाभ संपादन करने के लिये, यही शीघ्रतम और सरलतम उपाय नहीं है?"

उसने कहा, "यही सर्वोत्तम उपाय है; एवं सॉक्रातीस मैं समझता हूँ (यदि कभी इसका वास्तव में संभव होना सिद्ध हुआ तो) तुमने उसके घटित होने का प्रकार भी भलीभाँति समझा दिया।"

मैंने कहा, "तो क्या हम अब इस राष्ट्र और इसके अनरूप व्यक्ति के विषय में पर्याप्त रूपेण बहुत कुछ नहीं कह चुके—क्योंकि यह बिलकुल स्पष्ट है कि हम उसके रूप का प्रतिपादन किस प्रकार करेंगे।"

उसने कहा, "हाँ स्पष्ट है। और मैं समझता हूँ कि प्रस्तुत मीमांसा अब समाप्त हो चुकी।"

आठवीं पुस्तक

१—"बहुत अच्छा। तो ग्लौकोन हम इन बातों पर सहमत हैं कि जिस नगरराष्ट्र को श्रेष्ठ शासन का उच्चतम स्वरूप प्राप्त करना हो उसमें स्त्रियों और बच्चों और सब प्रकार की शिक्षा पर सब का समानाधिकार होना चाहिये, तथा युद्ध और शान्ति में सब (स्त्री पुरुषों) के धन्धे भी एक समान होने चाहिये, एवं उनके ऊपर शासक अथवाराजा वह लोग होने चाहिये जिन्होंने अपने को युद्ध और दर्शनशास्त्र दोनों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाया है।"

उसने कहा, "हाँ, हम इस विषय में सहमत हैं।"

"इसके आगे हमने यह भी मान लिया है कि जब शासक अपने पद पर आरूपढ़ हो जाएँ तो वह सैनिकों को लेकर उनको हमारे द्वारा पूर्ववर्णित गृहों में बसाएँ, जिनमें किसी के लिये कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं होगी प्रत्युत सब वस्तुओं पर सब का समान अधिकार होगा। इस प्रकार के गृहों के अतिरिक्त यदि तुम्हें याद हो तो हम इस बात पर भी एकमत हो चुके थे उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति किस प्रकार की होनी चाहियें।"

उसने कहा, "हाँ मुझे याद है कि यह उचित समझा गया था कि उनमें

से किसी के पास भी वैसी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिये जैसी कि आजकल अन्य मनुष्यों के पास है, किन्तु क्योंकि वे युद्धमल्ल और रक्षक हैं अतएव उनको संरक्षता के लिये अन्य लोगों से प्रतिवर्ष वर्ष भर के भरण-पोषण की सामग्री भृति रूप में मिलनी चाहिये तथा उनको अपना सारा ध्यान स्वयं अपने ऊपर और राष्ट्र के ऊपर लगाना चाहिये ।"

मैंने कहा, "यह बात ठीक है । पर अब क्योंकि यह प्रकरण समाप्त हो गया, अतएव अब हमको उस स्थान की ओर मुड़ना चाहिये जहाँ से मार्गान्तर (विषयान्तर) पर चल कर यहाँ आ पहुँचे जिससे कि उसी पथ से हम पुनः अपने मार्ग पर चल निकलें ।"

उसने कहा, "इसमें कुछ कठिनाई नहीं है । इस समय के समान ही उस समय भी यह मान कर कि आप नगर का वर्णन समाप्त कर चुके हैं, आप यह कहने जा रहे थे कि आप यह मानते हैं कि उस समय आपके द्वारा वर्णित नगर और तदनुरूप व्यक्ति अच्छे हैं, यद्यपि ऐसा लगता है कि तब भी आप उससे भी बढ़ कर नगर और उससे भी बढ़ कर व्यक्ति का वर्णन करने वाले थे । फिर भी आप यह तो कम से कम कह ही रहे थे कि यदि यह नगर ठीक है तो अन्य दोषपूर्ण हैं । शेष राष्ट्रनीतियों के विषय में, मुझे याद पड़ता है, आपने यह कहा था कि जो नीतियाँ और जिनके अनुरूप व्यक्ति वर्णन करने योग्य है तथा जिनकी त्रुटियाँ निरीक्षण करने योग्य हैं उनके चार प्रकार होते हैं जिससे कि जब हम उन सब को देख चुकें एवं सर्वोत्कृष्ट तथा निकृष्टतम व्यक्ति के संबंध में सहमत हो चुके तो यह निर्धारित कर सकें कि सर्वोत्कृष्ट सबसे सुखी और निकृष्टतम सबसे दुःखी व्यक्ति है अथवा इसके विपरीत बात सत्य है । और मेरे आप से यह पूछने पर कि आपके मन में कौन सी चार राष्ट्रनीतियाँ है, पाल्मीमार्कस और अदेइमान्तास बीच में कूद पड़े, इस पर आप ने जो विवेचन फिर से आरंभ किया उसमें हम यहाँ तक पहुँचे हैं ।"

मैंने कहा, "तुम्हारी स्मृति बिल्कुल ठीक है ।"

"तब तो कुश्ती लड़ने वाले मल्ल के समान आप मुझे फिर से वही पकड़ लेने दीजिए और जब मैं प्रश्न करूँ तो आप वही उत्तर देने की चेष्टा कीजिये जो आप उस समय देने वाले थे ।"

मैंने कहा, "यदि हो सका तो अवश्य ऐसा करूँगा ।"

उसने कहा, "मैं स्वयं यह सुनने के लिये आतुर हूँ कि आप का तात्पर्य कौन से चार नीति के प्रकारों से है ।"

मैंने कहा, "यह कहना (सुनना) कठिन नहीं है । जिन राष्ट्र विधानों की ओर मैंने संकेत किया है वे यही हैं जिनके नाम नित्यप्रति के साधारण व्यवहार में सामान्यतया उपयोग में आते हैं अर्थात् प्रथम तो तुम्हारी क्रीती और लाकोनीकी की राष्ट्रनीति जिसकी अत्यंत प्रशंसा की जाती है; इससे उतर कर स्थान और सम्मान में द्वितीय आने वाली नीति वह है जो ऑलीगार्किया (oligarchia) कतिपय कुलों या व्यक्तियों का राज्य) कहलाती है तथा जो बुराइयों से परिपूर्ण है । इसके उपरान्त डिमॉक्रातिया आती है जो ऑलीगार्की की ही परिणति है और विरोधिनी भी है; और अन्तिम एवं सबसे बढ़कर शानदार तानाशाही है जो कि चतुर्थ स्थान की भाजन है तथा राष्ट्रों की सबसे बुरी बीमारी है । क्या तुम अन्य किसी प्रकार की ऐसी राष्ट्रनीति बतला सकते हो जो इनसे भिन्न हो; मेरा तात्पर्य यह है जिसका स्वरूप इनसे बिलकुल पृथक् हो ? क्योंकि, निश्चय ही कुलक्रमागत राज्य और क्रीत प्रभुत्व तथा ऐसी ही अन्य और भी (उपर्युक्त राष्ट्रनीतियों की) मध्यवर्त्तिनी (कड़ियाँ) नीतियाँ हैं जो कि हैलेनीस् लोगोंमें तथा उनकी अपेक्षा बर्बर जातियों में और भी अधिक संख्यामें उपलब्ध होती हैं ।"

उसने कहा, 'हाँ बहुत सी अनोखी राष्ट्रनीतियों की चर्चा सुनी जाती है ।"

२

२. मैंने पूछा, "तो क्या तुमको यह विदित है कि राजनीति (शासन प्रणाली) के जितने भेद होते हैं, उतने ही भेद मनुष्योंके स्वभावके भी अवश्यमेव होने ही चाहिये ? अथवा क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि शासन प्रणालियाँ लोकोक्ति प्रसिद्ध पेड़ पत्थरोंसे उपजती हैं न कि नागरिकोंके स्वभावोंसे, जो मानो तुलामें अपने झोंके और भार से अन्य वस्तुओं को भी अपने साथ घसीट कर ले जाने की सामर्थ्य रखते हैं ?

उसने उत्तर दिया, "कम से कम मेरे विचारों में तो वे अन्य उद्गम से किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकतीं।"

"तब तो यदि शासनप्रणालियों के पाँच प्रकार हैं तो व्यक्तियों की आत्माओं में भी पाँच कोटियाँ अवश्य होनी चाहिये।"

"क्यों नहीं ?"

"अच्छा तो अरिस्तोक्रातिया (aristaocratia) अर्थात् श्रेष्ठजनों के शासन) के समनुरूप व्यक्ति का जिसको हम वास्तव में अच्छा और न्यायी कहते हैं—वर्णन तो हम कर चुके।"

"हाँ कर चुके।"

"तो क्या इसके उपरान्त अब हमें निम्नकोटि के मनुष्यों का वर्णन नहीं करना चाहिये, अर्थात् उस कोटि के मनुष्य का जो कि लाकोनिकी शासनप्रणाली के अनुरूप है एवं द्वंद्वप्रिय और सम्मानलोलुप है, एवं इसी प्रकार क्रम प्राप्त आलीगर्किया, डिमोक्रातिया एवं तानाशाही प्रणालियोंके अनुरूप जनों का वर्णन नहीं करना चाहिये,जिससे कि सबसे अधिक अन्यायी व्यक्तिके स्वरूप का दर्शन पाने के पश्चात् हम उसको सबसे अधिक न्यायी व्यक्ति के समक्ष रखकर विशुद्ध न्याय और विशुद्ध अन्यायका अपने पात्रके सुख और दुख से क्या संबंध है इस विषय में अपने अनुसंधान को पूर्ण कर सकें एवं परिणामतः या तो हम थ्रासीमाकस् की राय मान लें और अन्याय

का अनुसरण करें, या प्रस्तुततर्क को मान कर न्याय का पथ ग्रहण करें ?"

उसने उत्तर दिया, "निश्चयमेव, यही तो हमको करना है।"

"तो क्या, जिस प्रकार हमने व्यक्तियों के नैतिक गुणों के परीक्षण के पूर्व राष्ट्रों (नगरों) के नैतिक गुणों का परीक्षण करते हुए (अपने संवाद को) आरंभ किया था, क्योंकि वे गुण राष्ट्र में अधिक स्पष्ट लक्षित होते थे, उसी प्रकार अब भी सम्मानप्रियता पर आश्रित राज्य प्रणाली का विचार परीक्षण (आरंभ) करें ? इसके किसी अन्य प्रचलन प्राप्त विशेष नाम का मुझे ज्ञान नहीं है इसलिये मैं इसको या तो तिमाक्रातिया या तिमाक्रिया कहूँगा। इसके उपरांत इसके संबंध में हम इस कोटि के व्यक्ति का भी विचार करेंगे, तदुपरांत आलीगर्किया और आलीगार्क का विचार करेंगे और फिर दिमाक्रातिया पर दृष्टि लगाकर दिमाक्रातिक जन का विचार करेंगे; और चौथी बार (अंत में) तानाशाह द्वारा शासित नगर में जाकर और उसका निरीक्षण करके हम क्रमशः तानाशाह आत्मा (की झांकी लेंगे) और इस प्रकार अपने को प्रस्तुत प्रश्न के योग्य निर्णायक बनाने का उद्योग करेंगे।

उसने कहा, "निरीक्षण और निर्णयकार्य के संचालन का यह मार्ग कम से कम सुव्यवस्थित और युक्तियुक्त तो है।"

३

३. मैंने कहा, "तो आओ, हम यह बतलाने (वर्णन करने) का प्रयत्न करें कि अरिस्तोक्रातिया से तिमाक्रातिया किस प्रकार उत्पन्न होगी। अथवा क्या सरल अटल नियम यही है कि प्रत्येक प्रकार की शासन प्रणाली में क्रांति का सूत्रपात सर्वदा स्वयं शासक दल की ओर से होता है और तब होता है जब कि उन (शासकों) में पारस्परिक विद्वेष (भेद) उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु जब तक शासक दल ऐक्यपूर्ण रहता है, तब तक चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, उसको हिला देना असंभव होता है ?"

"हाँ, ऐसा ही है।"

मैंने पूछा, "ग्लौकोन, यह बतलाओ हमारा नगर किस प्रकार हिलेगा, तथा हमारे शासकों एवं (उनके) सहायकोंमें कलह कैसे छिड़ेगा, तथा वे एक दूसरे से और अपने आपस में किस प्रकार झगड़ेंगे ? क्या हमको, होमेरास् की भाँति मूसाओं का अह्वान करना होगा कि वे आकर हमको बतलायें कि "सबसे पहले कलह किस प्रकार आरंभ हुई ?" क्या हमको यह कहना होगा कि यह देवियाँ ,हमारे साथ खिलवाड़ करते हुए और बालकों के समान हमको तंग करते हुए हमको एक उदार परिहास-गंभीर त्रागेदी की शैली में संबोधन करेगी ?"

"किस प्रकार ?"

"कुछ इस प्रकार से। इस प्रकार संगठित (व्यवस्थित) नगर राष्ट्र के लिये सचमुच ही हिल जाना तथा उपद्रवग्रस्त हो जाना कठिन है। पर क्योंकि जिसका जन्म अथवा आरंभ हुआ है उसका विनाश भी नियत ही है, इसलिये इस जैसी व्यवस्था सर्वदा नहीं रहेगी, निश्चयमेव वह भी छिन्न-भिन्न होकर रहेगी तथा इसके विलय का प्रकार यह होगा। पृथ्वी पर जो वनस्पति उत्पन्न होती हैं केवल उन्हों के लिये नहीं बल्कि इस (पृथ्वी) पर बसने वाले जीव धारियों के लिये भी मानसिक और शारीरिक उर्वरता और अनुर्वरता का चक्र चलता ही रहता है और जितनी बार उनके वृत्त की परिधि परिपूर्ण होती है उतनी ही बार ऐसा होता है; अल्पायु वालों के लिये ये वृत्त अल्प स्थान घेरते हैं, दीर्घायुवालों में अधिक स्थान। परन्तु मानवजाति की प्रभूत प्रजनन शक्ति एवं वंध्यात्व के नियमों को तुम्हारे द्वारा शासक बनने के लिये पाले गये लोग अपनी सारी बुद्धिमत्ता से तर्क युक्ति और इन्द्रिय-ज्ञान के सहारे भी नहीं जान पायेंगे, एवं वे उनसे छड़क जायेंगे और ऐसे अवसर उपस्थित होंगे जब कि वे अयोग्य समय में बच्चे उत्पन्न करेंगे। दैवी जाति (जन्म) वालों की कालावधि का समावेश पूर्णांक

में रहता है ; मानव जाति की कालावधि ऐसी संख्या में समाविष्ट रहती है जिसमें संकोच एवं विस्तार द्वारा (वर्गीकरण अथवा घनी करण द्वारा) प्रथम वृद्धि,सदृश एवं असदृश, वर्द्धिष्णु तथा सहिष्णु संख्याओं के तीन अन्तरालों तथा चार परिसीमाओं को पाकर, सब परिसीमा संख्याओं को परस्पर संविभाज्य समतुरूप कर देती है। इनका आधार जिसमें एक तृतीयांश और जोड़ दिया गया है, पाँच के साथ मिलकर, गुणित होकर घनीकृत होने पर दो संवादिताओं को जन्म देता है; इनमें से प्रथम एक सौगुना वर्ग होता है, तथा दूसरी एक ऐसी आकृति होती है जिसकी एक भुजा पूर्व (आकृति) के बराबर होती है, पर जो आयताकार होती है, जिसका क्षेत्रफल वर्ग के पूर्णांक कर्ण पर शतगुना वर्गीकृत संख्या के बराबर होता है, जिसकी भुजा पाँच है और (शेष) में से प्रत्येक एक एक कम है, अथवा पूर्णांक कर्णवाले पूर्ण वर्गों से दो दो कम हैं, तथा तीन के शतगुणा घनीकृत हैं। यह समग्र भूमिति संबंधी अंक जन्म की भलाई और बुराई का नियन्त्रण करता है। एवं जब तुम्हारे संरक्षकगण, इसको बिना जाने, अनवसर पर वर और वधुओं का समागम प्रस्तुत करते हैं, तो बालक संतति सुजात और सौभाग्य संपन्न नहीं होती। पूर्व की पीढ़ी, निश्चयमेव इनमें से सर्वश्रेष्ठ को ही अधिकारारूढ़ करेगी, परन्तु अयोग्य होते हुए अपने पिताओं के पद को कालक्रम से पाकर सर्व प्रथम वे संरक्षक रूप में हमारे प्रति प्रमाद करने लगेंगे अर्थात् संगीत को बहुत कम ध्यान देंगे, तदुपरान्त व्यायाम को भी कम ध्यान देंगे, जिससे हमारे युवक संस्कृति (संवृद्धि) में पतनोन्मुख होने लगेंगे। एवं इनमें चुने हुए शासक, हीसियाडॉस एवं हमारे द्वारा बतलायी गयी, स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं आयस मानव जातियों के परीक्षण में अपने को योग्य संरक्षक सिद्ध नहीं कर सकेंगे। और लौह तथा रजत एवं ताम्र और स्वर्ण का संमिश्रण असादृश्य एवं विसंवादी विषमता को उत्पन्न करेगा, और यह ऐसी वस्तुएं हैं कि जहाँ भी

पैदा हो जाती हैं वहीं लड़ाई और वैर को जन्म देती है। हमको कहना पड़ता है कि "कलह जहाँ कहीं उत्पन्न होती है सदा इसी प्रकार की पीढ़ी में उत्पन्न होती है।"

उसने कहा, "और हम स्वीकार करेंगे कि मूसाओं का उत्तर ठीक ही है।"

मैंने कहा, "उनको अवश्यमेव ऐसा ही करना चाहिये क्यों वे मूसाएँ हैं न।"

उसने पूछा, "इसके उपरांत मूसाएँ आगे क्या कहती हैं ?"

मैंने कहा, "जब कलह उत्पन्न हो गई तो दोनों समूह विपरीत दिशाओं में खींचातानी करने लगे, लौह और ताम्र वर्ग के लोग धनोपार्जन की ओर तथा भूमि, गृह स्वर्ण और रजत की प्राप्ति की ओर जायेंगे और शेष दो—स्वर्ण और रजत वर्ग के लोग निर्धन न होने के कारण प्रत्युत आत्मधनी होने के कारण सद्गुणों तथा मौलिक शासन प्रणाली की ओर जाने (ले जाने) का प्रयत्न करेंगे। बल प्रयोगसे दमन करते हुए और उसका प्रतिरोध करते हुए परस्पर कलहायमान वे इस आधार पर समझौता करेंगे कि भूमि और गृहों को आत्मसात् करके वे परस्पर बाँट लें तथा अपने उन पूर्वकालीन मित्रों और पोषकों को जिनकी स्वतन्त्रता के वे स्वयं संरक्षक थे, अर्द्धदास और गृहदास बना लें, और स्वयं युद्ध करने और उन दासों पर चौकसी रखने में लगे रहें।"

उसने कहा, "मैं समझता हूँ कि यही परिवर्तन का आरंभ-स्थल है।"

मैंने पूछा, "तो फिर क्या यह शासन प्रणाली एक प्रकार से अरिस्तोक्रातिया और आलीगार्किया की मध्यवर्त्तिनी स्थिति नहीं होगी ?"

"सर्वथा ऐसी ही बात है।"

४

८. "तो इस परिवर्तन से यह स्थिति उत्पन्न होगी। परन्तु इस परि-

वर्तन के पश्चात् वे किस प्रकार रहेंगे ? क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि कुछ अंशों में यह पूर्वगामी नीति का अनुसरण करेगी और कुछ अंशोंमें आलिगार्किया का अनुकरण करेगी क्योंकि यह मध्यवर्तिनी नीति जो ठहरी, और कुछ लक्षण बिलकुल इसके अपने निजी होंगे ?"

उसने कहा, "यही बात है ।"

"शासकों का सम्मान करने में, योधाओं के खेती बाड़ी, उद्योग धन्धों और सामान्य रूपेण धनार्जकव्यापारों का वर्जन करने में, सार्वजनिक सहभोजों की प्रथा की स्थापना में, एवं शारीरिक व्यायाम और युद्ध कला के शिक्षण में--क्याइन सब बातों में यह पूर्व कालीन शासन व्यवस्था का अनुसरण नहीं करेगी ?"

"हाँ करेगी ।"

"पर चतुर मनुष्यों को पदारूढ़ करनै से भय खाने में--क्योंकि इसके पास जो इस प्रकार के आदमी रह गये हैं वे अब सरल और लगन वाले नहीं बल्कि संमिश्रित जाति के होंगे--राजस स्वभाव एवं सरल मन वाले व्यक्तियों की (पदारूढ़ करने की) ओर अधिक झुकने में, जो कि शान्ति काल की अपेक्षा युद्ध के लिये अधिक उपयुक्त हैं, युद्ध की चालों और युद्ध-संबंधी यन्त्रों की रचना का अधिक सम्मान करने में, अधिकांश समय युद्ध के विषय में संलग्न रहने में--इन सब बातों में इसके गुण या लक्षण अपने निज के होंगे । है न ?"

"हाँ ।"

मैंने कहा, "और फिर, आलीगार्किया-प्रणाली के राष्ट्र के निवासियों के समान, ऐसे व्यक्ति धन लोलुप होंगे, उनके हृदयमें सोने चाँदी के प्रति प्रचण्ड किन्तु प्रच्छन्न कामना होगी, वे भाण्डारगृहों और कोषगृहों के स्वामी होंगे जिनमें वे उस (सोने चाँदी) को छिपा कर रख सकेंगे इनके अतिरिक्त परिवार गृह भी होंगे जो सीधे साधे उनके घोंसले (नीड) ही कहे जाने

चाहिये जिनमें कि वे अपनी स्त्रियों पर तथा अन्य जिस किसी पर चाहें खूब मन भर कर धन व्यय कर सकेंगे।"

उसने कहा, "परम सत्य है।"

"और इसीलिये वे कंजूस भी होंगे क्योंकि वे धन का समादर करते हैं पर खुले तौर पर उनको धन संचय करने नहीं दिया जाता, हाँ अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिये दूसरों के धन को उड़ाने में वे मुक्त हस्त होंगे। छिपे-छिपे मौज उड़ाते हुए वे नियमों से इसी प्रकार दूर भागेंगे जैसे लड़के अपने पिता से दूर भागते हैं, क्योंकि उनकी शिक्षा मनोनुनय के द्वारा नहीं बलात्कार से हुई है, कारण कि वे उस सत्य मूसा सरस्वती का तिरस्कार करते हैं जो तर्क और दर्शन शास्त्र की सहचरी है और संगीत की अपेक्षा व्यायाम को अधिक श्रेय प्रदान करते हैं।"

उसने कहा, "आप सर्वथा एक ऐसी शासन व्यवस्था का वर्णन कर रहे हैं जो बुराई और भलाई का सम्मिश्रण है।"

मैंने कहा, "हाँ, इसमें कई तत्व मिश्रित हैं, परन्तु राजसिक (शौर्यपूर्ण) तत्व के प्राधान्य के कारण इसका सबसे अधिक स्पष्ट दिखालाई देने वाला लक्षण केवल एक है—अर्थात् विजिगीषा एवं सम्मानलोलुपता।"

उसने कहा, "यह तो अत्यंत निश्चित बात है।"

मैंने कहा, "यदि हम इस शासन व्यवस्था की शब्दगत रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करें और उसका पूरा और ठीक ठीक ब्यौरा न दें तो इस शासन प्रणाली की उत्पत्ति और स्वरूप ऐसा (उपर्युक्त) होगा, क्योंकि रेखा चित्र भी हमको सबसे अधिक न्यायी और सबसे अधिक अन्यायी प्रकार के मनुष्य को प्रदर्शित करने के लिये प्रर्याप्त होगा, तथा शासन प्रणाली के सब रूपोंको निःशेषतया वर्णन करना एवं मनुष्यों की प्रथाओं एवं और विविध गुणों को अभिव्यक्त करना अव्यवहार्य कार्य होगा।

उसने कहा, "और यह बिलकुल ठीक है।"

५

५. "तो इस शासन व्यवस्था के अनुरूप मनुष्य कैसा होगा ? उसका उद्भव और आचरण कैसा होगा ?"

अदेइमान्तास् ने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि विजिगीषा की दृष्टि से तो वह बहुत कुछ इस ग्लौकोन से मिलता जुलता है।"

मैंने कहा, "विजिगीषा की दृष्टि से स्यात् ऐसा हो, परन्तु मैं नहीं समझता कि निम्नलिखित बातों में उनके चरित्र एक समान हैं।"

"किन बातों में ?"

मैंने कहा, "उसको कुछ स्वच्छन्द होना चाहिये एवं संस्कृति (साहित्य) शून्य होते हुए भी उसका प्रेमी होना चाहिये; उसको वार्तालाप और भाषण सुनना प्रिय होगा परन्तु वह स्वयं (अच्छा) वक्ता नहीं होगा; दासों के प्रति ऐसा व्यक्ति रूक्ष और कर्कश होता है यद्यपि पूर्णतया शिक्षित व्यक्तियों की भाँति वह उनसे घृणा नहीं करता, परन्तु स्वतन्त्र व्यक्तियों के प्रति वह अत्यंत मृदुल होगा एवं पदाधिकारियों के प्रति नितांत आज्ञाकारी; सम्मान और पदाधिकार का वह प्रेमी होगा, परन्तु पदाधिकार के लिये उसका स्वत्वाख्यापन (दावा) वक्तृत्व शक्ति अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य योग्यता पर नहीं प्रत्युत युद्ध संबंधी पराक्रम और तद्विषयक तैयारी पर आश्रित होगा एवं वह व्यायाम और आखेट का भी अनुरागी होगा।"

उसने कहा, "हाँ, इस प्रकार की शासन प्रणाली का यही लक्षण होगा।"

मैंने कहा, "और क्या ऐसा व्यक्ति अपनी युवावस्था में धन की अवहेलना करने वाला नहीं होगा ? किन्तु जितनी ही उसकी अवस्था अधिक होती जायगी क्या वह उतना ही उससे प्रेम नहीं करता जायगा, कारण कि वह लोलुप स्वभाव के अंश से युक्त है एवं क्योंकि वह श्रेष्ठ संरक्षक से वंचित

रहा है, अतएव उसका आर्यत्व arete (सद्वृत्ति) एकान्ततः विशुद्ध नहीं है ?"

अदेइमान्तास ने पूछा, "कौन सा संरक्षक ?"

मैंने कहा, "संस्कारसंवलित विवेक, जो कि सद्वृत्तिवान् आत्मा में अन्तर्निहित एक मात्र साधुता का संरक्षक है ।"

उसने कहा, "आप ने बड़ी सुन्दर बात कही ।"

मैंने कहा, "सम्मानशाही प्रणाली के युवक का यही लक्षण है और यह सम्मानशाही प्रणाली वाले नगर के अनुरूप हैं ।"

"सर्वथा यही बात है ।"

'मैंने कहा, "एवं उसका उद्भव कुछ निम्न प्रकार का है । प्रायः तो वह नेक पिता का युवा पुत्र होगा जो कुशासित नगर में निवास करता है तथा सम्मान, पदाधिकार, अभियोग एवं इसी प्रकार के अन्य लोगों के कार्यों में हस्तक्षेप करने से दूर बचाकरता है एवं आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए अपने अधिकार का भी कुछ अंश त्यागने को प्रस्तुत रहता है ।"

उसने पूछा, "वह (ऐसा पुत्र) किस प्रकार संभव होता है ?"

मैंने कहा, "उसका चरित्र तबसे ऐसा बनना प्रारंभ होता है जबसे वह पहले पहल अपनी माँ को यह शिकायत करते सुनता है कि उसके पति को शासकों के मध्य में स्थान प्राप्त नहीं है और परिणामतः अन्य स्त्रियों के बीच उसका तिरस्कार किया जाता है । तथा जब वह यह देखती है कि उसका पति धन दौलत के विषय में अधिक चिंतित नहीं है, और न निजी अभियोगों में ही न्यायालयों और सार्वजनिक परिषदों में लड़ता झगड़ता है, प्रत्युत ऐसी बातों को तुच्छ समझता है, और जब वह यह निरीक्षण करती है कि उस के विचार अपने में ही केन्द्रित रहते हैं (वह अपने ही विचारों में रमा रहता है) तथा न तो उसका अत्यधिक सम्मान ही करता है और न उपेक्षा तो इस सब

उद्विग्न होकर यह परिदेवना करते हुए वह अपने पुत्र से कहती है कि तेरा पिता कुछ आदमी नहीं है और बड़ा ही सुस्त और निकम्मा है, और इसके साथ ही साथ और भी सब शिकायतें करती है जो करना ऐसी अवस्था में स्त्रियों का स्वभाव ही है ।"

अदेईमान्तास ने कहा, "हाँ, वे ऐसी ढेरों बातें कहा करती हैं और वे बातें बिलकुल उनके स्वभाव के अनुरूप होती हैं ।"

मैंने कहा, "और फिर यह तो तुमको विदित ही है कि ऐसे लोगों के गृह के दास तक, जो कि अपने मालिक के बड़े भक्त और हितू मालूम पड़ते हैं, लड़के से एकांत में निजी तौर से इसी प्रकार के विचार व्यक्त किया करते हैं, एवं यदि वे किसी व्यक्ति को पिताका ऋणी अथवा उसके प्रति अन्य कोई अपराध करने वाला पाते हैं जिसके विरुद्ध पिता कोई अभियोग नहीं चलाता, तो वह पुत्र को उकसाते हैं कि बड़ा होने पर उसको ऐसे सब अपराधियोंको दंड देना चाहिये एवं अपने को पिता की अपेक्षा अधिक पौरुषपूर्ण सिद्ध करना चाहिये, और जब वह लड़का घर से बाहर जाता है तो वहाँ भी ऐसी बातें देखता तथा सुनता है। नगर में जो लोग अपने कामके करने में ध्यान लगाते हैं बुद्धू कहलाते हैं तथा उनका कोई सम्मान नहीं करता जब कि अन्य लोगों के कार्यों में टाँग अड़ाने वालों को सम्मान और प्रशंसा प्राप्त होती है । इसका परिणाम यह होता है कि वह युवक इन सब बातों को सुनकर एवं देखकर--- दूसरी ओर पिता के भी वचनों को सुनकर तथा उसके कार्यकलाप की अन्य लोगों के कार्यों से तुलना करते हुए परीक्षा करके, दो प्रकार के प्रभावों से दो विशुद्ध दिशाओं की ओर दोलायमान होने लगता है । एक ओर उसका पिता तो उसकी आत्मा में विवेक तत्व को सींचता और पालता है, दूसरी ओर अन्य लोग वासनात्मक और मनोवेगात्मक तत्वों को सींचते तथा पोसते हैं, और क्योंकि वह प्रकृत्या बुरे स्वभाव वाला व्यक्ति नहीं है, किन्तु बुरी संगति में पड़ गया है, अतएव

इन दोनों मिश्र प्रभावों के फलस्वरूप वह एक मध्यस्थिति को स्वीकार कर लेता है और अपनी आत्मा के आन्तरिक शासन को, आकांक्षा एवं शौर्य के मध्यवर्ती तत्व को सौंप देता है तथा हठी आत्मा वाला, सम्मान लोलुप व्यक्ति हो जाता है।"

उसने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि आपने उसकी उत्पित्त का ठीक ठीक वर्णन कर दिया।"

मैंने कहा, "अब इसके उपरान्त हमको दूसरे प्रकार की राष्ट्र नीति और दूसरे प्रकार के व्यक्ति का वर्णन करना है।"

उसने कहा, "हाँ, है तो।"

६

६. "तो क्या अब हम पहले अइस्खिलास के कथनानुसार दूसरे राष्ट्र के निदर्शन स्वरूप स्थित दूसरे व्यक्ति का वर्णन करें अथवा इसकी अपेक्षा अपनी योजना के अनुसार नगर राष्ट्र का वर्णन करे ?"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही कीजिये।"

"मेरा ख्याल है कि इसके पश्चात् क्रमप्राप्त शासनप्रणाली आलीगार्किया है।"

उसने पूछा, "कहिये, आलीगार्किया से आपका तात्पर्य किस प्रकार की शासनप्रणाली से है ?"

मैंने कहा, "वह जोकि धनसंबंधी विशेषता पर आश्रित है, जिसमें शासनाधिकार धनिकों को प्राप्त होता है तथा निर्धनों को शासन कार्य में कोई भाग नहीं मिलता।"

उसने कहा, "यह मैं समझ गया।"

"तो क्या सबसे पहले बतलाने की बात यही नहीं है कि सम्मानशाही किस प्रकार पूँजीपतिशाही में बदल जाती है ?"

"हाँ ।"

मैंने कहा, "वास्तव में यह बात तो अंधे तक को स्पष्ट सूझने वाली है कि एक शासन प्रणाली किस प्रकार दूसरी में बदल जाती है ?"

"किस प्रकार ?"

मैंने उत्तर दिया, "प्रत्येक व्यक्ति के निजी कोषों का स्वर्ण से भर जाना ही इस (तिमार्किया) शासनप्रणाली का विनाशक है। क्योंकि प्रथम तो वे अपने लिये धन को व्यय करने के उपायों को खोज निकालते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये नियमों को विकृत कर देते हैं, और न तो वे स्वयं और न उनकी पत्नियाँ कोई भी नियमों को नहीं मानते ।"

उसने कहा, "यह संभवपर है ।"

"और तब, मैं ख्याल करता हूँ कि एक दूसरे की देखा देखी और होड़ा होड़ी वे अपने में से अधिकांश व्यक्तियों को ऐसे ही विचारों वाला बना डालते हैं ।"

"ऐसा होना संभव है ।"

मैंने कहा, "और इस प्रकार, समय बीतने पर वे धनोपार्जन के पथ पर अग्रसर होते जाते हैं, और जितनी ही वे उस (धन) का आदर करने लगते हैं उतना ही सदाचार (आर्यत्व) का अनादार । क्या धन और सद्वृत्ति के विरोध को इस प्रकार नहीं कल्पना किया जा सकता कि मानों उनमें से प्रत्येक तुला के पलड़ों में रक्खे हों और विपरीत दिशाओं में झुक रहे हों (अर्थात् जब एक नीचे झुकता है तो दूसरा नित्य ऊपर उठता है) ?"

उसने कहा, "यह बिलकुल ठीक है ।"

"अतएव जब किसी राष्ट्र में धन और धनिकों का सम्मान होता है तो सद्वृत्ति और भले मानसों का सम्मान कम हो जाता है ।"

"स्पष्ट ही है ।"

"और जिस बात का मनुष्य किसी समय सम्मान करते हैं उसी का वे आचरण (व्यवहार) भी करते हैं, तथा जिसका सम्मान नहीं किया जाता उसकी अवहेलना की जाती है ।"

"यही बात है ।"

"अतएव अन्ततोगत्वा विजयप्रेमी और सम्मान प्रेमी होने के स्थान पर वे लाभ प्रेमी और धन लोलुप हो जाते हैं, और धनिक की प्रशंसा एवं स्तुति करते हैं तथा उन्हींको शासक बनाते हैं किन्तु निर्धन मनुष्य का तिरस्कार करते हैं ।"

"सर्वथा ऐसा ही है ।"

"और तब वे उस नियम की स्थापना करते हैं जो आलीगार्किया शासन प्रणाली की सीमा या लक्षण निर्देश करने वाला है । इसके निमित्त वे एक धनराशि निर्धारित करते हैं, जहाँ अधिक आलीगार्की-अधिकार देना होता है वहाँ अधिक धन और जहाँ कम वहाँ स्वल्प धन निश्चय करते हैं । वे यह घोषणा कर देते हैं कि ऐसा कोई व्यक्ति शासन पद पर आरूढ़ नहीं हो सकता जिसकी संपत्ति निर्धारित मूल्य की न हो । इस (नियम) को वे या तो शस्त्रबल प्रयोग के द्वारा लागू करते हैं या इसके बिना ही वह पहले ही अपनी शासन प्रणाली को आतंक को द्वारा स्थापित कर लेते हैं । क्यों ऐसा ही है न ?"

"हाँ, ऐसा ही है ।"

"तो, कह सकते हैं कि (आलीगार्किया) की स्थापना इस प्रकार होती है ।"

उसने कहा, "हां ! परन्तु इस शासन प्रणाली का लक्षण क्या है और इसके वे दोष कौन से हैं जिनकी हम चर्चा कर रहे थे ?"

७

मैं बोला, "पहले इसके लक्षण निर्देश करने वाले नियम के स्वरूप को ही लो। सोचो तो सही कि यदि पोतनिर्यामिक की नियुक्ति यदि इसी प्रकार सम्पत्ति की विशिष्टता के आधार पर की जाए और निर्धन व्यक्ति को, चाहे वह कितना ही निपुण निर्यामिक क्यों न हो, नौका संचालन न करने दिया जाय, तो क्या परिणाम होगा।"

उसने कहा, "बड़ी ही दुखपूर्ण यात्रा होगी।"

"और क्या यही बात अन्य किसी वस्तु के शासन के विषय में भी सही नहीं है?"

"मैं ख्याल करता हूँ कि सही है।"

मैंने पूछा, "क्या नगर को छोड़कर?—अथवा नगर के विषय में भी (यही बात है) ?"

उसने कहा, "(नगर के विषय में तो यह बात) सब से अधिक लागू है, क्योंकि यह (नगर का शासन) तो सब शासन कार्यों से अधिक महान् और कठिनतम है।"

"तो ऑलीगार्किया में एक बहुत बड़ा दोष तो यही है।"

"लगता तो ऐसा ही है।"

"अच्छा और यह क्या कोई कम दोष है?"

"कौन सा?"

"यही कि यह नगर एक नहीं रहेगा प्रत्युत अनिवार्यतया दो हो जायगा, एक धनिकों का नगर, और दूसरा निर्धनों का नगर, जो दोनों एक साथ बसेंगे और नित्य एक दूसरे के विरुद्ध षड़यंत्र रचते रहेंगे।"

"ईश्वर की सौगन्द उसने कहा यह दोष किंचिन्मात्र भी छोटा नहीं है।"

"और न फिर, यह भी कोई सी भली बात होगी कि वे युद्ध करने में समर्थ नहीं रहेंगे, क्योंकि या तो साधारण जनसमूह को शस्त्र सज्जित

कर के प्रयुक्त करने की आवश्यकता होगी और उनसे शत्रुओं से भी अधिक भय खाना होगा, और या यदि वे उनका उपयोग न करें तो युद्ध क्षेत्र में सचमुच ही ऑलीगार्क रह जाएँगे, जैसे शासन करने में अल्पसंख्यक वैसे ही युद्ध में भी। इसके साथ यह भी बात जोड़ देनी चाहिए कि धनलोलुप होने के कारण वे कर देने में भी आनाकानी करते हैं।"

"यह अच्छी बात नहीं।"

"और फिर, जिस बात को न जाने हमने कब से सदोष बतलाया है उसके विषय में क्या कहते हो—अर्थात् इस प्रकार के राष्ट्र में जो नागरिक जन एक साथ सब कुछ करने वाले होंगे, (बहु-वृत्ति होंगे) सभी व्यक्ति कृषक, व्यवहरिये, सैनिक होंगे ? क्या तुम्हारे विचार में यह ठीक होगा ?"

"निश्चय ही कदापि नहीं।"

"अच्छा अब यह देखो कि क्या यही शासन प्रणाली सब से पूर्व इस बुराई को, जो कि सब से बड़ी बुराई है, आरंभ नहीं करती है ?"

"क्या बुराई ?"

"किसी व्यक्ति को अपना सर्वस्व बेंच डालने देना और दूसरे को उसे खरीद लेने देना, और बेंचने के पश्चात् उसको नगर में रहने देना, यद्यपि वह नगर का कोई घटक नहीं है, धनोपार्जन करने वाला है, न शिल्पी है, न सरदार है, न प्यादा है, किंतु केवल अकिंचन और परभृत् है !"

उसने कहा, "हाँ, ऐसा करने में यही शासन प्रणाली प्रथम है।"

"निश्चयमेव इस प्रकार की बातों का ऑलीगार्किया प्रणाली में निषेध नहीं किया जाता। अन्यथा ऐसा नहीं होना चाहिए था कि उनमें से कुछ नागरिक तो अति धनी हों और अन्य अति दरिद्री।"

"ठीक।"

"पर इसका भी विचार करो। जब कि इस (उपर्युक्त) प्रकार का व्यक्ति अपनी संपन्नता के दिनों में अपनी संपत्ति का व्यय कर रहा था तो

क्या तब भी उपर्युक्त उद्देश्य की दृष्टि से नगर के लिए तनिक भी अधिक उपयोगी था? अथवा वह शासकगणों की श्रेणी में केवल सम्मिलित भर लगता था पर वास्तव में वह न तो राष्ट्र का शासक था न सहायक बल्कि केवल राष्ट्र के उपादानों का भक्षक मात्र था।"

उसने कहा, "यही बात है, वह ऐसा प्रतीत भर होता था पर वास्तव में वह उड़ाऊ था।"

मैंने कहा, "तो क्या हम उसके विषय में यह नहीं कह सकेंगे कि जिस प्रकार मधुचक्र में निरुद्योग मक्खियाँ (मक्खे) drones उत्पन्न हो जाते हैं जो कि मधुचक्र के लिए व्याधि स्वरूप सिद्ध होते हैं इसी प्रकार ऐसा व्यक्ति अपने घर में उत्पन्न होकर राष्ट्र के लिए व्याधि स्वरूप बनता है?"

उसने कहा, "साक्रातीस्, सर्वथा ऐसी ही बात है।"

"और, अदेईमान्तास् क्या भगवान ने इन परदार और उड़ने वाले निरुद्यमी मक्खों को एक एक कर के निर्दंश नहीं बनाया है जब कि राष्ट्र के निरुद्यमी पादचारी (पुरुष) मक्खों में से उसने कुछ ही को बेडंक बनाया है और शेषों को उसने भयानक डंकों से लैस कर दिया है? तथा बेडंक सामाजिक मक्खों के दल में से वे निकलते हैं जो बुढ़ापे में भिखमंगे बन जाते हैं, किन्तु डंक वालों के दल में वे लोग निकलते हैं जो दुष्कृती कहे जाते हैं?"

उसने कहा, "परम सत्य है।"

मैंने कहा, "तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि जब कभी किसी नगर में तुम भिखमंगों को देखो, तो निःसन्देह वहीं कहीं पास पड़ोस में चोर, गिरहकट, मन्दिरों में चोरी करने वाले डाकू और इसी प्रकार के कुकृत्यविशारद छिपे होंगे।"

उसने कहा, "स्पष्ट है।"

"अच्छा तो क्या ऑलीगार्क राष्ट्र में तुमको मँगता लोग नहीं दिखलाई देते ?"

उसने कहा, "शासकों के समाज को छोड़ कर वहाँ तो लगभग सभी ऐसे (मँगते) ही होते हैं।"

मैंने कहा, "तो क्या हम यह कल्पना नहीं करें कि उनमें अनेकों दुष्कृती लोग भी हैं जो कि डंक से लैस हैं, जिनको शासक लोग अपनी विचक्षण दृष्टि द्वारा बलपूर्वक निग्रह करते हैं ?"

उसने कहा, "निश्चय ही हम यह कल्पना कर सकते हैं।"

"और क्या हमको यह भी नहीं कहना चाहिए कि ऐसे नागरिक जनों की उपस्थिति दोषपूर्ण शिक्षा (संस्कृति), बुरे लालन-पालन तथा राष्ट्र की त्रुटिपूर्ण शासन प्रणाली से संभव होती है ?"

"हमको ऐसा कहना चाहिए।"

"अच्छा, तो कथमपि आलीगार्की प्रणाली से शासित राष्ट्र के लक्षण ऐसे होंगे तथा ये या इनसे भी अधिक बुराइयाँ उसको सताने वाली होंगी।"

उसने कहा, "लगभग ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "तब तो अब हम ऑलीगार्किया नाम की शासन प्रणाली का वर्णन (जिसमें शासक लोग संपन्नता के गुण के आधार पर चुने जाते हैं) समाप्त हुआ समझें। इसके उपरान्त अब हमको इस प्रणाली के अनुरूप व्यक्ति का विचार करना है—वह किस प्रकार उत्पन्न होता है तदुपरान्त उसका आचरण किस प्रकार का होता है।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही होना चाहिए।"

८

"क्या तिमॉक्रातिया प्रणाली का व्यक्ति इसी प्रकार से परिवर्तित हो कर आलीगार्किया प्रणाली का व्यक्ति नहीं हो जाता ?"

"किस प्रकार?"

"जब कि तिमॉक्रातिया प्रणाली के किसी व्यक्ति के घर में उत्पन्न हुआ पुत्र, प्रथमतः अपने पिता के अनुरूप बनने की चेष्टा करते हुए उसके पद चिन्हों पर चलता है और तब कभी एकदम उसको राष्ट्र के विरुद्ध टकरा कर इस प्रकार विध्वस्त होते देखता है जैसे कि किसी चट्टान से टकरा कर कोई जहाज—जिससे उसकी वह सम्पत्ति पूर्णतया नष्ट भ्रष्ट हो जाती है।—स्यात् वहकोई सेनापति अथवा किसी अन्य महत्वपूर्ण पद पर आरूढ़ व्यक्ति रहा है और तदुपरान्त दुर्बुद्धि चुगलखोरों द्वारा न्यायालय मेंघ सीट लाया गया एवं या तो उसे जीवन दण्ड (प्राण दण्ड) दे दिया गया है या निर्वासित कर दिया गया है अथवा नियम-रक्षा से बहिष्कृत कर दिया गया है और उसका सर्वस्व हरण कर लिया गया है।"

उसने कहा, "यह सम्भव है।"

"और, मित्र, उसका पुत्र यह सब कुछ देख और सह कर, सम्पत्ति गँवा कर डरपोक हो जाता है और मैं ख्याल करता हूँ अपने हृदय के सिंहासन पर से वह तत्काल सम्मानप्रियता और शूरता के तत्त्व को शिर के बल धक्का दे देता है, यथा निर्धनता के कारण विनत हो कर धनोपार्जन की ओर झुक पड़ता है एवं नीच और लोभपूर्ण धनसंचय के द्वारा थोड़ा थोड़ा करके कठोर परिश्रम द्वारा सम्पत्ति एकत्रित कर लेता है। क्या तुम ख्याल नहीं करते कि ऐसा व्यक्ति अपने (हृदय) सिंहासन पर वासना और लोभ के तत्त्व को स्थापित करेगा और उसी को अपनी आत्मा में, स्वर्ण मुकुट और ग्रीवापदक से सजा कर और कटि में पारस्य खड्ग बाँध कर, राजा के स्थान पर आरूढ़ कर देगा?"

उसने कहा, मैं ऐसा ही समझता हूँ।"

"परन्तु विवेक और शौर्य तत्त्वों को मेरे ख्याल में वह इस (लोभ) के दाँये बाँये चरणों के पास धरती पर दासों की भाँति लोटने के लिए

बाध्य कर देगा, और उनमें से एक (विवक) को थोड़े धन से अधिक धन उपार्जन करने के उपायों को छोड़ अन्य किसी बात का आकलन और विचार नहीं करने देता, तथा दूसरे (शौर्य, धैर्य) को धन तथा धनिकों को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु की प्रशंसा या सम्मान नहीं करने देगा तथा धन-लाभ और धन की वृद्धि में सहायक वस्तुओं को छोड़ अन्य किसी बात में गौरव का अनुभव नहीं करने देगा।"

उसने कहा, "महत्त्वाकाँक्षी युवा का धनलोलुप के रूप में अन्य कोई परिवर्तन इतना शीघ्र और सुनिश्चित नहीं हो सकता जितना कि यह (आपके द्वारा वर्णित) परिवर्तन है।"

मैंने पूछा, "तो क्या यही ऑलीगार्किया प्रणाली का व्यक्ति है ?"

"कम से कम वह विकसित तो उसी प्रकार की शासन प्रणाली के व्यक्ति से हुआ है जिससे ऑलीगार्किया प्रणाली उत्पन्न होती है।"

"अच्छा तो आओ देखें कि उसका चरित्र भी तदनुरूप है या नहीं।"

"हाँ, देखना चाहिए।"

९

९. "तो क्या सबसे पहले, धन को सर्वोत्तम मूल्यवान् पदार्थ माननेमें वह इसके समनुरूप नहीं होगा ?"

"क्यों नहीं ?"

"और क्या, केवल परमावश्यक वासनाओं और कामनाओं को तृप्त करके, एवं शेष वासनाओं को व्यर्थ और अलाभदायक मानते हुए दमन करके अन्य बातों पर कुछ भी व्यय न करते हुए, वह लालची और परिश्रमी होने के कारण भी उसके सदृश नहीं होगा ?"

"क्यों नहीं ? सर्वथा ऐसा ही होगा।"

मैंने कहा, "वह बड़ा ही मैला कुचैला व्यक्ति होगा, प्रत्येक बात में लाभ पर दृष्टि रक्खेगा एवं धन संग्रह में तत्पर रहेगा—अर्थात्

ऐसे प्रकार का मनुष्य होगा जिसका जनसमूह अभिनन्दन करते हैं। क्या इस शासन प्रणाली से सादृश्य रखने वाले व्यक्ति का चरित्र ऐसा ही नहीं होगा ?"

उसने कहा, "मैं तो समझता हूँ कि ऐसा ही होगा। कुछ भी क्यों न हो, ऐसे राष्ट्र और ऐसे व्यक्ति के द्वारा सबसे अधिक समादृत होने वाली वस्तु संपत्ति है।"

मैंने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ ऐसी बात इस कारण है कि उसने अपने विचारों को कभी वास्तविक शिक्षा की ओर नहीं लगाया है।"

उसने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि उसने ऐसा नहीं किया है, अन्यथा भला वह अन्धे को (धन के देवता को) अपनी मान मण्डली के नेता और सर्वोत्तम आदरणीय व्यक्ति को बनाता।"

मैंने कहा, "बहुत अच्छी बात कही। पर अब इस पर तो विचार करके देखो। क्या हमको यह नहीं कहना चाहिये कि शिक्षा और संस्कार के अभाव में उसमें मक्खों की भी आदतें उत्पन्न हो जायेंगी—जिनमें से कुछ याचकों की सी होंगी और अन्य धूर्तों की सी किन्तु यह उसके द्वारा अपने सामान्य आत्मपर्यवेक्षण और आत्मसंयम के द्वारा बलात्कार से दमन की जाती हैं ?"

उसने कहा, "निश्चयमेव यह तो हमको अवश्य कहना चाहिये।"

मैंने पूछा, "तो क्या तुम्हें यह मालूम है कि ऐसे व्यक्तियों की धूर्त-ताओंको खोजने (जानने) के लिये कहाँ दृष्टिपात करना होगा ?"

उसने कहा, "(बतलाइये) कहाँ ?"

"अनाथों की संरक्षता के कार्य में और ऐसे ही किन्हीं अन्य अवसरों में जहाँ बिना दण्डभय के अन्याय किया जा सकता है।"

"सत्य है।"

"और क्या इससे यह बात स्पष्ट नहीं हो जाती कि अन्य व्यवहारों में, जिनमें कि उसको न्यायी होने की नेकनामी उपलब्ध है,वह अपने स्वभाव की अच्छी प्रवृत्तियों से अपने भीतर रहने वाली दुर्वासनाओं को दवाये रखता है, न तो उनको यह समझाकर दमन करता है कि वे बुरी हैं, न विवेक से वशवर्तिनी बनाता है, बल्कि विवशता और भय से निग्रह करता है, क्योंकि वह अपनी संपत्ति (की रक्षा) के लिये नित्य त्रस्त (कंपित) रहता है ?"

उसने कहा, "बिलकुल यही बात है ।"

मैंने कहा, "हाँ, मित्र ईश्वर की शपथ, ऐसी ही है । दूसरों के धन के व्यय करने का अवसर प्राप्त होने पर इनमें बहुतों में तुमको मक्खों की सी प्रवृत्तियों की सत्ता का पता चलेगा ।"

उसने कहा, "हाँ और बड़ी प्रबलता से ।"

"अतएव ऐसा व्यक्ति स्वयं अपने ही अन्तर में द्वन्द्वशून्य (शान्त) नहीं हो सकता । वास्तव में वह एक नहीं, दोहरा व्यक्ति होगा । तथापि अधिकांश में उसकी शुभकामनाएँ उसकी बुरी कामनाओं पर काबू रखेंगी ।"

"यही बात है ।"

"तथा, मैं समझता हूँ इसी कारण, इस प्रकार का व्यक्ति अन्य बहुत से व्यक्तियों की अपेक्षा बाह्यतः अधिक आदरणीय और शोभन प्रतीत होगा, किन्तु स्वसंवादी और वशी आत्मा का वास्तविक गुण उससे छूट जायेगा और दूर ही रहेगा ।"

"हाँ, ऐसा ही मालूम पड़ता है ।"

"और फिर लालची व्यक्ति नगर में किसी भी विजयोपहार पाने अथवा किसी अन्य माननीय प्रतिस्पर्धा में भाग लेने में, व्यक्तिगत रूप में नितान्त दुर्बल प्रतियोगी होगा । वह ख्याति एवं इसी प्रकार की अन्य स्पर्द्धाओं में विजय की प्राप्ति के लिये धन व्यय करने का इच्छुक

नहीं होता, अपनी अपव्ययशील इच्छाओं को छेड़ कर विजय प्राप्ति में उसकी सहाय्य का आवाहन करने से वह डरता है तथा सच्चे आलिगार्क (बनियाशाही) ढंग से लड़ता है एवं अपने उपादानों के एक थोड़े से अंश का उपयोग करता है एवं प्रायः हारता रहता है—पर धन को बचा लेता है और धनवान बन जाता है।"

उसने कहा—"बिलकुल ठीक।"

मैंने पूछा, "तो क्या लालची और धनसंचयी व्यक्ति तथा आलीगार्क-शासन प्रणाली की समानता और समनुरूपता के विषय में हमको अब भी कोई और संदेह शेष रह गया है ?"

उसने उत्तर दिया, "कोई नहीं।"

१०

१०. "इसके पश्चात्, जैसा कि प्रतीत होता है, हमको जनतन्त्र शासन प्रणाली के (दिमाक्रातिया) उद्भव और स्वरूप का परीक्षण करना है जिससे कि हम इस शासन प्रणाली के अनुरूप व्यक्ति को जान सकें और उसको अन्य व्यक्तियों के साथ निर्णय के लिय प्रस्तुत कर सकें।"

उसने कहा, "यही प्रक्रिया पूर्वापर संवादिनी होगी।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्या आलीगार्की शासन पद्धति से जनतन्त्र शासन पद्धति में परिवर्तन कुछ इस प्रकार—अर्थात् इसके समक्ष सत्‌रूप में प्रस्तुत किये गये पदार्थ की अतृप्य आकांक्षा से (जो प्रस्तुत सत् अधिक से अधिक धन की उपलब्धि है) घटित नहीं होता ?"

"किस प्रकार से ?"

"क्योंकि, (मैं ख्याल करता हूँ) कि शासक लोगों का पदाधिकार संपत्ति के ऊपर आश्रित है अतएव वे युवकों के मध्य में उत्पन्न

होने वाले उड़ाऊ व्यक्तियों को नियम द्वारा अपनी धन संपत्ति को फूँकने से निषेध करने के इच्छुक नहीं होते । उनका ध्येय यह होता है कि उनकी संपत्ति पर ब्याज पर रुपया उधार देकर उनकी संपत्ति खरीद लें और पूर्व की अपेक्षा और भी अधिक धनवान और सम्मानास्पद बन जाएँ ।"

"निश्चयमेव पूर्णतया यही बात है "

"और क्या यह बात अविलंब स्पष्ट नहीं है कि किसी नगर राष्ट्र में धनोपासना सुसंयत नागरिकता से मेल नहीं खाती, किन्तु इन दोनों आदर्शों में से एक या दूसरे आदर्श की अनिवार्यतया अवहेलना हो जाती है ?"

उसने कहा, "यह तो बहुत अच्छी तरह स्पष्ट है ।"

"और आलीगार्क प्रणाली के नगरों में इस प्रकार की अवहेलना और स्वच्छन्दता के प्रोत्साहन का परिणाम यह होता है कि प्राय: उदार कुल और गुणवाले व्यक्ति अकिंचन हो जाते हैं ।"

"हाँ, बहुत बार ऐसा होता है ।"

"और मैं ख्याल करता हूँ कि यह लोग नगर में ही बने रहते हैं और डंकों से अर्थात् शस्त्रास्त्रों से लैस रहते हैं, उनमें से कुछ ऋण से दबे होते हैं, अन्य नागरिकता से वंचित होते हैं, और कुछ दोनों आपदाओं से ग्रस्त होते हैं। वे अपने धनापहारियों एवं शेष नागरिकों से घृणा करते हैं और क्रांति करने के लिये उत्सुक बैठे रहते हैं ।"

"है तो यही बात ।"

"दूसरी ओर यह धनोपार्जक पूंजीपति, शिर झुकाये हुए, इन अपने द्वारा वंचित किये व्यक्तियों) को न देखने का ढोंग करके, अपने धन रूपी डंक को तत्काल शेष व्यक्तियों में से उस व्यक्ति के शरीर में भोंक देते हैं जो असावधानीवश उनको ऐसा अवसर प्रदान करता है, और फिर

ब्याज रूप में मूल (पितृ) धन से कई गुनी सन्तानें प्राप्त करके राष्ट्र में मक्खों और अकिंचनों की वृद्धि करते हैं।"

उसने कहा, "क्यों नहीं ? वे सचमुच उनकी कई गुना वृद्धि कर देते हैं।"

"और जब इस बुराई की लपटें भभक उठती हैं तब भी वे न तो उनको, मनुष्यों को अपनी संपत्ति को मनमाने ढंग से बेच डालने का निषेध नियम बनाकर, बुझाना चाहते हैं और न दूसरे नियम द्वारा इस प्रकार इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।"

"किस नियम द्वारा ?"

"उस नियम के द्वारा जो सर्वोत्तम नियम के पश्चात् द्वितीय स्थान पर आता है और नागरिकों को सद्वृत्ति की ओर ध्यान देने को बाध्य करता है। क्योंकि यदि नियम का विधान ऐसा हो कि अधिकतम स्वेच्छा-निर्मित ठहराव करारकरने वाले की अपनी जोखिम पर होंगे तो राष्ट्र में धनोपार्जन का अनुसंधान कुछ कम निर्लज्जता से होगा तथा जिन बुराइयोंका हमने अभी उल्लेख किया है उनमें से बहुत थोड़ी उत्पन्न होंगी।"

उसने कहा, "बहुत ही कम।"

मैंने कहा, "परन्तु इस समय तो, शासक लोग मेरे द्वारा बतलाई हुई भावनाओं (प्रलोभनों) से प्रेरित होकर अपने प्रजाजनों को इस दुर्गति में ग्रस्त कर देते हैं; और रहे वे स्वयं और उनके अनु-यायी, विशेषकर शासक वर्ग के युवा लोग, क्या वे उनको दुर्ललित स्वेच्छाचारी नहीं बना डालते, जो शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के श्रमों में रुचि नहीं रखते, बिलकुल निकम्मे आलसी हो जाते हैं, तथा ऐसे सुकुमार बन जाते हैं कि सुख और दुःख को डटकर सह नहीं सकते ?"

"क्यों नहीं ?"

"तथा क्या वे स्वयं एक मात्र धन की चिंता को छोड़ अन्य सब बातों में प्रमाद करने की आदत नहीं बना लेते हैं और सद्वृत्ति के पोषण के विषय में इतने ही उदासीन नहीं हो जाते जितने कि अकिंचन लोग ?"

"हाँ, बिलकुल इतने ही।"

"ऐसी परिस्थिति में जब कभी शासक और शासितों का सैन्य प्रयाण में, अथवा (राहगीरी में) तीर्थ यात्रा में, अथवा अन्य किसी सर्वजन साधारण कार्य में, या तो धार्मिकोत्सव या अभियान में, अथवा साथी नाविक अथवा साथी सैनिक के रूप में अथवा इसी प्रकार वास्तविक युद्ध के जोखिम में साथ हो जाता है और ऐसे अवसरों पर वे एक दूसरे के आचरण को देखते हैं, तब ऐसे अवसरों पर निर्धन लोग धनवानों के द्वारा तनिक भी तिरस्कृत नहीं होते। प्रत्युत क्या तुम यह ख्याल नहीं करते कि प्रायः ऐसा होता है कि जब युद्ध क्षेत्र में कृशगात्र, पुष्टपेशी और आतपतप्त निर्धन सैनिक ऐसे धनवान के समीप स्थित होता है जो कि छाया में पला है और जिसका शरीर अनावश्यक मांस से बोझल है, और उसको हाँफता हुआ और असहाय देखता है, तो ऐसी दशा में तुम्हारे विचार में वह यह सोचता है कि यह लोग निधनों के डरपोकपन से ही अपना धन बचाये रहते हैं, और जब यह निर्धन लोग अकेले एकत्रित होते हैं तो एक दूसरे से कहा करते हैं कि यह हमारे आदमी (शासकगण) किसी काम के नहीं ?"

उसने कहा, "हाँ मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि वे इसी प्रकार बातें किया करते हैं।"

"अतएव जिस प्रकार अस्वस्थ शरीर की मांद्यता के लिये बहुत थोड़ी सी बाहरी प्रेरणा आवश्यक होती है, और कभी कभी बाह्य उत्तेजना के बिना भी वह अन्तर्विभक्त रहता है, (अथवा, अन्तर्कलहाक्रान्त रहता है) ठीक इसी प्रकार क्या इस प्रकार के राष्ट्र को भी

तुच्छ से अवसर की ही अपेक्षा नहीं होती——जैसे कि कोई एक दल आलीगार्क राष्ट्र से सहायता ले आये, अथवा दूसरा दल दिमाक्रातिक राष्ट्र से ले आये——जिससे कि राष्ट्र शरीर रुग्ण हो जाता है और अन्तर्कलह छेड़ देता है; और कभी कभी तो बिना किसी बाह्य प्रेरणा के भी दलगत कलह छिड़ जाती है।"

"और बड़ी प्रबलता से।"

"और मैं समझता हूँ कि जनतन्त्र शासन प्रणाली तव उत्पन्न होती है जब कि धन हीन लोग विजय पाकर विरोधी दल के कुछ लोगों को मार डालते हैं, कुछ को राष्ट्र के बाहर खदेड़ देते हैं और शेष लोगों म नागरिकता और पदाधिकार समान रूपेण बाँट देते हैं——और प्रायः यह पदाधिकार गुटिका द्वारा नियोजित किये जाते हैं।"

उसने कहा, "हाँ, प्रजातन्त्र, शासन प्रणाली का स्वरूप यही है, फिर चाहे शस्त्र बल से उसकी स्थापना हुई हो, अथवा एक दल के पलायन में परिणित होने वाले आतंक के कारण।"

११

११. मैंने पूछा, "ऐसी शासन प्रणाली में लोक चरित्र किस प्रकार का होता है और इसका लक्षणगुण क्या है? क्यों कि यह स्पष्ट ही है कि गुण से युक्त व्यक्ति जनतन्त्रत्मक व्यक्ति होगा।"

उसने कहा, "हाँ स्पष्ट है।"

"पहली बात तो यह कि क्या वे स्वतन्त्र नहीं होते? क्या नगर कर्म और वाणी की स्वतन्त्रता से परिपूर्णतया नहीं भरा होता? और क्या प्रत्येक व्यक्ति को यथेच्छ व्यापार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती?"

उसने उत्तर दिया, "ऐसी ही बात है।"

"और जहाँ ऐसी स्वच्छन्दता होगी, वहाँ यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक नागरिक अपने मन की मौज के अनुसार जीवन यापन करने की योजना बनायेगा ।"

"स्पष्ट है ।"

"तो मैं ख्याल करता हूँ कि इस प्रकार की राष्ट्रनीति में अन्य किसी भी नीति की अपेक्षा सबसे अधिक विभिन्न प्रकार और अवस्थाओं के व्यक्ति पाये जायेंगे ।"

"क्यों नहीं ?"

मैंने कहा, "संभवतया, यह राष्ट्रनीति सबसे अधिक सुन्दर है, अनेक रंगोंकी पोशाक के समान, जो कि सब प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों से कढ़ी हुई है, यह शासन प्रणाली सब प्रकार के चरित्रों से सज्जित और विविधता संपन्न होने के कारण सबसे अधिक सुन्दर प्रतीत होगी ।"

उसने कहा, "क्यों नहीं ?"

फिर मैंने कहा, "और स्यात् है कि जिस प्रकार लड़के और स्त्रियाँ चटकीले रंगों की वस्तुओं को देखकर उसको सुन्दरतम बतलाते हैं, इसी प्रकार बहुत से मनुष्य इस राष्ट्र को सबसे अधिक सुन्दर समझेंगे ।"

उसने कहा, "हाँ सचमुच ऐसी ही बात है ।"

मैंने कहा, "हाँ प्रिय मित्र, और राष्ट्रनीति की खोज करने के लिये यह सबसे अधिक उपयुक्त स्थान होगा ।"

"सो क्यों ?"

"क्योंकि वहाँ पर (उसमें) प्रचलित स्वच्छंदता के कारण उसमें सब प्रकार की शासन प्रणालियोंका समावेश होगा, और यह बहुत कुछ संभव प्रतीत होता है कि जिस किसी को राष्ट्र की संघटना करनी हो (जैसी कि हम संप्रति कर रहे थे) तो उसको जनतन्त्रात्मक राज्य

में जाना चाहिये और उस शासन प्रणालियों के हाट में से जो नमूना उसको रुचिकर प्रतीत हो उसको चुन लेना चाहिये और तत्पश्चात् अपने राष्ट्र की स्थापना करनी चाहिये ।"

उसने कहा, "स्यात् है कि कमसे कम उसको नमूनों का तो घाटा नहीं रहेगा ।"

मैंने कहा, "और इस प्रकार के राष्ट्र में यह जो योग्यता रखते हुए भी तुम्हारे लिये पदग्रहण करने की विवशता नहीं है; जब तक तुम न चाहो तव तक शासन के अंकुश को न मानने की, दूसरों के युद्ध में संलग्न रहने के समय युद्ध न करने की, तथा यदि तुम शान्तिपूर्वक रहना पसन्द न करो तो अन्य लोगों के शान्तिपूर्वक रहते हुए भी शान्ति से न रहने की जो छूट है; और फिर पद ग्रहण करने और पंचायत के सदस्य बनने के निषेध नियम के होते हुए भी यदि तुमको सनक सवार हो तो दोनों कार्य करने की जो स्वच्छन्दता रहती है; क्या यह सब कुछ थोड़े समय के लिये स्वर्गिक और सुस्वादु नहीं है ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, उतने समय के लिये तो स्यात् ऐसा ही है ।"

"और क्या ऐसे राष्ट्र में न्यायालय द्वारा दंडित कुछ व्यक्तियों की विनम्रता परम मनोरम नहीं होती। अथवा, क्या तुमने ऐसे राष्ट्र में यह नहीं देखा है कि बहुत से व्यवित, जो कि प्राणदण्ड या निर्वासन दण्ड पा चुके हैं, नगर में ही डटे रहते हैं और जनता के मध्य में घूमते फिरते हैं और प्रेतात्मा (वीर) के समान वाहर भीतर आते जाते रहते हैं मानों कोई उनको देखता ही न हो ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, ऐसे तो मैंने अनेकानेक देखे हैं ।"

"और फिर जनतन्त्र की उदार सहिष्णुता, हमारे द्वारा सूचित सूक्ष्म और जटिल आवश्यकताओं के प्रति उच्च निश्चितता, राष्ट्र

की स्थापना करते समय हमारे द्वारा प्रस्तुत गंभीर घोषणाओं के प्रति अपेक्षा— उदाहरणार्थ यह कि अतिमानव प्राकृतिक गुण संपन्नता के प्रसंगों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति तब तक भला आदमी नहीं बन सकता जब तक कि बचपन से ले कर उसके खेल और अन्य सब धन्धे और शिक्षा सुन्दर और अच्छी वस्तुओं के मध्य में न हुए हों— इत्यादि भी देखो, इन सब आदर्शोंको यह कितनी शान के साथ पैरों तले रौंदता है, इसकी तनिक चिंता नहीं करता कि कोई व्यक्ति किन प्रवृत्तियों और किस प्रकार के जीवन से राजनीति की ओर मुड़ आया है, किन्तु यदि वह मात्र यह कहे कि मैं जनता को प्रेम करता हूँ तो वे उस का सम्मान करते हैं।"

उसने कहा, "सचमुच यह बड़ी उदार नीति है।"

मैंने कहा, "यह और इन्हीं के सदृश अन्य गुणों को प्रजातन्त्र शासन प्रदर्शित करेगा और ऐसा लगता है कि यह शासन तन्त्र अराजकता-मय और विविध होते हुए परम प्रसादप्रद शासन प्रकार होगा और समान एवं असमान सबको एक प्रकार की समता समान रूपेण प्रदान करेगा।"

उसने कहा, "हाँ, आप जो कहते हैं वह सर्व विदित है।"

१२

मैंने कहा, "अब यह विचार करो कि इस शासन प्रणाली के अनुरूप व्यक्ति किस प्रकार का होगा। अथवा क्या, (जैसा हमने राष्ट्र-नीति के प्रसंग में किया था) हमको पहले इस प्रकार के मनुष्य की उत्पत्ति का विचार करना चाहिये ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ।"

"क्या उत्पत्ति का प्रकार यही नहीं है ? हमारे मितव्ययी और आल्गा-गार्क पिता का पुत्र उस पिता के द्वारा अपनी देख-रेख में अपने स्वभाव के अनुसार शिक्षित होगा।"

"क्यों नहीं ?"

"और वह (पुत्र) पिता के समान अपनी उन आमोद प्रमोद की वासनाओं को बलात् दमन करेगा जो धन का अपव्यय करने वाली है, धनोपार्जन करने वाली नहीं, अर्थात् वे जो कि अनावश्यक कहलाती हैं।"

उसने कहा, "स्पष्ट है।"

मैंने कहा, "अच्छा तो इसलिये कि हमारा संवाद अँधेरे में न चलता रहे, यदि तुम चाहो तो हम आवश्यक और अनावश्यक वासनाओं (कामनाओं, इच्छाओं) का भेद पहले स्पष्ट कर लें ?"

उसने कहा, "मैं यही चाहता हूँ।"

"अच्छा तो क्या आवश्यक कामनाएँ उन्हीं को कहना उचित नहीं हैं जिनसे हम छुटकारा नहीं पा सकते तथा जिन को तृप्त करना हमारे लिये हितकर है ? क्योंकि हमारा स्वभाव हमको इन दोनों प्रकार की इच्छाओं को तृप्त करने के लिये बाध्य करता है। क्यों यही बात है न ?"

"निश्चयमेव ऐसा ही है।"

"तो उनके संबंध में हमारा आवश्यक विशेषण का प्रयोग उचित होगा न ?"

"ठीक होगा।"

"और उन इच्छाओं के विषय में क्या कहें जिनसे कि मनुष्य छोटी अवस्था से सीखे हुए अनुशासन से अपने को मुक्त कर सकता है, तथा जिन इच्छाओं की हमारी आत्मा में उपस्थिति हमारे लिये कोई हित नहीं करती प्रत्युत किन्हीं अवस्थाओं में अहित ही करती हैं ? क्या ऐसी सब इच्छाओं को अनावश्यक कहना उचित नहीं होगा ?"

"उचित क्यों नहीं होगा ?"

"इन दोनों प्रकारों में से हमको प्रत्येक का एक एक उदाहरण चुन लेना चाहिये, जिससे कि हम उनकी सामान्य रूपरेखा को समझ सकें।"

"ऐसा ही किया जाना चाहिये।"

"क्या शरीर को स्वस्थ और ठीक अवस्था में रखने के लिये भोजन करने की इच्छा अर्थात् केवल रोटी और अन्य उपस्करों के खाने की इच्छा आवश्यक नहीं होगी ?"

"मैं समझता हूँ ऐसी ही बात है।"

"रोटी के खाने की इच्छा तो दोनों ही दृष्टिकोणों से आवश्यक है, इसलिये कि वह हितकर है और इसलिये भी कि इसके अभाव में हमारी मृत्यु हो जाती है।"

"हाँ।"

"और उपाशन की इच्छा, यदि वे (जहाँ तक कि) स्वास्थ्योत्पादक हों तो ?"

"यह भी सर्वथा आवश्यक है।"

"और क्या उस इच्छा को हमारे द्वारा अनावश्यक कहना उचित नहीं है जो कि इन इच्छाओं का अतिक्रमण करती है और अन्य स्वादिष्ट भोजनों बहुमूल्य व्यंजनों के प्रति प्रवृत्त होती है, एवं छोटी अवस्था से ही सुधार और शिक्षण द्वारा जिससे छुटकारा पाया जा सकता है, तथा जो आत्मा की बुद्धिमत्ता और संयम की प्राप्ति के उद्योग में हानिकारक है ?"

"हाँ, परम उचित है।"

"और क्या हम इन (दूसरे प्रकार की) इच्छाओं को व्ययसाध्य और उन (प्रथम प्रकार की) इच्छाओं को धनोत्पादक नहीं कह सकते क्योंकि वे धनोपार्जन में सहायक होती हैं ?"

"क्यों नहीं ?"

"तथा क्या हम कामवासना और अन्य वासनाओं के विषय में भी यही कहेंगे ?"

"हाँ, यही ।"

"और जिस व्यक्ति को हमने अभी मक्खे का नाम दिया था, क्या उसके रूप में हमने ऐसे व्यक्ति का वर्णन नहीं किया था जो ऐसे आमोदों और वासनाओं से अतिपूरित है तथा अनावश्यक वासनाओं से शासित है, एवं वह व्यक्ति जो अपनी आवश्यक वासनाओं से शासित है, मितव्ययी और आलिगार्क प्रणाली का व्यक्ति है ?"

"और नहीं तो क्या ?"

१३

१३. मैंने कहा, "तो अब, पीछे मुड़कर, हमको यह बतलाना है कि आलिगार्क स्वभाव वाले व्यक्ति से जनतन्त्र स्वभाव वाले व्यक्ति का विकास किस प्रकार होता है। मैं समझता हूँ कि बहुधा यह इस प्रकार होता है।"

"किस प्रकार ?"

"जब कि कोई नवयुवक, जो कि हमारे वर्णन के अनुसार असंस्कृत और मितव्ययी प्रकार से पालित और पोषित हुआ है, मक्खों के मधु का स्वाद पा जाता है और ऐसे उद्दंड एवं चालाक पुरुषों की संगति में रहने लगता है जो कि उसके लिये सब प्रकार और अवस्थाओं के विविध आमोद प्रमोद प्रस्तुत कर सकते हैं, तब, तुमको कल्पना (अनुमान) कर लेना चाहिये कि उसकी अन्तरात्मा में आलिगार्की की दशा का दिमाक्रासी में परिवर्तन आरंभ हो जाता है ।"

उसने कहा, "यह बात नितांत अनिवार्य है ।"

"अच्छा तो क्या, जिस प्रकार नगर में एक बाहरी दल की सहा-

यता से, जो कि अपने समान और सदृश आन्तरिक दल की सहायता को आ गया था, क्रांति हो गयी थी, उसी प्रकार युवा पुरुष भी बाह्य इच्छाओं के दल के उसके अन्तर्वर्तीय सजातीय इच्छाओं के दल की सहायता के लिये आ जाने पर क्रान्त्यापन्न नहीं हो जाता ?"

उसने उत्तर दिया, "सर्वथा यही बात है ।"

"और मैं समझता हूँ कि यदि उसकी आत्मा में स्थित आलिगार्क तत्व की सहायता के लिये कोई प्रतियोगी दल आ जाता है, जो कि उसके पिता अथवा अन्य किसी संबंधी की फटकार या गाली गलौज के रूप में आता है, तब तो स्वयं उस व्यक्ति की आत्मा के भीतर कलह और आन्तरिक प्रतिद्वंद्विता उठ खड़ी होती है ।"

"क्यों नहीं ?"

"और मैं कल्पना करता हूँ कि कभी कभी आलीगार्क तत्व के समक्ष जनतन्त्रात्मक तत्व दब जाता है, और उसकी कुछ इच्छाएँ विनष्ट हो जाती हैं और अन्य कुछ इच्छाएँ निर्वासित कर दी जाती हैं, क्योंकि युवक की आत्मा में आतंक और श्रद्धा का भाव उठ खड़ा होता है और परिणामतः (उसी की आत्मा में) पुनः व्यवस्था स्थापित हो जाती है ।"

उसने कहा, "कभी कभी ऐसा भी (घटित) होता है ।"

"और मैं समझता हूँ कि फिर कभी पुरानी इच्छाओं के निष्कासित हो जाने के उपरान्त उन्हीं की सजातीय नवीन इच्छाओं का समूह प्रच्छन्न भाव से उनका स्थान ग्रहण करने के लिये जन्म ले लेता है तथा क्योंकि इनके पिता (उस व्यक्ति) को, उनकी शिक्षाओं का ठीक ज्ञान नहीं होता अतएव वे बहुसंख्यक और प्रचण्ड हो जाती हैं ।"

उसने कहा, "हाँ, इसका यही ढंग सामान्यतया उचित है ।"

"वे उसको उसके पुराने संगियों की ओर खींच कर ले जाती हैं, तथा उनके साथ रहस्य-सहवास द्वारा असंख्यों अन्य इच्छाओं को संपन्न कर देती हैं।"

"क्यों नहीं ?"

"और मैं समझता हूँ कि अन्त में युवा की आत्मा के दुर्ग को, अध्ययन, उत्तम व्यवसायों तथा सच्चे सिद्धांतों (शब्दों) से (जो कि मनुष्यों के मन में श्रेष्ठ प्रहरी और रक्षक हैं और देवताओं के प्यारे हैं) शून्य पाकर अपने अधिकार में कर लेती हैं।"

उसने कहा, "यही (अध्ययन इत्यादि) सर्वश्रेष्ठ हैं।"

"और तब, मैं कल्पना करता हूँ कि झूठे और तर्कपूर्ण सिद्धांत (शब्द) और सम्मतियाँ (आभास) ऊपर को झपटने लगती है और उस युवा की आत्मा में उपर्युक्त (अध्ययन इत्यादि के) स्थान को ग्रहण कर लेती हैं।"

उसने कहा, "वास्तव में वे बड़ी दृढ़ता से (ऐसा) करती हैं।"

"और तब वह कुमुद-भक्षक लोगों के समाज में लौट आता है (क्यों है न यही बात ?) और बिना आवरण के खुले तौर पर उनके साथ रहने लगता है; और यदि उसकी आत्मा के मितव्ययी आलिगार्क तत्व के लिये उसके संबंधियों द्वारा कोई सहायता भेजी जाती है, तो वे अहंकारी सिद्धांत उसके मन के राजदुर्ग के द्वार बन्द कर देते हैं तथा सहायक दल का प्रवेश-निषेध कर देते हैं, तथा व्यक्तिगत जीवन के वयस्क मित्रों के शब्द रूपी दूतों को भेंट करने (सुने जाने) तक की आज्ञा नहीं देते। उससे लड़कर वे स्वयं ही विजयी होते हैं तथा विनम्रता (अथवा लज्जा) को मूढ़ता का नाम देकर बदनाम भगोड़े की भाँति बाहर निकाल देते हैं। संयम को वे 'पुरुषार्थ का अभाव' कहकर तिरस्कारपूर्वक निर्वासित कर देते हैं तथा यह शिक्षा देते हैं कि मर्यादा और

व्यवस्थित व्ययशीलता गँवारूपन और अनुदारता है और इस प्रकार अनुपयोगी और हानिकारक कामनाओं के साथ मिल कर उनको सीमा के वाहर खदेड़ देते हैं ।"

"हाँ, दृढ़ता से ऐसा करते हैं ।"

"और जब वे अपने द्वारा इस प्रकार अधिकृत युवा की आत्म को इन सब (सत् कामनाओं, प्रवृत्तियों) से रिक्त और विशुद्ध कर लेते हैं और उसको महार्घ्य अनुष्ठानों द्वारा महान् रहस्यों में दीक्षित कर लेते हैं तो उसके पश्चात् ये धृष्टता, अराजकता अपव्यय, और निर्लज्जता को बड़ी चमक-दमक के साथ, परिवारावेष्टित एवं मालामुकटों से सजा कर पुन: निर्वास से लाकर घर में स्थापित करने में प्रवृत्त होते हैं तथा उनके स्तुतिपाठ में वे उनको मधुर नाम प्रदान करते हुए धृष्टता को सुसंस्कार, स्वच्छंदता को स्वाधीनता, अपव्यय को महिमा, निर्लज्जता को शूरवीरता बतलाते हैं ।" मैंने पूछा, "क्या कुछ इसी प्रकार से ऐसा नहीं होता कि उसकी युवा अवस्था में, उसकी शिक्षा में, आवश्यक इच्छाओं में आबद्ध रहने के स्थान पर अनावश्यक और हानिकारक इच्छाओं को मुक्ति और छूट दिलाने वाला परिवर्तन हो जाता है ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, स्पष्टतया बिलकुल ऐसा ही है ।"

"इसके पश्चात्, मैं समझता हूँ कि इस प्रकार का आदमी अपना धन, श्रम और समय अनावश्यक आमोदों में भी उतना ही व्यय करने लगता है जितना कि आवश्यक कामों पर । परन्तु यदि वह सौभाग्यशाली हो तथा उसकी गधापच्चीसी बहुत दिनों तक न चलती रहे, और जैसे जैसे अवस्था अधिक होती जावे उसका आन्तरिक तुमुल द्वंद्व शान्त हो जाय और वह निर्वासित तत्वों में से एक भाग को वापस लेले तथा अपने को पूर्णतया दूसरे प्रकार के तत्वों के अभियान से अभिभूत न होने दे तो वह सचमुच ही अपने सब आमोद प्रमोदों को समानता के आधार

पर स्थापित कर लेता है, तथा जो भी कामना पहले आ पहुँचे, (मानो उसने बारी जीत ली हो), उसी को अपनी आत्मा का शासन कार्य (रक्षागृह) सौंपकर जब तक वह तृप्त न हो जाय उसी के वश में रहता हुआ और तत्पश्चात दूसरे की बारी आने पर उसके वशवर्ती होता हुआ जीवन व्यतीत करता है, किसी का तिरस्कार न करते हुए सब का समान भाव से पोषण करता है ।"

"सर्वथा यही बात है ।"

मैंने कहा, "और जब कोई उसको यह सलाह देता है कि कुछ आनन्द तो आदरणीय और अच्छी वासनाओं से उत्पन्न होते हैं और दूसरे ऐसी इच्छाओं से जन्मते हैं जो नीच हैं तथा हमको प्रथम का वर्तन और आदर करना चाहिये एवं द्वितीय का दमन तो वह अपनी आत्मा के शासन कार्य (रक्षागृह) में इस सत्य वचन को प्रविष्ट या स्वीकार नहीं करता । ऐसी भर्त्सना पर वह अपना शिर हिला कर कह देता है कि सभी समान हैं और सब का एकसा आदर होना चाहिये ।"

"उसकी मनोदशा और उसका आचरण सचमुच ऐसे ही होते हैं ।"

मैंने कहा, "अतएव वह दिन प्रति दिन बदलने वाली वासनाओं में पूर्णतया लिप्त और निमग्न होता हुआ जीवन व्यतीत किया करता है, कभी तो मदिरामत्त होकर वंशी ध्वनि सुनने में मस्त रहता है और कभी जल पीकर मिताहार किया करता है, कभी शारीरिक व्यायाम किया करता है और कभी आलस्य में डूबकर सब कामों की अवहेलना करने लगता है और फिर कभी फिलासफी में व्यापृत हो जाता है । प्रायः वह राजनीति में भी लगा रहता है तथा चौंककर उछल पड़ता है तथा जो कुछ उसके मुंह में आ जाता है वही कहने और करने लगता है । और यदि उसके चित्त में किसी सैनिक के प्रति स्पर्धा उठ खड़ी होती है तो उधर ही

चौकड़ी भरने लगता है, और यदि व्यापारी के प्रति स्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है तो उसी ओर झुक पड़ता है। उसके जीवन में कोई व्यवस्था अथवा बाधकता नहीं रहती, परन्तु वह अपने इस जीवन को ही आनन्द, स्वाधीनता और सुख का जीवन मानता है और अन्त तक इसी को चिपटा रहता है।"

उसने कहा, "यह समता के भक्त के जीवन का परिपूर्ण वर्णन है।"

मैंने कहा, "हाँ, मैं समझता हूँ कि वह बहुविध मानव है और उसका जीवन अनेक उत्तम भेदों से ठसाठस भरा रहता है तथा उस राष्ट्र के समान वह सुन्दर और बहुरंगी होता है जिसको अनेकों स्त्री पुरुष अपने इस प्रकार के जीवन में सौभाग्यशाली समझेंगे क्योंकि उसके भीतर स्वयं ही कितने ही गुण और कितनी ही शासनप्रणालियों के नमूने सन्निविष्ट होते हैं।"

उसने कहा, "हाँ, यही बात है।"

"अतः क्या हम निश्चयेन कह सकते हैं कि इस प्रकार का व्यक्ति प्रजातंत्र के अनुरूप है और उसको प्रजातंत्रजन कहना उचित होगा?"

उसने कहा, "उसका स्थान यही सही।"

१४

मैंने कहा, "अब हमको सुन्दरतम शासनप्रणाली और सुन्दरतम नागरिक—अर्थात् तानाशाही और तानाशाही स्वभाव वाले नागरिक का वर्णन करना शेष रह गया है।"

उसने कहा, "बिलकुल ऐसी ही बात है।"

"मेरे प्रिय मित्र, आओ मुझे बतलाओ कि तानाशाही किस प्रकार उत्पन्न होती है। इतना तो पर्याप्त रूपेण स्पष्ट है कि यह है तो जनतंत्र का ही परिणाम।"

"स्पष्ट है।"

"और क्या एक प्रकार से तानाशाही जनतंत्र नीति से उसी ढंग से नहीं उत्पन्न होती जिस ढंग से जनतंत्र नीति बनियाशाही oligarchy से उत्पन्न होती है।"

"किस प्रकार।"

मैंने कहा, "आलीगार्की ने जो सत् या श्रेय अपने सम्मुख लक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया था तथा जो उसकी स्थापना का कारण था वह था धन; यही बात है न?"

"हाँ।"

"अच्छा तो धन की तृप्त न होने वाली उद्दाम वासना, और धनोपार्जन के निमित्त अन्य सब बातों की अवहेलना ही ऑलीगार्की के विनाश का कारण था (हुआ)।"

उसने कहा, "सत्य हैं।"

"और क्या इसी प्रकार जनतंत्र के विनाश का कारण भी उसी वस्तु की अत्यधिक वासना नहीं है जो जनतंत्र का लक्षण (सीमा मर्यादा) बतलाती है तथा जो उस (जनतंत्र) की दृष्टि में श्रेय की कसौटी है?"

"तुम इसका लक्षण या कसौटी किसको कहते हो?"

मैंनें उत्तर दिया, "स्वतंत्रता को। क्योंकि तुम यह कहा जाता हुआ सुनोगे कि यह स्वतंत्रता अपने सुन्दरतम रूप में जनतांत्रिक राष्ट्र में ही उपलब्ध होती है अतएव स्वतंत्र प्रकृति का व्यक्ति केवल जनतांत्रिक शासन में ही रहना स्वीकार करेगा।"

उसने कहा, "सो क्यों नहीं, यह कथन तो तुम सर्वत्र सुन सकते हो।"

मैंने कहा, "तो, जैसा कि मैं अभी कहने वाला था, क्या इसी की अतिशय वासना और अन्य सब वस्तुओं की अवहेवलना ही वह चीज

नहीं है जो इस शासन प्रणाली में भी क्रान्ति उत्पन्न कर के तानाशाही की आवश्यकता के लिए पथ प्रशस्त करने वाली है ?"

उसने पूछा, "कैसे ?"

"मैं समझता हूँ कि जब स्वतंत्रता पान करने के लिए तृषित जनतंत्र राष्ट्र को नेताओं के स्थान में बुरे चषकवाहक (साकी) मिल जाते हैं, तथा जब वह राष्ट्र इस अविमिश्रित शुद्ध मदिरा से छक कर मदमत्त हो उठता है तो यदि उसके तथाकथित शासनकर्ता उसके प्रति अतिशय मृदुलता और विनम्रता का व्यवहार नहीं करते तथा उसके प्रति स्वतंत्रता का अत्यधिक मात्रा में वितरण नहीं करते तो यह उनको दण्ड देता है और उनके ऊपर अभिशप्त ऑलीगार्क (बनियाशाह) होने का दोषारोपण करता है।"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, वे ऐसा ही करते हैं।"

मैंने कहा, "यह तो है ही। और जो लोग शासकों की आज्ञा मानते हैं उनका यह राष्ट्र, उनको स्वेच्छादास और निरर्थक व्यक्ति कह कर निरादर करता है, किन्तु जो शासक प्रजाओं के समान होते हैं अथवा जो प्रजाजन शासकों के सदृश होते हैं उनको वह सार्वजनिक और व्यक्तिगत रूप में प्रशंसा और आदर प्रदान करता है। क्या यह बात अनिवार्य नहीं है कि ऐसे राष्ट्र में स्वतंत्रता की भावना मर्यादा के छोर तक पहुँच जाय ?"

"अवश्यमेव।"

मैंने कहा, "और यह अराजकता की आदत, मेरे मित्र, अवश्यमेव व्यक्तियों के गृहों में प्रविष्ट हो जाती है और अन्ततोगत्वा पशुओं तक में संक्रान्त हो जाती है।"

उसने पूछा, "इस कथन से आपका क्या तात्पर्य है।"

मैंने उत्तर दिया, "मेरा मतलब यह है कि पिता अपने को पुत्रवत् आचरण करने का अभ्यस्त कर लेता है और अपने पुत्रों से डरने लगता

है और पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है और अपने माता पिता के प्रति आदर और भय की भावना नहीं रखता, जिससे कि वह सचमुच स्वतंत्र व्यक्ति बन सके। बसा हुआ विदेशी अपने को नागरिक के समान मानता है और नागरिक बसे हुए विदेशी के समान और इसी प्रकार परदेशी भी।"

उसने कहा, "हाँ, ऐसी बातें तो घटित होती ही हैं।"

मैंने कहा, "हाँ, सो तो होती ही हैं, और इनके साथ कुछ ऐसी तुच्छ बातें भी होती हैं। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक अपने शिष्यों से डरता और उनकी चापलूसी करता है और विद्यार्थी अपने अध्यापकों और उपध्यायों का तिरस्कार करते हैं। और सामान्य रूपेण युवा लोग अपने गुरुओं का अनुकरण करते हैं तथा वाचा और कर्मणा उनसे स्पर्धा करते हैं और वृद्ध लोग अपने को युवकों के अनुरूप बनाते हुए इस आशंका से परिहासप्लुत और प्रसादप्रवण बने रहते हैं कि वे कहीं अप्रिय और शासकमानी न समझ लिए जायें।"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

मैंने कहा, "किन्तु, मित्र, ऐसे राष्ट्र में सार्वजनिक स्वतंत्रता की पराकाष्ठा तो तब होती है जब कि क्रीतदास और दासियाँ भी उनको मूल्य देकर मोल लेने वाले स्वामियों के बराबर स्वतंत्र हो जाती हैं। और पुरुषों के स्त्रियों के प्रति और स्त्रियों के पुरुषों के प्रति संबन्ध की भावना में यह स्वतंत्रता और समानता कहाँ तक पहुँचेगी इसका उल्लेख करना ो मैं लगभग भूल ही चुका था।"

उसने कहा, "तो फिर, अयस्खिलॉस के कथनानुसार, ओठों तक उठ कर आई हुई बात को हम क्यों न कह डालें।"

मैंने कहा, "निश्चय ही, सो तो मैं करूँगा ही। इस प्रकार के राष्ट्र में मनुष्य के शासन में रहने वाले पशु किसी अन्य राष्ट्र के पशुओं की

अपेक्षा कितने अधिक स्वतंत्र होंगे इसका विश्वास बिना प्रत्यक्ष अनुभव के किसी को नहीं हो सकता। कुतियें तक लोकोक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए, अपनी स्वामिनी के समान हो जाती हैं। और इसी प्रकार घोड़े और गधे भी मार्ग में अत्यधिक स्वतंत्रता और गौरव के साथ चलने के अभ्यासी हो जाते हैं, तथा जो भी उनके सामने आकर उनके लिए रास्ता नहीं छोड़ता उसी पर झपट पड़ते हैं। और इसी प्रकार सब चीजें सर्वत्र स्वतंत्रता की भावना से फट पड़ने को तैयार हो जाती हैं।"

उसने कहा, "यह तो आप मेरा ही स्वप्न मुझे सुना रहे हैं, क्योंकि जब मैं देहात की ओर जाता हूँ तो यह बातें प्रायः मेरे साथ घटित होती हैं।"

मैंने कहा, "क्या तुम देखते हो कि इन सब बातों का संयुक्त परिणाम यह होता है कि नागरिकों की आत्मा इतनी संक्षोभ्य हो उठती है कि वे वे दासता के लेशमात्र संकेत पर भी रुष्ट और अधीर हो उठते हैं और उसको सहना नहीं चाहते? क्योंकि यह तो तुम निश्चय ही जानते हो कि अन्ततोगत्वा वे लिखित अथवा अलिखित किसी भी नियम को इसलिए तनिक भी ध्यान नहीं देते कि जिससे सचमुच ही कहीं भी उनके ऊपर कोई स्वामी न रह जाए।"

उसने कहा, "यह मुझको भली भाँति विदित है।"

१५

१५ मैंने कहा, "मेरे प्रिय मित्र, बस मेरी सम्मति में तो जिस ऐसी सुन्दर और यौवनपूर्ण मूल (अथवा शासन प्रणाली) से तानाशाही स्फुटित होती है वह यही है।"

उसने कहा, "यौवनपूर्ण तो वह सचमुच है, पर इसके आगे क्या है?"

मैंने कहा, "वही रोग जिसने वनियाशाही में उत्पन्न होकर उसको

नष्ट कर दिया था, अधिक व्यापक रूप से फैल कर तथा अत्यधिक स्वच्छंदता के कारण प्रचण्ड होकर जनतंत्रप्रणाली को भी अपना दास बना लेता है। और सच तो यह है कि किसी भी वस्तु की अति कर देने से प्रायः विरोधी दिशा में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। तथा यह बात केवल ऋतुओं वनस्पतियों एवं पशुओं के विषय में ही लागू नहीं होती, प्रत्युत शासन प्रणालियों में तो सब से अधिक और विशेष रूप से लागू होती है।"

उसने कहा, "ठीक है।"

"अतएव अत्यधिक स्वतंत्रता (eleutheria) का संभवपर परिणाम, व्यक्ति में और राष्ट्र में दोनों में अत्यधिक दासता ही होता है।"

"यह होना संभव है।"

मैंने कहा, "तब तो संभवतया तानाशाही का विकास जनतंत्र शासन प्रणाली को छोड़ कर अन्य और किसी शासन प्रणाली से नहीं हो सकता—अर्थात् मैं समझता हूँ कि स्वतंत्रता की अत्यधिक और उच्च मात्रा से गुरुतम और प्रचण्ड दासत्व की उत्पत्ति होती है।"

उसने कहा, "यह उचित एवं युक्तियुक्त कथन है।"

मैंने कहा, "परन्तु मेरा ख्याल है कि तुम्हारा प्रश्न यह नहीं था, बल्कि यह था कि वह कौन सा एक रोग है जो बनियाशाही के समानही जनतंत्र शासन में भी उत्पन्न हो कर उसको दासत्व में जकड़ लेता है?"

उसने कहा, "आप सत्य कहते हैं।"

मैंने कहा, "तो मेरा तात्पर्य निठल्ले अमितव्ययी लोगों की ओर संकेत करना था जिनमें से अत्यधिक पराक्रमपूर्ण तथा ओजस्वी नेतृत्व करते हैं एवं डरपोक अथवा पुरुषार्थ शून्य अनुचर बन जाते हैं। हम इन्हीं की तुलना मक्खों से कर रहे थे जिनमें से कुछ डंक वाले होते हैं और कुछ बिना डंक के।"

उसने कहा, "यही ठीक भी है।"

मैंने कहा, "यह दोनों प्रकार (के व्यक्ति रूपी मक्खे) जब किसी राष्ट्र में उत्पन्न हो जाते हैं तो उसमें वैसा ही उपद्रव उत्पन्न करते हैं जैसा कि शरीर में कफ और पित्त से उत्पन्न होता है। और अच्छे वैद्य और राष्ट्र के अच्छे नियम निर्माता को बहुत पहले से ही इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के विषय में सचेत रहना चाहिए और चतुर मधुमक्खी पालने वाले के समान पहले तो विशेषतया उनका उत्पन्न होना ही रोक देना चाहिए, परन्तु यदि वे उत्पन्न हो ही जाएँ तो जितनी जल्दी से जल्दी हो सके उनको और उनके कोटरों को काट डालना चाहिए।"

उसने कहा, "भगवान की सौगन्द, सर्वथा ऐसा ही होना चाहिए।"

मैंने कहा, "तब तो अपने उद्देश्य पर भली भाँति मनन करने के लिए हमको इस विषय पर इस प्रकार विचार करने दिया जाना चाहिए।"

"किस प्रकार?"

"हम कल्पना में प्रजातंत्र शासन वाले राष्ट्रों के तीन विभाग करें, जैसे कि वे वास्तव में हैं। उक्त प्रकार के व्यक्तियों का एक वर्ग जनतांत्रिक राष्ट्र में स्वतंत्रता के कारण उदय होता है जैसा कि हमने वर्णन किया है तथा जो वर्ग बनियाशाही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले वर्ग से कम नहीं होता।"

"ऐसा ही है।"

"किन्तु इस (जनतंत्रात्मक) राष्ट्र में यह वर्ग उस (बनियाशाही) राष्ट्र की अपेक्षा बहुत अधिक भयंकर होता है।"

"क्यों?"

"क्योंकि उस (ऑलीगार्की) में यह (वर्ग) सम्मानास्पद नहीं होता, शासनाधिकार से अलग रक्खा जाता है अतएव वह शासन कार्य में शिक्षित और ओजःपूर्ण नहीं हो पाता। परन्तु प्रजातंत्र प्रणाली में तो विरले

अपवादों को छोड़ कर यही वर्ग आधिपत्यप्राप्त दल होता है, और इसी का सब से प्रचण्ड भाग वक्तृताएँ देता और शासन कार्य संचालन करता है और शेष व्यक्ति वक्ता के चतुर्दिक मँडरा कर बैठ जाते हैं तथा उसकी प्रशंसा की ध्वनि को गुंजायमान करते रहते हैं तथा प्रतिवाद को तनिक भी सहन नहीं करते, प्ररिणामतः ऐसे राष्ट्र में छोटे-मोटे अपवादों के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु इसी वर्ग द्वारा शासित होती है।"

उसने कहा, "बिलकुल ऐसी ही बात है।"

"अतएव इस जनसमूह में कभी कभी इस प्रकार का एक और वर्ग उद्भूत अथवा मिश्रित हुआ करता है।"

"किस प्रकार का?"

"जब सभी लोग धनोपार्जन में लगे रहते हैं तो व्यवस्थित और मितव्ययी स्वभाव के व्यक्ति प्रायः सब से अधिक धनवान हो जाते हैं।"

"ऐसा होना तो स्वाभाविक ही है।"

"मैं ख्याल करता हूँ कि यही लोग मक्खों के लिए सब से अधिक मात्रा में मधुप्रद सिद्ध होते हैं। और उनको निचोड़ना भी अत्यन्त सरल होता है।"

उसने कहा, "क्यों न हो; अल्पवित्त जनता से भला कोई क्या निचोड़ सकता है?"

"मैं ख्याल करता हूँ धनिक वर्ग—जिस नाम से यह लोग अभिहित होते हैं—मक्खों का चारा है।"

उसने कहा, "बहुत कुछ यही बात है।"

१६

"(शेष) जनता तीसरा वर्ग होती है जिसके घटक वह लोग होते हैं जो कि अपनी खेती बाड़ी स्वयं अपने आप किया करते हैं, तथा जिनके पास बहुत थोड़ी सम्पत्ति होती है। प्रजातंत्रात्मक राष्ट्र में, यह वर्ग, जब कभी

संसद सम्मेलन में इकट्ठा होता है तो सब से बड़ा और सब से अधिक शक्तिशाली वर्ग होता है।"

उसने कहा, "है तो यही बात, पर जब तक इसको भी मधु भाग न मिले तब तक यह प्रायः एकत्रित होने के लिए सहमत नहीं होगा।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्याइ नको सर्वदा इनका भाग नहीं मिलता ? क्या ? प्रमुख (नेतागण) धनिक लोगों से उनका धन अपहरण करके जिस मात्रा तक अधिकांश सम्पत्ति को स्वायत्त करना संभव देख पाते हैं, उस मात्रा में उसको स्वायत्तकर के शेष इन लोगों में वितरण नहीं कर देते ?"

उसने कहा, "क्यों नहीं, इस सीमा तक तो उनको भाग मिलता ही है।"

"परिणामतः मैं समझता हूँ कि जिनकी सम्पत्ति का अपहरण किया जाता है वे लोग सम्मेलन के समक्ष व्याख्यानों के द्वारा और अपनी शक्त्यनुसार किसी भी कार्य द्वारा अपने संरक्षण के लिए विवश हो जाते हैं।"

"क्यों नहीं ?"

"और इस पर, यद्यपि उनकी इच्छा शासन परिवर्तन अथवा क्रान्ति करने को बिलकुल नहीं होती, तथापि, दूसरा दल (पक्ष या पार्टी) उन पर यह दोषारोपण करता है कि वे लोग जनता के विरुद्ध षड़यंत्र रच रहे हैं, और यह भी कहा जाता है कि वे ऑलीगार्की (बनियाशाही लोग) हैं।"

"क्यों नहीं ?"

"और अन्त में जब यह लोग देखते हैं कि जनता स्वेच्छा से नहीं बल्कि अनजाने में और इन निंदकों द्वारा दिये गए धोखे से उनको हानि पहुँचाने पर तुली हुई है तो फिर वे इस बात को चाहते हों अथवा न चाहते हों, वे सचमुच ही ऑलीगार्क बन जाते हैं। वे स्वेच्छा से ऐसे नहीं बन जाते, बल्कि यह दोष भी उनमें उन मक्खों द्वारा पैदा किया जाता है जो कि उनके डंक मारते रहते हैं।"

"बिलकुल ठीक यही बात है।"

"और तब दोनों ओर से अभियोग, निर्णय, मुकदमेबाजी इत्यादि चल पड़ती है।"

"हाँ सचमुच ऐसा ही होता है।"

"और क्या साधारण जनता (दीमॉस्) का सर्वदा यही ढंग नहीं रहा है कि वह एक व्यक्ति को अपना विशिष्ट संरक्षक बना कर आगे बढ़ाती है तथा उसका पोषण करते हुए उसको महत्तायुक्त बना देती है?"

"हाँ, यही बात है।"

मैंने कहा, "तो यह तो स्पष्ट है कि जब कोई तानाशाह उपजता है तो उसकी मूल यही संरक्षकता ही होती है और किसी अन्य वस्तु से उसकी उत्पत्ति नहीं होती।"

"हाँ, यह तो बहुत ही स्पष्ट है।"

"तो फिर संरक्षक से बदल कर तानाशाह बन जाने की प्रक्रिया का प्रारंभ कहाँ से होता है। क्या स्पष्टतया ही यह परिवर्तन तब आरम्भ नहीं होता जब कि संरक्षक के कार्य वैसी ही पुराण कथाओं के विषय बनने लगते हैं जैसी कथा आर्कादिया में लीकायेआ के द्यौस के मन्दिर के विषय में कही जाती है?"

उसने पूछा, "कौन सी कथा?"

"कथा इस प्रकार है वह व्यक्ति जो अन्य बलि पशुओं की अंतड़ियों में कट कर मिली हुई मानव अतड़ी का आस्वादन कर लेता है तो वह अनिवार्यतः भेड़िये के आकार में परिणत हो जाता है। क्या तुमने यह कथा कभी नहीं सुनी?"

"हाँ, सुनी है।"

"और क्या यह भी सत्य नहीं है कि इसी प्रकार जनता का नेता भी, विनयशील जनसमूह पर अधिकार पा कर, अपनी जाति का रक्त बहाने से

अपना हाथ नहीं रोकता, प्रत्युत चलताऊ और अन्यायपूर्ण दोषारोपणों द्वारा नागरिकों को न्यायालय में घसीट लाता है और उनकी हत्या कर देता है, मानव जीवन का दीपक बुझा देता है, और अपावन जिव्हा और अधरों से जिन्होंने सनागरिक के रक्त का स्वाद चख लिया है, मनुष्यों को निर्वासित किया और मारा करता है और ऋण को मिटाने और भूमि के पुर्नविभाजन करने की ओर संकेत किया करता है—क्या ऐसे व्यक्ति के विषय में यह अनिवार्य परिणाम अथवा भाग्य की आज्ञा नहीं होगी कि वह या तो अपने शत्रुओं के हाथ से नष्ट हो जाये अथवा तानाशाह बन जाये, अर्थात् मनुष्य से बदल कर भेड़िया बन जाय?"

उसने कहा, "यह तो बिलकुल अनिवार्य है।"

मैंने कहा, "यह आदमी वही होता है जो सम्पत्ति के स्वामियों के विरोधी दल का नेता बनता है।"

"हाँ, वही।"

"और तब क्या यह नहीं हो सकता है कि वह निर्वासित कर दिया जाय, एवं अपने शत्रुओं के विरुद्ध होते हुए भी लौट आवे और परिपक्व तानाशाह बन कर लौटे?"

"यह तो स्पष्ट ही है।"

"और यदि वे (उसके शत्रु) सार्वजनिक अभियोग द्वारा उसको निकलवाने अथवा मरवाने में असमर्थ हों तो वे उसको छिपकर उग्र प्रकार से मार डालने का षड़यंत्र रचते हैं।"

उसने कहा, "सामान्यतया ऐसा ही हुआ करता है।"

"और इसके पश्चात्, जो इस स्थिति तक पहुँचे होते हैं, तानाशाहों की सुविदित विनम्र माँग (प्रार्थना) प्रस्तुत करते हैं—अर्थात् नगर की भलाई के निमित्त जनता के बन्धु की रक्षा के लिए नागरिकों से अंगरक्षक माँगते हैं।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक।"

"और मैं ख्याल करता हूँ कि जनसमूह उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेता है, क्योंकि जनता स्वतः निश्चिन्त होती है, केवल उसी के विषय में भयत्रस्त होती है।"

"बिलकुल यही बात है।"

"तब, तो, जिसके पास धन होता है और धनवान होने के कारण साधारण जनता के विरोधी के रूप में विख्यात होता है, वह यह देख कर, क्रोइसॉस द्वारा सुनी गयी देववाणी के शब्दों में, "हैर्मास् के पथरीले तट पर पलायन करता है, न रुकता है और न भीरुता प्रदर्शित करने में ही लजाता है।"

उसने कहा, "नहीं कदापि नहीं लजाता, क्योंकि ऐसा करने से उसको दूसरी बार लजाने का अवसर नहीं मिलेगा।"

"और मैं समझता हूँ कि जो पकड़ा जाता है वह मृत्यु को सौंप दिया जाता है।"

"अवश्यमेव।"

"और वह जनता का रक्षक तो स्पष्टतया ही पटका पछाड़ा जाकर अपने सबल और दूरक्षिप्त अंगों के साथ चारोंखाने चित्त नहीं गिरता, बल्कि बहुत से दूसरे लोगों को पछाड़ कर स्वयं जनता के संरक्षक से बदल कर परिपूर्ण एवं परिपक्व तानाशाह बन कर ठाठ से राजरथ (राष्ट्र रथ) में विराजता है।"

उसने कहा, "यह नहीं तो और क्या हो सकता है ?"

१७

मैंने पूछा, "तो क्या अब हम इस व्यक्ति (तानाशाह) के और उस नगर के (राष्ट्र के) सुखों का चित्रण करेंगे जिसमें कि इस व्यक्ति का उदय होता है ?"

उसने कहा, "हमको सर्वथा ऐसा ही करना चाहिए।"

मैंने कहा, "प्रथम तो, अपनी तानाशाही के प्रारंभिक दिनों में क्या वह सब मनुष्यों के प्रति मुस्कराया नहीं करता और प्रत्येक मिलने वाले व्यक्ति का अभिवादन नहीं किया करता और अपने तानाशाह होने का प्रतिवाद नहीं किया करता तथा एकान्त में और सार्वजनिक रूप में बड़ी बड़ी प्रतिज्ञाएँ नहीं किया करता, जनता को ऋणमुक्त करके तथा सर्व साधारण एवं अपने अनुयायियों को भूमि बांट कर क्या वह सब के प्रति दया दाक्षिण्य और विनयपूर्वक व्यवहार नहीं किया करता?"

उसने कहा, "अवश्यमेव।"

"किन्तु, मेरे ख्याल में ज्योंही वह अपने कुछ निर्वासित शत्रुओं से सुलह कर लेता है और दूसरों को नष्ट कर चुकता है और उनसे तंग होने का भय मिट जाता है, तो पहली बात जो वह करता है वह यह होती है कि वह सर्वदा युद्ध की छेड़छाड़ करता रहता है जिससे कि जनता को नेता की आवश्यकता बनी रहे।"

"ऐसा ही है।"

"और क्या उसका दूसरा उद्देश्य अपने प्रजाजनों को युद्ध करों से ऐसा निर्धन कर देना नहीं होता कि जिससे वे स्वयं अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में संलग्न बने रहें और उनकी उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचने की बहुत कम संभावना रहे?"

"स्पष्ट ही है।"

"और मैं ख्याल करता हूँ कि यदि उसको यह आशंका हो जाती है कि जनता में कुछ ऐसे स्वतंत्र जीव भी हैं जो उसके आधिपत्य को सहन नहीं करेंगे, तो क्या उसका एक और उद्देश्य यह नहीं होता कि वह उनको शत्रुओं के बीच में डाल कर नष्ट करने का बहाना ढूंढ़ निकाले? इन्हीं सब

कारणों के निमित्त तानाशाह नित्य ही युद्धों को उत्तेजन देने के लिए बाध्य हुआ करता है।"

"अनिवार्यतः यही बात है।"

"और क्या इस प्रकार के कार्य करता हुआ वह शीघ्रतरेण जनता के विद्वेष का भाजन नहीं बन जायेगा ?"

"क्यों नहीं ?"

"और इसीलिए क्या ऐसा होना सम्भव नहीं है कि जिन लोगों ने उसकी शक्ति की स्थापना में सहायता की थी तथा जो अब उसके साथ शक्ति का सहोपभोग कर रहे हैं, उनमें से कुछ घटना-चक्र के विषय में अपनी अननुमति प्रकट करते हुए उसके समक्ष और परस्पर अपने मन की बात स्पष्टतया कह देंगे—कम से कम जो अधिक साहसी हैं वह तो ऐसा करेंगे ही ?"

"हाँ, ऐसा होना संभव है।"

"तो, यदि तानाशाह को अपना शासनाधिकार बनाए रखना हो तो उसको ऐसे सब व्यक्तियों का तब तक सफाया करते जाना चाहिए, जब तक कि कोई भी योग्य व्यक्ति उसके मित्रों या शत्रुओं में शेष न रहे।"

"स्पष्ट ही है।"

"तो उसको तीक्ष्ण दृष्टिपात कर के देखना चाहिए कि उसके आसपास वालों में कौन शूरवीर है, कौन उदारचेता है, कौन बुद्धिमान् है एवं कौन धनवान् है। एवं उसका सौभाग्य भी ऐसा है कि चाहे उसकी इच्छा हो या न हो उसको उन सब का शत्रु बन कर उनके विरुद्ध तब तक षड्यंत्र रचना पड़ता है जब तक कि नगर पूर्णतया उनसे शुद्ध और मुक्त न हो जाए।"

उसने कहा, "क्या ही सुन्दर विशोधन है !"

मैंने कहा, "हाँ यह विशोधन (कथर्सिस अथवा कथर्मान् विरेचन) उस विरेचन का ठीक उलटा है जो कि वैद्य लोग हमारे शरीर के लिए उपयोग में लाते हैं। क्योंकि वैद्य तो बुराई को दूर करके अच्छे (शरीरांश) को बचा लेते हैं पर वह इसके विपरीत आचरण करता है।"

उसने कहा, "हाँ, यदि उसको अपनी शक्ति बनाए रखनी है तो स्पष्ट ही उसको ऐसा करना ही चाहिए।"

१८

मैंने कहा, "धन्य है वह विवशता जो उसको बाँधे हुए है, तथा जो उसको या तो अधिकांश नीच और तुच्छ (एवं उससे घृणा करनेवाले) सहचरों के साथ रहने की आज्ञा देती है अथवा अपने प्राणों से हाथ धोने को बाध्य करती है।

उसने कहा, "हाँ, यही विकल्प है।"

"और जितना ही वह अपने ऐसे आचरण से नागरिकों की अप्रसन्नता का पात्र होता जायेगा, क्या उसको उतनी ही अधिकाधिक विश्वास के योग्य अंगरक्षक दल की आवश्यकता नहीं होगी?"

"क्यों नहीं, अवश्यमेव होगी।"

"तो फिर वह किनका विश्वास कर सकेगा? और उनको कहाँ से ला सकेगा?"

उसने उत्तर दिया, "वाह यदि वह उनको उनका वेतन प्रदान करेगा तब तो वे स्वतः बहुत अधिक संख्या में उसके पास पर फड़फड़ाते हुए उड़ आयेंगे।"

मैंने कहा, "श्वान की सौगन्ध, मुझे ऐसा लगता है कि तुम पुनः विदेशी और बहुरंगी मक्खों की बात कह रहे हो।'

उसने कहा, "आप ठीक कहते हैं।"

"पर घर के ही लोगों के विषय में क्या होगा, क्या वह उनको ही नियुक्त करना पसन्द नहीं करेगा ?"

"सो किस प्रकार से ?"

"नागरिकों से उनके दासों के लेकर, उनको मुक्त कर के अपने अंगरक्षकों के दल में उनको सम्मिलित करके ऐसा करेगा।"

उसने कहा, "निश्चयमेव ऐसा ही करेगा, क्यों यही ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर वह सब से अधिक विश्वास कर सकता है।"

मैंने कहा, "यदि अपने पूर्व सहचरों को मिटा देने के पश्चात् उसको ऐसे ही मित्रों और विश्वासपात्र लोगों को नियुक्त करना पड़े तो तुम्हारी वर्णना के अनुसार यह तानाशाही का धन्धा सचमुच में धन्य है।"

उसने कहा, "जिनका उपयोग वह करता है वे वास्तव में यही लोग हैं।"

मैंने कहा, "यह सहचर उसकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं और यह नवीन (युवा) नागरिक उसकी संगति में रहते हैं, जब कि नेक आदमी उससे घृणा करते हैं और कतराते हैं। है न ?"

"वे भला ऐसा क्यों न करें ?"

मैंने कहा, "यह बात अकारण नहीं है कि त्रागेदी सामान्येन बुद्धिमत्ता-पूर्ण समझी जाती है एवं यूरिपिदीस् त्रागेदीकारों से सर्वोत्तम माना जाता है।"

"सो क्यों ?"

"क्योंकि उसने एक और यह ठोस बुद्धिमत्तापूर्ण सूक्ति कही है कि तानाशाह बुद्धिमान लोगों के संसर्ग (सम्पर्क वार्त्तालाप) से बुद्धिमान हो जाते हैं। और यह कहने से स्पष्ट ही उसका अभिप्राय यह था कि तानाशाहों के यह सहचर बुद्धिमान होते हैं।"

उसने कहा, "हाँ, वह तो तानाशाही को अत्यधिक दिव्य कह कर

उसकी सराहना करता है, तथा उसके और अन्य कवियों के द्वारा भी इसी प्रकार की वहुत सी बातें कही जाती हैं।"

मैंने कहा, "क्योंकि वे ऐसे बुद्धिमान लोग हैं इसलिए यह त्रागेदीकार हमको और हमारे सदृश शासन नीति वाले अन्य लोगों को उनको अपने राष्ट्र में प्रवेश न करने देने के लिए क्षमा कर देंगे, क्योंकि वे तानाशाही के प्रशंसक हैं।"

उसने कहा, "मैं समझता हूँ कि उनमें से सुबुद्धि लोग तो हमको क्षमा कर ही देंगे।"

"मैं ख्याल करता हूँ कि वे (त्रागेदीकार) अन्य नगरों में प्रिभ्रमण करते हुए भीड़ को एकत्रित करके और सुन्दर, तुमुल और अनुनय कुशल वाणियों को किराये पर ले कर जनताओं को प्रजातंत्रों और एकतंत्रों की ओर आकृष्ट करते हैं।"

"हाँ, सचमुच ऐसी बात है।"

"और, इसके अतिरिक्त (जैसी कि आशा की जानी चाहिए) इस (सेवा) के लिए वे (त्रागेदीकार) मुख्यतया तानाशाहों के द्वारा और दूसरे नम्बर में जनतंत्रों के द्वारा धनलाभ करते और सम्मानित होते हैं। पर जितने ही वे राष्ट्रनीति के पर्वत पर ऊँचे चढ़ते जाते हैं उतना ही उनकी ख्याति, मानों श्वास की दुर्बलता के कारण, डगमगाने लगती है।"

"सर्वथा ऐसी ही बात है।"

१९

मैंने कहा, "यह तो विषयान्तर हो गया। हमको फिर पीछे लौटना चाहिए और यह मालूम करना चाहिए कि तानाशाह के सुन्दर, जन-संकुल, विविध और नित्य बदलते रहने वाले अंगरक्षकों का दल किस प्रकार पलता है।"

उसने कहा, "यह तो स्पष्ट ही है कि यदि नगर में कोई धार्मिक सम्पत्ति हुई तो वह उसको और उन लोगों की सम्पत्ति को जिनको उसने नष्ट कर दिया है तब तक व्यय करेगा जब तक यह समाप्त न हो जाएँ, और इस प्रकार से सामान्य जनता से जो कर लेना अनिवार्य हो जाता उसकी थोड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है।"

"पर इन साधनों के लुप्त होने पर क्या होता है ?"

उसने उत्तर दिया, "स्पष्टतया उसके पिता की जागीर को ही उसका उसके सहमद्यपों, सहभोजकों और सहचरियों का पालन-पोषण करना पड़ेगा।"

मैंने कहा, "मैं तुम्हारी बात समझ गया। जिस जनता ने तानाशाह को उत्पन्न किया है उसी जनता को उस (तानाशाह) और उसके साथियों का भरण पोषण करना होगा।"

उसने कहा, "बिलकुल अनिवार्यतः ऐसा ही होगा।"

मैंने पूछा, "पर यदि जनता रुष्ट हो जाये और उसका विरोध करते हुए कहें कि वयःप्राप्त पुत्र का पोषण पिता के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसका उलटा होना चाहिए, एवं पिता ने पुत्र को इसलिए उत्पन्न और स्थिति संपन्न नहीं किया था कि जब पुत्र बड़ा हो जाएगा तो पिता को अपने दासों का सेवक बन कर उसका (पुत्र का) एवं दासों के साथ साथ अन्य नामधाम रहित लोगों की भीड़ का भरण पोषण करना पड़ेगा, उन्होंने (पिता रूपी जनता ने) तो उसको इसलिए पैदा किया था कि वह उसके संरक्षक रहने पर धनिकों और तथाकथित कुलीनों के शासन से मुक्ति पा सकेंगे, और जिस प्रकार पिता पुत्र को उसके कष्टदायक मद्यप सहसचरों के साथ घर से निकाल देता है उसी प्रकार यदि जनता रूपी पिता उसको और साथियों को नगर से निकल जाने की आज्ञा दे तो बतलाओ क्या होगा ?"

उसने कहा, "अजी राम कहो, यदि ऐसा होगा तो उस जनता को तत्काल इस बात का पता चल जाएगा (ज्ञान हो जाएगा) कि उनकी क्या स्थिति है और जिस प्राणी को उन्होंने जन्म दिया, और पाल पोस कर महान (शक्तिशाली) बनाया है वह कैसा (दानव) है एवं वह स्वयं दुर्बल होते हुए सबल को निर्वासित करने की चेष्टा कर रही हैं ।"

मैंने पूछा, "यह तुम कैसे कहते हो ? क्या तानाशाह अपने पिता के प्रति बलप्रयोग (जबरदस्ती) करने का साहस करेगा, और यदि वह उसकी आधीनता नहीं मानेगा तो क्या उसको मारने की हिम्मत करेगा ?"

उसने कहा, "हाँ, पहले उसको निःशस्त्र करके ऐसा ही करेगा।"

मैंने कहा, "तब तो तुम्हारे कथनानुसार तानाशाह पितृघाती और वृद्धावस्था की निर्दय धाय सिद्ध हुआ, तथा जैसा कि प्रतीत होता है अन्त में यह खुली और डंके की चोट तानाशाही हो ही गयी एवं लोकोक्ति के अनुसार जनता स्वतंत्र मनुष्यों की अधीनता के धुएँ से बचने की चेष्टा करने में दासों की दासता की अग्नि में कूद पड़ी, और अतिशय एवं अनवसर प्राप्त स्वच्छन्दता के विनिमय में निर्दयतम एवं कटुतम दासता के आवरण में अपने को आवेष्टित कर बैठी है ।"

उसने कहा, "हाँ, सत्य है, ठीक ऐसा ही होता है ।"

मैंने कहा, "अच्छा तो क्या हमारा यह कहना ठीक ठीक न्यायोचित नहीं होगा कि हमने प्रजातंत्र प्रणाली के तानाशाही में परिणत होने की प्रक्रिया का एवं स्थापित हुई तानाशाही का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत कर दिया ?"

उसने कहा, "सर्वथा पर्याप्त रूपेण हम ऐसा कर चुके ।"

नवीं पुस्तक

१

मैंने कहा, "अब तानाशाही शासन प्रणाली के व्यक्ति का ही विचार करना शेष रह गया है—वह प्रजातंत्रजन से किस प्रकार उत्पन्न (परिवर्त्तित) होता है, उसका आचरण और जीवन प्रकार किस प्रकार का है, दुःखमय है अथवा सुखी।"

उसने कहा, "हाँ, केवल यही शेष रह गया है।"

मैंने पूछा, "तो क्या तुम्हें मालूम है कि मुझे क्या अभाव खल रहा है ?"

"कौन सा अभाव ?

"मैं नहीं समझता कि हमने इच्छाओं के विषय में इस बात का संतोषप्रद (पर्याप्त) प्रकार से विवेचन कर लिया है कि वे कैसी और कितनी होती हैं। और जब तक यह अभाव रहेगा तब तक हमारा विवेचन भी अस्पष्ट ही बना रहेगा।"

उसने कहा, "अच्छा तो क्या उनके विवेचन करने का अब भी अवसर नहीं आया है ? अथवा क्या यह वर्त्तमान अवसर उनका विवेचन करने के लिए समुचित नहीं है ?"

"क्यों नहीं ? और यह भी ध्यानपूर्वक देखो कि मैं उनके विषय में किस बात को जानना चाहता हूँ। वह बात यह है। मैं समझता हूँ कि हमारे अनावश्यक आमोद प्रमोदों और वासनाओं में से कुछ नियंत्रण शून्य हैं, जो कि सम्भवतया हम सब में ही पायी जाती हैं, किन्तु जो विवेक के साहचर्य द्वारा नियमों एवं सद्वासनाओं से नियंत्रित होने पर कुछ मनुष्यों में पूर्णतया लुप्त हो जाती हैं (अथवा उनसे बिल्कुल पिण्ड छूट जाता है) अथवा लगभग इतनी लुप्त हो जाती हैं कि उनमें से

थोड़ी निर्बल कामनाएँ शेष रह जाती हैं; पर अन्य व्यक्तियों में शेषांश बड़ा बलवान् और बहुसंख्यक होता है।"

उसने पूछा, "आपका तात्पर्य किन वासनाओं से है?"

मैंने कहा, "उन वासनाओं से है जो कि स्वप्न में जागा करती हैं जब कि मानवात्मा का शेष भाग जो कि विवेकी, विनीत एवं वशी है, सोया होता है, तब पाशविक एवं वन्यांश भोजन और मदिरा से परितृप्त होकर धमाचौकड़ी मचाता है तथा निद्रा को धता बता कर उच्छृंखल भाव से विचरने और अपनी कामनाओं को तृप्त करने का उद्योग करता है। तुम जानते ही हो कि ऐसी अवस्था में कोई ऐसा काम नहीं होता जिसको करने का वह साहस न करता हो क्योंकि वह लज्जा और विवेक की भावना से पूर्णतया मुक्त होता है। वह कल्पना में माता के साथ अथवा अन्य किसी के साथ, चाहे वह मनुष्य हो, या देवता या पशु, अपवित्र सम्भोग करने का यत्न करने से भी नहीं सकुचाता। न किसी भी प्रकार की हत्या से हिचकिचाता है न निषिद्ध भक्ष्य को खाने से—एक शब्द में मूर्खता और निर्लज्जता की किसी अति से वह पीछे नहीं रहता।"

उसने कहा, "आप परम सत्य कहते हैं।"

"परन्तु, मैं ख्याल करता हूँ, कि जब किसी व्यक्ति की आत्मदशा स्वस्थ और ससंयत होती है तथा वह अपनी आत्मा के विवेकपूर्ण अंश को सजग करके उसको सत् शब्दों और सद्विचारों द्वारा विनोदित करके एवं शुद्ध तथा स्पष्ट आत्मचिंतन को प्राप्त होकर सोने जाता है; एवं जब कि उसने वासनात्मक अंश को न तो भूखा मारा होता है और न अतिशय परितृप्त ही किया होता है, जिससे कि उसको निद्रानिमग्न किया जा सके और वह उत्तमांश को अपने सुख दुःख में उपरुद्ध नहीं करता, किन्तु उसको एकान्त विशुद्धता में कुछ अतीत, वर्तमान और अनागत अज्ञात वस्तुओं का परीक्षण करने, उन तक पहुँचने और समझने

देता है तथा जब उसने इसी प्रकार से उसने राजसिक अंश (वेगात्मक अंश) को भी वशीभूत कर लिया है, तथा जो कलह के पश्चात हृदय में क्रोध के जागते रहते हुए नहीं सो जाता, किन्तु यदि उसने इस प्रकार अपनी आत्मा के दो अंशों को शान्त कर दिया है और उस तीसरे अंश को जगाकर, जिसमें विवेक का निवास है, निद्रानिमग्न हुआ है, तो तुम जानते ही हो कि ऐसी अवस्था में उसके सत्य को समझ लेने की अत्यधिक एवं उसके स्वप्नों के दृश्यों के नियंत्रण शून्य होने की सब से कम संभावना रहती है।"

उसने कहा, "मैं भी सर्वथा ऐसा ही समझता हूँ।"

"इन विषयों का विवरण उपस्थित करने में हम अपने पथ से कुछ अधिक दूर भटक गए। पर जो बात हम को जान लेनी है वह यह है कि वास्तव में हम सब में ही—उन तक में भी जो कि संयमी माने जाते हैं—भीषण, उग्र और नियंत्रण शून्य वासनाओं का झुंड निवास करता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि यह तथ्य स्वप्नावस्था (निद्रा) में स्पष्ट हो जाता है। अब यह विचार करो कि जो कुछ मैंने कहा उसमें कुछ तथ्य है (या नहीं) तथा तुम मुझसे सहमत हो या नहीं।"

"हाँ मैं सहमत हूँ।"

२

"अब, हमने जनतंत्रात्मक व्यक्ति का जो चरित्रांकन किया था उसको स्मरण करो। छोटी अवस्था से ही उसका विकास ऐसे मितव्ययी पिता की देख रेख में होने वाली शिक्षा से व्यवस्थित हुआ था जिसने केवल संग्राहक (संचयात्मक) वासनाओं का ही अनुमोदन किया था तथा उन वासनाओं (कामनाओं) की गर्हणा की थी जिनका उद्देश्य मनोरंजन और उद्भासन है। है न यही बात?"

"हाँ।"

"परन्तु अपेक्षाकृत अधिक चतुर एवं परिष्कृत मनुष्यों की संगति में रहने से, (जोकि हमारे द्वारा अभी अभी वर्णित वासनाओं से मुहाँमुह भरे हुए हैं) वह अपने पिता की कंजूसी से घृणा करने के कारण सब प्रकार धृष्टता और उपद्रवों की ओर एवं उन लोगों के ही जीवन क्रम को स्वीकार करने की दिशा में प्रेरित होता है। पर क्योंकि उसका स्वभाव उसको विकृत करने वालों की अपेक्षा अच्छा था, अतएव वह दोनों दिशाओं में आकृष्ट होकर दोनों प्रवृत्तियों के मध्य में एक समझौते की स्थिति में ठहर जाता है तथा दोनों प्रवृत्तियों में मध्यम भाव से निमज्जित होते हुए एवं दोनों का उपभोग करते हुए, सचमुच वह अपनी कल्पना में ऐसा जीवन यापन करता है जो न तो अनुदार है और न विधिविरोधी और इस प्रकार ऑलीगार्क से परिवर्त्तित हो कर जनतंत्रात्मक हो जाता है।"

उसने कहा, "हाँ उसके विषय में हमारी सम्मति यही थी और (अब भी) है।"

मैंने कहा, "और अब फिर तुम यह कल्पना करो कि यह मनुष्य भी वृद्ध हो चुका है और उसके एक लड़का है जो कि उसके जीवनक्रम के अनुसार पोषित हुआ है।"

"मैं ऐसी ही कल्पना किए लेता हूँ।"

"और यह भी कल्पना करो कि पुत्र के विषय में भी वही बातें घटित होती हैं जो पिता के विषय में घटित हुई थीं। वह पूर्णतया नियमशून्य जीवन की ओर आकृष्ट होता है जिसको उसको बहकाने वाले पूर्ण स्वाधीनता का नाम प्रदान करते हैं। उसके पिता एवं बंधुबान्धव उसकी मध्यम स्वभाव वाली वासनाओं को सहारा देते हैं जब कि दूसरे लोग उनके प्रतिकूल भावनाओं का पक्ष लेते हैं। और ज्योंही यह भयानक मगी और तानाशाह निर्माता यह जान लेते हैं कि उनको इस

युवा को अपने वशवर्ती बनाने की और आशा नहीं रह गयी है तभी वे इसकी निठल्ली और उड़ाऊ वासनाओं का परिरक्षक बन सके एक ऐसे प्रबल मनोवेग को उसकी आत्मा में उत्पन्न करने का उपाय करने लगते हैं, जो कि एक दानवाकार बड़ा मक्खा ही होता है। अथवा इस प्रकार की कामना को क्या तुम कुछ इस (वर्णन) से भिन्न समझते हो ?"

उसने उत्तर दिया, "मैं तो उसको इससे भिन्न नहीं समझता।"

"और जब अन्य वासनाएँ, धूपगंध, रसगंध, शिरोमाला एवं मदिरा से आप्लावित होकर तथा ऐसे स्वैर विहार में उद्दाम हुए भ्रष्टामोदों में लिप्त हुईं उसके आसपास भिनभिना कर उसको अधिक से अधिक विशा-लता और पुष्टि प्रदान करती हुई उस मक्खे में अतृप्त उत्सुकता के डंक को (कसक) जगा देती हैं, तो आत्मा का यह परित्राता, जिसका मुख्य अंगरक्षक पागलपन होता है, विक्षिप्तों की भाँति सब बन्धन तुड़ा देता है और मत्त की भाँति दौड़ने लगता है, और यदि उसको अपने में कुछ ऐसी धारणाएँ अथवा वासनाएँ दिखलायी देती हैं जो कि कुछ योग्य मानी जाती हैं तथा जिनमें कुछ लज्जा की भावना शेष होती है तो यह उन सब की हत्या कर के उन सब को निकाल बाहर कर देता है और अन्ततोगत्वा पूर्णतया संयम से शून्य तथा बाहर से लाई हुई उन्मत्तता से परिपूर्ण और संक्रान्त हो जाता है।"

उसने कहा, "तानाशाही शासनपद्धति के व्यक्ति की उत्पत्ति का यह उत्कृष्ट वर्णन है।"

मैंने पूछा, "क्या कुछ इसी हेतु से तो कहीं काम (वासना) को प्राचीनकाल से तानाशाह नहीं कहा जाता रहा है ?"

उसने उत्तर दिया, "लगता तो ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "और क्या सुरामत्त व्यक्ति भी कुछ तानाशाहों जैसे स्वभाव वाला नहीं होता ?"

"सचमुच होता है।"

"और फिर यह तो मालूम ही है कि शिरफिरा और विक्षिप्त व्यक्ति न केवल मनुष्यों के प्रत्युत देवताओं के ऊपर भी शासन करने की आशा और उद्योग किया करता है।"

उसने कहा, "हाँ, वास्तव में यही बात है।"

मैंने कहा, "सो मेरे प्रियमित्र कोई भी व्यक्ति ठीक अर्थ में तानाशाही मनोवृत्ति का तब होता है जब कि वह या तो सहज स्वभाव से या शील से अथवा दोनों से ही मद्यप, कामी, एवं विक्षिप्त तुल्य हो जाता है।"

"बिलकुल ऐसा ही है।"

३

"इस व्यक्ति की उत्पत्ति और लक्षण (चरित्र) इस प्रकार का होना है। पर वह रहता किस प्रकार है?"

उसने कहा, "इस विषय में तो विदग्ध लोगों के समान यही कहूंगा आप ही मुझे बतलाइये।"

मैंने कहा, "अच्छा तो लो मैं ही बतलाता हूँ। मैं ख्याल करता हूँ कि इस (उपर्युक्त अवस्था) के पश्चात् उन लोगों में खानपान के उत्सव, स्वैर विहार, गणिका समागम और अन्य सब वे काम चला करते हैं जिनका संबंध पूर्णतया मनोजवशवर्तिनी आत्मा वाले मनुष्यों से है।"

उसने कहा, "अनिवार्यतः ऐसा ही होता है।"

"और फिर क्या इन प्रबल मनोवेगों के इर्द गिर्द रात दिन अनेकों भयावनी कामनाएँ अंकुरित नहीं होती रहतीं और क्या उनकी आवश्यकताएँ (मांगें) बहुत सी नहीं होतीं?"

"सचमुच बहुत होतीं हैं।"

"अतएव जो कुछ आय होती है शीघ्र व्यय हो जाता है।"

"क्यों नहीं?"

"और इसके पश्चात् ऋण लेने की और जागीर के घटने (कटने) की बारी आती है।"

"और क्या ?"

"और जब यह सब (आयके साधन) लुप्त हो जायेंगे तो क्या उसकी आत्मा में उत्पन्न हुए बहुसंख्यक एवं उग्र अन्तर्निवासी कामशावकों का तुमुलनिनाद नहीं उठेगा, और क्या ऐसे व्यक्ति, अन्य वासनाओं और विशेषकर प्रबल मनोज द्वारा (जो उपमा में उनके अंगरक्षकों का मुखिया है) अंकुशाघात के सदृश प्रेरित होकर पागल नहीं हो उठेंगे और चारों ओर यह नहीं देखेंगे कि किसके पास क्या धन है जो उससे प्रवंचना अथवा बलात्कार से अपहरण किया जाय ?"

"निश्चयमेव ऐसा ही होगा।"

"अतएव विवशतया उसको सब ओर से धन बटोर कर लाना ही चाहिए, नहीं तो उसको महती व्यथा और पीड़ा सहनी पड़ेगी।"

"अवश्यमेव।"

"और जिस प्रकार उसके अन्तर में नूतन उद्भूत होने वाले आमोद प्रमोदों ने उसकी आत्मा के मौलिक मनोवेगों को अभिभूत कर के उनको लूट लिया था, क्या ठीक इसी प्रकार वह स्वयं भी, (यद्यपि वह अवस्था में छोटा है) यदि उसने अपना दायभाग व्यय कर दिया है, अपने माता पिता को अभिभूत करने का अधिकार नहीं मांगेगा तथा उनके भाग के अंश को अपनी सम्पत्ति नहीं बना लेगा ?"

उसने कहा, "और नहीं तो क्या ?"

"और यदि वे (माता पिता) उसका विरोध करेंगे तो क्या वह पहले पहल उनको प्रतारित और प्रवंचित करने का प्रयत्न नहीं करेगा ?"

"सर्वथा ऐसा ही करेगा।"

"और ऐसा करने में असमर्थ होने पर क्या वह उस (पितृ धन) को बलात्कार से अधिकृत नहीं कर लेगा ?"

उसने कहा, "मैं समझता हूँ ऐसा ही होगा।"

"पर, भले आदमी, यदि बुड्ढे और बुढ़िया अपनी सम्पत्ति को चिपटे रहे और उसका विरोध किया तो क्या होगा ? क्या वह उनके प्रति तानाशाह का सा व्यवहार करने में आगा पीछा करेगा ?"

उसने कहा, "ऐसे व्यक्ति के माता पिता की (रक्षा के विषय में) मैं बिलकुल निर्भय (निशंक) नहीं हूँ।"

"परन्तु अदैमान्तॉस्, परमेश्वर के नाम पर क्या तुम यह ख्याल करते हो कि एक नई रखेली के निमित्त जिससे उसका कोई अनिवार्य संबंध नहीं है, ऐसा व्यक्ति अपनी माता पर प्रहार करेगा जो अनिवार्यतया उससे जन्म से ही संबद्ध है! अथवा क्या एक नये प्रिय सखा के हेतु (निमित्त) जो उसके जीवन के लिए परमावश्यक नहीं है, वह अपने वृद्धावस्था को प्राप्त पिता के ऊपर जिसकी जवानी ढल चुकी है, लट्ठों की वर्षा करेगा, उसी पिता पर जो उसका निकटतम संबंधी है और सब से पुराना मित्र है ? और यदि वह इन प्रीतिभाजनों को अपने घर में ले आया तो क्या माता पिता को उनकी अधीनता में रक्खेगा ?"

उसने कहा, "हाँ, परमात्मा के नाम पर मैं समझता हूँ कि वह ऐसा करेगा।"

मैंने कहा, "तब तो तानाशाह का मातापिता होना बड़े ही सुदृढ़ सौभाग्य की बात प्रतीत होती है।"

उसने कहा, "हाँ सर्वथा ऐसा ही प्रतीत होता है।"

मैंने कहा, "और जब उसके माता-पिता की सम्पत्ति भी जवाब दे चुकती है और उसका साथ नहीं देती और उसकी आत्मा में एकत्रित आमोद प्रमोदों का वृन्द विशाल हो जाता है तो क्या वह पहले पहल

किसी के घर में कूम्हल (नकब) नहीं लगायेगा या किसी अधिक रात गये चलने वाले पथिक के वस्त्रों का अपहरण नहीं करेगा और तदुपरान्त किसी मन्दिर की सम्पत्ति को सफाचट नहीं करेगा? तथा इन सब कर्मों में, जो धारणाएँ उसने उत्तम और अधम के विषय में बाल्यकाल से बना रक्खी थीं, तथा जो सद्धारणाएँ मानी जाती थीं वे सब अब उन धारणाओं से अभिभूत हो जायेंगी जो कि अभी हाल में ही दासत्व से मुक्त होकर प्रबल मनोवेग के अंगरक्षक के रूप में नियुक्त हुई हैं तथा उस प्रबल मनोवेग के साथ उनकी बात चलेगी —यह वही धारणाएँ हैं जो कि पूर्वकाल में जब तक वह अपने पिता और नियम के वशवर्ती रह कर अपनी आत्मा में जनतंत्र प्रणाली को सुरक्षित बनाए था, तब तक स्वप्न में ही बन्धन से मुक्त हुआ करती थीं। परन्तु अब तो प्रेम के प्रबल मनोवेग के एकाधिपत्य (वश) में पड़ा हुआ वह निरन्तर और जाग्रदवस्था में वैसा रहता है जैसा कि पहले कभी कभी स्वप्नावस्था में हुआ करता था। वह किसी भी हत्या की क्रूरता, अभक्ष्य भक्षण और कुकर्म से पश्चात्पद नहीं होगा। परन्तु यह प्रेमोन्माद जो कि उसके अन्तर में निवास करता है पराकोटि की अराजकता तथा नियम शून्यता के साथ रहेगा, और क्योंकि वह स्वयमेव एकमात्र शासक है अतएव जिसके अन्तर में वह रहता है मानों उसके जीवन की नगरी को अपने तथा अपने पक्षधारी उस सब दल के पोषण के लिए सब कुछ कर डालने का साहस करने के लिए उत्तेजित करेगा, जो दल वाले अंशतः तो कुसंग के कारण बाहर से प्रवेश कराये गए हैं और कुछ भीतर की उसकी तादृश जीवन की बुरी आदतों के द्वारा (सद्वृत्तियों के निग्रह) मुक्त कर दिये गए हैं। क्या ऐसे मनुष्यका जीवन इसी प्रकार का नहीं होता?"

उसने कहा, "ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "और यदि किसी नगर में इस प्रकार के व्यक्ति थोड़े से ही होते हैं और शेष प्रजा-वृन्द संयत स्वभाव वाले होते हैं तो यह थोड़े से व्यक्ति प्रवास कर जाते हैं। और अन्यत्र किसी तानाशाह के अंग-रक्षक बन जाते हैं अथवा कोई युद्ध हो रहा हो तो उसमें वैतनिक योद्धा के रूप में सम्मिलित हो जाते हैं। परन्तु यदि कहीं शान्ति अथवा निरुपद्रव काल में उनका उदय हुआ तो वे वहीं नगर में बने रहते हैं और बहुत सी क्षुद्र धूर्तताएँ करते रहते हैं।"

"आपका तात्पर्य किस प्रकार की बुराइयों से है?"

"जैसे कि चोरी करते हैं, सैंध लगाते हैं, गिरह काटते हैं, देव मन्दिरों को लूटते हैं, मनुष्यों का अपहरण करते हैं और यदि उनमें वाक्शक्ति हुई तो धूर्त्तसूचक (चुगलखोर) बन जाते हैं एवं झूठी साक्षी भरते हैं तथा घूंस लेते हैं।"

उसने कहा, "तो यदि ऐसे पुरुषों की संख्या थोड़ी हो तो तुम इनको क्षुद्र धूर्त्तता कहते हो।"

मैंने कहा, "हाँ क्षुद्र ही कहता हूँ, क्योंकि गुरुतर (महान्) धूर्त्तताओं की तुलना में वे क्षुद्र ही हैं, तथा राष्ट्र के विकृत करने और दीन बनाने (कष्ट देने के) के सम्बन्ध में तो वे सब मिल कर (कहावत के अनुसार) तानाशाही के द्वारा किए गए बिगाड़ के पास तक नहीं फटकतीं। क्योंकि जब इस प्रकार के व्यक्ति और उनके अनुयायी किसी राष्ट्र में संख्या में अधिक हो जाते हैं और अपनी संख्या की शक्ति को देख लेते हैं तो यही लोग, साधारण जनता की मूढ़ता के संयोग से अपने मध्य में से ही उस व्यक्ति को तानाशाह बना देते हैं जिसकी अपनी आत्मा में सब से महान् और प्रबलतम तानाशाह का निवास होता है।"

उसने कहा, "यह नितान्त संभवपर (स्वाभाविक) है क्योंकि ऐसा व्यक्ति अत्यधिक तानाशाही-स्वभाव से सम्पन्न होगा।"

"तब यदि प्रजागण स्वेच्छा से दब जाएँ तो भला ही भला है—पर यदि नगर में उसका विरोध किया तो जैसे कि पूर्व प्रसंग में जिस प्रकार उसने अपने माता-पिता को दण्ड दिया था उसी प्रकार यदि उसमें शक्ति हुई तो अब वह अपनी पितृभूमि को भी दण्ड देगा। इसके लिए वह नये युवा साथियों को लायेगा और उनके शासन प्रभुत्व में वह (क्रीती प्रजागणों के कथनानुसार) अपनी एकदा-प्रिय मातृभमि अथवा पितृभूमि को दास बना कर रक्खेगा और ऐसे व्यक्ति की वासनाओं का अन्तिम परिणाम यह होगा।"

उसने कहा, "हाँ, यही, सर्वथा यही होगा।"

मैंने कहा, "क्या ऐसे व्यक्तियों का चरित्र एकाकी जीवन में और राष्ट्र के संरक्षक बनने के पूर्व भी ऐसा ही नहीं होता? प्रथम तो वे चापलूस लोगों की संगति करते हैं अथवा ऐसे लोगों का सहवास करते हैं जो उनकी सेवा के लिए कुछ भी करने को तैयार हैं, अथवा यदि उनको स्वयं किसी वस्तु की किसी से आवश्यकता होती है तो वे स्वयं भी झुक कर प्रणाम करने और मित्रता का दम भरने में कितना भी नीचा गिरने से नहीं चूकते, यद्यपि एक काम निकल जाने पर बिल्कुल पराये बन जाते हैं।"

उसने कहा, "हाँ, वास्तव में ऐसा ही है।"

"तो अपने जीवन भर वे किसी के भी सच्चे मित्र बन कर नहीं रहते। सर्वदा वे या तो प्रभु बने रहते हैं या दास, किन्तु तानाशाही स्वभाव को स्वतंत्रता और सच्ची मित्रता का आस्वाद कभी नहीं मिलता।"

"सर्वथा यही बात है।"

"क्या ऐसे मनुष्यों को हमारा श्रद्धाविग्रहित कहना ठीक नहीं होगा?"

"क्यों नहीं?"

"और यदि हम अपने पूर्व वर्णित न्याय के स्वरूप से संबंध रखने वाले ठहराव के विषय में सही हैं तो उनको परले सिरे का अन्यायी कहना भी ठीक होगा।"

उसने कहा, "किन्तु हम निश्चयमेव सही तो थे ही।"

मैंने कहा, "तो अच्छा अब सब से बुरे प्रकार के व्यक्ति को सूत्ररूप से वर्णन कर दें। मैं ख्याल करता हूँ कि वह आदमी वह है जो जागते समय उन गुणों को धारण किये रहता है जिनको हमने उसकी स्वप्नावस्था में देखा था।"

"सर्वथा यही बात है।"

"और वह ऐसे मनुष्य से विकसित होकर बनता है जो तानाशाह स्वभाव वाला होते हुए, एकाधिकार हस्तगत कर लेता है; और जितने ही अधिक काल तक वह तानाशाही का जीवन व्यतीत करता है उतना ही अधिक प्रबल तानाशाह होता जाता है।"

ग्लौकोन ने बातचीत को बीच में ग्रहण करते हुए कहा, "अवश्यमेव।"

४

मैंने कहा, "और जो मनुष्य सब से बुरा प्रदर्शित किया गया है, क्या हम उसको सब से अधिक दुःखी प्रदर्शित हुआ नहीं पायेंगे; और क्या जो व्यक्ति बहुत अधिक लम्बे समय तक सब से अधिक तानाशाह रहता है, वह सब से अधिक और सब से अधिक लम्बे समय तक सचमुच दुःखी नहीं रहेगा? चाहे फिर विविध मनुष्यों की सम्मतियाँ भले ही विविध प्रकार की हों।"

उसने कहा, "यह तो अनिवार्यतया ऐसा ही है।"

मैंने पूछा, "परन्तु क्या तानाशाही स्वभाव का व्यक्ति तानाशाही नीति वाले राष्ट्र के सदृश, प्रजातंत्री व्यक्ति प्रजातंत्री राष्ट्र के सदृश और अन्य भी व्यक्ति इसी प्रकार के नहीं होंगे?"

"क्यों नहीं ?"

"अतएव क्या सद्गुण arete और सुख के संबंध में एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से ऐसा ही सम्बन्ध नहीं है जैसा कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से ?"

"सो क्यों नहीं ?"

"तो फिर सद्गुण की दृष्टि से तानाशाह द्वारा शासित नगर का राजा द्वारा शासित नगर के साथ (जिसका हम पीछे वर्णन कर चुके हैं) क्या सम्बन्ध होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "वे एक दूसरे के पूर्णतया विपरीत होंगे, एक सर्वश्रेष्ठ दूसरा निकृष्ट।"

मैंने कहा, "मैं यह नहीं पूछूंगा कि कौन कैसा है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है। परन्तु दोनों राष्ट्रों के अपेक्षाकृत सुख और दुःख के विषय में भी क्या तुम्हारा निर्णय यही है अथवा इससे भिन्न ? और इस विषय में हमको केवल तानाशाह पर ही दृष्टिपात करके चकित या चमत्कृत नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि वह तो अपने सा एक ही है और न उसके थोड़े से निकट अनुयायियों से चकित होना चाहिए, परन्तु जैसा कि उचित है हमको नगर में प्रवेश कर के समग्र राष्ट्र की पड़ताल करनी चाहिए और जब हम उस राष्ट्र के गहरे से गहरे और दूरातिदूर कोनों तक में डुबकी लगा कर उसके समग्र जीवन की आलोचना कर लें तभी हमको उसके विषय में अपनी सम्मति प्रकाशित (घोषित) करनी चाहिए।"

उसने कहा, "यह तो उचित ही प्रस्ताव है। तथा यह तो सब को स्पष्ट है कि तानाशाह द्वारा शासित नगर से अधिक दुःखी और राजा द्वारा शासित नगर से अधिक सुखी कोई नगर नहीं हो सकता।"

मैंने पूछा, "और क्या (तानाशाही, और राजतंत्री) मनुष्यों के विषय में निर्णय करने के लिए यह प्रस्ताव उचित नहीं होगा कि इस

विषय में उसी मनुष्य को योग्य निर्णायक के रूप में स्वीकार किया जाय जो कि समझदारी के साथविचार में इन मनुष्यों की आत्माओं और स्वभावों में प्रवेश करने की योग्यता रखता हो, और जो बालक के सदृश बाहर से ही देख कर तानाशाहके बहुसंख्यक परिषदों, ठाटबाट और परिवेष से ही (जिसको वे दुनिया की दृष्टि में धारण किये रहते हैं) भौंचक्का या स्तब्ध न हो जाये, प्रत्युत जिसकी दृष्टि इन सब के भीतर प्रविष्ट हो कर देख सके ? और यदि मैं यह मानकर चलूँ कि इन विषय में जिस व्यक्ति की बात हम सब को सुननी चाहिए वह, वह व्यक्ति है जिसको उपर्युक्त निर्णय की योग्यता प्राप्त है तथा जो तानाशाह के साथ एक ही स्थान (गृह) में रह भी चुका है एवं जिसने उसके घर में के आचरण को देखा है, और अपने अंतरंग व्यक्तियों के साथ तानाशाह के व्यवहार को प्रत्यक्ष देखा है जब कि प्रत्येक अवसर में वह अपनी त्रागेदी नाटक के से (गंभीर बाह्य) परिधानों से पूर्णतया मुक्त (नग्न) दिखाई दिया होगा, तथा इसी प्रकार जिसने सार्वजनिक जीवन के भीतिमय अवसरों में भी उसका व्यवहार देखा है—यदि हम ऐसे व्यक्ति को, जिसने यह सब कुछ देखा है, अन्य मनुष्यों की तुलना में तानाशाह के सुख दुःख के विषय में दूत बन कर विवरण प्रस्तुत करने को कहें तो कैसा हो ?"

उसने कहा, "यह भी नितान्त उचित प्रस्ताव (चुनौती) है।"

मैंने पूछा, "तो क्या तुम यह पसन्द करोगे कि हम अपने को ऐसा कल्पना कर लें कि हम उन मनुष्यों में से हैं जिनमें इस प्रकार परीक्षण (निर्णय) करने की योग्यता है तथा जो अब से पहले ऐसे तानाशाहों के साथ इसलिए रह चुके हैं, कि हमको कोई ऐसा व्यक्ति उपलब्ध हो जाय जो हमारे प्रश्नों का उत्तर दे सके ?"

"सर्वथा।"

५

मैंने कहा, "अच्छा तो आओ, इस विषय का इस प्रकार परीक्षण करो। राष्ट्र और राष्ट्रवासी व्यक्ति के सामान्य सादृश्य को स्मरण कर लो और तब बारी बारी से उन पर दृष्टिपात करते हुए देखो कि प्रत्येक की क्या अवस्था (दशा) होती है ?"

उसने पूछा, "कौन सी अवस्था ?"

मैंने कहा, "सर्वप्रथम नगर के विषय में ही विचार करके यह बतलाओ कि तुम तानाशाह के द्वारा शासित नगर को स्वतंत्र कहोगे अथवा परतंत्र (दास) ?"

उसने कहा, "अधिकतम मात्रा में परतंत्र।"

"और तो भी तुम उसमें प्रभु (स्वामी) एवं स्वतंत्र पुरुषों को देख पाते हो।"

उसने कहा, "ऐसे बहुत थोड़े से व्यक्ति देख पाता हूँ, परन्तु मैं क सकता हूँ कि समग्र नगर के लोग और उनमें से भी श्रेष्ठ अंश लज्जा-जनक एवं दुःखजनक प्रकार से परतंत्र हैं।"

मैंने कहा, "तो यदि मनुष्य राष्ट्र के अनुरूप होता हो तो क्या उसमें भी वही व्यवस्था (समनुपात) प्रचलित हुई उपलब्ध नहीं होगी, क्या उसकी आत्मा भी सीमा शून्य परतंत्रता और अनुदारता से परिपूर्ण नहीं होगी, क्या उसकी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ और सब से अधिक विवेकपूर्ण अंश दास नहीं हो जायेगा तथा एक छोटा सा किन्तु सब से अधिक बुरा और विक्षिप्त अंश एकछत्र शासन नहीं करेगा ?"

उसने कहा, "अनिवार्यतः ऐसा ही होगा।"

"तो ऐसी आत्मा को क्या कहोगे ?—पराधीन या स्वाधीन ?"

"मेरी सम्मति में तो वह पराधीन है।"

"और फिर क्या वह नगर जो परतंत्र है और तानाशाही द्वारा शासित है अपनी इच्छा के अनुसार सबसे कम काम करने में समर्थ नहीं होता है ?"

"बिल्कुल यही बात है।"

"तब तो तानाशाही शासन से आक्रान्त आत्मा भी अपनी इच्छा के अनुसार बहुत कम काम कर सकेगी—मैं यह बात समग्र आत्मा के विषय म कह रहा हूँ। किन्तु सर्वदा इच्छारूपी दंशक द्वारा जबरदस्ती खदेड़ी और खींची जाकर आकुलता और पश्चात्ताप से परिपूर्ण बनी रहेगी।"

"क्यों नहीं।"

"और तानाशाही प्रणाली से शासित नगर अनिवार्यतः सम्पन्न होगा या धनहीन ?"

"धनहीन।"

"तब तो तानाशाही आत्मा भी अनिवार्यतया नित्य धनहीन और अतृप्त होगी।"

उसने कहा, "ऐसा ही है।"

"और क्या ऐसा नगर और ऐसा व्यक्ति अनिवार्यतया भीतिपूर्ण नहीं होगा ?"

"वास्तव में ऐसा ही होगा।"

और क्या तुम यह समझते हो कि तुम किसी अन्य नगरराष्ट्र में इससे अधिक विलाप, आर्त्तनाद, शोक एवं वेदना देख पाओगे ?"

"कदापि नहीं।"

"अच्छा अब मनुष्य को लो; क्या तुम्हारे ख्याल में यह (विलाप इत्यादि) वस्तुएँ तानाशाही प्रकार के व्यक्ति (जो कि इच्छाओं और मनोवेगों से विक्षिप्त है) से इतर किसी व्यक्ति में अधिक बाहुल्य के साथ पाई जायेंगी ?"

उसने कहा, "यह कैसे हो सकता है ?"

"मैं समझता हूँ कि इन सब विचारों और इन्हीं के सदृश अन्य विचारों को दृष्टि में रखते हुए, तुमने यह निर्णय किया है कि यह नगर सब नगरों से अधिक दुःखी है।"

उसने पूछा, "क्या मैंने ठीक नहीं किया ?"

मैंने उत्तर दिया, "क्यों नहीं, तुमने बिलकुल ठीक किया। परन्तु इन सब बातों पर दृष्टि रखते हुए तुम तानाशाही व्यक्ति के विषय में क्या कहोगे ?"

उसने कहा, "यह कि वह सभी मनुष्यों में सब से अधिक दुःखी व्यक्ति है।"

मैंने कहा, "तुम्हारा ऐसा (यह) कहना ठीक नहीं है।"

उसने पूछा, "क्यों ?"

मैंने उत्तर दिया, "मेरे ख्याल में वह (तानाशाही व्यक्ति) अभी दुःख की चरम सीमा तक नहीं पहुँच पाया है।"

"तब कौन पहुँच पाया है।"

"सम्भवतया (स्यात्) निम्नोक्त व्यक्ति को तुम इससे भी अधिक दुःखी मानोगे।"

"किस को ?"

मैंने कहा, "उस व्यक्ति को जो कि तानाशाही स्वभाव संपन्न होने पर अपना जीवन व्यक्तिगत स्थिति में व्यतीत नहीं करता, बल्कि ऐसा अभागा है कि किसी दुर्भाग्यपूर्ण दैवयोग द्वारा वास्तविक तानाशाह शासक बना दिया जाता है।"

उसने कहा, "पूर्वोक्त कथनों से मैं यह अनुमान करता हूँ कि आपका कहना ठीक है।"

मैंने कहा, "हाँ, परन्तु ऐसे (महत्वपूर्ण) विषयों में केवल कल्पना और अनुमान पर्याप्त नहीं होना चाहिए। प्रत्युत हमको इन विषयों का

युक्ति पूर्वक इस प्रकार पूर्णतया परीक्षण करना चाहिए। क्योंकि हमारी खोज सबसे महान् विषय—सत् और असत् जीवन—से संबंध रखती है।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक।"

"अच्छा तो अब विचार कर के देखो कि मेरे कथन में कुछ (सार) है (या नहीं)। क्योंकि मैं ख्याल करता हूँ कि इस विषय में हमको इन उदाहरणों के द्वारा विचार आरंभ करना चाहिए।"

"किन उदाहरणों से ?"

"अपने नगरों के उन धनवान् व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने वाले पुरुषों के उदाहरणों से जो कि बहुत से दासों के स्वामी हैं। क्योंकि बहुत से व्यक्तियों के ऊपर शासक होने में यह तानाशाहों के सदृश (ही) होते हैं। अन्तर यह है कि उस (तानाशाह) के द्वारा शासितों की संख्या बहुत अधिक होती है।"

"हाँ यही अन्तर है।"

"यह तो तुम जानते ही हो न कि यह लोग पूर्णतया आश्वस्त (निर्भय) रहते हैं तथा अपने घरेलू दासों से भय नहीं खाते ?"

"वे डरें किस बात से ?"

मैंने कहा, "किसी बात से नहीं। परन्तु क्या तुम इसका कारण देख पाते हो ?"

"हाँ, क्योंकि समग्र राष्ट्र प्रत्येक नागरिक की रक्षा के लिए कटि-बद्ध है।"

मैंने कहा, "तुम ठीक कहते हो। परन्तु अब कल्पना करो कि यदि कोई देवता किसी पचास अथवा अधिक दासों के स्वामी को पकड़ कर उसकी धर्मपत्नी और बच्चों के साथ नगर से उड़ा कर उसको उसकी सम्पत्ति और दासों के सहित किसी ऐसे एकान्त निर्जन स्थान में छोड़ दे जहाँ कोई स्वतंत्र व्यक्ति उसका उद्धार करने न आ सके, तो क्या होगा ?

क्या तुम ख्याल करते हो कि उसको कैसा और कितना महान भय लगा रहेगा कि कहीं, वह तथा उसकी स्त्री और बालक दासों के द्वारा विनष्ट न कर दिये जाएँ ?"

उसने उत्तर दिया, "(यदि मुझसे पूछते हो) तो मैं कहूँगा कि उसको सब से बड़ा भय लगा रहेगा।"

"क्या वह तत्काल ही अपने कुछ दासों की चापलूसी करने, उनसे नाना प्रकार की प्रतिज्ञाएँ करने तथा उनको दासत्व से मुक्त करने के लिए विवश नहीं हो जायेगा यद्यपि उसकी अपनी इच्छा के इससे अधिक विपरीत बात और कोई नहीं होगी। तथा इस प्रकार वह अपने ही सेवकों की चापलूसी करने वाला बन जायेगा ?"

उसने उत्तर दिया, " पूर्ण विवशता वश उसको ऐसा करना पड़ेगा अन्यथा वह नष्ट हो जावेगा।"

मैंने कहा, "परन्तु यदि वह देवता उसके पड़ौस में चारों ओर ऐसे बहुसंख्यक पड़ोसियों को स्थापित कर दे जो एक मनुष्य के दूसरों के ऊपर स्वामित्व के अधिकार को सहन न करें तथा ऐसा करने वाला जो कोई भी उनके हत्थे आ फँसे उसको अधिक से अधिक दण्ड दें तो क्या होगा ?"

उसने कहा, "मैं ख्याल करता हूँ कि दुरवस्था तब और भी अत्यन्त निराशा जनक होगी; वह सब ओर से विरोधी शत्रुमण्डली से घिरा होगा।"

"और क्या यह एक प्रकार का कारागार ही नहीं होगा जिसमें कि तानाशाह आवद्ध होगा ? क्योंकि उसका स्वभाव तो ऐसा होता है जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं, अतएव वह बहुसंख्यक एवं बहुविध भयों और कामनाओं से परिपूर्ण होता है। तथापि लोलुप और वासनामय आत्मा वाला होते हुए भी, सब नागरिकों के मध्य में वही अकेला न तो यात्रा कर सकता है और न किसी धार्मिक उत्सवों इत्यादि को

देख ही सकता है जिनको अन्य स्वतंत्र व्यक्ति देखने को उत्सुक रहते हैं, प्रत्युत उसको प्रायः स्त्रियों के समान अपने घर के भीतरी कोनों में, अन्य नागरिकों में से उस व्यक्ति से ईर्ष्या करते हुए छिपे रहना पड़ता है जो विदेश यात्रा करने जाता है और किसी अच्छी दर्शनीय वस्तु को देख कर आता है।"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

६

और ऐसी दुरवस्था की स्थिति में, जो व्यक्ति केवल अपनी आत्मा में अव्यवस्थित होता है, अर्थात् जो तानाशाह प्रकृति का व्यक्ति होता है जिसके विषय में तुमने अभी निर्णय किया था कि वह सब से अधिक दुखित व्यक्ति होता है, यदि वह व्यक्ति अपना जीवन व्यक्तिगत रूप में व्यतीत न कर पाये प्रत्युत किसी कुयोग वश एक वास्तविक तानाशाह बनने को बाध्य हो जाये और स्वयं अपने ऊपर शासन करने में असफल रहते हुए दूसरों पर शासन करने की चेष्टा करे तो क्या उसके द्वारा और भी अधिक दुःखों का भोग नहीं किया जायेगा, जैसे मानों कोई रोगी और अवश (अशक्त) शरीर वाला व्यक्ति अपना व्यक्तिगत जीवन व्यतीत न करे बल्कि अन्य व्यक्तियों के साथ कुश्ती और कलह करके जीवन बिताने के लिए बाध्य कर दिया जाय।"

उसने कहा, "सॉक्रातीस् तुम जो कुछ कहते हो वह यथार्थ के सदृशतम और परम सत्य है।"

मैंने कहा, "प्रिय, ग्लौकोन, तो क्या यह सर्वथा ही अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति नहीं है? तथा क्या तानाशाह का जीवन उस जीवन से भी कहीं अधिक बुरा नहीं है जिसको तुमने सब से बुरा निर्णीत किया था?"

उसने उत्तर दिया, "बिलकुल ठीक।"

"तब तो सत्य बात यह है, चाहे इसको माना न जाये, कि वास्तविक तानाशाह वास्तव में सब से महान् चाटुकारिताओं और दासताओं की दासता में बँधा रहता है, और नीचतम व्यक्तियों की चापलूसी में लगा रहता है; अपनी इच्छाओं की तनिक सी भी तृप्ति तो, रही बहुत दूर, उसको बहुत अधिक वस्तुओं का अभाव ही बना रहता है तथा यदि कोई उसकी आत्मा को पूर्ण रूप को देख सके तो सचमुच ही वह बड़ा निर्धन व्यक्ति सिद्ध हो; और यदि वास्तव में उसकी दशा उसके द्वारा शासित नगर के समान हो तो वह आजन्म भय से भरपूर और विक्षोभों तथा व्यथाओं से परिपूर्ण होगा। और नगर के सदृश तो वह होता ही है, क्यों है न यही बात?"

उसने कहा, "हाँ, बहुत कुछ यही बात है।"

"और इसके साथ ही साथ क्या हम उसके विषय में उन सब बातों का आरोप नहीं करेंगे जिनका हम पहले वर्णन कर चुके हैं, और क्या हम नहीं कहेंगे कि वह अविनार्यतया ईर्ष्यालु, विश्वासशून्य, अन्यायी, मित्ररहित, अश्रद्धालु, एवं सब प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों का पात्र और धात्री रूप होगा और अपनी शासक शक्ति के कारण पूर्णावापेक्षा और भी अधिक ऐसा होता जायेगा एवं परिणामतः स्वयमेव अत्यन्त दुःखी रहेगा और तथा अपने आप-पास के सब लोगों को भी दुःखी करेगा।"

उसने उत्तर दिया, "कोई समझदार व्यक्ति तुम्हारे कथन का विरोध नहीं करेगा।"

मैंने कहा, "तो लो आओ और अब एक साथ तुम उस निर्णायक के समान निर्णय करो जो सारे मामले (नाटक) को अन्त तक देख का है कि तुम्हारी सम्मति में सुख के माप में कौन प्रथम है तथा कौन द्वितीय, तथा इसी प्रकार शेष व्यक्तियों का भी निर्णय कर दो—क्रमशः

राजतंत्र व्यक्ति, तिमाक्राती व्यक्ति, आलीगार्की व्यक्ति, दिमाक्राती व्यक्ति एवं तानाशाही व्यक्ति इन सब पाँचों का निर्णय घोषित कर दो।"

उसने कहा, "यह निर्णय करना तो सरल है। जैसे वे (जिस क्रम से) वे सामने आते गये, मैं उनको सद्गुण और दुर्गुण, सुख और तत्प्रतिकूल दुःख के संबंध में जाँचता गया मानों वे (नाटक की) गायक मंडलियाँ हों।"

मैंने कहा, "तो क्या हम किसी बंदीजन (उद्घोषक) को किराये पर लगाएँ अथवा मैं स्वयं ही यह घोषणा करूँ कि अरिस्तोन के पुत्र ने यह निर्णय किया है कि सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक न्यायपरायण मनुष्य ही सब से अधिक सुखी होता है एवं वही सब से अधिक राजार्ह व्यक्ति है और अपने ऊपर भी राजा के तुल्य शासन करता है, और उसने यह घोषणा की है कि सब से बुरा और सब से अधिक अन्यायी व्यक्ति सब से अधिक दुःखी है, तथा यह व्यक्ति वही है जो कि अपने भीतर सब से अधिक तानाशाही स्वभाव रखता है तथा अपने और राष्ट्र के प्रति अत्यधिक तानाशाहों का जैसा व्यवहार करता है?"

उसने उत्तर दिया, "तुम्हारे द्वारा ऐसी घोषणा कर दी जाय।"

मैंने कहा, "क्या मैं यह शब्द और जोड़ सकता हूँ कि "चाहे उनका चरित्र सब मनुष्यों तथा देवताओं को विदित हो, चाहे न हो परिणाम यही होगा?"

उसने कहा, "तुम अपनी घोषणा में यह शब्द जोड़ सकते हो।"

७

मैंने कहा, "बहुत अच्छा, यह हमारी प्रथम उपपत्ति होगी, और यह (निम्नोक्त) दूसरी हो सकती है यदि तुम इससे सहमत हो।

"वह क्या है?"

उसने कहा, "मैं तुमसे सहमत हूँ ।"

"और क्या, राजस् अंश के विषय में हम यह नहीं कहते कि यह पूर्णतया आधिपत्य, विजय एवं ख्याति प्राप्त करने पर उतारू रहता है ?"

"वास्तव में हम यही कहते हैं ।"

"तो यदि हम इसको विग्रहप्रिय और सम्मानप्रिय अंग कहें तो क्या हम इसको ठीक ठीक अभिव्यक्त नहीं करेंगे ?"

"बिलकुल ठीक व्यक्त करेंगे ।"

"परन्तु निश्चयमेव ज्ञान (शिक्षा) प्राप्त करनेवाले भाग के विषय में तो यह सब को ही स्पष्ट है कि इस भाग की चेष्टा तो नित्य ही सत्यान्वेषण की ओर प्रवृत्त होती है तथा यह भाग धन और ख्याति की ओर तीनों अंशों में सबसे कम चिंता करता है ।"

"बिलकुल कम ।"

"शिक्षाप्रिय तथा विवेकप्रिय यह नाम इसके लिये सर्वथा समुचित होगा ।"

उसने कहा, "क्यों नहीं ।"

मैंने कहा, तो क्या यह भी सत्य नहीं है कि कुछ मनुष्यों की आत्मा पर यह (विवेकप्रिय) अंश शासन करता है, तथा अन्य मनुष्यों की आत्मा में अन्य दो में से कोई अंश यथावसर शासन करता है ?"

उसने कहा, "ऐसी ही बात है ।"

"और इसी कारण हम कहते हैं कि मनुष्यों के मूल वर्ग तीन होते हैं— फिलासफर अथवा विवेकप्रेमी, विजयप्रेमी, लाभप्रेमी ।"

"बिलकुल ठीक ।"

"और इसी प्रकार, इन तीन वर्गों में से प्रत्येक के समनुरूप तीन प्रकार के आनन्द भी होते हैं ?"

"सर्वथा यही बात है ।"

मने पूछा, "क्या तुम्हें यह विदित है कि यदि तुम इन तीन वर्गों के मनुष्यों में से प्रत्येक से बारी बारी से यह पूछना चाहो कि इन (तीन प्रकार के) जीवनों में से किस प्रकार का जीवन सबसे अधिक आनन्ददायक है तो उनमें से प्रत्येक मुख्यतया अपने ही जीवन को दूसरों से बढ़ाकर वर्णन करेगा ? धनोपार्जक (ख्रीमातिस्तिकॉस, श्रीमत्) यह कहेगा कि धनार्जन के आनन्द की तुलना में सम्मान और विद्या (ज्ञान) प्राप्त करने के आनन्द यदि उनसे धनोपलब्धि न हो तो कुछ भी मूल्य नहीं रखते"

उसने कहा, "सत्य है ।"

मैंने कहा, "और सम्मानप्रेमी ? क्या यह धन से प्राप्त होनेवाले आनन्द को गँवारू (भारस्वरूप) नहीं समझा करता, और शिक्षा तथा विद्या के आनन्द को उसके सम्मानप्रद होने के अतिरिक्त नितांत धूम्रमात्र और अवस्तु नहीं मानता ?"

उसने कहा, "बात तो यही है।"

मैंने पूछा, "और इस विषय में हम क्या ख्याल करें कि फिलासफर (विवेकप्रेमी) सत्य और यथार्थता को जानने के तथा ज्ञान प्राप्ति के व्यापार में निरन्तर उपलब्ध होने वाले आनन्द की तुलना में अन्य आनन्दों के विषय में क्या समझता है ? क्या वह उन आनन्दों को वास्तविक आनन्द से बहुत दूर की वस्तु नहीं समझेगा, तथा क्या वह उनको इस कारण अक्षरश: आवश्यकता-जन्य आनन्द नहीं कहेगा कि यदि उसके ऊपर उनकी आवश्यकता न लदी होती तो उसके लिये उनका कोई उपयोग न होता ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो सुविदित होना चाहिये ।"

८

मैंने पूछा, "तब तो, क्योंकि पृथक् पृथक् प्रकार के आनन्दों और जीवन प्रकारों में स्वयं न केवल इस बात का द्वंद्व छिड़ा हुआ है कि कौन अधिक आदरणीय अथवा नीचा है या, कौन अधिक बुरा अथवा अधिक

अच्छा है, बल्कि इस बात पर भी द्वंद्व छिड़ा है कि कौन वास्तव में अधिक आनन्दप्रद अथवा पीड़ारहित है, ऐसी अवस्था में हम यह निर्णय कैसे कर सकते हैं कि उनमें से सबसे अधिक सत्य कौन कह रहा है ?"

उसनें कहा, "मैं तो सर्वथा ही इसका उत्तर नहीं दे सकता।"

"अच्छा तो यों देखो। ठीक ठीक निर्णय करने के लिये किस उपकरण द्वारा निर्णय किया जाना चाहिये ? क्या अनुभव, बुद्धिमत्ता, एवं तर्क (संयुक्ति विवेचन) द्वारा ही नहीं ? अथवा इनसे बढ़कर कोई और कसौटी उपलब्ध हो सकती है ?"

उसने कहा, "सो कैसे हो सकती है ?"

"अच्छा। तो देखो। (उपर्युक्त) तीन प्रकार के मनुष्यों में से सब प्रकार के आनन्दों का अधिकतम अनुभवी कौन है ? क्या लाभ का प्रेमी, तुम्हारे खयाल से, सत्य के स्वरूप के अध्ययन के द्वारा ज्ञानजन्य आनन्द का फिलासफर के लाभजन्य आनन्द की अपेक्षा अधिक अनुभव प्राप्त किये होता है ?"

उसने उत्तर दिया, "इन दोनों में महान् अन्तर होता है। क्योंकि इनमें से एक, फिलासफर को तो बाल्यकाल से ही अन्य दो प्रकार के आनन्दों का अनुभव अवश्यमेव होना चाहिये; परन्तु लाभ का प्रेमी न केवल वस्तुओं के स्वभाव को जानने के आनन्द की मधुरता के आस्वादन अथवा अनुभव करने की आवश्यकता से बाधित नहीं होता, प्रत्युत यदि उसकी (यह अनुभव करने की इच्छा भी हो एवं वह इसके लिए उत्सुक भी हो तो भी सरलता से ऐसा नहीं कर सकता।"

मैंने कहा, "तब तो फिलासफर या ज्ञान का प्रेमी दोनों प्रकार के आनन्दों के अनुभव में लाभ के प्रेमी से कहीं अधिक बढ़कर है।"

"हाँ बहुत बढ़कर।"

"और सम्मानप्रिय व्यक्ति की तुलना में वह कैसा ठहरता है ? क्या वह (फिलासफर) सम्मानित होने के आनन्द से दूसरे (सम्मानप्रिय) के ज्ञानजन्य आनन्द के अनुभव की अपेक्षा अधिक परिचित होता है ?"

उसने कहा, "नहीं, यदि वे तीनों अपने अपने लक्ष्यों को पृथक् पृथक् कर लेते हैं तो सम्मान तो सभी को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि धनवान् का सम्मान तो बहुत से लोगों द्वारा किया जाता है, इस प्रकार जो आनन्द सम्मान से उत्पन्न होता है उससे तो सभी परिचित होते हैं, परन्तु वास्तविक सत्ता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले आनन्द के विषय में, फिलासफर के अतिरिक्त अन्य किसी को अनुभव अथवा आस्वादन प्राप्त करना असंभव है।"

मैंने कहा, "तब तो जहाँ तक अनुभव का सवाल है (अनुभव के आधार पर तो) वह सब मनुष्यों में श्रेष्ठ निर्णायक है।"

"कहीं श्रेष्ठ।"

"और फिर वही एक ऐसा व्यक्ति है जिसका अनुभव बुद्धिमत्ता समन्वित है।"

"क्यों नहीं ?"

"और तिसपर भी जो निर्णय करने का उपकरण (इन्द्रिय ऑर्गेनन्) है वह न तो लाभ प्रेमी का उपकरण है और न सम्मानप्रेमी बल्कि बुद्धिमत्ता प्रेमी का ('फिलासफर) उपकरण है।"

"वह इन्द्रिय अथवा उपकरण क्या है ?"

"हमने कहा था कि विवेचना (विवेक, युक्ति) द्वारा निर्णय किया जाना चाहिये। क्यों कहा था न ?"

"हाँ, कहा तो था।"

"और यह मुख्यतया उसी (फिलासफर) का उपकरण है।"

"क्यों नहीं ?"

"अतएव यदि धन और लाभ निर्णय करने की सर्वश्रेष्ठ कसौटी होते तो लाभप्रेमी मनुष्य के द्वारा प्रशंसित अथवा निन्दित वस्तुएँ ही अवश्यमेव सर्वाधिक सत्य होतीं ।"

"बिलकुल ऐसा ही है ।"

"यदि सम्मान, विजय और साहस (कसौटी होते) तो क्या सम्मान और विजय के प्रेमी मनुष्य के द्वारा प्रशंसित वस्तुएँ (सर्वाधिक सत्य) नहीं होतीं?"

"स्पष्ट ही है ।"

"परन्तु क्यों कि अनुभव, बुद्धिमत्ता और विवेचना यह कसौटियाँ हैं तब ?"

उसने कहा, "जिन वस्तुओं को फिलासफर तथा विवेकप्रिय व्यक्ति अनुमोदन करेगा वही परमसत्य होंगी ।"

"तब तो तीनों प्रकार के आनन्दों में से आत्मा के उस भाग का आनन्द सबसे अधिक सुखप्रद है, जिससे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं (या, सीखते हैं); एवं उस मनुष्य का जीवन जिसमें कि यह भाग आधिपत्य रखता है सबसे अधिक आनन्दमय जीवन है, क्यों ?"

उसने उत्तर दिया, "निःसंदेह ऐसा ही क्यों नहीं होगा ? कम से कम बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन की प्रशंसा करते समय अधिकार के साथ बोलता है ।"

मैंने पूछा, "अच्छा, वह निर्णायक (न्यायाधीश) किस प्रकार के जीवन और आनन्द को द्वितीय स्थान प्रदान करता है ?"

"स्पष्ट ही है कि (दूसरा स्थान) योद्धा और सम्मानप्रेमी के (जीवन और आनन्द को) दिया जायेगा, क्योंकि यह धनोपार्जन के जीवन और आनन्द की अपेक्षा प्रथम प्रकार के (जीवन के आनन्द के) अधिक समीपवर्ती है ।"

"अतएव, जैसा कि मालूम देता है अन्तिम स्थान लाभप्रेमी का है ।"

उसने कहा, "क्यों नहीं ?"

९

तो, यह (बातें) क्रमशः वर्णन में एक दूसरे के पश्चात् आने वाले दो तथ्य होंगें और न्यायी व्यक्ति की अन्यायी मनुष्य के ऊपर प्राप्त होने वाली दो विजयों को सूचित करने वाले होंगे। और अब लो तीसरी बार (की विजय) जो कि आलिम्पिक रीति के अनुसार त्राता को अर्थात् ऑलम्पिक ज्यौस को समर्पित है—देखो, बौद्धिक आनन्द के अतिरिक्त अन्य आनन्द सर्वथा पूर्णतया वास्तविक तथा विशुद्ध भी नहीं होता, बल्कि जैसा कि मैंने किसी बुद्धिमान व्यक्ति से सुना प्रतीत होता है, यह आनन्द धुँधले रेखाचित्र के समान (होता) है। तथापि यह (तीसरी) पराजय (विनिपात) सबसे महान् और निर्णायक होगी।"

"बिलकुल ठीक सबसे महान् पराजय होगी; परन्तु आपके इसकथन का तात्पर्य क्या है ?"

मैंने कहा, "यदि मेरे अन्वेषण करते समय तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर देते चलोगे तो मैं इसको खोज निकालूँगा।

उसने कहा, "प्रश्न पूछिये।"

मैंने कहा, "अच्छा बतलाओ क्या हम दुःख को आनन्द का प्रतिकूल (उलटा या विरोधी) नहीं कहते ?"

"निश्चय ही कहते हैं।"

"और क्या एक ऐसी उदासीन स्थिति नहीं होती कि जिसमें न सुख का अनुभव होता है न दुःख का ?"

"होती तो है।"

"क्या यह अवस्था इन दोनों की मध्यवर्तिनी होती है और इन दोनों के मध्य में एक प्रकार की आत्मा की शान्ति की स्थिति है ? क्या तुम्हारा तात्पर्य यही नहीं है ?

उसने कहा, "यही बात है।"

मैंने कहा, "क्या तुम्हें वह बातें याद नहीं रहीं जो कि मनुष्य रुग्णावस्था में कहा करते हैं ?"

"कौन सी बातें ?"

"यही कि स्वस्थ होने की अपेक्षा कोई भी वस्तु अधिक मीठी नहीं होती, यद्यपि रोगी होने के पूर्व उनको इस बात का पता नहीं था कि स्वस्थ होना सब से अधिक मीठी चीज है।"

"उसने कहा, "मुझे स्मरण है।"

"तथा क्या अति प्रबल पीड़ा से पीड़ित व्यक्तियों को तुमने यह कहते नहीं सुना है कि पीड़ा से छुटकारा पाने से बढ़कर और कोई सुखप्रद बात नहीं है ?"

"सुना है ।"

"और मैं ख्याल करता हूँ कि तुमने ऐसी ही अन्य इससे मिलती जुलती अवस्थाएँ देखीं हैं कि जिनमें मनुष्य पीड़ा का अनुभव करते हुए पीड़ामुक्ति और पीड़ा से छुटकारा पाने को सर्वोच्च सुख कहते हुए उनकी प्रशंसा किया करते हैं और साक्षात् हर्ष की प्रशंसा नहीं करते।"

उसने कहा, "हाँ, क्योंकि शायद ऐसे अवसरों पर यही—शान्ति विश्राम—सुखद और उपादेय प्रतीत हुआ करते हैं।"

मैंने कहा, "और इसी प्रकार जब किसी के आनन्द का अवसान होता है तो सुख का रुक जाना दुःखद होगा।"

उसने कहा, "स्यात् ऐसा हो।"

"तो जिस अवस्था को अभी हमने दोनों अवस्थाओं की मध्यवर्तिनी स्थिति—अर्थात् विश्राम की स्थिति कह कर वर्णित किया था वह कभी कभी (समयानुसार) दुःखद और सुखप्रद दोनों ही बन जायेगी।"

"प्रतीत तो ऐसा ही होता है।"

"परन्तु क्या अनुभव होने वाली वस्तु के लिये उभय रूप हो जाना संभव है ?"

"मेरे ख्याल में तो नहीं।"

"और फिर, आत्मा में उत्पन्न होने वाले सुख तथा दुःख दोनों ही एक प्रकार के आवेग ही होते हैं। क्यों है न ?"

"हाँ।"

"और क्या हमने अभी यह नहीं देखा था कि सुख दुःख दोनों के ही अभाव का अनुभव करना आत्मा की शान्ति है तथा वह (सुख और दुःख) दोनों ही के मध्य की अवस्था है ?"

"हाँ, हमने ऐसा किया था।"

"तो फिर दुःख की अनुपस्थिति को सुख (आनन्द) अथवा आनन्द या सुख के अभाव दुःखद समझना कैसे ठीक हो सकता है ?"

"किसी प्रकार नहीं।"

मैंने कहा, "तो यह यथार्थता (वास्तविकता) नहीं बल्कि आभास मात्र है; ऐसे प्रसंगों में उपशम दुःख के सान्निध्य में सुख और सुख के सान्निध्य में दुःख (प्रतीत) होता है। और यह सब प्रातिभासिक अभिव्यक्तियाँ सुख की सत्यता से कोई वास्तविक संबंध नहीं रखतीं, बल्कि एक प्रकार का इन्द्रजाल हैं।"

उसने कहा, "कम से कम हमारा विवेचन तो यही सूचित करता है।"

मैंने कहा, "अच्छा अब ऐसे सुखों पर दृष्टिपात करलो जो दुःखों से उत्पन्न नहीं होते जिससे कहीं तुम इस समय ऐसा ख्याल न कर बैठो कि सुख का स्वभाव है दुःखनिवृत्ति तथा दुःख का स्वरूप है सुख की निवृत्ति।"

उसने पूछा, "कहाँ दृष्टिपात करूँ, तथा आपका तात्पर्य किस प्रकार के सुखों से है ?"

मैंने उत्तर दिया, "हैं तो और भी बहुत से, पर यदि तुम उनको भली भाँति जानना चाहो तो घ्राणेन्द्रिय से संबंध रखने वाले सुखों को उदाहरण स्वरूप ले सकते हो। क्योंकि बिना पूर्वगामी दुःख के यह एकदम अत्यधिक सान्द्रता या सघनता प्राप्त कर लेते हैं तथा इनकी निवृत्ति के पश्चात् कोई दुःख नहीं होता।"

उसने कहा, "परम सत्य।"

"तो हमको यह विश्वास कर लेने के लिये तैयार नहीं हो जाना चाहिये कि पीड़ा से छुटकारा विशुद्ध सुख है, और सुख से छुटकारा विशुद्ध दुःख या पीड़ा है।"

"नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिये।"

मैंने कहा, "तथापि निश्चयमेव, वे सब अनुभव जो कि शरीर के द्वारा आत्मा तक पहुँचते हैं, वे सब तथाकथित सुख जो बहुसंख्यक और अत्यंत प्रबल होते हैं, इसी प्रकार के होते हैं——अर्थात् वे किसी न किसी प्रकार से दुःख निवृत्ति रूप ही हैं।"

"वे ऐसे ही होते हैं।"

"और क्या प्रत्याशित सुख दुःखों का भी यही स्वरूप (लक्षण) नहीं होता——अर्थात् उनका जो कि (उपर्युक्त) सुख दुःखों के पूर्व आते हैं तथा उनकी प्रत्याशा से उत्पन्न होते हैं?"

"हाँ, यही है।"

१०

मैंने पूछा, "क्या तुमको विदित है कि यह कैसे होते हैं और किनके साथ इनका अधिकतम सादृश्य होता है?"

उसने पूछा, "क्या?"

मैंने कहा, "क्या तुम्हारे विचार में भूतप्रकृति में ऊपर, नीचे और बीच जैसी कोई वस्तु है?"

"हाँ, मैं समझता हूँ कि है।"

"तो क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि जो व्यक्ति नीचे से मध्य स्थान की ओर ले जाया जा रहा हो वह इसके अतिरिक्त कोई अन्य बात समझेगा कि वह नीचे से ऊपर की ओर जा रहा है। और यदि वह मध्य स्थान में खड़ा होकर उस ओर दृष्टिपात करे जिस ओर से वह लाया गया था, तो क्या तुम्हारे ख्याल में वह अपने को ऊपर के सिवाय अन्य किसी स्थान में स्थिर समझेगा, क्योंकि जो स्थान वास्तव में सर्वोपरि है वह तो उसने देखा ही नहीं है?"

उसने उत्तर दिया, "द्यौस् की शपथ, मैं तो ऐसा नहीं समझता कि ऐसा आदमी कुछ अन्यथा ख्याल करेगा।"

मैंने कहा, "और यदि वह वापिस ले जाया जाय तो वह अपने को नीचे की ओर जाता हुआ समझेगा और समझेगा भी ठीक?"

"क्यों नहीं?"

"और क्या यह सब बातें उसके लिये, उसके सच्चे (वास्तविक) ऊपर, नीचे और मध्य के अनुभव के अभाव के कारण ही घटित नहीं होंगी?"

"स्पष्ट है।"

"तो क्या इस बात से तुमको विस्मय होगा कि यदि इसी प्रकार जो लोग सत्य एवं वास्तविकता के विषय में अनुभव शून्य हैं बहुत सी अन्य बातों के विषय में असार (गलत) धारणाएँ बनाये रहते हैं तथा सुख दुःख एवं इनके बीच की उदासीन मध्य-स्थिति की ओर कुछ ऐसी मनोवृत्ति रखते हैं कि जब वे दुःखद वस्तु की ओर ले जाये जाते हैं तो वे अपने को सत्य ही दुःख की अवस्था में समझने लगते हैं और वास्तव में ऐसी अवस्था में होते भी हैं, परन्तु जब वे दुःख से मध्यस्थान अथवा उदासीनतापूर्ण स्थिति की ओर ले जाए जाते हैं तब वे बड़ी दृढ़ता से यह विश्वास करते हैं कि वे पूर्णतृप्ति और आनन्द को प्राप्त हो रहे हैं, ठीक जिस प्रकार मानों वे श्वेत वर्ण के

अज्ञान के कारण धूमिल की तुलना काले से कर रहे हों, बस इसी प्रकार सच्च्चे आनन्द का अनुभव न रखने के कारण वे पीड़ाशून्यता को पीड़ा की तुलना (संबंध) में रखकर वंचित होते हैं ?"

उसने कहा, "द्यौस की शपथ, इससे मुझे कोई विस्मय नहीं होगा, हाँ, यदि ऐसा न होता तो बहुत अधिक आश्चर्य अवश्य होता।"

मैंने कहा, "इस बात पर इस प्रकार विचार करो:—क्या भूख, प्यास और इसी प्रकार की अवस्थाएँ शारीरिक संस्थान की रिक्तता (अभाव) नहीं है ?"

"क्यों नहीं ?"

"तथा क्या अज्ञान और मूर्खता इसी प्रकार आध्यात्मिक संस्थान में रिक्तता (अथवा अभावरूप) नहीं हैं ?"

"वास्तव में ऐसा ही है।"

"तो क्या जो व्यक्ति भोजन ग्रहण करता है वहऔर जो बुद्धिमता ग्रहण करता है वह रिक्तता को भरकर तृप्त (पूर्ण) नहीं हो जाता ?"

"क्यों नहीं।"

"पर अधिक सच्ची परितृप्ति कौन सी होगी, अल्पमत् पदार्थ द्वारा प्राप्त होने वाली या प्रभूतसत् पदार्थ से प्राप्त होने वाली ?"

"स्पष्ट ही है कि प्रभूतसत् पदार्थ से प्राप्त होनेवाली अधिक सच्ची होगी।"

"तुम्हारे विचार में निम्नलिखित दो वस्तुवर्गों में से कौन सा वर्ग शुद्ध सत्तत्व का अधिक भागीदार है; भक्ष्य, पेय, आस्वाद्य और अन्य सामान्य पोषक पदार्थों का वर्ग या सन्मति, विद्या, बुद्धि-विवेक और उन पदार्थों का वर्ग जो संक्षेप में सद्‌गुण (arete) कहलाते हैं ?" अपना निर्णय अथवा परीक्षण इस प्रकार करो। तुम्हारे विचार में अधिक सत्य सत् पदार्थ कौन सा है; वह है जो उस पदार्थ से सम्पृक्त (संयुक्त, समन्वित) रहता जो

नित्य उसके समान है, अविनाशी है और सत्य है, तथा जो स्वयमेव ऐसे ही स्वभाव वाला है और ऐसी ही स्वभाववाले स्वभाव से उत्पन्न होता है, या वह है जो ऐसे पदार्थ से संयुक्त रहता है जो मरणशील (अन्तवान) है और कभी एक सा नहीं रहता, एवं जो स्वयं भी ऐसा ही है और ऐसे ही पदार्थ में उत्पन्न होता है ?"

उसने कहा, "कहीं अधिक सत्य सत् (सत्ता) उसकी है जो नित्य एक रूप रहता है ।"

"क्या नित्य एक रूप रहने वाले पदार्थ की सारभूत सत्ता वास्तविक सत्ता में ज्ञान की अपेक्षा कुछ अधिक भागीदार हैं ? (अर्थात् क्या उसका संबंध ज्ञान की अपेक्षा वास्तविक सत्ता से अधिक है ?")

"किसी प्रकार नहीं ।"

"क्या सत्य की अपेक्षा अधिक भागीदार है ?"

"नहीं ऐसा भी नहीं है ।"

"यदि किसी वस्तु में सत्य अल्पांश में होता है तो क्या उसमें वास्तविक सार अथवा सत्ता भी कम नहीं होती ?"

"अवश्यमेव ।"

"तो क्या सामान्यरूपेण यह सत्य नहीं है कि जिस जाति की वस्तुएँ शरीर सेवा से संबद्ध हैं वे उस जाति की वस्तुओं से जो कि आत्मा की सेवा से संबद्ध हैं सत्य और मूल सार सत्ता की अपेक्षाकृत कम भागीदार है ?"

"बहुत कम ।"

"और क्या यही बात तुम्हारे विचार में आत्मा की तुलना में शरीर के विषय में भी नहीं कही जा सकती ?"

"मैं समझता हूँ कि कही जा सकती है ।"

"तो क्या वह पदार्थ जो कि अधिक सत्य सत् से पूर्ण है और जो स्वयं अधिक सत् है उस पदार्थ की अपेक्षा अधिक संपूर्ण और तृप्त नहीं है जो कि

स्वयमेव कम वास्तविक (सत्य) है और अधिक अवास्तविक पदार्थों से भरा हुआ है ?"

"क्यों नहीं ?"

"तो यदि स्वभावानुकूल पदार्थ से परिपूर्ण होना ही आनन्दप्रद है तब तो वह वस्तु जो कि अधिक वास्तविकता के साथ वास्तविक वस्तुओं से भरी है हमको अधिक वास्तविकता और सत्यता के साथ आनन्द का अनुभव करायेगी, जब कि वह वस्तु जो कि अल्पसत्य सत् (या सत्ता) की भागीदार है कम सत्यता और सुनिश्चितता (दृढ़ता, सुरक्षितता) से परिपूर्ण होगी एवं कम विश्वसनीय और कम सच्चे आनन्द में भागीदार होगी ।"

उसने कहा, "अत्यावश्यकतया यही बात है ।"

"तब तो वे लोग जो कि प्रज्ञा और सद्वृत्ति (आर्यत्व arete) से अनभिज्ञ हैं तथा नित्य खानपान और इसी प्रकार अन्य (शिश्नोदर परायणता) में लगे रहते हैं वे, जैसा कि प्रतीत होता है, नीचे की ओर (ले जाये जाते हैं) और फिर लौट कर मध्यबिन्दु तक ऊपर की ओर ले जाये जाते हैं, एवं आजीवन वे इसी प्रदेश में इधर से उधर और उधर से इधर घूमते रहते हैं, किन्तु कभी इस (सीमा) का अतिक्रमण नहीं कर पाते, न तो कभी उन्होंने वास्तविक उर्ध्व-धाम की ओर दृष्टि ही मोड़ी और न कभी वहाँ ले ही जाये गये, न कभी वास्तव में वास्तविक पदार्थों से परिपूर्ण हुए, न कभी उन्होंने स्थायी और विशुद्ध आनन्द का आस्वाद ही पाया; प्रत्युत पृथ्वी की ओर गड़ी हुई दृष्टि और नीचे झुके शिर के साथ अपनी भोजन त्रिपदिका पर जमे हुए पशुओं की भाँति शिश्नोदर परायण बने शरीरपोषण और प्रजोत्पादन करते रहते हैं (एवं इस प्रकार के अधिकाधिक सुखों के लिये लोलुप बने रहते हैं) तथा लोभवश एक दूसरे पर लोहे के सींगों और खुरों से प्रहार करते हुए अतृप्त इंद्रिय लोलुपता से

परस्पर एक दूसरे की हत्या करते रहते हैं, क्योंकि वे अपनी आत्मा के असद् अंश को व्यर्थ ही उस पदार्थों से संतुष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं जो सत्य नहीं हैं।"

ग्लौकोन ने कहा, "सॉक्रातीस, तुम तो बहुजनों के जीवन का वर्णन प्राय: देववाणी की सी शैली में कर रहे हो।"

"तो क्या वे सुख (आनन्द) जिनकी संगति में यह लोग रहते हैं अनिवार्यतया दुःखों के साथ सम्मिश्रित नहीं होते, सच्चे सुख की छायामात्र, चित्रगत मायामात्र नहीं होते. पारस्परिक विरोधी सापेक्षिक स्थिति से ऐसे अतिरंजित नहीं होते कि उभय प्रकार से (सुखरूप मे भी तथा दुःख रूप में भी) अत्यंत सघन प्रतीत हों तथा अबोध आत्माओं मे अपने प्रति विक्षिप्त अनुराग को जन्म दें, तथा उनके लिये लोगों में इसी प्रकार युद्ध हों जिस प्रकार स्तेसिकॉरॉस् के कथनानुसार त्रॉय में सत्य की अनभिज्ञता के कारण हैलेना की छाया के लिये युद्ध लड़ा गया था ?"

उसने उत्तर दिया, "यह तो अनिवार्य बात है कि ऐसा हो।"

११

और फिर जब कभी कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के राजस अंश को तृप्त करेगा——अर्थात् सम्मानाकांक्षा को ईर्ष्या द्वारा ,विजयानुराग को भीषणता द्वारा, रोषप्रवृत्ति को कोपावेश द्वारा तृप्त करेगा, एवं इन सम्मान विजय और रोष इत्यादि का अनुसंधान बिना विचार और विवेक के करेगा तो क्या बिलकुल ऐसा ही परिणाम आत्मा के राजस (आवेगात्मक) अंश के विषय में भी घटित नहीं होगा ?"

उसने उत्तर दिया, "अवश्यमेव ऐसा ही परिणाम इस विषय में भी होगा।"

मैंने कहा, "तो क्या हम विश्वास पूर्वक यह नहीं कह सकते कि हमारे स्वभाव के लोलप और राजस (आवेगात्मक) विजयेच्छु अंश से संबद्ध

सब इच्छाएँ, जहाँ तक कि वे ज्ञान और विवेक का अनुसरण करती हैं, तथा उनके संयोग में ही सुखानुसंधान करते हुए केवल विवेकानुमोदित सुखों को ग्रहण करती हैं, वहीं तक वे यथासंभव सत्यतम सुखों का उपभाग करेंगी क्योंकि वे सत्य का अनुसरण करती हैं, और ऐसे सुखों का उपभोग करेंगी जो उनके लिये समुचित और उनके अपने सुख हैं, (यदि प्रत्येक वस्तु के लिये सर्वोत्तम सिद्ध होनेवाली वस्तु को सर्वाधिक उसकी निजी वस्तु कहा जा सके तो ?)"

उसने कहा, "हाँ, निश्चयमेव यह उसका वास्तविक निजस्व है ।"

"अतः जब सकल आत्मा तत्वदर्शी (विवेकप्रिय) अंश के नेतृत्व को स्वीका. कर लेती है और अन्तःकलह से मुक्त रहती है तो प्रत्येक अंश के लिये यह परिणाम निकलता है कि वह अन्य सब प्रकार से अपने कार्य में ही लगा रहता है और न्याययुक्त बना रहता है तथा इसी प्रकार उनमें से प्रत्येक अपने उचित और सर्वोत्तम सुखों का उपभोग करता है और जहाँ तक ऐसा होना संभव है सत्यतम सुखों का उपभोग किया करता है ।"

"बिल्कुल ठीक ।"

"और जब अन्य दो में से कोई एक स्वामित्व (शक्ति) प्राप्त कर लेता है तो इसके लिये यह परिणाम घटित होता है कि वह स्वयं अपना उचित सुख उपलब्ध नहीं कर पाता तथा दूसरों को भी परकीय सुखों का अनुसरण करने के लिये बाध्य करता है सच्चे सुखों का नहीं ।"

उसने कहा, "यही बात है ।"

"अतएव जो कुछ भी फिलासफी और विवेक से अत्यधिक दूर है क्या वह संभवतया ऐसा ही (अनिष्ट) परिणाम उत्पन्न नहीं करेगा ?"

उसने कहा, "बहुत कुछ ऐसा ही करेगा ।"

"और क्या वह वस्तु विवेक से अत्यधिक दूर हटी हुई नहीं है जो कि नियम और व्यवस्था से अत्यधिक दूर हटी हुई है ?"

"यह तो स्पष्ट है।"

"और क्या कामवासना तथा तानाशाही की वासना नियम और व्यवस्था से अत्यधिक दूर हटी हुई प्रतीत नहीं हुई है ?"'

"बहुत कुछ ऐसी प्रतीत हुई हैं।"

"तथा राजकीय और सुव्यस्थित इच्छाएँ सब से कम दूर हटी हुई हैं। ठीक है न ?"

"हाँ।"

"तब तो तानाशाह का स्थान, मेरी समझ में सच्चे और उचित सुख से अत्यधिक अन्तर पर स्थित होगा तथा राजा का सबसे कम दूरी पर।"

"अवश्यमेव।"

"अतएव तानाशाह का जीवन सबसे कम सुखदायक होगा और राजा का सबसे अधिक सुखदायक।"

"यह बात तो पूर्णतया अनिवार्य है।"

मैंने कहा, "क्या तुम जानते हो कि राजा की अपेक्षा तानाशाह कितना अधिक दुःखमय जीवन बिताता है ?"

उसने कहा, "यदि आप बतलायेंगे तो मैं जान लूँगा।"

"ऐसा लगता है कि तीन प्रकार के सुख होते हैं, एक वास्तविक (असली) तथा दो अवास्तविक (नकली)। तानाशाह नियम और व्यवस्था के प्रदेश से उड़ान भरकर नकली सुखों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है और कतिपय दासत्वपूर्ण और वेतनभोगी सुखों के सहवास में निवास करता है तथा उसकी निकृष्टता की माप का स्यात् निम्नलिखित प्रकार को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से व्यक्त करना सरल कार्य नहीं है।"

उसने पूछा, "किस प्रकार ?"

"मैं समझता हूँ कि हमने तानाशाह को आलीगार्क के तीसरे स्थान पर स्थित पाया था कि क्योंकि जनतन्त्रवादी उन दोनों के मध्य स्थित था।"

"हाँ।"

"अतएव यदि हमारी पूर्व कथित बातें सत्य हों तब तो क्या वह सुख की ऐसी छायामात्र के साथ नहीं रहता होगा जो कि सत्य के संबंध में आलीगार्क के सुख से तीन गुना अधिक दूर होगा ?"

"ऐसा ही है।"

"तथा यदि हम राजकीय और कुलीन को अभिन्न मानें तो आलीगार्क राजकीय जन से तीसरा है।"

"हाँ, यह तीसरा है।"

मैंने कहा, "तब तो संख्यात्मक नाप के अनुसार तानाशाह को सच्चे सुख से पृथक् करने वाला अन्तराल तीन का त्रिवृत् है।"

"लगता तो ऐसा ही है।"

मैंने कहा, "लंबाई की संख्या के अनुसार, (अथवा अन्वायाम क्षेत्रगणित के अनुसार) तो तानाशाह का छायामात्र सुख समक्षेत्राकृति (epipedos) होगा।"

"बिलकुल ठीक।"

"और संख्या का वर्ग और घन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दूरी का अन्तराल कितना अधिक बढ़ जाता है।"

उसने कहा, "हाँ, गणित जानने वाले को यह स्पष्ट है।"

"और यदि इसके प्रतिकूल कोई सच्चे सुख के संबंध में राजा और तानाशाह के मध्यवर्ती अन्तराल को व्यक्त करना चाहे तो गुणन के पूर्ण होने पर उसको ज्ञात होगा कि वह (राजा) (तानाशाह की अपेक्षा) ९ और और २० और ७०० गुणा (७२९ गुणा) अधिक सुखी रहता है, तथा

तानाशाह का जीवन इतनी ही दूरी (अन्तराल) से दुःखी है ।"

उसने कहा, "न्यायी और अन्यायी मनुष्य के सुख और दुःख के अन्तर की यह तुम्हारी गणना वास्तव में दुश्चिन्त्य और चकरा देने वाली है!"

मैंने कहा, "और तिस पर भी, यदि दिन और रात और महीनों और वर्षों का मानव जीवन से कोई नाता है तो यह एक ऐसी संख्या है जो कि सच्ची और समनुरूप है ।"

उसने कहा, "वे तो अवश्यमेव संबद्ध हैं ।"

"अतएव यदि सुख के विषय में सज्जन और न्यायी व्यक्ति की दुर्जन और अन्यायी के ऊपर विजय इतनी महान होती है तो जीवन की चारुता, सुन्दरता और सद्वृत्ति (आर्यत्व) में तो वह उससे अचित्य गुणा बढ़कर होगा ।"

उसने कहा, "हाँ, सचमुच अचिन्त्य गुणा बढ़कर होगा ।"

१२

मैंने कहा, "अच्छी बात है, अब क्योंकि हम इस विवेचना में प्रस्तुत स्थिति तक आ पहुँचे हैं, अतएव हमको अब फिर उस कथन की ओर लौटना चाहिये जिससे हमने विवेचना को आरंभ किया था और जो हमको यहाँ तक ले आया है । मैं विश्वास करता हूँ कि यह कहा गया था कि अन्याय, न्यायीरूप में प्रसिद्ध परन्तु पूर्णतया अन्यायी व्यक्ति के लिये लाभदायक होता है । क्या यह बात ऐसे ही कही गयी थी या नहीं ?"

"हाँ, ऐसे कही गयी थी ।"

"अब क्योंकि हम अन्याय और न्याय दोनों ही प्रकार के आचरण मार्गों के मौलिक स्वरूप के विषय में एकमत हो चुके हैं, अतएव इस समय हमको इस सिद्धांत के प्रतिपादक से शास्त्रार्थ कर लेना चाहिये ।"

उसने पूछा, "किस प्रकार ?"

"अपने विवेचन में आत्मा की एक प्रतीकात्मक मूर्ति-निर्माण करके जिससे कि इस सिद्धांत का प्रतिपादक यह देख सके कि उसके कथन का प्रत्यक्ष तात्पर्य क्या है ।"

उसने कहा, "किस प्रकार की मूर्ति ?"

मैंने कहा, "उस प्रकार के किसी एक प्राणी की मूर्ति बनानी चाहिये जिनका उल्लेख पुरातन कथाओं में मिलता है, यथा खिमइरा, स्किला तथा कर्बरस् और अन्य इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण जिनमें अनेकों विभिन्न जीव योनियाँ मिलकर एकरूप हो गयी हैं ।"

उसने कहा, "ऐसी मिश्र जीवयोनियों का वर्णन किया तो जाता है ।"

"अच्छा तो अब (अपनी कल्पना में) एक ऐसे विविध स्वभाव और बहुशीर्ष जीव की मूर्ति निर्माण करो जिसके कई एक जंगली और पालतू पशुओं का शिरोमंडल हो तथा जो उसको अपनी इच्छानुसार परिवर्तित और उत्पन्न कर सके ।"

उसने कहा, "यह तो किसी निपुण कलाविद् का कार्य है, तथापि क्योंकि भाषा मोम अथवा अन्य इसी प्रकार के उपकरणों से अधिक नम्य पदार्थ है अतएव मान लो कि ऐसी मूर्ति निर्मित हो गयी ।"

"तो एक सिंह की आकृति और बनाओ और एक मनुष्य की तथा इनमें से प्रथम बहुत विशाल होनी चाहिये, एवं दूसरी का आकार दूसरे नंबर का होना चाहिये ।"

उसने कहा, "यह कार्य तो ऋजुतर है, लो हो भी गया ।"

"तो अब तीनों को मिलाकर इस प्रकार संयुक्त कर दो कि जिससे वे सब एक साथ परस्पर रह कर बढ़ सकें ।"

उसने कहा, "उनको इस प्रकार संयुक्त कर दिया गया ।"

"अब इनके चारों ओर बाहर इनमें से एक की—मनुष्य की आकृति निर्माण कर दो, जिससे कि भीतर की ओर देखने या झाँकने की जिसमें

योग्यता न हो तथा जो केवल बाहरी कोष (खोल) को देख सकता हो उसको यह एक ही जोव--अर्थात मनुष्य दिखलायी दे ।"

उसने कहा, "यह परिवेष्ठन भी बन गया ।"

"अब, जो यह कहने वाला है कि इस मनुष्य के लिये अन्यायी होना लाभदायक है, और न्याय करना इसके लिये उपयोगी नहीं है. उससे हम यह कहें कि वह जिस बात का समर्थन कर रहा है वह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि इस मनुष्य के लिये इस विविध प्राणी को और सिंह को और सिंह से संबद्ध अंगों (गुणों) को खिलाना पिलाना और पुष्ट करना किन्तु मनुष्य को भूखा रख कर इतना दुर्बल कर देना (कि वह अन्य दोनों प्राणियों की इच्छानुसार जिधर चाहे उधर खींचा जा सके) तो हितकर है, (परन्तु) और अन्य दोनों जीवों को परस्पर परिचित और समन्वित कर देना हितकर नहीं है. बल्कि उनको तो उसे परस्पर काटने, लड़ने और निगल जाने देना है ।"

उसने कहा, "अन्याय का अनुमोदक बिलकुल यही बात कहता पाया जायेगा ।"

"इसके विपरीत, जो व्यक्ति यह कहता है कि न्याय अधिक लाभदायक है वह इस पक्ष का समर्थन करता है कि हमारे सारे काम और वचन अन्तः-करण में स्थित मनुष्य (मानव) को समग्र मनुष्य पर पूर्ण अधिकार देने और बहुशिरा पशु को अपनी वश्यता में ग्रहण करने (कराने) के लिये प्रवृत होने चाहिये, तथा वह उस कृषक के समान, जो कि अन्न के पौदों को पोषण करता तथा सम्हालता है और जंगली पोदों की बाढ़ को रोकता है, सिंह के स्वभाव को अपना सखा बना लेगा एवं सब पशुओं की एक सी देखभाल करते हुए उनको प्रथम तो परस्पर और अपने प्रति मैत्रीपूर्ण बना-येगा और फिर इस प्रकार सब की वृद्धि का पोषण करेगा ।"

"न्याय के समर्थक के कहने का बिलकुल यही तात्पर्य है ।"

"अतएव सब दृष्टिकोणों से न्याय की प्रशंसा करने वाला सत्य कहता है तथा अन्याय की प्रशंसा करने वाला झूठ बोलता है। क्योंकि चाहे हम सुख, ख्याति अथवा लाभ किसी को भी देखें, जो न्याय का अनुमोदन करता है सच करता है, जब कि उस व्यक्ति में जो कि उसकी निंदा करता है, न तो गंभीरता होती है और न निंदा के विषय (न्याय) का यथार्थ ज्ञान।"

उसने कहा, "नही मैं समझता हूँ, बिलकुल नहीं।"

"तो क्या हम उससे इस प्रकार प्रश्न करके उसको विनयपूर्वक मनाने का प्रयत्न करेंगे (क्योंकि जान बूझ कर स्वेच्छा से वह गलती नहीं कर रहा है), प्रिय मित्र क्या हम ऐसा नहीं कह सकते कि जो वस्तुएँ उदार (या उत्तम) एवं अनुदार (अथवा अनुत्तम) समझी जाती है—वह कुछ निम्नलिखित कारण के समान कारण से ऐसी (उत्तम इत्यादि) समझी जाती है—सुन्दर और आदरणीय वस्तुएँ वह हैं जो हमारे स्वाभाविक पाशविक अंश को मानवीय अंश के अथवा दिव्य अंश के आधीन कर देती हैं, इसके विपरीत बुरी और नीच वस्तुएँ वे हैं जो कि विनम्र मानवीय अंश को पाशवीय अंश को आधीन कर देती हैं? क्या वह हमारे साथ सहमत होगा? अथवा उसका क्या और कैसा उत्तर होगा?"

उसने उत्तर दिया, "यदि मेरी सलाह मानेगा तो अवश्य सहमत होगा।"

मैंने कहा, "इस विचार पर दृष्टि रखते हुए क्या कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो यह समझे कि अन्यायपूर्वक स्वर्ण (धन) स्वीकार करने से उसका भला होगा, यदि इस प्रकार (धन ग्रहण करने का) परिणाम यह हो कि उसको अपने उत्तम अंश को निकृष्ट अंश के आधीन करना पड़े? अथवा क्या यह कल्पना किया जा सकता है कि जब कि यदि स्वर्ण ग्रहण करने से उसको अपने पुत्र अथवा पुत्री को गुलामी में—और वह भी क्रूर और दुष्ट

मनुष्य की गुलामी में देना पड़े तो उसको कोई लाभ नहीं होगा, चाहे धन की राशि कितनी ही अधिक क्यों न हो, तथापि जब कि (धन ग्रहण करने का) परिणाम उसके दिव्यतम अंश का नितांत घृणास्पद एवं अदिव्य अंश के निर्दयतया अधीन होना है तब उसको दयनीय न माना जाय और यह न समझा जाय कि उसका यह स्वर्णोत्कोच लेना ऐरीफिली के पति के प्राणों के मूल्य के रूप में माला-ग्रहण करने की अपेक्षा अधिक विनाशक परिणाम के लिये है।"

ग्लैकोन ने कहा, "उसके बदले में मैं आपको उत्तर दे सकता हूँ कि (ऐसा करना) कहीं अधिक घातक होगा।"

१६

"और क्या तुम यह नहीं समझते कि असंयतता के विरुद्ध जो अत्यंत प्राचीन काल से आपत्ति चली आ रही है वह भी इसी प्रकार से इस कारण से है कि असंयतता उस भयानक एवं विविधाकार विशाल पशु को आवश्यकता से अधिक स्वच्छंदता प्रदान कर देती है?"

उसने कहा, "स्पष्ट बात है।"

"तथा, क्या उस समय हठीलेपन और रोषणता की निंदा नहीं की जाती जब कि हमारे (मनुष्य के) स्वभाव में सिंह और सर्प का अंश समानुपात से कहीं अधिक पुष्ट और प्रबल हो उठता है?"

"सर्वथा यही बात है।"

"और क्या हम सुखोपभोग और स्त्रैणता की निंदा इसीलिये नहीं करते हैं कि वे इसी उपर्युक्त अंश को शिथिल और अशक्त करके उसमें कायरता और डरपोकपन उत्पन्न कर देते हैं?"

"क्यों नहीं।"

"एवं क्या चाटुकारिता तथा अनुदारता (तुच्छता) को इसीलिये दोष नहीं दिया जाता है कि वे इस शौर्यपूर्ण (दर्पपूर्ण) अंश को बहुरुपिये पशु के अधीन करके धन प्राप्ति और अदम्य पाशविक इन्द्रिय-लोलुपता के लिये युवावस्था से लेकर सब प्रकार के तिरस्कार सहने और सिंह के स्थान पर उसको बन्दर बन जाने का अभ्यासी बना देती है ?"

उसने कहा, "पूर्णतया ऐसा ही है ।"

"और क्या तुम ख्याल करते हो कि शिल्पकारी और हस्तकौशल को निंदास्पद क्यों समझा जाता है ? क्या हमको यह नहीं कहना चाहिये कि ऐसा केवल तभी होता है जब कि मनुष्य स्वभाव का श्रेष्ठ अंश स्वभाव से दुर्बल होता है और मनुष्य के भीतर रहने वाले पशुदल को अपने वश में नहीं रख सकता केवल उसकी सेवा कर सकता है तथा उसकी चापलूसी के उपायों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सीख सकता ?"

उसने कहा, "मालूम तो कुछ ऐसा ही पड़ता है ।"

अतएव इसलिये कि ऐसे व्यक्ति को श्रेष्ठ मनुष्य के सदृश शासन प्राप्त हो सके, क्या हमारा यह कहना उचित नहीं है कि वह उस सर्वोत्तम व्यक्ति का दास बने जिसके अन्तःकरण में दिव्य शासक तत्व का निवास है, और ऐसा इस कारण नहीं होना चाहिए कि हमारी यह कल्पना है (जैसी थ्रासीमाखस की थी) कि दास पर शासन उसको हानि पहुँचाने के लिये हो बल्कि इस कारण होना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति केलिये यह अधिक अच्छी बात है कि वह यथाशक्य अपने अन्तःकरण में रहनेवाली दिव्यता और बुद्धिमत्ता द्वारा शासित हो, परन्तु इसकी अनुपस्थिति में बाहर से आरोपित (दिव्यता और बुद्धिमत्ता) द्वारा शासित हो जिससे हम सब यथासंभव एक शासन और एक पथप्रदर्शन के कारण एक समान (सजातीय) और मैत्रीमय हो सके ?"

उसने कहा, "हाँ, और ऐसा ही होना ठीक भी है।"

मैंने कहा, "और स्पष्ट है कि नियम का (जो कि राष्ट्र के सभी वर्गों का सहायक है) उद्देश्य यही है, तथा बच्चों पर नियन्त्रण रखने, जब तक उनमें व्यवस्थित शासन पद्धति स्थापित न हो जाये एवं जब तक हम उनके अन्तःकरण के श्रेष्ठ अंश को अपने भीतर के श्रेष्ठ अंश की सहायता से पुष्ट करके बच्चे में भी योग्य स्थान पर ऐसा ही संरक्षक और शासक स्थापित न कर दें तब तक उनको स्वतंत्र न छोड़ने का भी लक्ष्य यही है, इसके उपरान्त ,न कि पूर्व, हम उनको स्वतन्त्र छोड़ दे सकते हैं।"

उसने कहा, "हाँ यह स्पष्ट है।"

"ग्लौकॉन, तो फिर किस प्रकार और किस युक्ति (अथवा सिद्धांत) के अनुसार हम यह कहें कि किसी व्यक्ति के लिये अस्थायी और असंयमी होना अथवा ऐसे लज्जाजनक काम करना जिससे वह अधिक बुरा बने, लाभदायक होगा फिर चाहे ऐसा होने या करने से उसको अधिक धन और शक्ति की उपलब्धि भले हो ?"

उसने कहा, "किसी प्रकार नहीं।"

"और यह हम कैसे कह सकते हैं कि अन्याय करके लोगों की दृष्टि से बच जाना अथवा दण्ड पाने से मुक्त रहना उसके लिये हितकर (लाभदायक) है ? अथवा क्या यह सत्य नहीं है कि जो व्यक्ति (अन्याय करके) लक्षित होने से बच जाता है वह और अधिक बुरा हो जाता है; उसके विपरीत उस व्यक्ति में (जिसके अन्याय का) पता लग जाता है तथा जो दण्डित हो जाता है, पाशविक अंश शान्त और विनीत हो जाता है तथा विनम्र अंश मुक्त हो जाता है, और वह समग्र आत्मा, अपने श्रेष्ठ स्वरूप में अवस्थित होकर, बुद्धिमत्ता (प्रज्ञा) के साथ साथ संयम और न्याय की उपलब्धि से उस अवस्था से कहीं अधिक मूल्यवान् अवस्था को प्राप्त कर लेती है जो कि शरीर को स्वास्थ्य के साथ शक्ति और सौंदर्य की उपलब्धि से प्राप्त होती है और इस

आधिक्य का समानुपात ठीक उतना है जितनी कि आत्मा शरीर की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है ?"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है ।"

"अतएव, बुद्धिमान व्यक्ति आजीवन अपनी समग्र चेष्टाओं को इसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करेगा, और सबसे प्रथम वह उन अध्ययनों (विद्याओं) का सम्मान करेगा जो कि उसकी आत्मा को यह गुण प्रदान करेंगे, एवं इनसे भिन्न की उपेक्षा करेगा ।"

उसने कहा, "स्पष्ट है ।"

मैंने कहा, "और तदुपरान्त वह न केवल अपने शरीर की प्रकृति और पोषण को पाशविक एवं अविवेकपूर्ण सुख को सौंपकर (के ऊपर छोड़कर) तदभिमुख होकर नहीं रहेगा, प्रत्युत वह स्वास्थ्य को भी अपना मुख्य लक्ष्य नहीं बनायेगा, और यदि सबल, स्वस्थ और सुन्दर बनने के उपाय भी संभवतया आत्मसंयम की प्राप्ति नहीं करायेंगे तो वह इनको भी प्रथम स्थान नहीं देगा, बल्कि वह आत्मा की सुसंगीति (सिम्फौनिया) के निमित्त ही शारीरिक समवस्थान (हार्मोनिया) की साधना करता हुआ पाया जायेगा ।"

उसने कहा, "यदि उसको सच्चा संगीतविद् बनना है तब तो सर्वथा ऐसा ही होगा ।"

मैंने पूछा, "तब तो क्या वह धन-संपत्ति की उपलब्धि में जो एकतालता और संगीति होनी चाहिए उसका अनुसरण नहीं करेगा ? तथा न जनसमूह की बधाइयों से चौंधिया कर वह अपने धन की राशि को अपरिमितरूपेण बढ़ाता जायेगा जिससे कि उसको अनगिनती बुराइयों में फँसना पड़े ।"

उसने उत्तर दिया, "नहीं मेरे विचार में वह ऐसा नहीं करेगा ।"

मैंने कहा, "वह इसकी अपेक्षा अपनी दृष्टि को अपनी आत्मा की व्यवस्था पर जमाये रक्खेगा तथा इस बात की चिंता करते हुए और देख रेख

करते हुए कि धन की अधिकता अथवा कमी से आत्मव्यवस्था में वह कुछ गड़बड़ी न कर बैठे वह अपने जीवनक्रम को इसी सिद्धांत पर चलायेगा और जहाँ तक संभव होगा अपने धन में इसी सिद्धांत के अनुसार घटी बढ़ी करेगा।"

उसने कहा, "बिल्कुल ठीक ।"

"सम्मान और पदाधिकार के संबंध में भी वह इसी प्रकार की दृष्टि रक्खेगा । जो (सम्मान और पद) उसकी समझ में उसको पूर्वापेक्षा अधिक अच्छा मनुष्य बनाएगे वह उनको सहर्ष स्वीकार करेगा और उनको भोगेगा, किंतु व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में उन (पदों) से बचेगा जो उसकी आत्मा की सुस्थिर व्यवस्था को विनष्ट करने वाले होंगे ।"

उसने कहा, "यदि उसकी मुख्य चिंता का विषय यह है तब तो वह राजनीतिज्ञ का कार्य करने के लिये स्वेच्छा से सहमत नहीं होगा ।"

मैंने कहा, "श्वानदेव के नाम पर मैं कह सकता हूँ कि अपने नगर में तो वह अवश्यमेव करेगा, यद्यपि ,बिना किसी दैवी घटना के, स्यात् वह अपनी पितृभूमि में ऐसा नहीं करेगा ।

उसने कहा, "मैं समझ गया। तुम्हारा तात्पर्य उस नगर से है जिसको हमने स्थापित किया है, तथा जो विवेकयुक्ति के प्रदेश में स्थित है, क्योंकि मेरे ख़्याल में पृथ्वी पर तो ऐसा नगर कहीं भी नहीं है ।"

मैंने कहा, "परन्तु मेरे ख्याल में उस व्यक्ति के लिये जो इस (नगर) का मनन-चिन्तन करना चाहे और चिंतन करके तदनुसार अपने जीवन को नियमित करना चाहे ,इसका एक नमूना स्वर्ग (अथवा वरुणलोक) में स्थित है। परन्तु, इस समय इसकी सत्ता है, अथवा कभी होगी इन बातों से इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। केवल ऐसे ही नगर की नीति उसकी नीति होगी और किसी अन्य नगर की नहीं ।"

उसने कहा, "ऐसा होना संभव है ।"

दसवीं पुस्तक

१

मैंने कहा, "सचमुच ही इस विषय के अन्य बहुत से विचार मुझे दृढ़ विश्वास दिलाते हैं कि हमारा नगर की व्यवस्था करना सर्वथा बहुत ही ठीक था पर विचार करने पर इनमें से कविता संबंधी हमारी व्यवस्था विशेष रूप से मुझे अच्छी लगती है।"

उसने पूछा, "कौन सी ?"

"यही कि कविता के उतने अंश को जितना कि अनुकरणात्मक है नगर में प्रविष्ट होने देने का निषेध कर देना, क्योंकि यह बात कि इसको निश्चयमेव नगर में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये अब हमारे आत्मा के पृथक् पृथक् अंशों का विश्लेषण कर लेने पर और भी अधिक स्पष्टता से प्रत्यक्ष हो गयी है।

आपके कथन का क्या तात्पर्य है ?"

"तुम तो अपने ही ठहरे—तुम कहीं मेरी बात त्रागेदी (दुःखांत नाटक) लखकों एवं अन्य सब अनुकरणात्मक कवियों के समक्ष थोड़े ही प्रकट करोगे—अतएव तुम्हारा विश्वास करते हुए मेरा कहना है कि इस प्रकार की कला उन सब श्रोताओं के मन को विकृत करनेवाली प्रतीत होती है जिनके पास इसके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के रूप में इसका प्रतिविष नहीं होता।"

उसने पूछा, "आप क्या विचारते हुए ऐसा कह रहे हैं ?"

मने कहा, "मैं अपने मन की बात तो अवश्य कहूँगा ही, यद्यपि बाल्य-काल से ही होमेर के प्रति जिस प्रेम और श्रद्धा से मैं आविष्ट रहा हूँ वह मुझ को बोलन से रोकते हैं। क्योंकि वास्तव में वही इन सब सुन्दर त्रागेदी

रचयिताओं में कविकुलगुरू और नेता हुआ प्रतीत होता है। तथापि इतना सब कुछ होते हुए भी हमको सत्य से अधिक किसी व्यक्ति का सम्मान नहीं करना चाहिए बल्कि जैसा कि मैंने कहा है सत्य बात को प्रकट करना चाहिए।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही होना चाहिये।"

"तो सुनो, अथवा मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।"

उसने कहा, "पूछिये।"

"क्या तुम मुझको यह बतला सकते हो कि अनुकरण का सामान्य रूप क्या है? [illegible] भली भाँति नहीं जानता।"

उसने कहा, "तभी तो यह योग्य या संभव सी बात प्रतीत होती है कि मैं उसको समझता होऊँगा।"

मैंने कहा, "यह तनिक भी अनोखी बात नहीं होगी, क्योंकि बहुधा ऐसा होता है कि धुँधली दृष्टि तीक्ष्ण दृष्टि की अपेक्षा वस्तुओं को अधिक जल्दी देख लेती है।"

उसने कहा, "है तो ऐसा ही, परन्तु तुम्हारी उपस्थिति में तो यदि कुछ बात मुझे सूझ भी पड़े तो उसको कहने की हिम्मत नहीं होती; अत-एव आपही इसको देखें।"

"तो क्या तुम यह चाहते हो कि अब यहाँ से हम अपना अन्वेषण अपने प्रचलित ढंग पर आरंभ करें? मैं ख्याल करता हूँ कि हमारा यह स्वभाव है कि उन बहुसंख्यक पृथक् पृथक् वस्तुओं में, जिनको कि हम एक ही नाम देते हैं हम एक आकृति (जाति-ऐइदॉस्)की सत्ता मानते हैं। क्या तुम वह नहीं समझते।"

"समझता हूँ।"

"इस प्रस्तुत प्रसंग में हम किसी भी बहुसंख्यक पदार्थ वर्ग को, जो तुमको

अच्छा लगे, लेलें; उदाहरणार्थ (दुनिया में) बहुत सी चारपाइयाँ और मेजें हैं।"

"क्यों नहीं।"

"परन्तु, इन पदार्थों की आकृतियाँ (जातियाँ ideas) केवल दो ही हैं, एक चारपाई की और एक मेज की।"

"हाँ।"

"और क्या हम ऐसा कहने के अभ्यासी नहीं हैं कि वह शिल्पकार जो इन दोनों उपकरणों में से किसी को बनाता है, अपनी दृष्टि को इदिया, आकृति (अथवा जाति) पर लगाये रखता है और तब उन चारपाइयों अथवा मेजों को बनाता है जिनका हम उपयोग करते हैं और यही बात अन्य सभी वस्तुओं के विषय में भी होती है? क्योंकि अवश्य ही कोई भी शिल्पकार आकृति (जाति) का निर्माण नहीं करता। उसको बना ही कैसे सकता है?"

"कदापि नहीं।"

"पर अब विचार करके बतलाओ कि इस शिल्पकार को तुम क्या नाम दोगे?"

"किसको?"

"उस शिल्पकार को जोकि उन समग्र वस्तुओं का निर्माण करता है जिनको अन्य सब शिल्पकार पृथक् पृथक् बनाते हैं।"

"यह तो तुम सचमुच बड़े ही निपुण और अद्भुत मनुष्य की बात कह रहे हो।"

"अभी नहीं, जरा ठहरो, शीघ्र ही तुम बहुत कुछ ऐसा कहोगे। क्योंकि यही उपर्युक्त शिल्पकार न केवल सब कृत्रिम उपकरणों को बनाने की क्षमता रखता है बल्कि वह सब पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले उद्भिज्ज पादपों और जीवधारियों को अपने समेत बनाता है और उनके साथ ही

साथ पृथ्वी और आकाश (ouranes वरुण, अर्णव) और देवताओं तथा आकाश और धरती के नीचे हेडीस् की सब वस्तुओं को भी ।''

उसने कहा, ''यह तो तुम परमाश्चर्यजनक बुद्धिमान का वर्णन कर रहे हो ।''

मैंने पूछा, ''तो क्या तुम्हें विश्वास नहीं होता ? अच्छा तो मुझे यह बतलाओ कि क्या तुम ऐसे शिल्पकार की सत्ता की संभावना को बिलकुल ही स्वीकार नहीं करते, अथवा तुम यह मानते हो कि एक अर्थ में तो इन सब वस्तुओं का बनानेवाला शिल्पकार संभव है और दूसरे अर्थ में संभव नहीं है ? अथवा क्या तुमको यह नहीं सूझ पड़ता कि एक प्रकार से तुम स्वयं इन सब वस्तुओं को बनाने में समर्थ हो सकोगे ?''

उसने कहा, ''और यह प्रकार क्या है ?''

मैंने उत्तर दिया, ''यह कोई कठिन कार्य नहीं है, प्रत्युत इस कार्य को कई प्रकार से बड़ी शीघ्रता से संपादित किया जा सकता है । यदि तुम एक दर्पण लेकर उसको सब दिशाओं में घुमाना पसन्द करो तो यह ऐसा करने का शीघ्रतम उपाय होगा । तुम बड़ी शीघ्रता से सूर्य को और आकाश में स्थित अन्य सब वस्तुओं को बना दोगे, बड़ी शीघ्रता पूर्वक पृथ्वी को बना दोगे, बड़ी जल्दी से अपने आपको, अन्य सब प्राणियों को, कृत्रिम उपकरणों को तथा पादपों और उन सब पदार्थों को बना लोगे जिसका हमने अभी उल्लेख किया था ।''

उसने कहा, ''हाँ, केवल आभासमात्र न कि ठीक ठीक वास्तविक सच्ची वस्तुएँ ।''

मैंने कहा, ''बड़ी सुन्दर बात है, तथा तुम्हारा यह कथन हमारे संवाद में इस समय बड़ा ही अवसरानुकूल है । क्योंकि मेरी समझ में चित्रकार भी ऐसे ही शिल्पियों के वर्ग में समाविष्ट है; क्यों है या नहीं ?''

''क्यों नहीं ।''

"परन्तु मैं ख्याल करता हूँ कि तुम कहोगे कि उसकी यह रचनाएँ सच्ची या वास्तविक नहीं हैं। तथापि फिर एक प्रकार से तो चित्रकार भी एक शय्या बनाता ही है न ?"

उसने कहा, "हाँ, चित्रकार भी (एक शय्या) का आभास मात्र बनाता है।"

"पर चारपाई बनानेवाले के विषय में क्या कहोगे। क्या तुमने अभी अभी यह नहीं कहा था कि वह भी आकृति (जाति) को नहीं बनाता जिसको हम वास्तविक चारपाई कहते हैं जो स्वयमेव चारपाई है (चारपाई की आत्मा है) बल्कि एक विशिष्ट चारपाई बनाता है ?"

"हाँ कहा तो था।"

"अतएव यदि वह उसको नहीं बनाता जो सत् है, तो उसको वास्तविक सत् पदार्थ बनाने वाला नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत ऐसी वस्तु बनाता हुआ (बनाने वाला) कहा जा सकता है जो सत् तुल्य या सत्प्राय है पर सत् नहीं है। पर यदि कोई यह कहे कि चारपाई बनानेवाले का कार्य अथवा अन्य किसी शिल्पकार का कार्य पूर्णतया (या पूर्ण अर्थ में) सत् है तो ऐसा लगता है कि वह सत्य कथन नहीं कर रहा है।"

उसने कहा, "हाँ, जो (लोग) इस प्रकार के विवेचन में निपुण और अभ्यस्त हैं उनकी राय में वह सत्य नहीं कहता प्रतीत होगा।"

"तब तो यदि यह भी सत्य की तुलना में केवल धुँधली छाया सी प्रतीत हो, तब भी हमको कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिये।"

"नहीं, कदापि नहीं।"

मैंने कहा, "क्या तुम चाहते हो कि हम अनुकरणकर्त्ता के सच्चे स्वरूप के अनुसंधान में इन उपर्युक्त उदाहरणों का उपयोग करें ?"

उसने उत्तर दिया, "यदि आप चाहें (तो कर सकते हैं)।"

"अतएव, यह तीन प्रकार की चारपाइयाँ होती हैं जिनमें से एक का अस्तित्व प्रकृति (physis) (सं० भूति) में है तथा मेरे ख्याल में इसको ईश्वर ने बनाया है हम ऐसा कह सकते हैं। और यदि ईश्वर ने नहीं बनाया है तो और किसने बनाया है ?"

"मैं समझता हूँ कि अन्य किसी ने नहीं।"

"और फिर एक चारपाई वह जिसको बढ़ई ने बनाया है।"

उसने कहा, "हाँ।"

"और एक वह जिसको चित्रकार ने बनाया है। क्या ऐसा नहीं है?"

"ऐसा ही सही।"

"तो चित्रकार, बढ़ई और देव (Theos ईश्वर) यह तीन, तीन प्रकार की चारपाइयों के अध्यक्ष (epistates) हैं।"

"हाँ, तीन।"

"और ईश्वर ने, चाहे तो इस कारण से कि उसकी इच्छा ही ऐसी थी, अथवा इस कारण से कि उसको प्रकृति में एक से अधिक चारपाई न बनाने की विवशता थी, केवल एक ही चारपाई बनाई, वह चारपाई जो कि वास्तव में और स्वरूपतः चारपाई है। पर दो अथवा उससे अधिक ऐसी चारपाइयाँ ईश्वर द्वारा रचित नहीं हो सकतीं और न कभी होंगी।"

उसने पूछा, "ऐसा क्यों होगा ?"

मैंने कहा, "क्योंकि यदि उसने केवल दो भी बनाई होतीं तो भी एक और चारपाई ऐसी प्रतीत होती जिसकी जाति अथवा आकृति उन दोनों में प्राप्त होती, और यही चारपाई वास्तव में स्वरूपतः असली चारपाई होती न कि अन्य दो।"

उसने कहा, "ठीक है।"

"अतएव मेरी समझ में ईश्वर ने यह जानते हुए तथा वास्तविक चारपाई का निर्माता होने की (न कि किसी एक विशिष्ट चारपाई के एक

विशिष्ट निर्माता होने की) इच्छा करते हुए उसी को बनाया जो कि समग्र प्रकृति में अपने ढंग की एक ही है।"

"लगता तो ऐसा ही है।"

"तो क्या तुम यह चाहते हो कि हम उसको (ईश्वर को) इसका अथवा इसी प्रकार की किसी (अन्य) वस्तुका सच्चा और स्वाभाविक उत्पादक (जनक) कहें ?"

उसने उत्तर दिया, "हाँ, यह तो निश्चय ही उचित होगा, क्योंकि उसने इस और अन्य सब वस्तुओं को स्वाभाविकतया और स्वरूपतया निर्माण किया है।"

"फिर बढ़ई के विषय में क्या रहा ? क्या हम उसको चारपाई का निर्माता नहीं कहेंगे ?"

"हाँ !"

"क्या हम यह भी कह सकेंगे कि चित्रकार भी ऐसी वस्तु का उत्पादक और निर्माता है ?"

"कदापि नहीं।"

"परन्तु चारपाई के संबंध तुम्हारे कथनानुसार वह क्या ठहरेगा ?"

उसने उत्तर दिया, "मुझको तो उसके लिये सबसे उचित नाम यह प्रतीत होता है कि वह उस वस्तु का अनुकरण करने वाला है जिसको अन्य (दो) बनाते हैं।"

मैंने कहा "अस्तु, प्रकृत वस्तु की तीसरी नकल को बनाने वाले को तुम अनुकरण करने वाला कहते हो ?"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

"यदि त्रागेदीकार भी अनुकरण करने वाला है और राजा, तथा सत्य से तीसरे स्थान पर स्थित है, जैसे कि अन्य सब अनुकरण

करते वाले होते हैं तो यही (उपर्युक्त) तथ्य त्रागेदीकार के विषय मेंभी लागू होगा ।

"ऐसा ही प्रतीत होता है ।"

"तो हम अनुकरण करने वाले के विषय में एक मत हैं । पर चित्रकार के विषय में तुम मुझे इस (प्रश्न) का उत्तर दो । क्या तुम्हारे ख्याल में प्रत्येक अवसर पर वह जिस वस्तु का अनुकरण करने का प्रयत्न करता है वह स्वरूपतः वास्तविक वस्तु होती है अथवा शिल्पकार द्वारा निर्मित वस्तु ?"

उसने उत्तर दिया, "शिल्पकार द्वारा निर्मित वस्तुएँ ।"

"जैसी वे (वास्तव में) है अथवा जैसी वे प्रतीत होती हैं ? इसका अभी और स्पष्टीकरण (विश्लेषण या विभाजन) करना है ।"

उसने पूछा, "आपके कथन का क्या अर्थ है ?"

"यह कि, यदि तुम चारपाई को पार्श्वतः ,या सामने से या अन्य किसी प्रकार से देखो तो क्या वह कुछ अपने से (स्वरूपतः) भिन्न हो जाती है ? अथवा, यद्यपि वह भिन्न सी प्रतीत तो होती है पर वास्तव में किंचिन्मात्र भी विभिन्न नहीं हो जाती, और यही बात अन्य वस्तुओं के विषय में भी लागू होती है ?"

उसने उत्तर दिया, "यही ठीक है, वह वास्तव में भिन्न सी प्रतीत भर होती है पर वास्तव में किंचिन्मात्र भी भिन्न हो नहीं जाती ।"

"अब इसी बात का विचार करो । प्रत्येक प्रसंग (अथवा अवसर) में चित्रणकला दोनों में से किस की ओर प्रवृत्त होती है ?क्या यथार्थ वास्तविकता के अनुकरण की ओर अथवा यथाभासित प्रतीति के अनुसरण की ओर? अर्थात् क्या यह आभास का अनुकरण है अथवा सारसत्ता (सत्य) का?"

उसने कहा, "आभास का ।"

"तब तो अनुकरणात्मक कला सत्य से बहुत दूर रहती है, और प्रतीत होता है कि इसी कारण सब वस्तुओं का निर्माण कर सकती है, क्योंकि

यह किसी भी पदार्थ के बहुत छोटे से अंश को और वह भी उसके आभास (विम्ब) मात्र को स्पर्श अथवा ग्रहण करती है। जैसे, उदाहरण के लिये चित्रकार हमारे लिये मोची का, बढ़ई का और अन्य शिल्पियों का चित्र अंकित कर देगा, यद्यपि वह इनके व्यवसाय (शिल्प) के विषय में स्वयं कुछ भी नहीं जानता। किंतु फिर भी यदि वह चतुर चितेरा हुआ तो, अपने बनाए हुए बढ़ई के चित्र को कुछ दूरी पर से दिखलाकर बच्चों और जड़ बुद्धि वाले पुरुषों को धोखे में डालकर उनको यह विश्वास दिला सकेगा कि यह (उसके चित्र का बढ़ई) सचमुच का बढ़ई है।"

"क्यों नहीं ?"

"परन्तु, मित्र यह सब होते हुए भी, मेरी समझ में ऐसे सब प्रसंगों में हमको अपने मन में यह ध्यान बनाये रखना चाहिये ,कि जब कोई आदमी हमसे किसी व्यक्ति के विषय में यह सूचना दे कि उसने एक ऐसे मनुष्य से भेंट की है जो सारे शिल्प को और अन्य उन सब बातों को जानता है जिसको अन्य लोग अलग अलग जानते हैं, तथा कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसको वह अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ठीक और सूक्षमता के साथ न जानता हो, तो ऐसे व्यक्ति के प्रति हमारा यही उत्तर होना चाहिए कि वह (भेंट करनेवाला व्यक्ति) सीधा सरल स्वभाव (बुद्धू) व्यक्ति है जिसने किसी ऐन्द्रजालिक से अथवा हस्तलाघव संपन्न एवं अनुकरण शिल्पी से भेंट की है तथा उससे प्रतारित होकर उसने यह विश्वास कर लिया है कि वह सर्व-बुद्धि-संपन्न है। यह सब इस कारण हुआ है क्योंकि उसमें ज्ञान अज्ञान एवं अनुकरण को प्रमाणित करने (जाँचने) और पृथक् करने की योग्यता नहीं है।"

उसने कहा, "यह नितान्त सत्य बात है।"

३

मैंने कहा, "तो क्या इसके अनन्तर अब हमको त्रागेदी और

उसके अग्रणी होमेर की मीमांसा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कुछ लोगों से हमने सुना है कि यह त्रागेदीकार सब कलाओं को तथा सद्‌गुण एवं दुर्गुण संबंधी सब मानव तथ्यों को तथा देवताओं संबंधी सब तथ्यों को जानते हैं ? क्योंकि इन लोगों का कहना यह है कि यदि कोई अच्छा कवि सुष्ठु काव्य रचना करना चाहे तो उसको ज्ञानपूर्वक ही रचना करनी चाहिये (होगी) अन्यथा वह रचना करने में समर्थ ही नहीं होगा । इसलिये हमको यह देखना होगा कि कहीं इन लोगों की भेंट ऐसे ही अनुकरण करने वाले कवियों से तो नहीं हुई है और कहीं ये उनके द्वारा प्रतारित तो नहीं हो गये हैं, कि जिससे उनकी कृतियों को देखकर वे यह नहीं जान सके कि यह वास्तविकता से तृतीय स्थान पर स्थित है और सत्य के ज्ञान के बिना ही सरलता से बनाई जा सकती हैं। क्योंकि वे आभासमात्र हैं वास्तविकता नहीं हैं । अथवा उनके कथन में कुछ सार है और अच्छे कवि वास्तव में उन वस्तुओं के विषय में ज्ञान संपन्न होते हैं जिनके विषय में वह जनसमूह की सम्मति इतने सुन्दर ढंग से कथन करते हैं ?"

उसने कहा, "इसके विषय में सर्वथा अवश्यमेव विचार किया जाना चाहिये ।"

"अच्छा तो क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि यदि कोई व्यक्ति मूलवस्तु और उसकी प्रतिमूर्ति दोनों बनाने की योग्यता रखता हो तो वह जानबूझ कर गंभीरतापूर्वक अपने को प्रतिमूर्ति बनाने में संलग्न रक्खेगा और इस कार्य को ही अपने जीवन में यह समझते हुए सबसे आगे स्थान देगा कि यही उसकी सर्वश्रेष्ठ (संपत्ति) वस्तु है ?"[१]

---

[१] "न धनं न जनं सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कांमये"

चैतन्य महाप्रभु

He who can, does, he who cannot writes.

—George Bernard Shaw.

"मैं तो ऐसा नहीं समझता ।"

"इसके विपरीत मैं तो यह मानता हूँ कि यदि उसको अपने द्वारा अनुकृत वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता तो वह उनका अनुकरण करने की अपेक्षा अपने को वास्तविक वस्तुएँ बनाने में कहीं अधिक संलग्न रखता और अपने (जीवन के) उपरान्त अपने स्मारक के रूप में अनेकों सुन्दर (वास्तविक) कृतियाँ छोड़ जाने की चेष्टा करता और स्तोता होने की अपेक्षा स्तुत होने के लिये अधिक उत्कंठित रहता ।"

उसने कहा, "हाँ, मैं भी यही समझता हूँ, क्योंकि दोनों स्थितियों में सम्मान तथा लाभ कुछ भी समान नहीं है ।"

"तो हौमेर अथवा अन्य किसी कवि से हम अन्य विषयों की जानकारी के बारे में माँग उपस्थित करते हुए यह न पूछें कि केवल वैद्यों के वार्तालाप के अनुकरण करने के अतिरिक्त उन (कवियों) में कोई वैद्य भी है, अथवा किसी नये या पुराने कवि ने अस्कलेपियस के समान किन्हीं रोगियों को रोगमुक्त किया है, या अपने उपरान्त ऐसी कोई वैद्यों की शिष्य परम्परा छोड़ी है जैसी कि अस्कलेपियस् छोड़ गया है और अन्य शिल्पकलाओं के विषय में भी उनसे प्रश्न न करें, प्रत्युत उन (अन्य कलाओं) को विवेचन से निकाल दें । परन्तु उन सबसे महान् और सर्वाधिक सुन्दर विषयों पर जो कि होमेर के प्रकृत विषय हैं, यथा युद्ध, युद्धयोजना (अभियान योजना) नगरों का शासन, मनुष्यों की शिक्षा, उससे प्रश्न करते हुए यह पूछना निश्चयमेव उचित है "मित्र हौमेर, यदि तुम केवल उन आभास मात्रों के रचयिता होने से (जिन्हें कि हमने अनुकरण करनेवाले कहकर लक्षित किया है) मानव श्रेष्ठता में वास्तविकता से तृतीय स्थान पर हटे हुए नहीं हो, प्रत्युत यदि तुम दूसरे स्थान ही पर हटे हुए हो और यह जानने में समर्थ हो कि व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक जीवन में मनुष्यों को अधिक अच्छा या बुरा बनाने वाली प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं, तो हमको यह बतलाओ कि

जिस प्रकार लिकरगास के कारण लाकैदाइमान का शासन सुधरा और अन्य बहुत से छोटे बड़े नगरों का शासन अन्य बहुत से (नियमनिर्माताओं) द्वारा सुधरा, इस प्रकार तुम्हारे कारण किस नगर का शासन सुधरा। पर तुम्हारे विषय में, वह कौन सा नगर है जो तुमको अच्छा विधान निर्माता होने का तथा अपने प्रति हित करने का श्रेय प्रदान करता है ? इतालिया और सिकैलिया ऐसा श्रेय खरोनदास को देती है तथा हम (अथीनानिवासी) सालोन को देते हैं । पर तुमको (यह श्रेय) कौन (देता है ?)" क्या वह किसी का नाम बतला सकेगा ?"

ग्लौकोन ने उत्तर दिया, "मेरे विचार में वह कोई भी नाम नहीं बतला सकेगा । और तो और स्वयं हौमेर के पराम्परागत शिष्य भी कोई नाम नहीं बतला सके ।"

"अच्छा तो क्या हौमेर के जीवनकाल की कोई ऐसी स्मृति सुरक्षित है कि कोई युद्ध उसकी अध्यक्षता में (सेनापतित्व में) अथवा उसकी सम्मति द्वारा सुसंचालित हुआ था ?"

"नहीं, कोई नहीं ।"

"अच्छा, तो जैसी कि व्यवहारिक बातों में निपुण व्यक्ति से आशा की जा सकती है, क्या जीवन की कलाओं और व्यापार की सुविधा के लिये हौमेर द्वारा आविष्कृत बहुत से बुद्धिमत्तापूर्ण आविष्कार बतलाए जाते हैं, जैसे कि उदाहरणार्थ मिलीटास निवासी थालीस् और स्किथिया निवासी अनार्कसिस् के विषय में बतलाये जाते हैं ?"

"ऐसी कोई बात नहीं है ।"

"परन्तु, यदि हौमेर ने कोई सार्वजनिक सेवा नहीं की तो क्या हौमेर के जीवनकाल में उसकी यह ख्याति थी कि वह व्यक्तिगत रूप में कुछ ऐसे व्यक्तियों का शिक्षक रहा था जोकि उसकी गोष्ठी में सुखी रहते थे तथा उसने भावी पीढ़ियों के लिये हौमेरिक जीवन पद्धति की परम्परा प्रचलित

की थी, जिस प्रकार कि ऐसे कार्य के लिये पिथागोरास् सम्मानित हुआ था तथा उसके भावी संप्रदाय के लोगों ने एक विशिष्ट प्रकार की जीवन पद्धति को पिथागोरियन पद्धति नाम दिया था और उससे ही वे आज तक भी अपने समकालीन व्यक्तियों से अलग पहचान लिये जाते हैं ?"

उसने कहा, "नहीं, हौमेर के विषय में इस प्रकार की भी कोई ख्याति नहीं है। क्योंकि, सॉक्रातीस्, यदि हौमेर से संबंध रखनेवाली कथाएँ सच्ची हों तो हौमेरिक संस्कृति और शिक्षा पद्धति के प्रतिनिधि के रूप में उसका मित्र क्रैग्रोफिलस् (गोमांसवंशी) स्यात् अपने नाम की अपेक्षा कहीं अधिक उपहासास्पद सिद्ध होगा। क्योंकि कहा तो यह जाता है कि हौमेर अपने जीवनकाल में इस मित्र द्वारा पूर्णतया उपेक्षित रहा था।"

४

मैंने कहा, "हाँ, सचमुच ऐसा ही कहा जाता है। परन्तु ग्लौकोन क्या तुम ख्याल करते हो कि यदि हौमेर वास्तव में मनुष्यों को शिक्षित बनाकर उनको सुधारने की योग्यता रखता होता, ऐसी बातों में केवल अनुकरण करने की योग्यता से ही नहीं वास्तविक ज्ञान से संपन्न होता तो उसने बहुत से साथी संगी न बना लिये होते तथा उनके द्वारा सम्मान और प्रणय का भाजन न बना होता ? परन्तु क्या हमको यह विश्वास करना चाहिये कि जब कि आबडीरा निवासी प्रोतागोरास एवं केइयस निवासी प्राड़ीकास् तथा अन्य बहुत से व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत शिक्षा द्वारा अपने समकालीन व्यक्तियों पर यह छाप डालने में सफल हो सकते हैं कि जब तक वे (नागरिक) उनको अपनी शिक्षा का अध्यक्ष नियुक्त नहीं करेंगे तब तक वे अपने घरों और नगर का शासन करने के योग्य नहीं होंगे, और इस शिक्षा में निहित बुद्धिमत्ता के द्वारा अपने को इतना प्रिय बना सकते हैं कि उसके साथी उनको अपने शिरों पर चढ़ाये फिरते हैं, तो भी हौमेर के समकालीन साथी

संगी (यदि वह उनको आर्यत्व (arete) की प्राप्ति में सहायता करने योग्य होता) उसको अथवा हीसियाडास को इतस्ततः आल्हा गाते मारे मारे फिरने देते ? क्या वे अपने धन दौलत की भी अपेक्षा कहीं अधिक उनसे आसक्त न हुए होते और क्या उन्होने उन को अपने साथ अपने घरों में ठहरने के लिये बाध्य न कर दिया होता ? अथवा उनको न मना सकने पर क्या वे स्वयं उनके अनुचर बनकर जहाँ कहीं वे जाते तब तक उनके साथ ही घूमा न करते जब तक कि वे पर्याप्त रूपेण उनकी शिक्षा को आत्मसात् न कर लेते ?"

उसने उत्तर दिया, "सॉक्रातीस, मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम जो कुछ कह रहे हो वह सर्वथा सत्य है।"

"अतएव, क्या हम यह निष्कर्ष निर्धारित न करें कि होमेर से आरम्भ कर के सारे के सारे कवि केवल अनुकरण मात्र करने वाले हैं, वे सद्गुणों और अन्य पदार्थों की (जिनकी वे रचना करते हैं) प्रतिकृति मात्र का अनुकरण करते हैं परन्तु कदापि सत्य की उपलब्धि नहीं कर पाते ? किन्तु, जैसा कि हम अभी कह रहे थे, चित्रकार, स्वयं मोची की शिल्पकला के विषय में कुछ भी न जानते हुए, एक ऐसी वस्तु बना कर प्रस्तुत कर देता है जो उसको तथा उसी के समान उन लोगों को भी मोची जैसी प्रतीत होती है जो कि कुछ नहीं जानते और केवल आकार और रंग से ही वस्तुओं का निर्णय करते हैं ?"

"क्यों नहीं ?"

"इसी प्रकार, मैं ख्याल करता हूँ, हम यह भी कहेंगे कि कवि भी स्वयं अनुकरण करने के अतिरिक्त और कुछ न जानते हुए शब्दों और वाक्यांशों द्वारा अनेकों शिल्पों के रंगों को ऐसा (इस ढंग से) भरता है कि अन्य लोग जो कि उसी के समान अज्ञान होते हैं तथा जो शब्दों के द्वारा ही वस्तुओं को देखते हैं, उसके शब्दों को अत्यन्त उत्तम मानते

हैं फिर चाहे वह ताल, छन्द और लय में मोची की कला के विषय में कुछ कहे, चाहे सेनापतित्व के विषय में और चाहे अन्य किसी वस्तु के विषय में। यह अलंकार (संगीतमय आभूषण) जो प्रभाव स्वाभाविकतया उत्पन्न करते हैं वह वास्तव में ऐसा ही महान् है। यद्यपि संगीत की रंगत को उतार देने पर अपने केवल वास्तविक रूप में कवियों के यह (कथानक) कथन क्या रूप दिखलाते हैं उसको मैं समझता हूँ तुम जानते ही हो। क्योंकि मेरा विश्वास है तुमने उसको देखा है।"

उसने कहा, "हाँ मैंने देखा है।"

मैंने पूछा, "क्या वे उन चेहरों के सदृश प्रतीत नहीं होते (जो युवावस्था में सुन्दर तो नहीं खिले हुए थे) पर अब जिनकी खिलावट जाती रही है?"

उसने कहा, "सर्वथा यही बात है।"

"अच्छा तो आओ लो इसका विचार करो। हमारा कहना यह है कि आभास का रचयिता अथवा अनुकरण कर्त्ता वास्तविक सत्ता के विषय में कुछ नहीं जानता केवल आभास के विषय में जानता है। क्या ऐसा नहीं है?"

"हाँ, ऐसा ही है।"

"हमको यह बात अर्द्ध स्फुट ही नहीं छोड़ देनी चाहिए बल्कि इसकी पूरी पूरी परीक्षा करनी चाहिए।"

उसने कहा, "तो कहते चलिए।"

"हम कहते हैं कि चित्रकार रास भी अंकित करता है और लगाम भी?"

"हाँ।"

"पर उनको बनाने वाले होंगे चर्मकार और लोहार?"

"सर्वथा यही बात है।"

"तो क्या चित्रकार यह जानता है कि रासें और लगाम किस प्रकार की होनी चाहिए ? अथवा इस बात को तो उनको बनाने वाले —मोची और लोहार भी नहीं समझते, बल्कि केवल वही सवार समझता है जो कि उनका उपयोग जानता है ?"

"परम सत्य।"

"तो क्या हमको यही नहीं कहना चाहिए कि यह बात सब वस्तुओं के विषय में लागू होती है ?"

"कैसे ?"

"इस प्रकार कि प्रत्येक वस्तु के विषय में कोई तीन कलाएँ होती हैं, उपयोक्ता की कला, निर्माता की कला, और अनुकरण करने वाले की कला।"

"हाँ।"

"अच्छा क्या प्रत्येक उपकरण, प्राणी, और कार्य की श्रेष्ठता, सुन्दरता, और सत्यता केवल उसी उपयोगिता से संबद्ध नहीं होती जिसके लिए वह निर्मित अथवा प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट है ?"

"ऐसा ही है।"

"तब तो यह निष्कर्ष अवश्यमेव पूर्णतया सिद्ध होता है कि किसी वस्तु के विषय में सब से अधिक ज्ञान उस व्यक्ति को होता है जो उसका उपयोग करता है और वही निर्माता को यह बतलाता है कि उपयोग में उसकी बनायी हुई वस्तु में क्या अच्छा और बुरा गुण प्रकट हुआ। उदारहरणार्थ बीन बजाने वाला ही बीन बनाने वाले को सूचित करेगा कि उसकी बनाई कौन सी बीन बजाने वाले के लिए ठीक हैं, तथा बीन किस प्रकार से बननी चाहिए इसका आदेश भी वही करेगा एवं बनाने वाला उसी के आदेश का पालन करेगा।"

"क्यों नहीं ?"

"अतएव एक जो कि जानकार है बीन के अच्छे और बुरे विषय में सूचना देता है और दूसरा (बनाने वाला) उसकी बात का विश्वास कर के उसके आदेशानुसार काम करता है। यही बात है न ?"

"हाँ।"

"तो एक ही उपकरण के विषय में उसके निर्माता को उसकी अच्छाई और बुराई के संबंध सच्चा विश्वास ज्ञानवान् (जानकार) व्यक्ति की संगति से और उसकी सम्मति को सुनने के लिए बाध्य होने से उपलब्ध होता है पर सच्चा ज्ञान तो उपयोग करने वाले को ही प्राप्त होता है।"

"सर्वथा ऐसा ही है।"

"पर क्या अनुकरण करने वाला अनुभव अथवा उपयोग से यह ज्ञान उपलब्ध कर सकेगा कि जिन वस्तुओं को उसने अंकित किया है वे सुन्दर और समुचित हैं या नहीं अथवा क्या वह जानकार व्यक्ति के अनिवार्य संसर्ग से और उनके ठीक बनाने के सम्बन्ध में उसके आदेश से ठीक ठीक सम्मति या विश्वास प्राप्त कर सकेगा ?"

"दोनों (सच्चा ज्ञान और सच्चा विश्वास) में से एक भी नहीं।"

"तब तो अनुकरण करने वाला, अपनी अनुकृतियों की सुन्दरता और कुरूपता के सम्बन्ध न तो जानकार ही होगा और न सच्ची सम्मति अथवा विश्वास रखने वाला।"

"मालूम तो ऐसा ही पड़ता है कि नहीं होगा।"

"तब तो काव्यमय अनुकरण करने वाले की मनोदशा अपनी रचनाओं की बुद्धिमत्ता के सम्बन्ध में बड़ी चित्ताकर्षक मनोदशा होगी।"

"तनिक भी नहीं।"

"तो भी वह अनुकरण करता ही रहेगा, यद्यपि प्रत्येक अवसर पर उसको यह ज्ञात नहीं होगा कि कोई वस्तु किस प्रकार बुरी अथवा भली है। पर जैसा कि प्रतीत है वह जिस वस्तु का अनुकरण करेगा वह ऐसी वस्तु होगी जो कि ज्ञानशून्य जनता को सुन्दर प्रतीत होती है।"

"और नहीं तो क्या ?"

"तब तो इस विषय में हम बहुत कुछ भली प्रकार एकमत हैं कि अनुकरण कर्त्ता जिस वस्तु का अनुकरण करता है उसके विषय में कोई उल्लेख योग्य ज्ञान नहीं रखता। बल्कि अनुकरण एक प्रकार का खेल अथवा मनोरंजन है जिसका बहुत गंभीरता से विचार नहीं करना चाहिए तथा जो लोग त्रागेदीकार हैं वे चाहे इयाम्ब छन्द में कविता लिखें चाहे वीर छन्द में, वे केवल अनुकरण मात्र करने वाले होते हैं।"

"सर्वथा ऐसी ही है।"

५

"भगवान् के नाम पर (यह बतलाओ कि) क्या यह अनुकरण व्यापार ऐसी वस्तु से संबद्ध है या नहीं जो कि सत्य से तृतीय स्थान पर हटी हुई है ?"

"हाँ।"

"अच्छा फिर यह बतलाओ कि मनुष्य स्वभाव के किस अंश (तत्त्व) से इसकी (अनुकरण की) क्रिया और शक्ति संबंधित है ?"

"आप किस विषय की चर्चा कर रहे हैं ?"

"इस निम्नलिखित विषय की। मैं समझता हूँ कि एक ही परिमाण समीप और दूर से देखने पर एक समान नहीं मालूम पड़ता।"

"नहीं।"

"और एक ही वस्तु जल के भीतर और बाहर देखने पर झुकी हुई और सीधी दिखलाई देती है, अथवा दृष्टि की रंग सम्बन्धी भ्रान्ति के

कारण अन्तर्वर्तुल एवं बहिर्वर्तुल प्रतीत होती है। और स्पष्ट ही हमारी आत्मा में ऐसी सब प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। मानव स्वभाव की इसी दुर्बलता पर दृश्यचित्रण कला, इन्द्रजाल और ऐसी ही अन्य चतुर योजनाएँ आक्रमण करती हैं और हमारे ऊपर जादू का सा प्रभाव उत्पन्न करती हैं।"

"सत्य है।"

"तो क्या इस सम्बन्ध में, नापना, गिनना और तौलना, हमारी आत्मा में प्रत्यक्ष, महत्तर, लघुतर, अधिकतर, अथवा गुरुतर के आधिपत्य को रोकने में तथा उस तत्त्व को नियंत्रण प्रदान करने में जिसने नाप जोख की है, गणना की है और तौल की है, एक अतीव अनुग्रह पूर्ण सहाय सिद्ध नहीं हुए हैं?"

"क्यों नहीं?"

"परन्तु निश्चयमेव यह तो आत्मा के उस अंश का कार्य है जो विवेचना और आकलन करता है।"

"हाँ अवश्यमेव ऐसा ही होगा।"

"पर बहुधा जब कि यह तत्त्व (शक्ति) माप कर के यह निर्णय करता है कि अमुक वस्तुएँ अन्य वस्तुओं से अधिक बड़ी हैं अथवा कुछ वस्तुएँ अन्य वस्तुओं से अधिक छोटी हैं अथवा उनके बराबर हैं, तो भी इसके साथ ही साथ आपाततः आभास इसके विपरीत दिखलायी देता है।"

"हाँ।"

"और क्या हम यह नहीं कह चुके हैं कि आत्मा की एक ही शक्ति द्वारा एक ही समय एक ही वस्तु के विषय में विरोधी सम्मति रखना असंभव है?"

"और हमारा ऐसा कहना सही ही था।"

"तब तो हमारी आत्मा का वह अंश जिसकी सम्मति माप के विरुद्ध है उस अंश से अभिन्न नहीं हो सकता जो कि माप के अनुकूल है।"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"किन्तु आत्मा का जो अंश माप और आकलन में आस्था रखता है निश्चय ही आत्मा का श्रेष्ठ अंश होना चाहिए।"

"क्यों नहीं।"

"अतएव वह अंश जो कि उसका विरोध करता है अवश्य ही हमारे स्वभाव का निकृष्ट अंश होगा।"

"अनिवार्यतः ऐसा ही होना चाहिए।"

"यही तो वह बात थी जिसके विषय में उस समय हम सहमत हो जाना चाहते थे जब कि मैंने यह कहा था कि चित्रकला और सामान्यतया सभी अनुकरणात्मक कलाएँ अपने कार्य के सम्पादन में ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करती हैं जो कि सत्य से बहुत दूर होती हैं तथा हमारे स्वभाव के उस अंग से संबंध रखती हैं जो कि बुद्धिमत्ता से बहुत दूर है तथा जो किसी स्वस्थ अथवा सत्य उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त इसका सहचर और मित्र नहीं बना है।"

उसने कहा, "सर्वथा ऐसा ही है।"

"अतएव अनुकरणात्मक कला स्वयं नीच है और नीच के सहवास में रह कर नीच संतान को उत्पन्न करती है।"

"ऐसा ही प्रतीत होता है।"

मैंने पूछा, "क्या यह बात दृष्टि के विषय में ही लागू होती है अथवा इसका सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से भी है और उस कला के विषय में भी यही बात सत्य है जिसको कविता कहते हैं?"

उसने उत्तर दिया, "प्रायशः उसके विषय में भी लागू होती है।"

मैंने कहा, "हमको केवल चित्रकला के आपातसत्य सादृश्य के ऊपर ही पूर्णतया निर्भर नहीं रहना चाहिए, बल्कि अब पर्यायक्रम से हमको अपनी बुद्धि के उस अंश के विषय में अनुसंधान करना चाहिए जिसका अनुकरणात्मक काव्य से संबंध है और देखना चाहिए कि यह निकृष्ट अंश है अथवा उत्तम और गौरवपूर्ण।"

"हमको अवश्य ऐसा ही करना चाहिए।"

"हमको इस प्रकार प्रश्न पूछना चाहिए कि अनुकरणात्मक कला के विषय में हमारा कहना है कि वह विवशतावश अथवा स्वेच्छा से कार्य करते हुए मनुष्यों का अनुकरण करती है जो अपने कार्यों के परिणाम के अनुसार ही अपने को सफल अथवा असफल मानते हैं और ऐसी परिस्थितियों में आनन्दित अथवा दुःखी होते हैं। क्या इस विषय में इसके अतिरिक्त कुछ और भी शेष है?"

"कुछ नहीं।"

"तो क्या इन सब विविध प्रकार की परिस्थितियों में मनुष्य एकचित्त रहता है अथवा, जिस प्रकार दृष्टि के क्षेत्र में एक ही समय में एक ही वस्तु के विषय में उसके चित्त में कलह और विद्वेष था और उसकी दो परस्पर विरोधी सम्मतियाँ थीं, इसी प्रकार कार्य क्षेत्र में भी मनुष्य में स्वतः विभाजन और विरोध रहता है? परन्तु मुझे याद आता है कि इस प्रश्न पर हमको इस समय ऐकमत्य प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम पहले ही इस बात पर पर्याप्त रूपेण एकमत हो चुके हैं कि हमारी आत्मा किसी भी समय ऐसे असंख्य विरोधों से परिपूर्ण रहती है।"

उसने कहा, "ठीक ही है।"

मैंने कहा, "ठीक तो था, परन्तु मैं ख्याल करता हूँ कि उस समय जिस बात को हमने छोड़ दिया था अब उसको पूरा कर देना चाहिए।"

उसने पूछा, "वह क्या है ?"

मैंने कहा, "मुझे विश्वास है कि हमने उस समय भी यह कहा था जब किसी नेक और विवेकपूर्ण व्यक्ति पर पुत्रहानि अथवा ऐसी कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु की अन्य हानि सहने का दुर्भाग्यपूर्ण अवसर आ पड़े तो वह उसको अन्य लोगों की उपेक्षा अधिक सरलता और धैर्य के साथ सहेगा।"

"सर्वथा ऐसा ही है।"

"परन्तु अब हमको इस विषय का विचार कर देखना चाहिए कि क्या वह बिलकुल शोकानुभव नहीं करेगा, अथवा, क्योंकि यह तो असंभव है (कि वह शोक का अनुभव बिलकुल न करे), वह अपने शोक में कुछ संयम बरतेगा ?"

उसने कहा, "यह दूसरी बात अपेक्षाकृत अधिक सत्य कथन है।"

"उसके विषय में मुझे अब यह बतलाओ कि क्या संभवतया अपने शोक का विरोध और रोक थाम वह तब अधिक करेगा जब कि वह अपने समान व्यक्ति की दृष्टि के सामने हो अथवा तब जब कि वह स्वयं अकेला एकान्त सेवन कर रहा हो ?"

उसने उत्तर दिया, "वह अपेक्षाकृत उस समय बहुत संयत होगा जब कि वह दूसरों के द्वारा देखा जाता हो।"

"परन्तु जब वह अकेला छोड़ दिया जायगा तो मैं कल्पना करता हूँ तो वह अपने को बहुत सी ऐसी बातें कहने देगा जो दूसरों के द्वारा सुने जाने पर उसको लज्जित कर देंगी और अनेकों ऐसे काम करेगा जिनको करते हुए अपने को वह दूसरों के द्वारा देखे जाने की अनुमति नहीं देगा।"

उसने कहा, "ठीक यही बात है।"

६

अतएव तो क्या जो वस्तु उसको शोक को संयत रखने के लिए उत्तेजित (प्रोत्साहित अथवा प्रणोदित) करती है वह विवेक और नियम तथा जो उसको शोक के वशीभूत होने के लिए प्रेरित करती है क्या वह केवल (शोक का) उद्वेग (पाथॉस्) ही नहीं है?"

"सत्य है।"

"परन्तु जब किसी व्यक्ति में, एक ही वस्तु के संबंध में एक ही समय पर दो विरोधी आकर्षण (उद्वेग) हों, तो हम कहते हैं कि उसमें अवश्य दो (तत्त्व) होने चाहिए।"

"क्यों नहीं।"

"तो क्या (उन दो में से) एक नियम के मार्ग प्रदर्शन का (जैसा कि वह निर्देश और नेतृत्व करता है) अनुसरण करने के लिए उद्यत नहीं रहता?"

"किस प्रकार?"

"मैं ख्याल करता हूँ कि नियम यह कहता है कि जहाँ तक संभव हो संकट में नीरव और शान्त रहना ही सर्व श्रेष्ठ है, न कि क्षुब्ध और व्यथित होना, क्योंकि हम यह तो जान ही नहीं सकते कि इन (संकटों) में वास्तव में क्या भलाई और बुराई है। ऐसे अवसरों पर धीरज खो देने से लाभ ही क्या है, तथा मनुष्य जीवन में कोई भी बात महान् चिन्ता के योग्य नहीं है एवं उनके विषय में शोक करना उस वस्तु के मार्ग में रोड़े अटकाना है जिसको ऐसी अवस्था में अत्यन्त शीघ्रता से हमारी सहायता के लिए आना आवश्यक है।"

उसने पूछा, "आपका तात्पर्य किस वस्तु से है?"

मैंने कहा, "जो कुछ हम पर बीत चुका है उसका विमर्श करना और जैसे कि पाँसा पड़ जाने पर खिलाड़ी जैसा दाव होता है उसी के

अनुसार अपनी चाल चलता है इसी प्रकार संकटापन्न स्थिति में विवेक द्वारा निर्दिष्ट उपाय के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित करना सब से अच्छी बात है; तथा ठोकर खाकर गिरे हुए बच्चों के समान पीड़ित अंग को हाथों से दबा कर रोने में समय नष्ट करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम अपनी आत्मा को सर्वदा चोट खाए हुए अंग का उपचार करने और गिरे पड़े को उठाने का अभ्यासी बनाएँ तथा रुदन को चिकित्सा द्वारा निर्वासित कर दें।"

उसने कहा, "निश्चयमेव संकट का सामना करने का और उससे बरतने का यही सर्वोत्तम उपाय है।"

"तो हम यह कहते हैं कि हमारी आत्मा सर्वोत्तम अंश विवेक के इस आदेश को ग्रहण करने की इच्छुक है।"

"स्पष्ट ही है।"

"तथा क्या हम यह नहीं कहेंगे कि हमारी आत्मा का वह अंश जो कि हमको विपत्ति का स्मरण ही कराता रहता है, विलाप करने को प्रेरित करता है तथा रोने धोने से कभी नहीं अघाता, अविवेकी और जड़ अंश है जो कि कायरता का साथी है ?"

"हाँ, हम ऐसा कहेंगे।"

"अतएव क्या झगड़ालू (अथवा कलहप्रिय) अंश ही बहुत से एवं विविध प्रकार के अनुकरण करने के अवसर प्रस्तुत नहीं करता, जब कि इसके प्रतिकूल बुद्धिमत्तापूर्ण संयत स्वभाव सर्वदा लगभग एक समान रहते हुए न तो सरलता से अनुकरण ही किया जा सकता है और जब अनुकरण किया भी जाता है तो उसका समझा जाना कठिन होता है, विशेष कर के रंगशाला में एकत्रित हुई अपरूप जनमंडली के द्वारा? क्योंकि यह अभिनय एक ऐसी वस्तु का अनुकरण करता है जो उनके स्वभाव से सर्वथा विलग है।"

"सर्वथा ऐसा ही है।"

"अतएव यह स्पष्ट है कि अनुकरण करने वाला कवि स्वभावतः ही इस उत्तम स्वभाव से कोई संबंध नहीं रखता, तथा यदि उसको सामान्य जन मण्डली में लोकप्रियता प्राप्त करनी है तो यह भी स्पष्ट है कि उसका कौशल इस (उत्तम) स्वभाव को प्रसन्न करने के लिए नहीं बना है, प्रत्युत वह तो कलहप्रिय और जटिल चरित्र का भक्त है क्योंकि इसका अनुकरण करना सरल कार्य है।"

"यह बात स्पष्ट है।"

"अतएव, इस विचार के आधार पर हमारे लिए यह उचित हो जाता है कि हम उसको पकड़ कर (लेकर) चित्रकार की समकक्षतामें बैठा दें क्योंकि वह एक तो इस बात में उसके सदृश है कि उसकी रचनाएँ, सत्य अथवा वास्तविकता की दृष्टि से हेठी होती हैं तथा उनके सादृश्य का दूसरा आधार (तथ्य) यह है कि उसका सम्पर्क आत्मा के नीचे अंश से है न कि उत्तम अंश से। और इसलिए हम अन्त में कह सकते हैं कि हमारा उसको एक सुव्यवस्थित राष्ट्र में प्रवेश न करने देना उचित ही है क्योंकि वह आत्मा के इसी अंश को उत्तेजित और पुष्ट करता है और इसको सबल बना कर विवेकपूर्ण अंश को इस प्रकार विनष्ट करने के लिए प्रवृत्त होता है जिस प्रकार यदि राष्ट्र में कोई बुरे आदमियों को शक्ति प्रदान कर के नगर उनको सौंप दे तो वह भले मनुष्यों को विनष्ट करने में प्रवृत्त होते हैं। ठीक बिलकुल इसी प्रकार से हम यह कहेंगे कि अनुकरणात्मक कवि वास्तविकता से विलग काल्पनिक आभासों की रचना द्वारा, तथा आत्मा के उस बोधशून्य अंश को तृप्ति प्रदान करने के द्वारा जो कि अपेक्षाकृत बड़े और छोटे में भेद नहीं कर सकता किन्तु एक ही वस्तु अभी कुछ (बड़ी) कहता और थोड़ी ही देर में कुछ

और (छोटी) बतलाता है, प्रत्येक आत्मा में एक विकृत व्यवस्था स्थापित करता है।"

"सर्वथा यही बात है।"

७

परन्तु अभी हमने इसके विरुद्ध अपना सबसे मुख्य आरोप उपस्थित नहीं किया है। निश्चयमेव सब से अधिक आतंकोत्पादक वस्तु तो इसकी वह शक्ति है जो कि विरल अपवादों को छोड़ कर अधिकांश अच्छे मनुष्यों को च्युत कर सकती है।"

"यदि यह ऐसा ही करती है जैसा कि आप कहते हैं तो यह अवश्यमेव ऐसी (आतंकमय) क्यों न होगी ?"

"सुनो और विचार कर के देखो। हममें से अच्छे से अच्छे व्यक्ति भी मैं समझता हूँ, जब होमेर अथवा अन्य किसी त्रागेदीकार को किसी शोकाप्लुत नायक का अनुकरण करते सुनते हैं जो कि एक लम्बे भाषण में अपने शोकोद्गारों को प्रकट करता है, अथवा गीतिमय रुदन करते हुए अपने वक्षस्थल को पीटता है, तो जैसा कि तुमको विदित है हर्ष का (आनन्द का) अनुभव करते हैं और पूर्णतया आत्मविभोर होकर सहानुभूति एवं उत्सुकता के साथ इस अनुकरण का अनुगमन करते हैं तथा जो (लेखक) हमको इस प्रकार सब से अधिक प्रभावित करता है उसको श्रेष्ठ कवि मान कर उसकी प्रशंसा करते हैं।"

"हाँ, मैं और भला यह न जानूं।"

"परन्तु जब हमारे अपने निजी घरेलू जीवन में कोई शोक आ पड़ता है तो तुम देखते हो कि हम इसके प्रतिकूल बिलकुल इसके विपरीत आचरण करने में गौरव का अनुभव करते हैं, अर्थात् हम यदि शान्त रह उसको सहन कर सकें तो शानदार बात मानते हैं, क्योंकि हम

समझते हैं यह पुरुषों का जैसा आचरण है तथा रंगस्थल जिस आचरण की हम प्रशंसा करते हैं वह स्त्रियों का आचरण है।"

उसने कहा, "मैं यह बात देखता (जानता) हूँ।"

मैंने पूछा, "तो क्या, तुम्हारी समझ में जब किसी (काव्य ग्रथित) पात्र के ऐसे आचरण को देख कर हम उसकी प्रशंसा करते हैं जिसको हम स्वयं अपने विषय में स्वीकार नहीं करेंगे और अपने में जिस आचरण पर हम लज्जित होंगे. यह प्रशंसा करना उचित है; क्या यह उचित है कि हम उस आचरण से घृणा न करके उस पर आनन्दित हों और उसका अनुमोदन करें?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं, देव की शपथ, ऐसा व्यवहार विवेकपूर्ण नहीं प्रतीत होता।"

मैंने कहा, "हाँ, यदि तुम इसको इस दृष्टि से देखो तो (बिलकुल) उचित प्रतीत होगा।"

"किस दृष्टि से?"

"यदि तुम विचार करो कि पहले आत्मा के जिस अंश को हमारे अपने व्यक्तिगत शोक के प्रसंग में बलात् रोका गया था तथा जो आँसू बहा कर एवं रो कर तृप्ति प्राप्त करने का भूखा था क्योंकि इन बातों की इच्छा करना इसका स्वभाव है, वह अंश हममें ऐसा है जो कि कवियों द्वारा परितुष्ट और आनन्दित किया जाता है, तथा हमारे स्वभाव का उत्तम अंश विवेक और अभ्यास (आदत) के द्वारा शिक्षित न होने के कारण उस समय (अभिनय दर्शन या काव्य पाठ के समय) करुणामय अंश के ऊपर से अपनी चौकसी को ढीला कर देता है क्योंकि उस समय तो वह दूसरों के दुःखों पर दृष्टिपात करता होता है तथा किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा करते हुए उसके प्रति करुणा और सहानुभूति प्रकट करना इसके लिए कोई लज्जा का विषय नहीं होता जो कि भला

आदमी होने का दावा करते हुए शोकातिरेक के वशीभूत होता है, प्रत्युत वह इस (परतः) प्राप्त आनन्द को एक लाभ मानता है तथा समग्रतः काव्य का तिरस्कार कर के इस आनन्द और काव्य दोनों से वंचित होने को प्रस्तुत नहीं होता। मेरा ख्याल है कि ऐसा इसलिए होता है कि बहुत थोड़े से लोगों को यह विचारने की योग्यता प्राप्त होती है कि अन्य लोगों के प्रसंग में जिस बात पर हम आनन्दित होते हैं वह हमारे ऊपर भी अनिवार्य रूपेण प्रतिक्रिया करेगी। क्योंकि अपनी करुणा-भावना को अन्य व्यक्तियों के प्रसंग में अधिक पीन और प्रबल बना कर फिर उसको अपनी विपत्ति में निरुद्ध कर सकना कोई सरल कार्य नहीं है।"

उसने कहा, "यह परम सत्य है।"

"और क्या परिहास्य बातों के संबंध में भी यही युक्ति लागू नहीं होती? अर्थात् क्या यह ठीक नहीं है कि यदि प्रहसनाभिनय में अथवा व्यक्तिगत वार्तालाप में ही तुम उन उपहासों में अत्यन्त आमोद प्राप्त करो जिनका स्वयं व्यवहार करने में तुमको लज्जा लगेगी और उनको निकृष्ट समझ कर उनसे घृणा न करो तो तुम्हारा व्यवहार इस अवसर पर भी वही होगा जो कि करुणा के अवसर पर था ? क्योंकि इस अवसर पर भी आत्मा के जिस अंश को तुम्हारे विवेक ने विदूषक कहे जाने की कुख्याति के भय से उस समय रोका था जब कि वह मसखरा बन कर खुल कर खेलना चाहता था तुम खुला छोड़ देते हो तथा इसकी ढीठता को इस प्रकार पुष्ट और उत्तेजित कर के तुम अनजाने में ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हो कि तुम स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन में हास्यकवि बन जाते हो।"

उसने कहा, "बिलकुल ठीक।"

"और इसी प्रकार काम, क्रोध, तथा सर्व प्रकार की वासना, पीड़ा, आनन्द इत्यादि आत्मा के आवेगों के सम्बन्ध में भी जो कि हमारे कार्यों

के अभिन्न साथी संगी (अनुभाव) माने जाते हैं काव्यात्मक अनुकरण का प्रभाव नितान्त एक सा (जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है) ही होता है। क्योंकि यह अनुकरण इन मनोवेगों को सींचता और पुष्ट करता है जब कि हमको उन्हें सुखा देना चाहिए, तथा यह उनको हमारा शासक बना कर स्थापित करता है जब कि उनको शासित होना चाहिए, जिससे कि हमारे अपेक्षाकृत अधिक बुरे और दुःखी होने के स्थान पर अधिक अच्छे और सुखी होने के उद्देश्य की सिद्धि हो सके।"

उसने कहा, "मैं इससे अन्यथा कुछ नहीं कह सकता।"

मैंने कहा, "अतएव ग्लौकोन, जब तुम हौमेर के उन प्रशंसकों से मिलो जिनका यह कहना है कि यह कवि हैला जाति का शिक्षक है तथा मानवीय विषयों की व्यवस्था और शिक्षा के लिए वह हमारे अध्ययन और भक्ति का पात्र है एवं मनुष्यों को अपने समग्र जीवन क्रम को इस कवि के नेतृत्व के अनुसार व्यवस्थित करना चाहिए, तो यह समझते हुए कि यह लोग अपनी क्षमतानुसार सर्वोत्तम कार्य कर रहे हैं हमको ऐसा कहने वालों को अवश्यमेव प्रेम करना और गले लगाना चाहिए तथा यह स्वीकार करना चाहिए हौमेर कवियों में कवितम एवं त्रागेदीकारों में प्रथम है, परन्तु हमको यह दृढ़तापूर्वक जान लेना चाहिए कि हम अपने (नगर) राष्ट्र में केवल देवताओं के स्तोत्रों एवं सत्पुरुषों की प्रशंसाओं के अतिरिक्त अन्य किसी (प्रकार की) कविता को प्रवेश नहीं करने दे सकते। क्योंकि यदि तुमने मधुरिमामयी कविता को गीतिकाव्य अथवा महाकाव्य के रूप में अपने राष्ट्र में प्रवेश करने दिया तो नियम और उस विवेक के स्थान पर (जोकि सर्वजनीन मानवीय सम्मति में श्रेष्ठ माना गया है) हमारे नगर राष्ट्र में सुख और दुःख का प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा।"

उसने कहा, "परम सत्य है।"

८

मैंने कहा, "कविता के विषय को फिर से छेड़ने पर हमारे अपने पक्ष के उपक्त परिरक्षण (समर्थन) (apologia) का काम यह प्रदर्शन करना होना चाहिए कि कविता को राष्ट्र से निर्वासित करने का हमारा पूर्वोक्त निर्णय युक्ति युक्त था क्योंकि कविता का स्वरूप ऐसा (जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है) ही है। क्योंकि विवेक ने हमको (ऐसा करने के लिए) बाध्य कर दिया तथा जिससे कविता हम पर कर्कशता और ग्राम्यत्व इत्यादि दोषों का आरोप न करे, हमको उसे यह और बतला देना चाहिए कि फिलासफी और कविता के बीच पुरातन काल से विवाद चला आया है। क्योंकि "भौंकती कुतिया जो कि अपने स्वामी पर गुर्राती है" एवं 'मूर्खों की जल्पना में प्रबल', तथा 'देवज्ञानी पंडितों का झुंड' तथा 'सूक्ष्म विचारक जो यह विवेचना किया करते हैं कि अन्ततोगत्वा हम अकिंचन हैं' इत्यादि पंक्तियाँ और इसी प्रकार की हजारों अन्य पंक्तियाँ इस पुरातन वैर के चिह्न हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इस बात को घोषणा कर देनी चाहिए यदि प्रिय लगने वाली मधुर कविता तथा अनुकरणात्मक कलाएँ किसी सुव्यवस्थित राष्ट्र में बने रहने के लिए युक्ति प्रदर्शित कर सकें तो हम सहर्ष उनको नगर में प्रविष्ट कर लेंगे क्योंकि हम स्वयं उसके आकर्षण के विषय में अत्यन्त सचेत हैं। किन्तु तथापि जिस बात की हम सत्य समझते हैं उसको धोखा देना पाप होगा। प्रिय मित्र क्या यही बात नहीं है? क्या तुम स्वयं उसके जादू भरे आकर्षण का अनुभव नहीं करते विशेषकर जब हौमेर के नेतृत्व में तुम उसका मनन करते हो?"

"अत्यधिक।"

"तो क्या यह बात न्यायोचित नहीं होगी कि वह (कविता) चाहे

गीतिकाव्य में चाहे अन्य किसी छन्द (metron) में अपने पक्ष की रक्षा का प्रतिपादन कर के इस निर्वासन से लौटकर आ सकती है?"

"सर्वथा।"

"और हम कम से कम कविता के उन पृष्ठपोषकों को भी जो कि कवि नहीं हैं पर कविता के प्रेमी हैं, छन्दरहित गद्य में उसकी वकालत करने और यह प्रदर्शित करने की आज्ञा प्रदान करेंगे कि वह केवल आनन्द प्रदायिनी ही नहीं प्रत्युत सुव्यवस्थित शासन तन्त्र और मानवजीवन के लिये उपादेय भी है। तथा हम उनके प्रतिपादन को अनुग्रहपूर्वक सुनेंगे, क्योंकि यदि यह सिद्ध करके दिखाया जा सके कि वह केवल आनन्द ही प्रदान नहीं करती बल्कि लाभप्रद भी है तो यह हमको स्पष्ट ही एक लाभ होगा।"

उसने कहा, "भला हम लाभान्वित हुए बिना कैसे रह सकते हैं।"

"पर यदि ऐसा न हुआ तो, प्रियमित्र, हम उन व्यक्तियों के समान आचरण करेंगे जो किसी के प्रेम में आबद्ध होने पर यह समझते हैं कि उनका स्नेह उनके लिये उपादेय नहीं है तो चाहे यह (करना) कितना ही कठिन हो वे इस प्रेम से अपने को रोकते हैं। इसी प्रकार हम भी इस प्रकार की कविता के प्रति उस प्रेम के कारण जो कि हमारी श्रेष्ठ राष्ट्रनीतियों (राष्ट्र व्यवस्थाओं) में प्रचलित शिक्षा प्रणाली के द्वारा हमारे स्वभाव में आरोपित होगया है, उसकी नेकी और सत्यता की प्रतीति के लिये सहर्ष उसका सर्वोत्तम समर्थन किया जाना चाहेंगे, परन्तु जब तक वह अपने पक्ष की रक्षा में सफल सिद्ध नहीं होगी तब तक हम कविता सुनते समय उसके जादू को दूर करने के लिये उपर्युक्त तर्कमन्त्र को जपते रहेंगे, जिससे कि हम सामान्य जनसमूह के समान कविता के बालिश प्रेम में पुनः फिसल पड़ने से अपनी रक्षा कर सकें। कुछ भी क्यों न हो इतना तो हम जान ही गये हैं कि हमको इस प्रकार की कविता को कोई गंभीर (अथवा महत्वपूर्ण) और सत्य को धारण करनेवाली वस्तु मानकर गंभीरता पूर्वक उसका अभ्यास नहीं करना

चाहिये, किन्तु जो कोई भी कविता को सुने उसको अपने अन्तर में स्थित राष्ट्र व्यवस्था के वियष में सशंक रहना चाहिये तथा नित्य सावधान रहते हुए हमने जो कविता के विषय में कहा है उस पर आस्था रखनी चाहिये ।"

उसने कहा, "मैं सर्वथा आपसे सहमत हूँ ।"

"मैंने कहा, "प्रिय ग्लौकोन, सचमुच इस द्वंद्व में बड़ी भारी बाजी लगी हुई है, इतनी बड़ी बाजी जितनी कि लोग समझते नहीं, क्योंकि इस द्वंद्व पर मनुष्य का भला या बूरा होना निर्भर है; अतएव क्या सम्मान क्या धन क्या पदाधिकार और क्या कविता का प्रलोभन किसी को भी हमको न्यायपरायणता एवं सद्‌गुणों (आर्यत्व) के प्रति असावधान होने के लिये उत्तेजित नहीं करना चाहिये ।"

उसने उत्तर दिया, "जो कुछ हमारे तर्क से निष्कर्ष निकला है उसको दृष्टि में रखते हुए मैं आपसे सहमत हूँ और मैं ख्याल करता हूँ अन्य कोई भी व्यक्ति ऐसा ही करेगा ।"

९

मैंने कहा, "तथापि अभी तक हमने सद्‌वृत्ति के सबसे महान् पुरस्कारों और उसके लिये निर्धारित उपहारों का विवेचिन तो किया ही नहीं ।"

उसने कहा, "यदि हमारे द्वारा विवेचित (उपहारों) से भी महान् कोई अन्य उपहार हुए तो वह अचिंत्य विशालता वाले होंगे ।"

मैंने कहा, "थोड़े से समय में कौन सी महान् बात हो सकती है ? क्योंकि निश्चयमेव लड़कपन से लेकर बुढ़ापे तक का समय सनातन काल की तुलना में अत्यंत अल्प ही है ।"

उसने कहा, "नहीं, यह कहिये कुछ नहीं है ।"

"तो क्या ? क्या तुम यह ख्याल करते हो कि किसी अमर वस्तु को इतने अल्प से काल के विषय में गंभीरतापूर्वक चिंतित होना चाहिये, न कि सर्वकाल के विषय में ?"

उसने कहा, "मैं यही ख्याल करता हूँ (कि उसको सनातन काल का चिंतन करना चाहिये), पर तुम ऐसा क्यों कहते हो ?"

मैंने कहा, "क्या तुम नहीं जानते कि हमारी आत्मा अमर है और कभी नष्ट नहीं होती ?"

इस पर वह आश्चर्यचकित होकर मेरे मुँह की ओर ताकते हुए बोला, "नहीं, भगवान् की सौगन्द ,मैं नहीं जानता। पर क्या तुम इस बात को कह सकते हो ?"

मैंने कहा, "यदि मैं अन्यायी (बेईमान) नहीं हूँ तो मुझे ऐसा कहने योग्य होना चाहिये, और मैं ख्याल करता हूँ कि तुम भी कह सकते हो, क्योंकि यह कुछ भी कठिन नहीं है।"

उसने कहा, "मेरे लिये तो (कठिन) है, और मैं तुमसे अत्यंत प्रसन्नता के साथ इस बात को, जोकि (तुम्हारे कथनानुसार) कठिन नहीं है, सुनूँगा।"

मैंने कहा, "तो लो सुनो।"

उसने कहा, "बस कहते चलिये।"

मैंने उत्तर दिया, "तुम किसी (वस्तु) को अच्छा और किसी को बुरा कहते हो न ?"

"हाँ कहता हूँ।"

"तथा क्या इनके विषय में तुम्हारा विचार ऐसा ही है जैसा कि मेरा ?"

"वह कैसा ?"

"वह जो कि सब वस्तुओं को विनष्ट और विकृत करता है बुरा है तथा जो रक्षा करता है और समृद्धि (लाभ) प्रदान करता है अच्छा है।"

उसने कहा, "मैं मानता हूँ।"

"इस विषय में तुम क्या कहोगे कि प्रत्येक वस्तु में बुराई और भलाई होती है ? उदाहरण के लिये आँखों की बुराई है आँखों का फूलना और दुखना, शरीर की है रोग, अन्न में फफूड़न, लकड़ी की गलना, ताँबे और लोहे

की जंग लगना, तथा जैसा कि मेरा कहना है प्रत्येक वस्तु में उसके स्वभावानुसार कुछ बुराई अथवा रोग होता है ?"

"उसने कहा, "हाँ, मैं मानता हूँ।"

"तो जब इनमें से कोई बुराई किसी वस्तु में उत्पन्न हो जाती है, क्या वह बुराई जिस वस्तु को लग जाती है उसको बिगाड़ नहीं देती और अन्ततोगत्वा तथा उसको विच्छिन्न और विनष्ट नहीं कर देती ?"

"क्यों नहीं ?"

"अतः प्रत्येक वस्तु की साहजिक बुराई और निजी दोष ही प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर देता है; अन्यथा यदि वह उसको नष्ट न करे तो अन्य कोई वस्तु उसको नष्ट नहीं कर सकती। क्योंकि भलाई तो निश्चयमेव किसी वस्तु को नष्ट नहीं करेगी और न फिर वही नष्ट करेगी जो न बुराई है न भलाई (अर्थात् भलाई बुराई से दोनों से रहित है)।"

उसने कहा, "सो कैसे हो सकता है ?"

"तो यदि, वस्तुओं में (सत्ताओं में) हम कोई ऐसी वस्तु खोज सकें कि जिसमें ऐसी बुराई हो जो उसको विकृत (दूषित) तो कर सके किन्तु छिन्नभिन्न और विनष्ट न कर सके तो क्या ऐसी स्थिति में हम निश्चयेन यह नहीं जान लेंगे कि इस प्रकार घटित वस्तु का विनाश नहीं हो सकता ?"

उसने कहा, "लगता तो ऐसा ही है।"

मैंने पूछा "अच्छा तो क्या, आत्मा में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसको बुरा कर देती है ?"

उसने कहा, 'हाँ, वास्तव उसमें वे सब अवगुण हैं जो कि हम अभी गिन रहे थे——यथा, अन्याय, इन्द्रियलोलुपता, डरपोकपन एवं अज्ञान।"

"क्या इनमें से कोई इसको विच्छिन्न और विनष्ट कर सकता है ? अपने मन में भली भांति विचार करके देख लो, जिससे कहीं जब कोई अन्यायी और मूर्ख व्यक्ति अन्याय कार्य करते हुए पकड लिया जाय तो हम यह ख्याल

करके धोखा न खायँ कि वह अन्याय द्वारा, जो कि आत्मा विकार है, विनष्ट कर दिया गया। नहीं, इसके विषय में इस प्रकार विचार करो। जिस प्रकार कि शरीर का विकार अर्थात् रोग शरीर को ऐसा क्षीण और विनष्ट कर देता है कि शरीर फिर शरीर रह नहीं जाता ठीक इसी प्रकार उन सब अन्य वस्तुओं में भी जिनके उदाहरण का हमने उल्लेख किया था उनका विशिष्ट प्रकार का विकार उस वस्तु से संपृक्त होकर और उसमें निविष्ट होकर अपनी विकारकारिणी शक्ति से उसको असत्अवस्था (अभावावस्था) को प्राप्त करा देता है। क्या ऐसा नहीं है ?"

"हाँ।"

"अच्छा तो अब आओ आत्मा को भी इसी दृष्टिकोण से देखो। क्या अन्याय और अन्य दोष जो कि आत्मा में निवास करते हैं, उसमें अन्त:प्रविष्ट और आसक्त होने के कारण उसको यहाँ तक दूषित और झुलसा हुआ नहीं कर देते कि इसको मृत्यु को प्राप्त करा दें और शरीर से पृथक् कर दें ?"

उसने उत्तर दिया, "वे कदापि ऐसा नहीं करते।"

मैंने कहा, "किन्तु निश्चयमेव यह ख्याल करना तो अविवेकपूर्ण है कि जब किसी वस्तु को स्वयं उसका निजी विकार नष्ट नहीं कर सकता तो उसको अन्य किसी वस्तु का विकार नष्ट कर देगा ?"

"हाँ, यह बात अयुक्त है।"

मैंने कहा, "ग्लौकोन, विचार करके तो देखो कि हम शरीर के विषय में भी यह कहना उचित नहीं समझते कि वह स्वयं भोजन के दोष से विनष्ट हो जाता है फिर चाहे वह विकार बासीपन हो, सड़ापन हो और अन्य कुछ भी हो, परन्तु जब भोजन की बुराई स्वत: शरीर में शरीर की बुराई अर्थात् रोग को उत्पन्न कर देती है, तब हम ऐसा कहेंगे कि यह (शरीर) इन भोजनों के द्वारा (अप्रत्यक्षतया) किन्तु तज्जनित

शारीरिक विकार से जिसको रोग कहते हैं, (प्रत्यक्षतया) नष्ट हुआ है। परन्तु इस धारणा को हम कभी नहीं मानेंगे कि भोजन का विकार जो एक पृथक् वस्तु है उसके द्वारा शरीर जो कि एक दूसरी ही वस्तु है एक विजातीय विकार द्वारा बिना शरीर में उसका अपना विकार उत्पन्न किये हुए नष्ट किया जा सकता है।"

उसने कहा, "आप बिल्कुल ठीक कहते हैं।"

१०

मैंने कहा, "इसी युक्ति के अनुसार, यदि शारीरिक विकार आत्मा में आत्मिक विकार न उत्पन्न कर सके तो हमको यह बात कदापि स्वीकार नहीं करनी चाहिये कि आत्मा बिना अपने निजी विकार के किसी विजातीय विकार से विनष्ट हो सकता है—अर्थात् कोई वस्तु अन्य किसी वस्तु के विकार से नष्ट हो सकती है।"

उसने कहा, "हाँ, इस कथन में युक्ति है।"

तो या तो हमको इसका खण्डन कर अपनी गलती दिखला देनी चाहिये, अथवा जब तक यह युक्ति अखण्डित रहे तब तक हमको यह कदापि नहीं कहना चाहिये कि ज्वर अथवा अन्य कोई रोग, अथवा गले पर छुरी चल जाने तक से, अथवा सारे शरीर के तिल तिल करके कट जाने से भी आत्मा के इन बातों से विनष्ट हो जाने की अधिक संभावना है, जब तक कि यह सिद्ध न कर दिया जाय कि शरीर के प्रति किये गये इस व्यापार से (शरीर के द्वारा सहे गये इन कष्टों से) आत्मा स्वतः अपेक्षाकृत अधिक अन्यायी और अपावन हो जाती है। परन्तु जब किसी अन्य वस्तु की बुराई किसी अन्य वस्तु में उपलब्ध होती है, तथा जो उसकी अपनी बुराई है वह उसमें उत्पन्न नहीं होती तब तक हमको यह कहा जाना सहन नहीं करना चाहिये कि आत्मा अथवा अन्य कोई वस्तु इस प्रकार से नष्ट हो सकती है।"

उसने कहा, "परन्तु यह तो आप निश्चय रखिये कि कोई आदमी इस बात को सिद्ध नहीं कर सकेगा कि मरने वालों की आत्मा मृत्यु के कारण अपेक्षाकृत अधिक अन्यायी हो जाती है ।"

मैंने कहा, "किन्तु यदि कोई व्यक्ति हमारे साथ युक्ति द्वन्द्व करने का साहस करे तथा आत्मा की अमरता के स्वीकार करने को बाध्य होने से बचने के लिये यह कहे कि मरणासन्न (या मरनेवाला व्यक्ति) अपेक्षाकृत अधिक दुष्ट और अन्यायी हो जाता है तो हम यह अनुमान स्थिर करेंगे, कि यदि यह कथन सत्य है, तो अन्याय को अपने धारण करनेवाले के लिये ऐसा घातक होना चाहिये जैसा कि मानों वह कोई रोग हो, तथा वह लोग जो इस रोग से आक्रांत होते हैं इसीलिये मरते हैं क्योंकि यह उनको अपने आन्तरिक घातक स्वभाव से मार डालता है, जो इसको अत्यधिक मात्रा में धारण करते हैं उनको अत्यंत शीघ्रता से तथा जो अपेक्षाकृत कम मात्रा में धारण करते हैं उनको अपेक्षाकृत विलंब से मार डालता है, न कि जैसा कि आजकल वास्तव में होता है कि अन्यायी व्यक्ति को उसके अन्याय का दण्ड यह मृत्यु दूसरे व्यक्तियों के कार्य स्वरूप प्राप्त होती है जो कि उसके अन्याय के कारण उसको मृत्युदण्ड देते हैं ।"

उसने कहा, "नहीं, देव के नाम पर मैं कहूँगा कि यदि अन्याय अपने धारण करने वाले के लिये घातक सिद्ध हो तो उसको ऐसा बहुत कुछ भयानक ख्याल नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था तो इन सब कष्टों से मुक्ति (दिलानेवाली) होगी । पर मेरी समझ में तो यह अन्याय, मारकता से इतनी दूरी पर रहता है कि यह उपर्युक्त कथन से बिलकुल विपरीत लक्षणवाला सिद्ध होगा, अर्थात् ऐसी वस्तु होगा जो यथाशक्त दूसरों को मारेगा किन्तु अपने धारण करनेवाले को वास्तव में अत्यंत जीवटपूर्ण बनाये रहेगा, तथा जीवटपूर्ण बनाए रखने के साथ ही साथ सजगतापूर्ण भी (बनायेगा) ।"

मैंने कहा, "तुमने बहुत अच्छा कहा ! क्योंकि जब आत्मा के स्वाभाविक विकार और बुराई ही उसको मार और विनष्ट नहीं कर सकते तो जो बुराई अन्य वस्तुओं के विनाश के लिये नियत है, तो वह तो जिस वस्तु को विनष्ट करने के लिये नियत है, उसके अतिरिक्त मुश्किल से ही आत्मा को नष्ट कर सकेगी।"

उसने कहा, "हाँ, जहाँ तक संभव प्रतीत होता है, सचमुच मुश्किल से ही नष्ट कर सकेगा।"

"अतएव क्योंकि इसका विनाश किसी बुराई से नहीं होता, चाहे वह इसकी स्वगत बुराई हो चाहे विजातीय, इसलिये यह स्पष्ट है कि यह अनिवार्यतः नित्य बना रहेगा और यदि यह नित्य रहेगा तो यह अमर हुआ।"

उसने कहा, "अवश्यमेव।"

११

मैंने कहा, "अच्छा तो इसको ऐसा ही निर्धारित हुआ मान लेना चाहिये। पर यदि ऐसा है तो तुम यह देखोगे कि ये (आत्माएँ) सदा सर्वदा एक सी रहेंगी। क्योंकि यदि कोई आत्मा नष्ट नहीं होगी तो मैं ख्याल करता हूँ कि न तो उसकी संख्या घटेगी और न फिर बढ़ेगी ही। क्योंकि यदि अमर कोटि की वस्तुओं की संख्या में वृद्धि होगी तो तुम जानते ही हो कि यह वृद्धि मर्त्य वस्तुओं की ओर से ही हुई होगी और इस प्रकार अन्ततोगत्वा सभी वस्तुएँ अमर हो जाएँगी।"

"सच कहते हो।"

मैंने कहा, "पर यह बात हमको ख्याल नहीं करनी चाहिये, विवेक को यह स्वीकार नहीं हो सकती। और न हमको यही समझना चाहिये कि अपने सत्यतम स्वरूप में आत्मा एक इस प्रकार की वस्तु है जो अपने में ही बहुत अधिक विविधता, विरोध, और असादृश्य से परिपूर्ण है।"

उसने पूछा, "यह तुम कैसे कहते हो?"

मैंने कहा, "जो वस्तु अनेकों वस्तुओं (तत्वों) का सम्मिश्रण हो उसके लिये किन्तु श्रेष्ठ प्रकार से मिश्रित न हो तो ऐसा अमर होना सरल नहीं है जैसा कि अब (उपर्युक्त युक्तियों के कारण)आत्मा अमर प्रतीत होता है ।"

"ऐसा होना संभवपर नहीं है ।"

"तो इस सिद्धांत को कि आत्मा अमर है हमारी यह अभी प्रस्तुत की हुई युक्तियाँ और अन्य युक्तियाँ भी हमको मानने को बाध्य कर देंगी। परन्तु इस (आत्मा) के स्वरूप को वास्तव में जानने के लिये हमको इसे शरीर के अन्य दुःखों के संसर्ग से दूषित उस रूप में नहीं देखना चाहिये जिसमें कि अब देखते हैं, प्रत्युत जब वह विशुद्ध हो जाये तो उसको विवेक के प्रकाश में (सहाय से) समुचित प्रकार से देखना चाहिये, तब तुमको यह पता चलेगा कि यह कहीं अधिक सुन्दर वस्तु है और तभी तुम न्याय और अन्य उन सब विषयों को स्पष्टतया समझ सकोगे जिनका हमने अब विवेचन किया है। अब तक तो हमने इसके विषय में उस सत्य का प्रतिपादन किया है जिसका संबंध इसके वर्तमान स्वरूप से है जो कि सामुद्रिक-देवता ग्लौकास के रूप से सादृश्य रखता है, जिसके आदि रूप का पता उसकी झलक देखपाने वालों को कठिनता से ही चल सकता है क्योंकि उसके शरीर के मौलिक अंग तो लहरों से टूट फूटकर खंडित और चकनाचूर हो गये और सब प्रकार से छिन्न भिन्न हो गये तथा अन्य वस्तुएँ उसके शरीर से चिपट गयीं और उसके अंग बन गयीं—यथा घोंघे (शंख) सामुद्रिकघास और चट्टानें इत्यादि। परिणामतः अपने मूलरूप सदृश न रह कर वह किसी वन्य पशु के ही अधिक सदृश प्रतीत होता है। सहस्त्रों बुराइयों से विकृत आत्मा को भी हम अब इसी प्रकार की अवस्था में देख पाते हैं। परन्तु, ग्लौकोन, हमको उस ओर देखना चाहिये ।"

उसने पूछा, "कहाँ ?"

"उसके बुद्धिमत्ता के प्रेम––फिलासफी की ओर। तथा हमको उन वस्तुओं को भी देखना चाहिये, जिनके प्रति उसको स्वयं दिव्यता और अमरता और शाश्वतता के सजातीय होने के कारण लगन होती है तथा उन संगतों का भी निरीक्षण करना चाहिये जिनकी उसको आकांक्षा रहती है, एवं यह भी विचार कर देखना चाहिये कि यदि यह आत्मा सर्वदा पूर्णतया इसी तत्व (फिलासफी) का अनुसरण करे तथा इसी अन्त:प्रेरणा के द्वारा उस समुद्र में से ऊपर उभर सके जिसमें कि यह इस समय निमग्न है, तथा उन सब वस्तुओं से––पत्थरों, शंखों, पार्थिव और पाषाणीय वस्तुओं से––(जोकि इसको इसलिये अत्यधिकता से चिपटे हुए हैं क्योंकि वे पार्थिव-पदार्थ ही जो कि आनन्दप्रद माने जाते हैं इसका भोजन हैं) यदि यह वियुक्त और परिमार्जित हो सके तो यह कैसी हो सकेगी। और तभी यह देखा जा सकेगा कि अपने वास्तविक सरल रूप में यह बहुविध है अथवा केवल एकविध है अथवा अन्य किसी प्रकार की और कैसी है। परन्तु प्रस्तुत समय के लिये तो मैं ख़्याल करता हूँ कि हमने इसकी विपदाओं और मनुष्य-जीवन में धारण की हुई आकृतियों का वर्णन बहुत कुछ भली प्रकार से कर दिया है।"

उसने कहा, "सर्वथा हम ऐसा कर चुके।"

१२

मैंने कहा, "अतएव, क्या हमने इस प्रकार से युक्ति या विवेक की सब माँगों को, न्याय के उन पुरस्कारों तथा कीर्ति के बिना ही प्रत्युपस्थापित किये ही पूरा नहीं कर दिया जो तुम्हारे कथनानुसार हीसियाँड् और हौमेर प्रत्युपस्थापित करते हैं? प्रत्युत क्या हमने यह नहीं देखा कि न्याय स्वयमेव आत्मा के लिये स्वत: सर्वोत्तम वस्तु है तथा यह कि चाहे उसको गीगेस् की अँगूठी प्राप्त हो अथवा न हो और चाहे हैडीस् का शिरोवर्म भी उसके साथ में हो चाहे न हो, आत्मा को न्याय करना चाहिये।"

उसने कहा, "आप परम सत्य कहते हैं।"

मैंने कहा, "ग्लौकोन, तो अब तो न्याय एवं सामान्यतया सभी सद्-गुणों के प्रति (उपर्युक्त) लाभ के अतिरिक्त अन्य उन सब विविध उपहारों और पुरस्कारों को निर्दिष्ट करना पूर्णतया असूया रहित होगा न, जिनको कि वे आत्मा के लिये मनुष्यों और देवताओं द्वारा जीवनकाल में एवं मृत्यु के उपरान्त भी उपलब्ध करते हैं ?"

उसने कहा, "अवश्यमेव, क्यों नहीं ?"

"तो क्या तुम मुझे वह वस्तु लौटा दोगे जो कि तुमने विवेचना के मध्य में उधार ली थी ?"

"कृपया बतलाइये क्या ?"

"मैंने तुम्हारी यह बात मान ली थी कि न्यायी पुरुष अन्यायी प्रतीत होना तथा समझा जाना चाहिये तथा अन्यायी व्यक्ति न्यायी, क्योंकि तुम्हारी सम्मति यह थी, कि यदि उन बातों का वास्तव में देवताओं और मनुष्यों से छिपा रहना असंभव भी हो तो भी केवल शास्त्रार्थ के लिये इसको मान लेना चाहिये, जिससे कि निरपेक्ष न्याय और निरपेक्ष अन्याय के विषय में ठीक निश्चय किया जा सके। यह बात तुमको याद अथवा नहीं ?"

उसने उत्तर दिया, "यदि मुझे याद न होती तो मेरा बड़ा दोष होता।"

मैंने कहा, "तो अब, जब कि दोनों का न्याय हो चुका, मैं न्याय के पक्ष में यह माँग करता हूँ कि अब उसको उसकी वह ख्याति फिर से उपलब्ध हो जानी चाहिये जिसको वह देवताओं और मनुष्यों से वास्तव में उपलब्ध कर भोगता रहा है तथा हमको उस ख्याति को मान लेना चाहिये जिससे कि वह उन विजयोपहारों को भी एकत्रित कर सके जो कि वह बाह्य प्रतीति (ख्याति) से उपार्जित करता है तथा उनको अपने (वास्तविक) धारण करने वालों को प्रदान कर सके, क्योंकि उसके विषय में यह तो सिद्ध किया

जा चुका कि वह वास्तविकता से प्राप्त होने वाले प्रसादों को प्रदान करने वाला है तथा जो उसको वास्तव में धारण करते हैं उनको धोखा नहीं देता।"

उसने कहा, "यह (माँग) उचित है।"

मैंने कहा, "तो क्या तुम सबसे प्रथम मुझको यह स्वीकृति नहीं लौटाओगे कि देवतागण निश्चयमेव न्यायी और अन्यायी दोनों में से प्रत्येक व्यक्ति के आचरण के विषय में अनभिज्ञ नहीं होते ?"

उसने कहा, "हम इस स्वीकृति को लौटा देंगे।"

"और यदि वे दोनों देवताओं की दृष्टियों से परिच्छन्न नहीं होंगे तो हमारी प्रारंभिक (पूर्व) मान्यता के अनुसार उसमें से एक देवताओं को प्रिय होंगे तथा दूसरे उनकी घृणा के पात्र होंगे।"

"यही बात है।"

"और क्या इस बात पर भी सहमत नहीं होंगे कि जहाँ तक देवताओं के प्रियजनों का प्रश्न है, उनके लिये जो कुछ देवताओं से प्राप्त होता है वह, पूर्वकृत पापों के अनिवार्य दुष्परिणाम को छोड़कर, सर्वोत्तम ही होगा ?"

"क्यों नहीं सर्वथा यही बात है ?"

"तब तो न्यायी पुरुष के विषय में हमारी धारणा इस प्रकार की होनी चाहिये कि चाहे वह असंपन्नता, रोग अथवा अन्य किसी प्रातीतिक बुराई में पड़ा हुआ हो तथापि यह सभी वस्तुएँ अन्ततोगत्वा उसके लिए या तो इसी जीवन में अथवा मृत्यु में भली ही सिद्ध होंगी। क्योंकि जो व्यक्ति सच्चे हृदय से न्यायी बनने के लिये प्रवृत्त होता है तथा जो सदाचार के अभ्यास से इतना देवतुल्य हो जाता है जितना कि मनुष्य के लिये संभव है, ऐसा व्यक्ति निश्चयमेव कदापि देवताओं के द्वारा उपेक्षित नहीं किया जा सकता।"

उसने कहा, "यह तो समुचित ही है कि ऐसा व्यक्ति अपने सदृश (देवताओं द्वारा) उपेक्षित न हो।"

"अतएव क्या हमको अन्यायी मनुष्य के विषय में इसके विपरीत बातें नहीं सोचनी चाहिये ?"

"बड़ी प्रबलता से (सोचनी चाहिये) ।"

"तो न्यायी पुरुषों को देवताओं से मिलनेवाले विजयोपहार इस प्रकार के होते हैं ।"

उसनें कहा, "हाँ, मेरी सम्मति में वास्तव में वे ऐसे ही होते हैं ।"

मैंने पूछा, "पर मनुष्यों से उसको क्या प्राप्त होता है ? यदि हम वास्तविकता को प्रकट करें तो क्या स्थिति कुछ इस प्रकार प्रतीत नहीं होती ? क्या चतुर किंतु अन्यायी व्यक्ति उन दौड़ने वालों के समान स्थिति में नहीं होते जो कि दौड़ के प्रारंभिक स्थान से लक्ष्य तक तो ठीक अच्छी प्रकार दौड़ते हैं पर वहाँ से मुड़कर लौटते हुए ठीक नहीं दौड़ते ? वे प्रारंभ में तो बड़ी फुर्ती के साथ उछलकर दौड़ते हैं पर अन्त में वे उपहासास्पद सिद्ध होते हैं तथा अपने कान दबाये हुए बिना जयमाला प्राप्त किये ही सटक जाते हैं । पर सच्चे दौड़नेवाले जब लक्ष्य पर पहुँचते हैं तो उपहार भी और जयमाला भी दोनों ही वस्तुएँ पाते हैं । क्या यही बात प्रायेण न्यायी मनुष्य के विषय में नहीं घटती कि प्रत्येक कार्य तथा संगति के अन्त में तथा समग्र जीवन के अन्त में उनको सम्मान प्राप्त होता है और मनुष्यों से उपहारों की उपलब्धि होती है ।"

"बिलकुल ठीक ।"

"तो क्या अब मेरा इनके विषय में वह सब बातें कहना तुमको सह्य होगा जो तुमने पहले अन्यायी मनुष्यों के विषय में कही थीं ? क्योंकि अब मैं अब यह कहूँगा कि न्यायी पुरुष वयोवृद्ध होने पर यदि चाहें तो अपने नगर में शासक का पद ग्रहण कर सकते हैं, जिस कुल में चाहें उस कुल में अपना विवाह कर सकते हैं तथा अपने बच्चों को भी जिस कुल में चाहें ब्याह सकते हैं । तथा वे सब बातें जो

तुमने अन्यायी पुरुषों के विषय में कहीं थीं वे सब बातें मैं अब इनके विषय में कहूँगा। एवं दूसरी ओर अन्यायी व्यक्तियों के विषय में मैं यह कहूँगा कि उनमें से अधिकांश, (चाहे वे युवावस्था में भले ही अदृष्टदोष बने रहे), पर यात्रा के अन्त में अवश्य ही पकड़े जाकर उपहसित होते हैं तथा जब वे वृद्ध हो जाते हैं तो उनका बुढ़ापा अविदित विदेशियों तथा नगरनिवासियों की अवज्ञा से दुर्दशाग्रस्त हो जाता है। उनको कोड़ों की मार दी जाती है तथा उनको वे सब दण्ड सहने पड़ते हैं जो तुम्हारे कथनानुसार नागरजनों के श्रवण योग्य नहीं हैं (उनको यातना यन्त्र पर बाँधकर खींचा जायगा तथा तपे हुए लोहे से उनकी आँखें फोड़ दी जायेंगी)। कल्पना कर लो कि तुमने मुझसे उन सब कष्टों की आवृत्ति सुन ली जो कि उन्हें सहन करने हैं। पर, जैसा कि मैं कहता हूँ, तुम विचार कर लो कि तुम मेरा कथन मानने को प्रस्तुत हो या नहीं।"

उसने उत्तर दिया, "सर्वथा, क्योंकि आपका कहना उचित है।"

१३

मैंने कहा, "उन सब अच्छी वस्तुओं के साथ साथ, जिनको न्याय स्वयमेव प्रदान करता है, न्यायी मनुष्य को अपने जीवनकाल में ऐसे उपहार, पुरस्कार एवं दान देवताओं और मनुष्यों से प्राप्त हुआ करते हैं।"

उसने कहा, "ये अतीव सुन्दर और स्थायी हैं।"

मैंने कहा, "तथापि यह सब संख्या एवं महत्ता में उनकी तुलना में कुछ नहीं के तुल्य हैं जो कि इन दोनों (व्यक्तियों) की मृत्यु के उपरान्त इनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। तथा इनका वर्णन भी सुना अवश्य जाना चाहिये जिससे कि इन दोनों में से प्रत्येक को उसका वह कर्मफल पूरा पूरा प्राप्त हो जाये जोकि युक्तयनुसार उसको मिलना चाहिये।"

उसने कहा, "आप कहते चलिये, क्योंकि ऐसी बातें बहुत थोड़ी हैं जिनको मैं इसकी अपेक्षा अधिक हर्षपूर्वक सुनना चाहूँगा।"

मैंने कहा, "अच्छा तो मैं तुमसे कह ही न दूँ कि मैं तुमको कोई ऐसी कथा नहीं सुनाऊँगा जैसी (ओडीसियस् ने) अल्किनूस् को सुनायी थी, परन्तु फिर भी यह भी एक वीर पुरुष की ही कथा है जिसका नाम था अर्मिनियस् का पुत्र ईरास् तथा जो पाम्फीलॉस् जाति में जन्मा था। वह कभी युद्ध में मारा गया था। और जब दसवें दिन मृतकों के शरीर सड़ी गली दशा में उठाकर ले जाये गये तो भी उसका शरीर ताजा और अविकृत पाया गया। तथा घर ले जाया जाकर जब बारहवें दिन उसका शरीर चिता पर लिटाया तो गयाअग्निसंस्कार के समय ही वह जी उठा एवं उसने जीवित होकर बतलाया कि परलोक में उसने क्या क्या देखा। उसने कहा जब उसकी आत्मा ने शरीर छोड़ा तो वह बहुतों के साथ यात्रा पर चल पड़ी और चलते चलते एक रहस्यमय स्थान पर पहुँची जहाँ कि पृथ्वी में पास पास दो छिद्र (बिल) थे और ऊपर इन्हीं के सामने आकाश में भी दो छिद्र और थे। दोनों छिद्रों के मध्यवर्ती अवकाश में (अन्तरिक्ष में) न्यायाधीश बैठे हुये थे जो कि निर्णयाज्ञा देने के उपरान्त न्यायी व्यक्तियों को उनके सामने उनके विषय में दिये हुए अपने निर्णय का चिन्ह लगाकर दायें आकाश वर्ती छिद्र से यात्रा करने का आदेश करते थे एवं अन्यायी पुरुष को बायीं ओर धरती में के छिद्र के मार्ग से जाने का आदेश करते थे तथा इनके कर्मों का चिन्ह इनकी पीठ पर लगा दिया जाता था। तथा जब वह स्वयं उस स्थान के समीप पहुँचा तो उन्होंने उससे कहा कि तुमको परलोक की बात नरलोक के मनुष्यों को सुनाने के लिये दूत बनना पड़ेगा और इसलिये उन्होंने उसको उस स्थान की प्रत्येक बात कान देकर सुनने और देखने का आदेश किया। अब उसने देखा कि आत्माओं के संबंध में निर्णय दिये जाने के उपरान्त वे आकाश और पृथ्वी के छिद्रों में प्रवेश कर रही थीं, जब कि छिद्रों के दूसरे जोड़े में से पृथ्वी के छिद्र में से मैल और धूलि से भरी हुई आत्माएँ ऊपर निकलकर आ रही थीं तथा दूसरे छिद्र में से कुछ अन्य आत्माओं की पंक्ति

जोकि निर्मल और स्वच्छ थीं उतर रही थीं; तथा जैसे वह समय समय पर आती थीं तो ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानों वे बड़ी लंबी यात्रा करके आयी हों, एवं वे बड़े हर्षपूर्वक वहाँ के शाद्वल पर विश्राम करने के लिये जा रही थीं तथा इसी प्रकार पड़ाव डाल रही थीं कि मानों कोई बड़ा सार्वजनिक उत्सव हो रहा हो। परस्पर परिचित आत्माएँ एक दूसरे का अभिवादन कर रही थीं, तथा जो भूविवर में से निकल कर आयी थीं वे अन्य आत्माओं से ऊर्ध्वलोक की अवस्था के विषय में पूछतांछ कर रही थीं एवं आकाश से उतरी हुई आत्माएँ भूविवर से निकली आत्माओं की दशा पूछ रही थीं। और वे अपनी अपनी गाथा एक दूसरे को सुना रही थीं; जो भूगर्भ में से निकली थीं उन्होंने रोते बिलखते यह सुनाया कि पाताल लोक की यात्रा में उन्होंने कैसी भयानक यातनाएँ सहीं और कैसी त्रासदायक वस्तुएँ देखीं—तथा उनकी यह भूगर्भ की यात्रा एक सहस्र वर्ष तक चलती रही,—एवं जो आकाश से उतरी थीं उन्होंने अपने अचिन्त्य सौंदर्य से संपन्न स्वर्गिक दृश्यों और सुखानुभवों को वर्णन किया। ग्लौकोन, उनमें से बहुत सी बातें बतलाने में तो बहुत समय नष्ट होगा, पर उसने जो कुछ कहा उसका सार यह है। उन्होंने जो अन्यायपूर्ण कृत्य किये थे और जिस किसी के प्रति जो भी बुराई की थी उनमें से प्रत्येक के लिये उनको बारी बारी से दशगुना दण्ड भोगना पड़ा, तथा एक बारी की माप सौ वर्ष की थी; तथा ऐसा इस धारणा के आधार पर किया गया था कि मनुष्य का जीवन सौ वर्ष का होता है और इस प्रकार दण्ड अपराध से दशगुणा हो जाय। उदाहरणार्थ यदि कोई अनेकों मृत्युओं (हत्याओं) का कारण हो अथवा किसी ने नगरों और सेनाओं को धोखा दिया हो और दास बनाया हो, या अन्य किसी पापाचरण करने में भागीदार हुआ हो, तो उनको इन प्रत्येक पापाचरणों के लिये बदले में दशगुना दुःख सहना पड़े! इसके विपरीत यदि किसी ने (किसी के प्रति) दयालुता के कार्य किये हों, अथवा

कोई न्यायी और पवित्र (धार्मिक) व्यक्ति रहा हो तो वे इसी माप के अनुसार अपना समुचित उपहार पा सकें। तथा जो (बच्चे) बहुत थोड़ी अवस्था में मर गये थे तथा अल्पकाल तक जीवित रहे थे उनके विषय में भी उसने बहुत सी बातें बतलाईं जो उल्लेखयोग्य नहीं हैं। देवताओं तथा मातापिता के प्रति अश्रद्धा और श्रद्धा के विषय में एवं आत्महत्या के विषय में इससे भी अधिक विशिष्ट (महत्वपूर्ण) फलों का उसने वर्णन किया। क्योंकि उसने कहा कि जब एक (आत्मा) ने दूसरी से पूछा "आर्डीऐयस् महान् कहाँ है ?" तो वह (ईर्) वहाँ उपस्थित था। यह आर्डिऐयस् उस समय से ठीक एक हजार वर्ष पूर्व पाम्फीलिया देश के एक नगर में तानाशाह था और उसने अपने वृद्ध पिता और बड़े भाई की हत्या की थी, तथा जैसा कि उसके विषय में कहा जाता था उसने बहुत से दुष्ट (अपवित्र) काम किये थे। अतएव उस (ईर्) ने कहा कि जिस आत्मा से प्रश्न किया गया उसने उत्तर दिया, "वह यहाँ नहीं आया है और न (कभी) उसका यहाँ आना संभवपर है।"

१४

"क्योंकि सचमुच ही हमने (जो बहुत से भयानक) दृश्य देखे उनमें से एक यह (निम्नलिखित) था; जब हम भूविवर के मुख के पास आ पहुँचे और बाहर निकल कर आने वाले ही थे तथा हमारी अन्य यातनाएँ समाप्त हो चुकी थीं, कि एकाएक हमको आर्डीऐयस् तथा अन्य लोग दिखलाई पड़े जिनमें से कि मैं कह सकता हूँ, अधिकांश तानाशाह थे; तथा कुछ व्यक्तिगत स्थिति में जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य भी थे जिन्होंने घोर अपराध किये थे। और ज्योंही (जब) इन लोगों ने यह समझा कि वे अब ऊपर निकल आने वाले हैं त्यों ही भूविवर ने उनको नहीं जाने दिया प्रत्युत (जब कभी किसी असाध्य दुष्ट ने अथवा अधूरे दण्ड भोगे व्यक्ति ने ऊपर निकलने का उद्योग

किया तो विवर ने गर्जना कर के उनको पीछे ढकेल दिया)। इसके उपरान्त वहीं पास खड़े हुए कुछ दारुणाकृति वाले भयंकर मनुष्य गर्जना को सुन कर उनको वहाँ से पकड़ कर ले गए, किन्तु आर्डिऐयस् और अन्य लोगों को तो उन्होंने हाथ, पैर और शिर बाँध कर नीचे फेंक दिया, उनकी चमड़ी उतार उनको सड़क के किनारे किनारे काँटों पर घसीटते हुए ऊन की भाँति धुन डाला (तार तार कर दिया) तथा समय समय पर जो पथिक उधर से निकले उनको यह बतलाते गये कि किस अपराध के कारण वे इस प्रकार पकड़ कर ले जाये जा रहे हैं और तलातल में डाले जाने वाले हैं। उसने कहा यद्यपि वे विविध प्रकार की बहुत सी यातनाओं को भोग चुके थे पर यह भय उनको सब से बढ़ कर था कि कहीं ऐसा न हो कि भूविवर से बाहर जाने का प्रयत्न करते समय प्रत्येक व्यक्ति को गर्जना सुननी पड़े, तथा प्रत्येक व्यक्ति विवर के शान्त रहते हुए प्रसन्नतापूर्वक बाहर निकलता था। दण्ड और प्रतिकार इस (उपर्युक्त) प्रकार के थे एवं वरदान बिलकुल इनके प्रतिकूल थे। पर जब प्रत्येक समूह को उस शाद्वल पर ठहरे हुए सात दिन बीत गए तो आठवें दिन वे वहाँ से उठ कर यात्रा करने के लिए बाधित हुए तथा इसके पश्चात् चौथे दिन वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ से उनको समग्र आकाश और पृथ्वी के बीच में फैला हुआ एक प्रकाश का स्तम्भ जैसा दिखलाई दिया जो कि था तो अत्यधिक इन्द्र धनुष के सदृश पर अपेक्षाकृत अधिक भास्वर और स्वच्छ था। और एक दिन यात्रा कर के वे इसके पास पहुँच गए तथा वहाँ प्रकाश के केन्द्र (मध्य) से उन्होंने आकाश (स्वर्ग ऊरानस्) की रश्मियों के छोरों को लटकते हुए देखा, क्योंकि यह प्रकाश स्वर्ग (आकाश) की करधनी है जो कि समग्र ब्रह्माण्ड को इसी प्रकार संबद्ध किए है जैसे नौका की तलकड़ी नौका के सब अंगों को आबद्ध किए रहती है। इन छोरों से अनिवार्य

धीरे धीरे घूमते थे; इनमें से आठवाँ सब से अधिक द्रुत गति से घूमता है, इसके उपरान्त द्रुतता में दूसरे नम्बर पर सातवें, छठें और पाँचवें आते हैं जो कि मिल कर एक साथ घूमत हैं, तथा जैसा कि उनको प्रतीत हुआ, द्रुतता में तीसरा नम्बर चौथे का था जो कभी कभी उलटा भी चलने लगता है (वक्री भी हो जाता है) तथा (द्रुतता में) चौथे स्थान पर तीसरा था और पांचवें पर दूसरा था। तक़ली अनिवार्य नियति के घुटनों पर घूमती है एवं प्रत्येक की नेमि के ऊपर एक एक साइरीन् (यक्षिणी, गायिका Seiren) स्थित है जो उसके साथ साथ घूमती रहती है जो एक नाद को एक ही स्वर में उच्चरित किया (गाया) करती है और आठों स्वरों से केवल एक समस्वरता (स्वर-संवादिता) उत्थित होती है। इनके अतिरिक्त अन्य तीन (देवियाँ) और भी थीं जो चारों ओर एक दूसरे से समान दूरी पर अपने अपने सिंहासन पर बैठी हुई थीं, यह अनिवार्य नियति की पुत्रियाँ भाग्य देवियाँ थीं जिनके नाम लाखेसिस् (Lachesis) क्लोथो (Clotho), एवं आत्रॉपॉस् (Atropos) हैं, एवं श्वेत वस्त्र पहने हुए शिरो माला विभूषित हैं तथा जो साइरीनों के संगीत के सुर में सुर मिला कर गाया करती हैं, लाखेसिस भूत (गत) का गीत गाती है, क्लोथो वर्तमान (सत्) का एवं आत्रॉपॉस् भविष्यत् का। क्लोथो समय समय पर अपने दाहिने हाथ के स्पर्श से चक्र की ब्राह्य नेमि को घुमाने में सहायता करती है, आत्रॉपॉस् अपने बायें हाथ के स्पर्श से भीतरी चक्रों के चलाने में सहायक होती है, लाखेसिस् बारी बारी से प्रत्येक हाथ से दोनों (बाहरी तथा भीतरी) चक्रों को चलाने में सहाय करती है।

१५

"जब यह (ईर और अन्य आत्मायें) वहाँ पहुँचीं तो तत्काल उनको लाखेसिस् के समक्ष जाने का आदेश हुआ, तदुपरान्त एक देवादेशसूचक

ने पहले तो उनको क्रम व्यवस्था के अनुसार खड़ा किया और फिर वह लाखेसिस् की गोद में से कुछ भागों और जीवनादर्शों को लेकर एक ऊँचे मंच (चबूतरे) पर चढ़ गया तथा यह बोला, "अनिवार्य नियति की पुत्री कुमारी लाखेसिस् का यह वचन है (इसको सुनो) हे क्षणभंगुर (अल्पजीवी) मर्त्य आत्माओं ! लो मरणधर्म मनुष्यों के नये जीवन चक्र का आरम्भ होता है (जिसमें जन्म मृत्यु का सूचक है)। कोई देवता (daimon) तुम्हारे लिए भाग्य का चुनाव नहीं करेगा, प्रत्येत तुम स्वयं अपने भाग्य देवता का चुनाव (निर्वाचन) करोगे। जिसको भी प्रथम निर्वाचन का अवसर प्राप्त हो उसको सब से पहले एक जीवनादर्श छाँट कर चुन लेना चाहिए और तदुपरान्त यह जीवन अनिवार्यतः उसी का रहेगा। पर सद्वृति (आर्थत्व arete) पूर्णतया स्वाधीन है, तथा प्रत्येक व्यक्ति जितना ही उसका सम्मान और अपमान करेगा उतनी ही अधिक अथवा कम वह उसको प्राप्त होगी। दोष चुनाव (निर्बाचन) करने वाले का है; भगवान् निर्दोष है।" ऐसा कह कर उसने सारे भाग उन मनुष्यों के ऊपर फेंक दिये, और उनमें से प्रत्येक आत्मा ने अपने पास गिरे हुए भाग को उठा लिया पर ईर ने ऐसा नहीं किया क्योंकि उसको ऐसा करने से वर्जित कर दिया गया था। तथा उन भागों को उठाते समय प्रत्येक ने स्पष्टतया यह देख लिया कि उसने कौन सी संख्या वाला भाग चुना है। एवं इसके पश्चात पुनः उसने उनके सामने भूमि पर जीवनादर्शों को रक्खा जो संख्या में प्रस्तुत आत्मवर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक थे, एवं सभी विभिन्न प्रकारों के थे। उनमें सब प्रकार के पशुओं के जीवन थे तथा सब प्रकार के मानब जीवन थे, क्योंकि उनके मध्य तानाशाहियाँ भी थीं जिनमें से कुछ तो अन्त तक अबाध चलने वाली थीं और कुछ बीच में खंडित होकर, निर्धनता, निर्वासन एवं भिखमंगी में समाप्त होने वाली थीं; प्रख्यात मनुष्यों के जीवन भी थे

जो या तो शरीर के सौंदर्य अथवा सुडौलपन के लिए प्रसिद्ध थे, अथवा शारीरिक शक्ति एवं खेलों में निपुणता के लिए विख्यात थे या उच्चकुल में जन्म के अथवा पूर्वजों के पुण्यों के कारण प्रख्यात थे, एवं कुछ ऐसे थे जो उपर्युक्त गुणों के प्रतिकूल दुर्गुणों के कारण बदनाम थे, इसी प्रकार सुख्यात अथवा कुख्यात स्त्रियों के जीवन भी थे। तथापि उनमें कोई भी सुस्थिर एवं नियंत्रित चरित्र नहीं था, क्योंकि एक अन्य प्रकार का जीवन चुनने मे आत्मा अनिवार्यतः अन्य प्रकार से नियंत्रित हो जाती है। पर और सब अन्य गुण परस्पर मिश्रित थे, वे सधनता और निर्धनता एवं रोग और आरोग्य इत्यादि द्वन्द्वों एवं इनके मध्यवर्तिनी स्थितियों के साथ भी मिश्रत थे। प्रिय ग्लौकोन्, बस यहीं मानव जीवन का सब से महान भयस्थल है जब कि सर्वस्व की बाजी लगती है । मुख्यतया इसी कारण से हममें से प्रत्येक के लिए यह सब से अधिक चिन्ता का विषय होना चाहिए कि हम अन्य सब अध्ययनों की उपेक्षा कर के इसी विषय का अध्ययन और अनुसंधान करें, स्यात् है कि किसी प्रकार से हमें ऐसे मनुष्य का पता चल जाये जो कि हमको भले और बुरे जीवन में विवेक करने की योग्यता और ज्ञान प्रदान कर सके और हम उससे यह सीख सकें तथा सर्वदा और सर्वत्र जहाँ तक किसी परिस्थिति (अवस्थाओं) में संभव हो सर्वश्रेष्ठ (वस्तु या मार्ग) को ही पसन्द करें । हमको उन सब वस्तुओं (गुणों) पर विचार करना चाहिए जिनका हमने वर्णन किया है और जीवन की उत्तमता पर संयुक्त रूप में अथवा पृथक् रूप में उनके प्रभाव का अनुमान लगाना चाहिए । हमको यह जानना चाहिए कि सौन्दर्य दरिद्रता अथवा निर्धनता आत्मा की किस विशिष्ट वृत्ति के साथ संयुक्त होकर भला या बुरा प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, उत्तम कुल और नीच कुल में जन्म लेने का, व्यक्तिगत स्थिति

का सार्वजनिक पदाधिकार का, सबलता और दुर्बलता का, प्रसन्नमतित्व और जड़ता एवं इसी प्रकार आत्मा की सहज तथा अर्जित वृत्तियों का संयुक्त और मिश्रित होने पर क्या प्रभाव होता है, जिससे कि अपनी दृष्टि को आत्मा के स्वरूप पर स्थिर रख कर, उस जीवन को बुरा नाम देते हुए जो कि आत्मा को अधिक अन्यायी बनाने को प्रवृत्त होता है एवं उसको 'भला' नाम देते हुए जो कि उसको अधिक न्यायी बनाने वाला है, हम इन सब बातों पर विचार कर के वह अपेक्षाकृत भले और बुरे जीवनों में से एक का सयुक्तिक निर्वाचन कर सके। अन्य सब विचारों पर हम कोई ध्यान नहीं देंगे क्योंकि हम यह देख और जान चुके हैं कि जीवन में और मरणोपरान्त यही सर्वोत्तम निर्वाचन है। हेदीस् के गृह (यमालय) को जाते समय (प्रत्येक) मनुष्य को इस सिद्धान्त में बज्रोपम श्रद्धा धारण किये रहना चाहिए जिससे कि वहाँ भी धनधान्य और अन्य कुत्सित प्रलोभनों से चौंधिया न जाये एवं तानाशाही और अन्य इसी प्रकार की बुराइयों में धँस कर दूसरों के लिए दुःखदायी अनेकों असाध्य बुरे कार्य न कर डाले तथा स्वयं उनसे भी महान कष्ट न सहे, प्रत्युत इस जीवन में भी जहाँ तक हो सके एवं आगामी जीवन में भी उसको यह जानना चाहिए कि इन सब बातों में दोनों छोरों को वर्जित कर के मध्यम स्थिति के जीवन को किस प्रकार निर्वाचित किया जा सकता है; क्योंकि इसी प्रकार मनुष्य सब से अधिक सुखी हो सकता है।

१६

और उसी समय परलोक के संवादवाहक (ईर्) ने यह भी कहा कि देवसंदेशसूचक इस प्रकार बोला, "सब से अन्त में आकर चुनाव करने वाली आत्मा तक के भी लिए, यदि वह बुद्धिमानी से निर्वाचन करे और उद्यमी जीवन बिताये, एक ग्रहण करने योग्य जीवन नियत है जो कि

बुरा नहीं है। न तो प्रथम निर्वाचक को असावधान (प्रमादी) होना चाहिए और न अंतिम को हताश।" जब कि देवसंदेशसूचक यह कह चुका, तो जिस व्यक्ति ने सब से प्रथम भाग चुना था, एकदम सब से, बड़ी तानाशाही को हस्तगत करने के लिए दौड़ा एवं अपनी मूढ़ता तथा लोलुपता वश उसने, पर्याप्त परीक्षण के बिना ही उसको चुन लिया, वह यह तक देखने में असफल रहा कि इस निर्वाचन के कारण, अन्य आपत्तियों के साथ स्वयं अपनी प्रजा (सन्तान) का भक्षण भी उसका भागधेय हो गया। परन्तु जब पीछे अवकाश मिलने पर उसने अपने (भागधेय) का निरीक्षण किया तो वह देवसंदेशक की उपर्युक्त चेतावनी को न मान कर अपनी छाती पीट कर अपने निर्वाचन पर पछताने लगा क्योंकि उसने अपने को दोष नहीं दिया, प्रत्युत अपने अतिरिक्त भाग्य और देवताओं और अन्य किसी को भी दोष लगाया। वह उन लोगों में से था जो स्वर्ग से लौट कर आये थे। एवं अपने पूर्वजन्म में एक सुव्यवस्थित राष्ट्र में रहता था, तथा जिसकी सद्वृत्ति सहजस्वभाव से उसको प्राप्त हुई थी तत्त्वज्ञानप्रेम (फिलासफी) के कारण नहीं। जो लोग इस प्रकार (निर्वाचन में) धोखा खा गये सच तो यह है कि उनमें से अधिकांश स्वर्ग से आये थे, क्योंकि वे कष्ट द्वारा परीक्षण में नहीं तौले गये थे (अथवा कष्ट की कसौटी पर नहीं कसे गये थे)। पर जो यात्री पृथ्वीगर्भ में से ऊपर निकल कर आये थे उनमें से अधिकांश ने, क्योंकि उन्होंने स्वयं कष्ट भोगा था एवं दूसरों को कष्ट भोगते देखा था, चुनाव करने म इतनी अंधाधुंध शीघ्रता नहीं की। इस कारणवश भी एवं भाग के दैवयोग से भी अधिकांश आत्माओं के पक्ष में भले और बुरे की अदलाबदली हो गयी। (तथापि) यदि इस भूलोक को प्रत्येक प्रत्यावर्तन के समय कोई स्वस्थ चित्त से तत्त्वचिंतन करे, तथा उसके चुनाव का भाग बिलकल ही अन्त में न पड़े तो हम परलोक के संदेश के आधार पर यह

कहने का साहस कर सकते हैं कि न केवल इस लोक में वह सुखी रहेगा, प्रत्युत उसकी परलोक यात्रा का मार्ग भी यहाँ से परलोक तक तथा वहाँ से इस लोक तक भूविवर के भीतर होकर एवं कठोर नहीं होगा किन्तु समतल और स्वर्ग में होकर जाने वाला होगा । क्योंकि उसने वतलाया था कि पृथक् पृथक् आत्माओं ने अपना चुनाव किस प्रकार किया। यह दृश्य भी बड़ा ही विचित्र और दर्शनीय था—जो कि एक साथ करुण, हास्यास्पद एवं अनोखा था। अधिकांश में उनका चुनाव अपने पूर्व जीवन की आदतों से निश्चित होता था। इस प्रकार उसने देखा कि उस आत्मा ने जो कि पूर्व जन्म में आर्फीयस् थी हंस का जीवन चुना, क्योंकि स्त्रियों के द्वारा मारे जाने के कारण उसको स्त्री जाति से बैर हो गया था और वह नारी के गर्भ से उत्पन्न होना ही नहीं चाहता था। उसने थामीरास् की आत्मा को बुलबुल का जीवन चुनते देखा, एवं एक हंस को अपना जीवन बदल कर मानव जीवन को चुनते देखा और इसी प्रकार अन्य गायक पक्षियों को भी (ऐसा ही करते पाया)। जिस आत्मा ने बीसवीं बारी पर चुनाव किया उसने सिंह का जीवन पसन्द किया, वह तेलामोनियस का पुत्र आयास् था, जो कि (अखिल्लीस) के हथियारों के विषय में हुए निर्णय को याद कर के मनुष्य बनना नहीं चाहता था। इसके उपरान्त अगामैम्नौन की आत्मा ने भी इसी प्रकार अपनी यातनाओं के कारण उत्पन्न हुई मानव ज़ाति की घृणा से मनुष्य के स्थान पर चील (गरुड़) का जीवन चुना। अतलान्ती की आत्मा का भाग मध्य में था, उसने भाग का परचा उठाते समय देखा कि मल्ल के जीवन के साथ बहुत प्रतिष्ठा लगी हुई है अतएव वह इस जीवन के लोभ को संवरण नहीं कर सकी तथा उसी को ग्रहण करने को लपकी। इसके अनन्तर उसने पानौपियस् के पुत्र ऐपियस् को (जिसने ट्राय वाला काठ का घोड़ा बनाया था) शिल्प-

कारिणी स्त्री का स्वभाव स्वीकार करते देखा; तथा दूरी पर पीछे स्थित आत्माओं में उसने मस्खरे थैसितेम् को वानर के बाह्याकार को धारण करते हुए देखा। दैवात् ऑडीसियम् को सब से अन्तिम भाग मिला और वह भी चुनाव करने को आगे आया और अपनी पूर्वकालीन झंझटों के कारण महत्त्वाकांक्षा की आसक्ति छूट जाने से, वह एक साधारण से निर्धन्धी नागरिक के जीवन को खोजता हुआ बहुत देर तक इधर उधर भटकता रहा और बड़ी कठिनाई से उसको ऐसा जीवन अन्य आत्माओं के द्वारा उपेक्षित एक कोने में पड़ा हुआ मिला और उसको देख कर उसने कहा कि उसने यदि प्रथम भाग को भी पाया होता तो भी वह इसी (जीवन) को चुनता—अतएव उसने सहर्ष उसी को चुना। इसी प्रकार से, अन्य जीवधारियों में से कुछ मनुष्य योनि में तथा कुछ परस्पर एक दूसरे की योनियों में चले गए, जो अन्यायी थे वे वन्य जन्तुओं की योनियां में गये तथा न्यायी पालतू जीवों की जाति में, किंबहुना वहाँ सभी प्रकार के मिश्रण और संयोग घटित हुए। अन्त में, सब आत्माओं के अपने अपने भाग के क्रमानुसार जीवन चुन लेने के उपरान्त वे सब उसी क्रम में लाखैसिस् के समक्ष उपस्थित हुए। उसने उनमें से प्रत्येक के साथ उसके जीवन के पथदर्शक तथा भाग्यविधायक के रूप में रहने के लिए उनका चुना हुआ दैमोन् अथात् भाग्य देवता भेजा। यह भाग्य देवता सर्व प्रथम आत्मा को क्लोथो के पास इसलिए ले गया कि जिससे उसके हाथ एवं उसकी तकुली के चक्र के नीचे उस आत्मा के भाग्य निर्वाचन को प्रमाणीकृत कर लिया जाय। उसके सम्पर्क के उपरान्त भाग्य देवता फिर उसको अत्रॉपॉस् की कताई के पास ले गया जिसने अपना चक्र चला कर उसके भाग्य पट को अपरिवर्त्तनीय बना दिया; जहाँ से वे सीधे, बिना पीछे मुड़े हुए अनिवार्यनियति के सिंहासन के नीचे को होकर निकले। वहाँ से (ईर् की आत्मा के)

निकलने के उपरान्त जब अन्य आत्माएँ भी वहाँ से निकल आईं, तो उन सब ने भयंकर दमघोटने वाली गर्मी में विस्मृति के मैदान (लीथी) की ओर यात्रा की जहाँ की भूमि वृक्षों एवं पौदों से नितान्त शून्यथी, तथा सायंकाल आने पर सब ने मूलभ्रान्ति नदी (अमेलीता) के तट पर पड़ाव किया, जिसका जल किसी भी पात्र में धारण नहीं किया जा सकता। इस जल की एक नियत मात्रा सभी को अवश्यमेव पीनी पड़ती है तथा जिनकी बुद्धिमत्ता ने उनकी रक्षा नहीं की वे नियत मात्रा से अधिक पी गये और पानी पीते ही उनमें से प्रत्येक सब कुछ भूल गया। उनके सो जाने के पश्चात् जब आधी रात का समय हुआ तो बड़ा भयानक वज्राघात का शब्द हुआ, एवं पृथ्वी काँप उठी, और वे एकाएक उल्काओं के सदृश कोई इधर, कोई उधर अपने अपने जन्म की ओर उड़ गये। वह स्वयं उस जल को पीने से रोक दिया गया था, पर किस प्रकार एवं किस उपाय से पुनः वह अपने शरीर में लौट आया यह उसको कुछ पता नहीं था, किन्तु अकस्मात् दृष्टि के पुनः प्राप्त होने पर उसने अपने को उषःकाल में चिता पर लेटे पाया।

और इस प्रकार, हे ग्लौकोन, कहानी बच गयी, नष्ट नहीं हुई। और, यदि हम इसको मानें (इस पर श्रद्धा रक्खें) तो यह हमको भी बचा सकती है इसपर श्रद्धा रखते हुए हम कुशलतापूर्वक विस्मृति की नदी को पार कर सकते हैं; और अपनी आत्मा को संसार से निष्कलंक रख सकते हैं [१]। परन्तु यदि लोग (प्रस्तुत मण्डली) मेरी मानें तो यह विश्वास करते हुए कि आत्मा अमर है तथा भलाई और बुराई दोनों की पराकाष्ठा को सहने में समर्थ है, हम सदा ऊर्ध्वगामी पथ पर ही चलते रहें एवं सदा सर्वदा बुद्धिमत्ता के साथ

---

[१] नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा (गीता)।

न्यायपरता (धर्मपरता) का ही अनुसरण करें जिससे कि हम अपनी इस लोक यात्रा में भी और तब भी, जब कि खेलों के विजयी खिलाड़ियों के समान, जो कि उपहारों को एकत्रित करते जाते हैं, हम अपने उपहार पाने के लिए (परलोक को) गमन करें हम परस्पर एक दूसरे के और देवताओं के, दोनों के ही प्रिय बने रहें। इस प्रकार यहाँ भी और उस सहस्र वर्ष की यात्रा में भी जिसका मैंने वर्णन किया है, दोनों ही में हमारा कल्याण होगा।"

टिप्पणियाँ

प्रथम पुस्तक

पृष्ठ ७५. सॉक्रातीस्---प्लातोन का गुरु और प्रसिद्ध महापुरुष। ग्लौकोन् और अदैमान्तस्---प्लातोन के भाई।

पालीमार्कस्---कैफालस् का पुत्र और सॉक्रातीस् का परिचित नवयुवक।

थ्रासीमाकस्---एक प्रसिद्ध सोफ़िस्ट (=शिक्षक)।

कैफ़ालस्---पाइरियस् का वृद्ध धनाढ्य व्यापारी, पालीमार्कस् का पिता और सॉक्रातीस् का मित्र। वह बाहर से आकर पाइरियस् बस गया था।

अरिस्तोन---ग्लौकोन्, अदैमान्तस् और प्लातोन का पिता।

पाइरियस्---अथेन्स् नगर से पाँच मील की दूरी पर स्थित बन्दरगाह।

देवी---बेन्दिस् नामक देवी का मन्दिर पाइरियस् में था। कुछ लोग इस देवी को आर्तेमिस् से अभिन्न समझते हैं जो द्यौस् (ज्यूस) और लेतो की पुत्री है तथा चन्द्रमा की अभिमानिनी देवता है।

पृष्ठ ७६. निकियास्---एक अथेन्स् निवासी जो कि पैसे वाला होने के साथ ही साथ विचारक भी है। प्लातोन के कई संवादों में निकियास् का उल्लेख हुआ है विशेषरूप से लाकैस में।

निकेरातस्---निकियास का पुत्र।

पृष्ठ ७७. लीसियास्---कैफ़ालस् का पुत्र और महान् वक्ता।

यूथीडेमस्---पॉलीमार्कस् तथा लीसियास का भाई और कैफ़ालस का पुत्र। लगभग ई० पू० ४०४ में इस पर परिवार अथेन्स् की सरकार का दमनचक्र चला। लीसियास तो किसी प्रकार बचकर निकल गया किन्तु पॉलीमार्कस् को विषपान का दण्ड दिया गया।

खाल्केडानिया—बॉस्फोरस में एक नगर था ।

कार्मान्तिदेस्—इस व्यक्ति का नाम केवल इसी पुस्तक में आया है । अरिस्तोनीमस् और उसके पुत्र क्लैताफॉन् का नाम भी केवल रिपब्लिक में ही आया है ।

पृष्ठ ७९. सॉफ़ॉक्लीस्—यूनान का एक विख्यात दुःखान्त नाटक-लेखक । इसका समय ई० पू० ४९६—४०६ है ।

पृष्ठ ८०. थैमिस्टॉक्लीस—एथेंन्स् का एक संभ्रान्त पुरुष जिसने नगर के डॉक और दीवालों को बनवाने में सहायता दी थी । इसका उल्लेख प्लातोन के कई संवादों में हुआ है ।

सैरीफ़स—किक्लादेस् द्वीपपुंज में एक छोटा सा नगण्य द्वीप है ।

पृष्ठ ८१. अधःलोक—ग्रीक शब्द हेडीस् (Hades) है जो कि भूतल के नीचे के संसार, वहाँ के अधिपति एवं प्रेतलोक तथा यमलोक के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

पृष्ठ ८२. पिण्डार—यूनान का सुविख्यात गीतिकाव्य रचयिता । इसका समय ई० पू० ५२२—४४८ है ।

पृष्ठ ८३. सिमोनिदेस्—यूनान का गीतिकाव्य रचयिता । जीवन-काल ई० पू० ५५६—४६८ ।

पृष्ठ ९०. हॉमोर अथवा होमर—यूनान का आदि कवि जो इलियड्, ओडिसी दो महाकाव्यों एवं कतिपय देवस्तुतियों का रचयिता है ।

ओडीसियस्—होमर के ओडिसी नामक महाकाव्य का प्रमुख पात्र जो कि अपने चातुर्य एवं पराक्रम के कारण प्रसिद्ध है ।

औतॉलिकस्—ओडीसियस् का नाना और प्रख्यात चोर । अपने यहाँ आल्हाखंड का माहिल इसका समकक्ष है ।

भगवान् —मूलशब्द 'दी' है जो वैदिक शब्द द्योस से मिलता जुलता शब्द है ।

पृष्ठ ९४. बियास्, पित्ताकॉस्—यूनान के सप्तऋषियों में से दो ऋषि। संभवतया दोनों ही कवि भी थे। पित्ताकॉस तो कुछ काल के लिये मितीलीन के तानाशाह भी हो गये थे।

पृष्ठ ९५. पैरियाण्डर, पैडिक्कॉस, क्षैरक्षस्, थेबेस निवासी इस्मेनियास्—यह सभी तानाशाह थे जो अपनी सम्मति को दूसरों पर बल पूर्वक लादना चाहते थे। पैरियाण्डर का उल्लेख केवल यहीं हुआ है। पैडिक्कॉस का उल्लेख एकाधिक संवादों में हुआ है। क्षैरक्षस् फारस् देश का सम्राट था जिसने यूनान देश पर आक्रमण किया था। इस्मेनियस थेबेस नगर में एक दल का अग्रणी था। लगभग ३९५ ई० पू० इसकी विशेष ख्याति हुई थी।

पृष्ठ ९६. मैं मूक हो गया होता—प्राचीन लोगों में यह धारणा फैली हुई थी कि यदि भेड़िये और मनुष्य का सामना होने पर भेड़िये की दृष्टि मनुष्य पर पड़ जाये तो मनुष्य मूक या गूँगा हो जाता था। यहाँ तो सॉक्रातेस् व्यंजनावृत्ति द्वारा थ्रासीमाकस् की तुलना भेड़िये से कर रहा है।

पृष्ठ ९७. दैया रे दैया, मूल शब्द है हेराक्लीस्। हेराक्लीस् यूनान देश की पुराण कथाओं में एक अत्यंत पराक्रमी वीर पुरुष है।

पृष्ठ १००. पॉलीडामस् थिसली प्रदेश के स्कोटुसा स्थान पर रहने वाला विख्यात मल्ल था। इसका डील डौल बड़ा विशाल था और इसके विषय में यह कथा प्रसिद्ध थी कि इसने औलिम्पस् पर्वत पर एक सिंह को निहत्थे ही मार डाला था और यह पूर्ण वेग से दौड़ते हुए रथ को रोक सकता था।

स्वेच्छाचारी शासन, जनतंत्र, एवं कुलीनतंत्र के लिए मूल में क्रमशः तिरान्निकी, डेमौक्रातिया एवं अरिस्तौक्रातिया हैं। यह शब्द प्रायः प्रयुक्त होते हैं अतएव इनको ध्यान में रखना चाहिए।

पृष्ठ १०४. चुगलखोर—मूल में यहाँ सिकोफान्तेस् शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द उन धूर्तों के लिए प्रयोग में आता था जो सीधे सादे धनवानों पर न्यायालय में झूठा अभियोग चला कर उनका धन ऐंठ लिया करते थे। शब्द का धात्वर्थ अञ्जीर दिखलाने वाला है।

पृष्ठ १०७. निर्यामिक देखो पाली निय्यामक=कर्णधार।

पृष्ठ ६८. जोशीले और शब्दाडम्बरपूर्ण भाषण सोफिस्टों की विशेषता ही थे। वे इन्हीं के द्वारा जनता को आकृष्ट करने में निपुण थे।

पृष्ठ १३४. मूल में विशेष गुण के लिए (अरैते) शब्द है। यह शब्द प्लातोन के तत्त्वज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। अरविंद घोष भारतवर्ष में ग्रीकभाषा के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता हैं उनके मत में यह शब्द अरि, अर्य, आर्य, अरुण इत्यादि का सजातीय है और अर् धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अंग्रेजी अनुवाद Virtue शब्द द्वारा किया जाता है।

पृष्ठ १३५. आत्मा के लिए मूल में प्सीखे शब्द है जिसका अर्थ श्वास, प्राण, जीवन, आत्मा इत्यादि होता है। पौराणिक कथाओं में प्सीखे का वर्णन एक तितली के समान पक्ष धारण किए हुए सुन्दरी कुमारी के रूप में किया गया है जिसका प्रेम ऐरॉस् नामक युवक से है। एक प्रकार के पतिंगे को भी प्सीखे कहते हैं। संस्कृत शब्द पक्षी इसका सजातीय प्रतीत होता है। जीवत्मा को पक्षी, पखेरू इत्यादि शब्दों द्वारा हमारे देश में भी अभिहित किया जाता है। देखो "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि 'उपनिषद्'।

पृष्ठ १३६. न्याय के लिए मूल में दिकाइया शब्द है जो भाषाशास्त्र के अनुसार संस्कृत दिश् धातु का सजातीय है जिसका अर्थ दिखलाना, आज्ञा करना, नियम निर्देश करना, प्रबन्ध करना इत्यादि है।

पृष्ठ १३७. मैं कुछ नहीं जानता—सॉक्रातेस् की स्वाभाविक विनम्रता तथा प्रस्तुत विवेचन की अपूर्णता को सूचित करता है। परन्तु प्लातोन के प्रारंभिक संवादों में यही कथन अन्तिम स्थिति को सूचित करता है।

उन संवादों में सॉक्रातेस् अन्य लोगों की सम्मतियों का खंडन करता है और अन्त में जब प्रकृत विषय पर उसकी सम्मति पूछी जाती है तो वह यही कह देता है कि मैं कुछ नहीं जानता आप लोगों से सीख कर जानना चाहता हूँ। इस प्रकार के संवाद निषेधात्मक (अनिर्णीत) संवाद कहलाते हैं। रिपब्लिक इस प्रकार का संवाद नहीं है।

यद्यपि यहाँ पर यह संवाद समाप्त हुआ सा प्रतीत होता है पर वास्तव में यह बात नहीं है। प्रथम पुस्तक तो प्रस्तावना मात्र है।

द्वितीय पुस्तक

द्वितीय पुस्तक के आरंभ में प्लातोन पुनः एक बार अन्याय के पक्ष को परिपूर्णता के साथ ग्लौकोन् द्वारा प्रस्तुत कराता है। यह प्लातोन की न्यायप्रियता का सर्वोत्तम निदर्शन है कि वह विरोधी पक्ष के किसी भी पहलू की उपेक्षा नहीं करता।

पृष्ठ १३९. अच्छी वस्तुएँ Ta agatha ब.व. agathos ए.व.। यह शब्द भी प्लातोन के तत्त्वज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। अच्छी वस्तुएँ यहाँ तीन प्रकार की बतलायी गयी हैं। (१) स्वतः शुभ, (२) परिमाणतः शुभ, (२) उभयतः शुभ। प्रथम पुस्तक में न्याय का वर्णन परिणामतः शुभ के रूप में हुआ है। अब यह माँग प्रस्तुत की जा रही है कि उसको स्वतः शुभ सिद्ध कर के दिखलाया जाय।

पृष्ठ १४०. सर्प के समान—जिस प्रकार बीन के मधुरनाद से सर्प मुग्ध हो जाता है इसी प्रकार तुम्हारी वाणी से थ्रासीमाकस् मुग्ध हो गया है।

पृष्ठ १४३. लीडिया का गीगस्—इस स्थान पर मूल में पाठभेद मिलता है। हस्त-लिखित प्रतियों में तो जो पाठ मिलता है उसका अर्थ अनुवाद में दे दिया गया है। सम्पादकों ने इसके जो संशोधन सुझाए हैं

उस अनुसार इस वाक्यांश का अर्थ (१) 'लीडिया निवासी क्रोयसस् के पूर्व पुरुष गीगस्,' (२) (लीडिया के राजा के पूर्व पुरुष) 'गीगस्' इत्यादि होता है।

पृष्ठ १४४. देवतुल्य—परम शक्तिशाली। दण्ड की पहुँचसे परे।

पृष्ठ १४६. अयस्कलस्—अइस्खिलस् (ई० पू० ५२५-४५६) यूनान् सर्व प्रथम दुःखान्त नाटकों का रचयिता है। यहाँ उसके जिस कथन का उल्लेख हुआ है वह है "हैप्टा एपीथीबास्" (थीबेस नगर पर सात शत्रुओं की चढ़ाई) नामक नाटक की ५७४ वीं पंक्ति में आया है।

पृष्ठ १४७. शूली पर लटका दिया जायगा—पश्चात्कालीन खीस्टियन् लेखकों ने मसीह् की शूली के सम्बन्ध में इस कथन को प्रायः उद्धृत किया है।

पृष्ठ १४८. अपनी बुद्धि की गहरी (कूंडों)—यह कथन भी अइस्खिलस् के उपर्युक्त नाटक में (५९२-९४ पंक्तियों) में आया है।

पृष्ठ १४९. 'भाई का हो भाई सहाय'—इस लोकोक्ति का मूल स्रोत प्राचीन टीकाकारों के अनुसार हॉमीर के ऑडीसी नामक काव्य के १६ वें सर्ग की ९७ वीं पंक्ति है।

पृष्ठ १५०. हीसियॉडॉस्—यूनान देश का एक अत्यन्त प्राचीन कवि जिसका नाम हौमेरॉस् के पश्चात् आता है। यह पंक्तियाँ उसके कार्य और दिवस "ऐर्गा कै हेमैराइ" नामक कृषि काव्य से उद्धृत की गयी हैं। देखो उक्त काव्य की २३२ और उसके पीछे आने वाली पंक्तियाँ।

हौमेरॉस्—देखो ओडीसी काव्य के १९ वें सर्ग की १०९ और उसके पीछे वाली पंक्तियाँ।

मुसइयस् और उसका पुत्र ऑयमोल्पस्—यह कवि हौमेरॉस् से भी अधिक प्राचीन कहे जाते हैं। यह थ्राक प्रदेश के निवासी थे इनका

कोई ग्रंथ नहीं मिलता सूक्ति संग्रहों में इनकी सूक्तियाँ संगृहीत हैं। यह सम्भवतया ऑर्फ़िक सम्प्रदाय को मानने वाले थे।

हेडीस्—देखो ८१ पृष्ठ की टिप्पणी।

पृष्ठ १५२. आर्फियस्—हौमेर से भी पुराना कवि, दियोनीसस् का अनुयायी तथा कल्लियोपी कला देवी का पुत्र था। इसकी वीणावादन की दक्षता अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसी के सहारे यह अपनी मृत पत्नी यूरीदिके को यमलोक से लौटा लाया था। अन्त में यह थ्राक देश की भैरवियों द्वारा मार डाला गया। इसके नाम से प्राचीनकाल में एक रहस्यात्मक सम्प्रदाय प्रचलित था।

संस्कृत की इस उक्ति "स्तोत्रं कस्य न तुष्टये" से तुलना करो।

पृष्ठ १५३. पिण्डार—देखो ८२ पृष्ठ की टिप्पणी।

पृष्ठ १५३. अर्खिलोखस्—सम्भवतया ई० पू० ७ वीं शताब्दी का कवि है। हिजो (निन्दाजनक कविता) लिखने में इसने परम ख्याति पाई थी। यह जिस कुमारी को प्रेम करता था जब उसको प्राप्त नहीं कर सका तो उसकी और उसके पिता की इसने ऐसी हिजो लिखी कि वे दोनों फाँसी खाकर मर गए। इसकी कविता के अब छिन्न-भिन्न खण्ड मात्र उपलब्ध होते हैं।

पृष्ठ १५८. मैगारा के युद्ध अथेंस और कॉरिन्थ के निवासियों में हुए थे। इनका समय इ० पू० ४५३ और ई० पू० ४०९ है। यहाँ जिस युद्ध का उल्लेख है वह संभवतया ई० पू० ४०९ वाला युद्ध है। पर कुछ लोग अदैमान्तस् और ग्लौकोन को प्लातोन के चचा मानते हैं, उनके मत में यह युद्ध ई० पू० ४५३ वाला युद्ध होगा।

पृष्ठ १६०. नगर—वास्तव में तो रिपब्लिक का प्रारंभ यहीं से होता है। मूल में नगर के लिए Polis पौलिस् शब्द आया है जो संस्कृत के पुर शब्द का सजातीय है। प्लातोन की इस पुस्तक का मूलनाम भी

पॉलितेइया (पुरनीति-पौरत्या) है। रिपब्लिक तो इस पुस्तक का लैटिन नाम है जो मूल नाम की अपेक्षा अधिक प्रचलित हो गया है।

पृष्ठ १७३. रक्षक—मूल शब्द Phylakos है जिसका अर्थ रक्षक, संरक्षक तथा चौकीदारी या चौकसी करने वाला होता है। यह शब्द, जैसा कि आगे पता चलेगा, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है।

पृष्ठ १७३. स्वभावों—स्वभाव वाले मनुष्यों को।

पृष्ठ १७४. जीवट, मूल में Thymocides थिमोइदीस् शब्द है जिसका अर्थ उत्साहपूर्ण होता है। यह शब्द थिमॉस् से बना है जो संस्कृत के धूमः शब्द का सजातीय है। चाहें तो इसका अर्थ राजसिक स्वभाव वाला भी कर सकते हैं।

पृष्ठ १७६. विवेकप्रियता (दार्शनिकता)—मूल में philosophos शब्द है जिसका अर्थ विद्या अथवा बुद्धिमत्ता (sophia) को प्रेम करने वाला (philos) है। इस शब्द का प्रयोग सब से पहले पिथागॉरस ने अपने लिये किया था। इसी से फिलॉसफ़र शब्द बना है।

पृष्ठ १७८. संगीत के लिये मूल ग्रन्थ में मूसिकी शब्द है जो इस ग्रन्थ में संगीत और साहित्य (विशेष कर काव्य) दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। मूसा (अंग्रेजी म्यूज़) ग्रीक प्रदेश में ललित कलाओं और विद्या की अधिष्ठात्री देवियाँ मानी जाती थीं। इनकी संख्या ९ है। प्लैटो ने मूसिकी शब्द का प्रयोग, वीणावादन, गायन, कविता, साहित्य, संस्कृति एवं दर्शन इत्यादि अनेक अर्थों में किया है।

पृष्ठ १८०. हीसियॉडस्—होमर के उपरांत यूनान का सबसे प्राचीन कवि। देखो १५० पृष्ठ की टिप्पणी।

यूरानस्, क्रॉनॉस, शूकर बलि इत्यादि। यह कथा हीसियॉडस् की थियॉगानी नामक पुस्तक (देवकुल) में १५४–१८१ पंक्तियों में मिलती है।

पृष्ठ १८२. हेरा का बन्दी बनाया जाना—इस नाम का एक नाटक है जिसका लेखक एपीकार्मस् है ।

हिफाइस्तॉस के फेंकने का वर्णन इलियड् काव्य में १।५८६–५९४ में मिलता है । देवताओं के द्वंद्व के लिये देखो इलियड् २०।१–७४ तक तथा २१।३८५–५१३ तक ।

पृष्ठ १८४. इलियड् २४।५२७–५३२ ।

पाण्डारॉस् इलियड् नामक महाकाव्य में वर्णित ट्राय के युद्ध में ट्राय की सेना का नायक था । इसी महाकाव्य में ४।८९ में उसके संधिभंग करने का वर्णन है ।

पृष्ठ १८५. अथीना अथेन्स नगर की अधिष्ठात्री देवी थी । वह द्यौस् की पुत्री थी । उसका सबसे बड़ा मन्दिर अक्रौपौलिस् में था । वह नगर की रक्षिका और विविध प्रकार की कलाओं की संरक्षिका मानी जाती थी ।

थैमिस् द्यौस के दरबार में एक विशेष पद पर आरूढ़ देवी थी । उसका काम देवताओं की सभा एकत्रित करना । आगे चलकर वह न्याय की अधिष्ठात्री देवी मानी जाने लगी । यहाँ जिस घटना की ओर संकेत है वह इलियड् काव्य में २०।१–७४ में वर्णित है ।

नियोबी के सात पुत्र और सात पुत्रियाँ थीं जिनका उसे बहुत गर्व था । अपौलो और आर्तेमिस् ने इन सब पुत्र और पुत्रियों को अपने बाणों से मार डाला । नियोबी शोक में रोते रोते पत्थर हो गयी ।

पैलौप्स का परिवार ग्रीस देश की पौराणिक कथाओं में अत्यंत लोमहर्षक दुःखांत घटनाओं का केन्द्र था । त्रागेदी (दुःखांत नाटक) लिखने वाले कवियों ने इस परिवार के विषय में अनेकों नाटकों की रचना की है ।

त्राय (ट्रॉय) नगर के ध्वंस की कथा का वर्णन इलियड् महाकाव्य में है ।

पृष्ठ १८८. देवताओं के भेस बदल कर घूमने का वर्णन ओडिसी महाकाव्य में (१७।४८५–८६) है।

प्रोटियस् समुद्र का देवता था और मनमाना रूप बदल सकता था।

थैटिस् ने पैलियस् की प्रेमयाचना से बचने के लिये अपना रूप बदल लिया। वह जल देवता नैरियस् की पुत्री थी।

हेरा का यह प्रसंग 'अयस्किलस्' कि 'जंत्रियाए' नामक रचना में आया है।

पृष्ठ १९०. अनुभावमूर्ति = बाद को उत्पन्न होने वाली, पश्चाद्भावी आकृति।

पृष्ठ १९२. इस स्वप्न का वर्णन इलियड् में (२।१—३४) है।

थैटिस् का यह कथन अयस्किलस् के किसी विनष्ट नाटक से उद्धृत किया गया है। यहाँ वह अपने पुत्र अखिल्लीस के सूर्यदेव के द्वारा मारे जाने पर पश्चात्ताप कर रही है।

कोरस का अर्थ गायन-मंडली है। यह गायन मंडली प्रत्येक नाटक में सन्निविष्ट रहती थी। इसका व्यय अथेन्स की समृद्धि के समय में तो कोई धनवान् व्यक्ति देता था, पर पीछे राज्य की ओर से यह व्यय मिलने लगा था। कोरस को ट्रेनिंग देकर तैयार करना स्वयं नाटककार का कर्तव्य था।

तृतीय पुस्तक

पृष्ठ १९३. अधःलोक अथवा ग्रीक लोगों का यमलोक हेडीस् कहलाता है। यहाँ के अध्यक्ष का नाम भी हेडीस् अथवा प्लूतो है। मृत्यु के पश्चात् प्रेतात्मा स्तिक्ष अथवा अखैरॉन् नदी को कारौन् की नौका में पार कर इस लोक में पहुँचते हैं। द्वार पर कैरबैरस् नामक तीन मुख अथवा पचास मुख वाला कुत्ता रहता है। इस शब्द को कुछ विद्वान् ऋग्वेद कर्बुरित श्वान् का सजातीय मानते हैं। हेडीस् की आकृति अवश्य डरावनी

है परन्तु वह न्यायी शासक है और वह प्रेतात्माओं को उनके कर्मानुसार स्थान देता है ।

पृष्ठ १९४. "मैं विनाश को........समझूँगा ।" औडिसी काव्य में (११।४८९-९१) यह वाक्य ओडीसियस् के समझाने पर अखिल्लीस ने कहे हैं ।

"कहीं.......घृणा है ।" देखो इलियड् २०।६४

"हाय........नहीं है ।" इलियड् २३।१०३

"केवल.......रह जायेंगे ।" ओडिसी १०।४९५

"भरी जवानी......उड़ गयी ।" इलियड् १६।८५६

"बड़बड़ाते हुए......हो गयीं ।" तुलना करो इलियड् २३।१००

"जिस प्रकार......उड़ गयीं ।" ओडिसी २४।६-१०

पृष्ठ १९५. कोकिनास् अधःलोक में अखैरॉन् की एक सहायक नदी है । देखो १९३ पृष्ठ के अधःलोक पर टि० ।

"वह तो अवश्य ही पूर्वोक्त का अनुसरण करेंगे"---निषिद्ध कर दिये जायेंगे ।

पृष्ठ १९६. देवीसूनु अखिल्लीस् थैटिस् नामक देवी का पुत्र था । अपने मित्र पत्रोक्लॉस की मृत्यु पर उसको जो शोक हुआ उसी का यह वर्णन है । इन तीनों उद्धरणों के लिये देखो इलियड् २४।१०-१२ और १८।२३-२४

पृष्ठ १९७. प्रियाम् ट्राय के युद्ध के समय ट्राय का वृद्ध राजा था । यह उद्धरण इलियड् (२२।४१४-१५) में है ।

"अभागिन मैं....." इलियड् (१८।५४) में थैटिस् के रुदन का वर्णन है ।

"धिक्.........हो रहा है" यह वचन द्यौस् ने हैक्तर पर आक्रमण होने के समय कहे थे । हैक्तर प्रियाम् का पुत्र था ।" इलियड् २२।१६८

"शोक मुझे—पत्रोक्लॉस् के हाथ से मरना बदा है।" इलियड् १६।४३३–३४। सार्पिडॉन् द्यौस् का पुत्र था। उसकी मृत्यु पत्रोक्लॉस् के भाले से हुई थी।

पृष्ठ १९८. हेफाइस्तास् लंगड़ा देवता था और लौहकारकला में निपुण था। उसका विवरण इलियड् (१।५९९) में मिलता है।

पृष्ठ १९९. "चाहे वह पैगम्बर.......बढ़ई" ओडिसी १७।३८३-८४

पृष्ठ २००. "मित्र चुपचाप.....सुनो।" इलियड् ४।४१२।

"साहसोत्साह......रहे थे।" इलियड् ३।८ और ४।४३१

"ओ मदमत्त.....वाले।" इलियड् १।२२५। यह अखिल्लीस द्वारा अपने सेनापति अगामैमनान् की भर्त्सना है।

भोजन की मेजों.......रहे हों" ओडिसी ९।८–१०

"भूखों मरना......दयनीय है" ओडिसी ७।३४२

पृष्ठ २०१. "द्यौस् की कथा", इलियड १४।२९४–३४१

हिफाइस्तॉस, आरैस इत्यादि, ओडिसी ८।२६६ और आगे।

"वक्षस्थल....सहे हैं" ओडिसी २०।१७–१८

"भेंटों....तोष" ऐसा ख़याल किया जाता है कि यह पंक्ति हीसियड की है।

पृष्ठ २०२. फीनिक्स की वार्ता इलियड ९।५१५ और आगे मिलती है।

अखिल्लीस का यह प्रसंग १९।२७८ और आगे है।

मृत शरीर के शुल्क का प्रसंग इलियड २४।५०२, ५५५, ५९४ पंक्तियों में आया है।

"सर्वाधिक विनाशकारी.....बदला लेता" इलियड १२।१५।

नदी-देवता का नाम स्कामान्दर था। यह प्रसंग इलियड् २१।१३०-१३२ में है।

"मैं इनको.....चाहता हूँ" इलियड् २३।१५१ । परन्तु यह वाक्य पूर्णतया निर्दोष है ।

हैक्टर के मृतशरीर का घसीटा जाना इलियड् २४।१४ में वर्णित है ।

जीवित बंदियों की बलि का प्रसंग इलियड् २३।१७५-७६ में है ।

पृष्ठ २०३. द्यौस से ऐआकस् ऐआकस् से पीलियस् और पीलीयस से अखिल्लीस ।

खाइरॉन् का प्रसंग इलियड् ११।८३२ में देखो ।

पॉसिइदौन द्यौस का भाई और समुद्र का देवता था । पेइरीथूस ने हैलेन के बलात्कार में थीसियस की सहायता की थी एवं पर्सैफ़ोनी अथवा कुमारी को भगाने में थीसियस् पेइरीथूस के साथ लग गया था ।

पृष्ठ २०३—२०४. यह उद्धरण अयस्खिलस की नियौबी नामक रचना से लिया गया है ।

पृष्ठ २०५. अनुकरण शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि प्लातोन और अरिस्तू दोनों ही के मत कला अनुकरणात्मक हैं । अनुकरण से उनका तात्पर्य न केवल भौतिक वस्तुओं के अनुकरण से है प्रत्युत भावों और मनोवेगों के अनुकरण से भी है ।

पृष्ठ २०६. अगामैम्नॉन् ट्राय के युद्ध में आक्रमणकारी अखेयन् पक्ष का नेता था उसने ख्रीसिस की पुत्री को बलात् छीन लिया था ।

अत्र्यूस के दोनों पुत्रों के नाम अगामैम्नॉन् और मैनैलाउस् है ।

पृष्ठ २०८. ऑर्गास् अगामैम्नॉन् के राज्य का नाम है ।

पृष्ठ २०९. त्रागैदी अथवा ट्रैजेडी गंभीर अथवा दुःखान्त घटना वाले नाटक को कहते हैं और कौमेडी हास्यरस प्रधान अथवा सुखान्त नाटक को कहते हैं ।

पृष्ठ २१५. मूल शब्द मैताबौलास् का अनुवाद अन्तरीकरण = परिवर्तन किया गया है । यह संगीत का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है ।

एक स्वर संगति harmony से दूसरी में जाने के अर्थ में इसका प्रयोग होता है ।

पृष्ठ २१७. प्लातोन के समय में संगीत शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था, अतएव काव्य और काव्य की शैली का विवेचन भी इसी के अन्तर्गत माना जाता था ।

गीत के तीन अंग बोल (ग्रीकशब्द लोगू) समस्वरता (मूलग्रीक शब्द हार्मोनियास्) और लय (ग्रीक शब्द रिथ्मू) । तीनों ग्रीक शब्द संबंधकारक एक वचन में हैं । अर्थात् इन तीनों के सम्मेलन का ही नाम गीत है ।

पृष्ठ २१८. लीडिया लघुएशिया के पश्चिम के मध्य प्रदेश में था । यहाँ का संगीत करुण भावों को व्यक्त करने वाला था । इसके अतिरिक्त ग्रीक लोगों में दौरियन् और फ्रीगियन् प्रकार के संगीत का भी चलन था ।

पृष्ठ २१९. यवन से तात्पर्य इयोनिया प्रदेश के संगीत से है । भारतवर्ष में तो सभी ग्रीक लोगों को यवन कहा जाता है, पर यह ठीक नहीं । ग्रीक जाति की अनेक उपजातियाँ थीं जिनमें से यवन अथवा इयौनियन् भी एक है । प्लातोन् स्वयं अत्तिका प्रदेश में निवास करने वाली ग्रीक जाति में से था ।

पृष्ठ २२१. अधिकतन्त्री, अर्थात् ऐसा वाद्य जिससे बहुविध एवं जटिल संगीत की उत्पत्ति संभव हो ।

मुरली—मूलग्रीक शब्द सीरिंक्ष है जो अर्थ और नाद दोनों में संस्कृत् के श्रृंग शब्द का सजातीय प्रतीत होता है ।

अपौलो का वाद्य वीणा और मर्सियास् का वंशी है । एक बार सूर्य देव अपौलो तथा मर्सियास् में संगीत की प्रतिद्वंद्विता हुई । शर्त यह थी कि विजयी विजित के प्रति मनमाना व्यवहार करेगा । मर्सियास् हार गया तब उसको अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े ।

श्वानदेव की पूजा ईजिप्त में होती थी ।

लय का संबंध छन्दों से है और छन्दों की रचना गणों पर आश्रित है। संस्कृत छन्दः शास्त्र के समान ग्रीक छंदःशास्त्र में गण पद्धति का प्रचलन है और दोनों भाषाओं की गण पद्धति में पर्याप्त समानता है ।

पृष्ठ २२२. सॉक्रातीस ने संगीतवेत्ता के रूप में अनेकों बार दामौन् का नामोल्लेख किया है ।

एनौप्लियॉस् का स्वरूप क्या है इस विषय में आधुनिक विशेषज्ञ एक मत नहीं हैं ।

दाक्तिल—एक गुरु दो लघु, इयाम्बस्—लगु, गुरु । त्रौखाएक—गुरु, लघु ।

पृष्ठ २२६. "छोटे बड़े शब्दों.....आकारों में," प्लातोन की दृष्टि में सत्य वाह्य आकार की लघुता अथवा दीर्घता से कोई संबंध नहीं रखता ।

पृष्ठ २३१. हैलैस्पौण्ट, डार्डनैलिस (दर्रेदानियाल) का प्राचीन नाम है जिसको इलियड् ९।३६० में मछलियों से भरा हुआ कहा गया है ।

पृष्ठ २३२. सिराकूज.....सिकिलिया (आधुनिक नाम सिसली) के बहुविध व्यंजन इत्यादि लोकवार्ता में इसी भाँति प्रसिद्ध वाक्य था जैसे कि 'दावते सीराज'' वाक्य प्रसिद्ध है ।

पृष्ठ २३४. आस्क्लेपियस् सूर्य का पुत्र और आयुर्वेद का देवता है । इसको ग्रीक देश का अश्विनी कुमार अथवा धन्वन्तरि ही समझना चाहिये । आस्क्लेपियस के वंशधर—वैद्यलोग ।

यूरीपिलास् का नाम यहाँ ठीक नहीं है । वर्त्तमान इलियड् काव्य में तो ऐसा प्रसंग ११।६२४ में मिलता है परन्तु वहाँ तो हैकामीदी ने मखाऑन् और नैस्तॉर को एक पेय पिलाया है न कि यूरीपिलास् को ।

पृष्ठ २३६. धनवानों को कार्य करने को नहीं रहना.....सोक्रातीस्, प्लातोन् और अरिस्तू तीनों ही दार्शनिकों के समय में अथेन्स का धनिक वर्ग शारीरिक परिश्रम से जी चुराता था ।

फौकिलिदेस के लिये देखो भूमिका खण्ड २ ।

पृष्ठ २३८. रक्त को चूमकर....छिड़क दी" इससे मिलती जुलती पंक्ति इलियड् ४।२१८ है ।

मिदास् को कनकस्पर्श का वरदान दिया गया था पर शीघ्र ही उसका जीवन भार स्वरूप हो गया अतएव उसने यह वरदान लौटा दिया । संभव है कि तिनेयस् की ओर संकेत हो ।

पृष्ठ २३९. त्रागेदी लेखक अयस्खिलस् का अगामैम्नन् पंक्ति १०२२ यूरीपिदेस का अल्केस्तिस् पं० ३–४ तथा पिंडर की पिथियन ओड ३।५३ देखो

पृष्ठ २४५. ज्ञान के प्रेम के लिये मूल में फिलौसोफ़िया शब्द आया है जिसका रूढ़ अर्थ दर्शन, विवेचनतत्व भी है पर मूल अर्थ ज्ञानप्रेम अथवा विवेकप्रेम ही है ।

पृष्ठ २५२. अवसरोपयोगी असत्य को लेखक ने उदार या आर्य असत्य (Noble lie) भी कहा है । कुछ राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं ने इसको एक भयावह उपाय माना है और इसी में तानाशाही एकाधिपत्य (Dictatorship) का मूल देखा है ।

पणिक के लिये मूल शब्द फ़ोइनिकौन् है । सीरिया के समुद्र तट के सँकरे प्रदेश का नाम फाइनीके था । यहाँ के निवासी दूर दूर तक वाणिज्य करते थे और कार्थेज इन्हीं का उपनिवेश था । इन्होंने वर्णमाला का भी आविष्कार किया था । इनके विषय में अनेकों पुरातन कथाएँ प्रचलित थीं । कोई कोई भाषाशास्त्रविद् इनको वैदिक शब्द 'पणि' से जोड़ता है और वणिक् से भी इसका संबंध बतलाते हैं ।

चतुर्थ पुस्तक

पृष्ठ २६६. हैला और बर्बर से तात्पर्य सभ्य ग्रीक जाति तथा अन्य असभ्य जातियों से है। हैला अथवा ग्रीक जातियाँ भूमध्यसागर में बहुत से स्थानों पर नगर बना कर बसी हुई हैं। अन्त तक इन नगर-राष्ट्रों का एकीकरण न हो सका और इनकी शक्ति आपस में युद्धों में क्षीण होती रही।

पृष्ठ २६७. "मित्रों के मध्य......समान अधिकार" प्लातोन के साम्यवाद का प्रथम संकेत।

पृष्ठ २६८. जो कि गायकों.....मँड़राता है" इससे मिलती जुलती पंक्ति ओडिसी १।३५१ है।

पृष्ठ २७४—हिद्रा अथवा ह्यूद्रा बहुत से शिरों वाला जलसर्प था। इसका एक शिर काटने पर उसके स्थान पर अनेक शिर उग आते थे। हेराक्लीस ने इसका वध किया था। यहाँ यह भाव है कि वे लोग नहीं जानते कि जिस एक बुराई को दूर करने का वे प्रयत्न कर रहे हैं उसके स्थान पर अनेकों बुराइयाँ उत्पन्न हो जायँगी।

डैल्फ़ी अथवा दैल्फ़ी। मूल ग्रीक शब्द दैल्फ़ोई है। फौकिस् प्रदेश के पार्नासस् पर्वत में एक पर्वत शिखरों के बीच की घाटी में स्थित अपौलो (सूर्यदेव) का तीर्थ स्थान था। यहाँ की पुजारिन यात्रियों के प्रश्नों के उत्तर दिया करती थी। उसके अटपटे वाक्य भावी घटनाओं के सूचक माने जाते थे। धार्मिक प्रश्नों पर यहीं से व्यवस्था प्राप्त की जाती थी। अतएव धर्मविधान में उसी को प्रमाण स्वरूप माना गया है।

पृष्ठ २७५. अरिस्तोनसूनु = अदैइमान्तॉस्।

पृष्ठ २९२. मनुष्य स्वभाव के विश्लेषण से अब प्लातोन के मनोविज्ञान संबंधी विचारों का आरंभ होता है।

पृष्ठ २९३. यूनानी (ग्रीक) लोगों में थ्रकिया, स्किथिया और उत्तरी प्रदेशों के निवासी वीरता के लिये विख्यात थे।

पृष्ठ २९६. "संकल्प और कामना" मूल में "ऐथैलाइन्" और "बूलैस्थाइ" क्रियाओं का प्रयोग किया गया है इनमें से प्रथम का अर्थ संकल्प करना और द्वितीय का अर्थ कामना करना है। इनका अंग्रेजी अर्थ to will और to desire है।

"मानो किसी ने प्रश्न पूछा हो"—प्लातोन व्यक्तिगत सम्मति अथवा 'दीक्षा' को आन्तरिक वार्तालाप अथवा प्रश्नोत्तर रूप अथवा ऐसे प्रश्नोत्तर का परिणामस्वरूप मानता है। अतएव जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है तो यह समझना चाहिये कि इस विषय में मन ही मन में वह प्रश्नोत्तर कर चुका है, तथा इस प्रश्न के उत्तर में कि "क्या वह अमुक वस्तु को प्राप्त करना चाहता है?" उसने अपनी स्वीकृति दे दी है।

पृष्ठ २९८. "और क्या हम यह जोड़ सकते हैं. . . . .बड़ा होना है।" भाव यह है कि जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु (भूतकाल में) बड़ी थी तो इसका यही अर्थ होता है कि वह किसी (भूतकाल की) वस्तु से बड़ी थी। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु (भविष्य में) बड़ी होगी तो इसका तात्पर्य यही होता है कि वह किसी (भविष्य काल की) वस्तु से बड़ी होगी।

पृष्ठ ३००. "यह जो कुछ भी है किसी वस्तु के संबंध में ही है।" —अर्थात् प्रत्येक कामना किसी न किसी विषय के प्रति होती है।

पृष्ठ ३०१. विवेकतत्त्व के लिये मूल में 'लौगिस्तिकॉन्' तथा वासनात्मक या कामात्मक तत्व के लिये 'अलौगिस्तिकॉन्' और 'ऐपी-थ्यूमीतिकॉन्' शब्द आये हैं।

पृष्ठ ३०३. उत्साहतत्व के लिये मूल में "थ्यूमास्" शब्द है जिसके हृदय, मनोवेग, क्रोध इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं।"

पृष्ठ ३०७. 'लाभों से सबसे अधिक असंतुष्ट" तुलना करो गीता ३।३७ "महाशनो महापाप्मा"

पृष्ठ ३०८. स्वरैक्यता के लिये मूल में "सिम्फौनिया" शब्द है जिसका अर्थ संगीत शास्त्र में स्वरों का मधुर समन्वय अथवा संभणन है ।

पृष्ठ ३१४. बुराइयों का रूप अनन्त है" तुलना करो गीता २।४१

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यसायिनाम् ॥

"जितने प्रकार....राष्ट्रों की संघटना.....आत्मा के आचरणों ......होता है।" "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" से तुलना कीजिये। प्लातोन् का सिद्धांत है कि राष्ट्र व्यक्ति का ही विशाल रूप है State is only an individual writ large। संस्कृत भाषा में पुरुष का एक रूपान्तर पुरिष भी है जिसका अर्थ शरीर रूपी 'पुर' = नगर में निवास करने वाला आत्मा। इस शरीर रूपी पुर को गीता म 'नवद्वार' और कठोपनिषद् में एकादशद्वार वाला बतलाया गया है। इस प्रकार व्यक्ति और राष्ट्र की तुलना बहुत पुरानी कल्पना है।

पाँच प्रकार की राष्ट्र संघटना का विवरण और उनमें से प्रत्येक के विषय में प्लातोन् का मत अत्यंत महत्वपूर्ण है।

एक तन्त्र राज्य के लिये मूल में "बासीलैइया" शब्द आया है। ग्रीक भाषा में राजा के लिये बासीलेयस् शब्द का प्रयोग किया जाता था।

कुलीनतन्त्र के लिये मूल ग्रीक शब्द 'अरिस्तौक्रातिया' है। यह शब्द अरिस्तॉस् और क्रातिया के योग से मिलकर बना है। (अरिस्तॉस् = श्रेष्ठ (जन्म, धन इत्यादि में + क्रातॉस् = शक्ति) यह दोनों ही शब्द संस्कृत के आर्य और क्रतु इत्यादि शब्दों के सजातीय हैं।

"वर्णनीय सीमा (मात्रा) वाला" अर्थात् इतनी मात्रा में परिवर्तन जिसका वर्णन करना आवश्यक हो।"

पाँचवीं पुस्तक

पृष्ठ ३१७. "उसकी कोई सीमा भी तो होनी चाहिये।" 'गीता-संवाद की वास्तविकता के विषय में कुछ आलोचकों ने यह आपत्ति की है कि इतना लंबा संवाद युद्ध क्षेत्र में कैसे हो सकता था। लगभग यही बात इस संवाद के विषय में भी कही जा सकती है। गीता का पाठ एक घंटे में हो सकता है पर पोलितेइया का पाठ लगभग २० घंटे में संभव हो सकता है फिर भी प्लातोन् ने इसको एक सायंकालीन वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत किया है। अतएव सॉक्रातीस् का यह कहना नितान्त स्वाभाविक है कि इस प्रश्नोत्तर की कोई सीमा भी तो होनी चाहिये।

पृष्ठ ३१८. अद्रस्तेइया अथवा नैमैसिस् एक ग्रीक देवी का नाम है। यह उस दण्ड को सूचित करती है जो कि देवताओं के प्रति धृष्टता करने वाले को प्राप्त होता है तथा जिससे कोई नहीं बच सकता। सॉक्रातीस् यह सूचित करना चाहता है कि इस साम्यवाद का विवेचन करना देवताओं के प्रति धृष्टता करना है अतएव अद्रस्तेइया को पहले ही प्रणिपात कर लेना चाहिये।

पृष्ठ ३२०. "यदि हमारे वचनों को..... होनाहै" अथवा यदि हमारे वचन (सिद्धांत) वास्तविक जीवन में व्यवहार में लाये गये तो वर्तमान रीतिरिवाजों से बहुत भिन्न होने के कारण उनमें से बहुत से उपहासास्पद प्रतीत होंगे।

पृष्ठ ३२१. स्पार्टा में स्त्रियाँ भी बहुत हलके वस्त्र पहन कर पुरुषों के साथ व्यायामशालाओं में व्यायाम किया करती थीं।

"महान् क्रान्ति"—सचमुच ही यह इतनी महान् क्रान्ति है कि आज तक कोई देश इसको स्वीकार नहीं कर सका है। रूस में बच्चों

के पालन-पोषण में एक सीमित मात्रा में अवश्य इसका प्रयोग किया गया है, पर इससे आगे और कोई नहीं बढ़ सका है।

क्रीती द्वीप का अंग्रेजी नामोच्चारण क्रीट है। इसकी सभ्यता अत्यन्त पुरानी है।

लाकैदायमौन् (स्पार्टा) लाकौनिया प्रदेश की राजधानी थी और कभी कभी समग्र लाकौनिया के लिए भी इस नाम का प्रयोग होता था।

पृष्ठ ३२४. अरियॉन् नाम के कवि के गीत से प्रभावित होकर दैल्फिन जाति की मछली ने उसको समुद्र में डूबने से बचा लिया था। इसी कथा की ओर यहाँ संकेत किया गया है। यह कथा हेरोदोतस् के इतिहास १।२४ में मिलती है।

पृष्ठ ३३१. किसी विशेष राजनीतिक सिद्धान्त को मानने वाले चाहे जो कहें परन्तु यह दो सत्य अमिट हैं कि किसी राष्ट्र में सब मनुष्य न एक समान अच्छे होते हैं और न एक समान बुरे तथा किसी राष्ट्र के लिए इससे बढ़ कर और सौभाग्य की कोई बात नहीं हो सकती कि उसमें श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों का जन्म हो।

"उनका आवरण.......सत्कर्म होंगे" सत्कर्म के स्थान पर मूल में "अरैती" शब्द है जिसका अनुवाद "साधुता" भी हो सकता है और आर्यत्व भी।

"अपरिपक्व फल का चयन"—यह पंक्ति पिंडर की कविता के अवशिष्ट खंडों में मिलती है।

पृष्ठ ३३२. स्त्रियों और बच्चों पर समानाधिकार (community of wives and children) का विषय यहीं से आरंभ होता है। प्लातोन् इसके कारण बदनाम है। परन्तु हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी इस भावी बदनामी का उसको भली भाँति पता था। ज़र, जोरू, ज़मीन—कु (पृथ्वी), कांचन, कामिनी मानव जीवन की चिरन्तन समस्याएँ हैं।

प्लातोन ने देखा था कि अच्छी से अच्छी राजनीति इन समस्याओं से टकरा कर छिन्न भिन्न हो जाती है; अतएव उसने अपने आदर्श नगर के शासकों को इन समस्याओं से मुक्त रखने का उपाय धन, स्त्री और सन्तान का समोपभोग बतलाया है। इसके अतिरिक्त प्लातोन् का एक दूसरा उद्देश्य यह भी था कि उत्तम लोगों की सन्तान भी उत्तम हो।

पृष्ठ ३३५. सहवास संगतियों......"अव्यवस्था और घालमेल" इस वाक्यांश से स्पष्ट है उच्छृंखल कामवासना को छूट देना "स्त्रियों पर समानाधिकार" वाले सिद्धान्त का उद्देश्य नहीं था।

पृष्ठ ३३६. औषधि शब्द का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक हुआ है।

पृष्ठ ३३८. "अज्ञात स्थान में छिपा देंगे"—कुछ लेखकों के मत में इसका तात्पर्य नष्ट कर देना है।

पृष्ठ ३३९. स्त्रियों के लिए २० से ४० तथा पुरुषों के लिए ३० से ५५ वर्ष तक की आयु को निर्धारित करना तथा इस अवधि का उल्लंघन धर्म विरुद्ध घोषित करना, भी यही सूचित करता है कि प्लातोन का ध्येय उत्तम सन्तानोत्पत्ति था न कि स्वच्छन्द व्यभिचार। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर भारतवर्ष में २५ वर्ष के उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश का विधान किया गया था।

पृष्ठ ३४५-६. प्लातोन् का यह "स्त्री, बच्चों पर समानाधिकार" का सिद्धान्त "वसुधैव कुटुम्बकम्" के उद्देश्य से तो नहीं परन्तु "नगरमेव कुटुम्बकम्" की भावना से प्रेरित है।

पृष्ठ ३५०. औलिम्पिया-विजेता। ऐलिस् प्रदेश में अल्फेयस् नदी के उत्तरी तट पर औलिम्पिया नामक एक मैदान था। दैल्फ़ी के उपरान्त यह दूसरा विख्यात तीर्थस्थल था। यहाँ हर चौथे वर्ष खेल हुआ करते थे और इन खेलों में जीतने वाले अत्युच्च सम्मानित व्यक्ति समझे जाते थे।

पृष्ठ ३५१. "आधा सारे से अधिक है" देखो हेसियड् कृत "कार्य और दिवस" ४० ।

पृष्ठ ३५५. दक्षिणहस्त प्रदान—स्नेह और सम्मान सूचित करने के लिए हाथ मिलाना।

पृष्ठ ३५६. होमेर के प्रमाण के लिए इलियड् ७।३२१-३२२।

पृष्ठ ३५७. "पूतात्मा......संरक्षक हो जाते हैं" देखो हेसियड "कार्य और दिवस" १२१।

"पृथ्वी पर निवास करते हैं"—सामान्यतया ग्रीक लोगों का विश्वास था कि मृतात्मा अधः लोक को चले जाते हैं। वीरात्मा मर कर भी पृथ्वी पर ही निवास करते हैं।

"देवता से पूछ कर" अर्थात् दैल्फ़ी के अपौलो (सूर्य देव) से पूछ कर।

पृष्ठ ३५९.अन्य ग्रीक लोगों के प्रति प्लातोन् के युद्ध नियम इस बात को सूचित करते हैं कि वह समग्र ग्रीक लोगों के राजनीतिक मेल के लिए चिन्तित था।

पृष्ठ ३६०. "ग्रीक जाति रोगिणी है"। खेद कि ग्रीक जाति का यह रोग घातक सिद्ध हुआ।

पृष्ठ ३६३. आदर्श कल्पना और वास्तविकता का संबंध जैसा यहाँ वर्णन किया गया है सभी-राजनीति के विद्यार्थियों के लिए विचारणीय है।

पृष्ठ ३६७. दार्शनिक राजा Philosopher King का आदर्श प्लातोन की राजनीति की आधारशिला है। अपनी सिसिली की तीन यात्राओं में भी उसका यही लक्ष्य था। परन्तु उसके जीवन में यह लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सका। मार्कस् औरैलियस् नामक रोमन सम्राट् अवश्य एक दार्शनिक सम्राट् था परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके हाथ भी निरपराध ईसाइयों के रक्त से रँगे हुए थे। पर वास्तविक अर्थ में प्लातोन का आदर्श अद्यावधि वास्तविकता को प्राप्त नहीं हुआ है।

पृष्ठ ३७४. ज्ञान और आभास के लिए मूल में "ग्नौसिस्" = ज्ञान एवं "दौक्षा" = आभास, धारणा, राय शब्दों का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी में इनका अनुवाद प्रायः Knowledge और opinion इन शब्दों से क्रमशः किया है। ग्नौसिस् निर्भ्रान्त स्थिर ज्ञान के अर्थ को सूचित करता है जो कि विवेचना के द्वारा प्राप्त होता है और दौक्षा वह धारणा है जो ज्ञानाभास मात्र है, जो विवेचना के पूर्व यों ही स्वीकार कर ली गयी है तथा जो विवेचना की कसौटी पर टिक नहीं सकती। प्लातोन ने इन दोनों शब्दों को एक दूसरे के विरोधी अर्थ में प्रयुक्त किया है।

पृष्ठ ३७५. "या तो कुछ (भावरूप) जानता है अथवा कुछ नहीं (अभाव रूप) को जानता है।" यहाँ और आगे प्लातोन् भाव और अभाव के ज्ञान का विवेचन कर रहा है। इस प्रकरण को सावधानी से पढ़ने की आवश्यकता है अन्यथा यह व्यर्थ की बकवास प्रतीत हो सकता है, जैसा कि यह वास्तव में है नहीं।

पृष्ठ ३७७. "यह सब शक्तियों में बलिष्ठ है" तुलना करो "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" और Knowledge is power

पृष्ठ ३८०. "ज्ञान और अज्ञान के मध्य में स्थित आभास कहलाता है" तुलना करो वेदान्त की माया की परिभाषा से—जो "सदसद्भ्यामनिर्वचनीया" है।

पृष्ठ ३८१. "द्विगुण वस्तुएं. . . . .प्रतीत होती है" अर्थात् जो वस्तुएँ किसी एक वस्तु की दुगुनी होती हैं वही किसी अन्य की आधी होती हैं। यथा ४, २ का दुगुना और ८ का आधा है।

द्व्यर्थक पहेली इस प्रकार है:—

एक पुरुष जो नहीं पुरुष था, उसकी कथा सुनाते हैं।

देखा, उसने, किन्तु न देखा खग जो अखग बताते हैं।

बैठा था वह एक डाल पर किन्तु डाल थी डाल नहीं।
खग को मारा किन्तु न मारा पाहन से—षाणाण नहीं ।।

(१) एक पुरुष जो नहीं पुरुष था = नपुंसक (२) खग जो अखग = चिमगादड़, (३) बैठा था वह एक डाल पर किन्तु डाल थी डाल नहीं = नरकुल, (४) पाहन से—पाषाण नहीं = ज्वालामुखी से निकला झँवा या झर्झरा पत्थर।

छठी पुस्तक

पृष्ठ ३८५. "चित्र का आदर्श" अर्थात् वह व्यक्ति या वस्तु जिसका चित्र अंकित करना है।

"प्रत्येक वस्तु की आदर्श वास्तविकता" अर्थात् प्रत्येक वस्तु का आदर्श स्वरूप।

पृष्ठ ३८६. "राष्ट्रों के संरक्षक"—संरक्षक के लिए मूल में फ्यूलाक्ष (फिलाक्ष) अथवा, फ्यूलाक्स (फिलाकस् शब्द आया है जिसका अर्थ पहरेदार, चौकीदार, रक्षक अथवा देख रेख करने वाला है।

"उत्पत्ति और विनाश" का प्रयोग प्लातोन अनेकों ग्रंथों में किया है और अरिस्तू ने इसी वाक्यांश पर अपने एक ग्रंथ का नामकरण "पेरी जैनेसेऔस कै फ़्थौराम्" = उत्पत्ति और विनाश के विषयमें" किया था। यहाँ भी मूल में इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है।

पृष्ठ ३८८. "ऐसा व्यक्ति मृत्यु को भी भयावह ख्याल नहीं करेगा" यह तथ्य सॉक्रातीस् और प्लातोन् दोनों के ही जीवन में घटित हुआ था।

पृष्ठ ३९०-१. "तो उस अनुसंधान.......बन्धु न हो" इस वाक्य में प्लातोन् के आदर्श दार्शनिक के सब लक्षण एकत्रित कर दिये गए हैं।

पृष्ठ ३९३. अजामृग त्रागैलफ़ौस् नामक एक विचित्र जन्तु जो कि आधा बकरा और आधा मृग था। इसका अरिस्तॉफनीस् ने अपने नाटकों

में उल्लेख किया है। कुछ आलोचकों के मत में ग्रीस देश की कला में ऐसे जीवों का प्रवेश प्राचीन ईरान की कला के प्रभाव से हुआ था।

"सिखाई नहीं जा सकती"—प्रायः सॉफिस्त यही कहते थे कि साधुता सिखाई नहीं जा सकती। परन्तु सॉक्रातीस् और प्लातोन् का विश्वास था कि उसको सिखाया जा सकता है।

"काट कर खंड खंड......तैयार रहते हैं"—यह सॉक्रातीस् की हत्या की ओर संकेत है।

पृष्ठ ३९५. "बुद्धिमान धनिकों के द्वार पर जाये" यह कथन 'सिमोनीदीस' का कहा हुआ है।

पृष्ठ ४०१. गुरुओं से तात्पर्य 'सॉफिस्ट' से है।

"जब कभी जनसमुदाय.......इत्यादि। भाव यह है कि अज्ञान जनता सब से बड़ी सॉफिस्त है। इस जनमत के सामने डटे रहना साधारण मनुष्य की शक्ति के बाहर है।

पृष्ठ ४०२. "क्योंकि मानव चरित्र......उत्पन्न हुआ हो"। तात्पर्य यह है कि जन समुदाय के द्वारा प्रस्तुत किए वातावरण के विपरीत दिशा में ले जाने वाली शिक्षा त्रिकाल में भी ऐसे चरित्र और गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकती जो उपर्युक्त वातावरण से उत्पन्न किए गए चरित्र और गुणों से विलक्षण हों। इसीलिए ऐसा प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। मानवोद्योग यहाँ निरर्थक है, हाँ दैवी प्रेरणा से इस नियम का अपवाद हो सकता है और सॉक्रातीस् जैसा दार्शनिक उत्पन्न हो सकता है जो जनसमूह के वातावरण से अप्रभावित रह कर अपने विलक्षण मार्ग पर चलता रहता है।

पृष्ठ ४०४. आवश्यक और अच्छे के बीच का भेद जानने वाला ही प्लातोन् का आदर्श दार्शनिक है। आवश्यक को ही अच्छा बतलाने वाले सॉफ़िस्त हैं।

'शुभा मूल में इस स्थान पर 'सौफिया' (= बुद्धिमत्ता = Wiselom) शब्द का प्रयोग हुआ है। इसको शुभा (शुभा-मति) भी कह सकते हैं।

दियौमीदीस् त्राय पर आक्रमण करने वाले इलियड् काव्य के वीर पुरुषों में से एक है। जब ओडीसियस् ने इसको मारने का प्रयत्न किया तो यह उसको बाँध कर शिविर में हाँक कर ले गया। यह वाक्यांश इसी घटना के कारण गढ़ लिया गया है।

पृष्ठ ४०६. सुन्दर और प्रलम्ब-काय इत्यादि विशेषण 'अल्किबिया-दीस्' की ओर संकेत करते हैं। वह सॉक्रातीस् के परिचित युवकों में सब से सुन्दर और होनहार समझा जाता था परन्तु अन्त में वह राष्ट्र के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुआ।

पृष्ठ ४०७. "धनसंपन्नता एवं इसी प्रकार की अन्य तैयारियाँ" तुलना करो

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमनर्थायकिमु यत्र चतुष्टयम्॥

पृष्ठ ४०९. सूफिज़्म—मूल शब्द 'सौफिस्मा' है जिसका अर्थ चालाकी या चालबाज़ी है।

निर्वासन—संभवतया यहाँ लेखक का ध्यान अनक्षगौरास्पर या क्षैनोफॉन्पर या स्वयं अपने ऊपर अथवा दियौन पर है।

४१०. सॉक्रातीस् के 'दायमौनियॉन्'—अन्तर्यामी के लिए भूमिका देखो।

'असमय में ही अन्त को प्राप्त हो जायेगा'—यह संकेत सॉक्रातीस् की ओर है।

पृष्ठ ४११. किसी दीवार की ओट में खड़ा हुआ' यह संकेत स्वयं अपनी (प्लातोन् की) ओर है।

पृष्ठ ४१४. हेराक्लाइतस् का कथन था कि सूर्य प्रति सायंकाल

को बुझ जाता है और दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः प्रज्वलित हो जाता है।

४१५. ठुंसेठाँसे शब्दों की तुकबन्दी (योजना) सॉफिस्तों की शैली को सूचित करती है।

४१६. "निरवधि भूतकाल" इत्यादि तुलना करो "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" भवभूति।

पृष्ठ ४१८. शाश्वत तत्त्व से कुछ लोगों ने आदर्श स्वरूपों का अर्थ ग्रहण किया है और यह उचित सा भी प्रतीत होता है। परन्तु कुछ अन्य आलोचक इसका अर्थ शाश्वत आकाश अथवा तारा-लोक भी लगाते हैं।

पृष्ठ ४२०. "उभय दिशाओं में दृष्टि-पात करते हुए" एक ओर आदर्श स्वरूपों अथवा आदर्श जगत् को देखते हुए तथा दूसरी ओर अपने कार्य पर दृष्टिपात करते हुए जिसमें वह आदर्श स्वरूपों अथवा आदर्श जगत् की अवतारणा का प्रयत्न कर रहा है।

"तात्त्विक रूप अथवा वास्तविक रूप" अर्थात् न्याय इत्यादि का वह रूप जो कि सचमुच विश्व में या वास्तविक जगत् में उपलब्ध होता है। विश्व या वास्तविक जगत् के लिए मूल में "फीसिस्' शब्द का प्रयोग किया गया है जो संस्कृत के 'भूति' शब्द का सजातीय है।

पृष्ठ ४२२. "राजाओं और शासकों" की सन्तति का स्वभाव दार्शनिक होना हम भारतवासियों के लिए तो कोई अद्भुत बात नहीं होनी चाहिए। यहाँ श्रीकृष्ण, बुद्ध और महावीर इत्यादि अनेक उदाहरण हमारे इतिहास में पाये जाते हैं।

पृष्ठ ४२८. "तुम इस बात को प्रायः सुन चुके हो" यहाँ प्लातोन् का संकेत पूर्ववर्ती वार्त्तालापों की ओर है।

"सत् का स्वरूप" संस्कृत में सत् का अर्थ सत्ता और अच्छाई दोनों को सूचित करता है। परन्तु प्लातोन् के अगाथॉस् में अच्छाई के भाव का ही प्राधान्य है। यद्यपि दूसरे अर्थ का उसमें पूर्णतया अभाव है ऐसा नहीं कहा

जा सकता। कहीं कहीं तो दूसरे अर्थ की ओर भी स्पष्ट संकेत मिलता है।

पृष्ठ ४३२. सत् के स्वरूप को सॉक्रातीस् किसी लक्षण, परिभाषा, अथवा फार्मूले में आबद्ध नहीं करना चाहता, क्योंकि उसका वर्णन करने के लिए या तो एक पूरा ग्रंथ लिखा जाना चाहिए अथवा उसको किसी प्रतीक द्वारा विवृत किया जा सकता है।

पृष्ठ ४३३. 'सद्भाव' = होना।

पृष्ठ ४३७-८. "तब तो उस शक्ति..........अधिगत होना चाहिए।" यहाँ सत् का स्वरूप, सत्य और ज्ञान का सम्बन्ध है यह बात यथाशक्य स्पष्ट कर दी गयी है। अतएव यह अनुच्छेद अत्यन्त महत्व-पूर्ण है।

पृष्ठ ४३८. सत् का स्वरूप एक अर्थ में समग्र विश्व का कारण भी है।

पृष्ठ ४३९-४०. रेखा विभाजन के विषय में प्लातोन् के व्याख्याताओं में पर्याप्त मतभेद है। स्वयं प्लातोन् ने जो कुछ लिखा है उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि रेखा को किस अनुपात से विभाजित किया जाय। अतएव केवल इतना ही समझना चाहिए कि प्रथम दो विभाग हैं (१) बुद्धिगम्य खण्ड और (२) दृश्यमान जगत्। इसके उपरान्त बुद्धिगम्य खंड के भी दो भाग किये गए हैं (१) विवेकगम्य, (२) सम्बुद्धि (समझ) गम्य। दृश्य-मान खंड के दो भेद हैं (१) बिम्बखण्ड और (२) प्रतिबिम्ब खण्ड।.

प्लातोन ने इनका विवरण निचले स्तर से आरंभ किया है। रेखा का प्रतिबिम्ब खण्ड परिदृश्यमान जगत् में जल में अथवा चमकीले पदार्थों में पड़ने वाली छायाओं को सूचित करता है। बिम्बखंड परिदृश्यमान जगत् के स्वाभाविक एवं कृत्रिम पदार्थों को सूचित करता है। सम्बुद्धिगम्य खण्ड ऐसे विज्ञानों (भूमिति गणित) इत्यादि को सूचित करता है जो कुछ अविवेचित मान्यताओं की भित्ति पर अपना भवन निर्माण करते हैं

परन्तु जिनमें शुद्ध विवेक का नहीं प्रत्युत समझ का उपयोग होता है। इसके उपरान्त रेखा का विवेक-गम्य खण्ड आता है जिसमें विवेक प्रमेयों को हेतु विद्या के द्वारा ग्रहण करता है। यह सर्वोच्च खण्ड है।

इन चारों खण्डों की प्रतिनिधि या प्रतिसंवादिनी आत्मा में चार अवस्थाएँ हैं, (१) विवेक, (२) समझ, (३) आस्था और (४) कल्पना।

सप्तम पुस्तक

पृष्ठ ४४४. गुफा के बन्दियों के रूपक के द्वारा प्लातोन् पूर्वोक्त विषय का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। साहित्य और विज्ञान में इस रूपक की बड़ी महिमा रही है। कुछ विज्ञानवेत्ताओं ने तो इसको तुरीयमाप (fourth dimension) की ओर इंगित करता हुआ माना है जिसको कि आधुनिक समय में अल्बर्ट आईन्स्टाइन् ने प्रतिपादित किया है। प्लातोन् को यह रूपक कहाँ से सूझा यह भी एक समस्या है। बर्नेट् के मत में इसका मूल उद्‌गम आर्फिक धर्म है। अन्य लोगों का विचार है कि वास्तव में किसी गिरिगुहा को देख कर ही यह विचार उसके चित्त में उद्‌भूत हुआ होगा। प्रो० राइट् के मत में यह अत्तिका की वारी की गुहा थी। गिलबर्ट नौर्वुड की "दी राइटर्स ऑफ ग्रीस" नामक पुस्तक के (द्वि० संस्करण) ९७ पृष्ठ पर हिमैटस पर्वत की गुहा का चित्र दिया हुआ है और उसको प्लातोन् की गुहा का नाम दिया गया है।

पृष्ठ ४४७. सूर्य अथवा सत् का आदर्श स्वरूप ही किसी प्रकार सब जगत् का कारण है इसको सात्रातीस् ने अनेकों बार घोषित किया है पर यह कहीं स्पष्ट नहीं किया है वह किस प्रकार जगत् का कारण है। ऐसा क्या इसलिए है कि यह विषय वर्णनातीत है अथवा अन्य किसी कारण से?

पृष्ठ ४४९. उनके विधि विहित पूर्वगामित्व.....अनुमान लगाने

में इत्यादि। इस वाक्यांश में प्लातोन् अपने समय के तथा आधुनिक समय के पिछले तार्किक और विज्ञानवेत्ताओं के कार्यकारण संबंधी सिद्धान्त का विवरण प्रस्तुत कर रहा है।

होमेर का यह विचार ओडिसी ११।४८९ में व्यक्त किया गया है।

पृष्ठ ८५०. क्या वे उसको नहीं मार डालेंगे? पुनः सॉक्रीतीस् की मृत्यु की ओर संकेत है।

पृष्ठ ८५७. जिनको शासन करना है पद स्वीकार करने के लिए सब से कम उत्सुक होते हैं यह जनतंत्रात्मक शासन की एक समस्या है जिस पर हमारे देश में स्यात् डा० भगवानदास जी ने ही विचार किया है। पर यह समस्या है इतनी गंभीर कि इसी पर डिमॉक्रैसी का भविष्य निर्भर है।

पृष्ठ ८५८. उन मनुष्यों को त्याग कर......बाध्य करोगे। यह वाक्य आदर्श शासकों का विवरण प्रस्तुत करने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

'हेडीस् से देवलोक की ओर' कौन ले जाया गया था इसके विषय में बहुत कुछ मतभेद है। कुछ लोगों के मत में वह व्यक्ति जो स्वर्ग को ले जाया गया था अम्फियारोस् था जो कि योद्धा और ऋषि था।

पृष्ठ ८५९-९. "रात्रि के सदृश् (प्रस्तुत) दिन के प्रकाश से" तुलना करो गीता २।६९

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अथवा तुलसी कृत रामचरित मानस अयोध्या काण्ड ९२ और ९३ दोहे के बीच में

मोह निसाँ सबु सोवनि हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा।
यहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।
जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा।

जब तक मनुष्य की दृष्टि सत् के आदर्श स्वरूप की ओर नहीं मुड़ती तब तक दिन का प्रकाश भी रात्रि तुल्य ही है।

पृष्ठ ४६१. पालामीडीस् संस्कृति को आगे बढ़ाने वाला योद्धा है। कौन सी त्रागेदी में यह कथन आया है इसका पता नहीं चलता। संभवतया उस त्रागेदी (ट्रैजैडी) का लोप हो गया।

पृष्ठ ४७२. सुन्दर नगरी के लिए मूल में 'कलिपोलिई' शब्द आया है। प्लातोन् यहाँ स्वयं अपनी कल्पित नगरी की प्रशंसा कर रहा है। कुछ एक वास्तविक नगरियों के नाम भी 'कलिपोलिस्' थे।

पृष्ठ ४७८. दईदालस्-ग्रीस पौराणिक कथाओं के अनुसार एक अत्यन्त चतुर शिल्पकार था। इसके बनाई हुई मूर्तियाँ चल फिर सकती थीं। क्रीती में भूल भुलैयाँ भी इसी ने बनायी थी। यह अन्त में पंखों के सहारे उड़ भी सका था।

पृष्ठ ४८३. दियालैक्तिकी या डाइलैक्टिक प्लातोन् के मत में सर्वोच्च विद्या है। इस विषय में भूमिका को भी देखना चाहिए।

(वन्दियों का) बन्धन........... प्रवृत्त किया गया था इस लम्बे और जटिल वाक्य के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में छाया दर्शक वन्दियों की मुक्तिका तथा दूसरे खंड में विज्ञानों की सहायता से मानव-विवेक की संभूति-एवं विनाशमय जगत् से मुक्ति का संक्षेप में वर्णन किया है। दोनों वर्णन एक दूसरे से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रखते हैं।

पृष्ठ ४८६. आर्फिक धर्म की कथाओं में अधार्मिक आत्मा को दलदल में अँधा हुआ चित्रित किया गया है।

"प्रचलित प्रथा के वश" बड़े से बड़े ज्ञानियों को अज्ञानियों की भाषा का प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। सर्वदा ऐसा ही होता चला आया है। तुलसीदासजी ने कहा है:—

"ज्ञान कहे अज्ञान बिनु सो गुरु तुलसी दास।"

पृष्ठ ४८७. तर्कविद् का विवरण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

पृष्ठ ४८८. उन बालकों की शिक्षा—अर्थात् आदर्श न्याय नगर के भावी संरक्षकों की शिक्षा।

वैज्ञानिक ढंग की प्रश्नोत्तर पद्धति ही ज्ञान-प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है। तुलना करो:—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" गीता ४।३४

तर्क विद्या की प्रशंसा में प्लातोन् उसको अन्य सब विद्याओं में श्रेष्ठ मानता है। संस्कृत साहित्य में भी तर्क को सब विद्याओं की प्रतिष्ठा माना गया है।

पृष्ठ ४९२. सॉलोन (ई० पू० ६४० से ५५८ तक) एक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ था। उसने अथेन्स के लिए एक विधान तैयार किया था तथा प्लातोन् उसके प्रति बड़ा आदर भाव रखता था। वह कवि भी था परन्तु उसकी रचना के बिखरे हुए वाक्य ही मिलते हैं।

पृष्ठ ४९३. बच्चों को स्वतंत्रता और आनन्द के साथ ज्ञान संपादन करने देना शिक्षाशास्त्र का आधुनिकतम विचार है।

पृष्ठ ५००. "इस (शासन कार्य) को वांछनीय समझ कर नहीं आवश्यक कर्तव्य समझ करे" क्या इस पर भी प्लातोन् पर तानाशाही का पक्षपाती होने का आरोप किया जा सकता है?

"पुण्यवानों के द्वीप" यह द्वीप समुद्र की धारा में सुदूर पश्चिम में थे। इनका वर्णन हेसियड् और पिंडार ने किया है। यह द्वीप अत्यन्त उर्वर थे और पुण्यवानों की आत्माएँ मृत्यु के उपरान्त इनमें निवास करती थीं।

पिथिया दैल्फ़ीक्षेत्र में सूर्यदेव की पुजारिन थी। आवेशावस्था में उसके वचन सूर्यदेव के ही आदेश माने जाते थे।

पृष्ठ ५०१. दस वर्ष से अधिक.....पाले पोसेंगे—यह एक

क्रान्तिकारी सुझाव है। अमेरिका के न्यू इंगलैण्ड नामक प्रदेश में, लौवैल के मत में (१६३०-६० में) ऐसा ही हुआ था।

आठवीं पुस्तक

पृष्ठ ५०३-४ चार प्रकार के राजनीतिक विधानों का वर्णन विस्तार के साथ आरंभ होता है। प्लातोन् की विशेषता यह है कि वह राष्ट्र के विधान और राष्ट्र की जनता के स्वभाव के बीच एक स्वाभाविक संबंध मानता है।

पृष्ठ ५०७. होमेर ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य इलियड् को इसी प्रकार मूस (म्यूज़) को संबोधन करते हुए किया है कि वह काव्यदेवी उसको कलह का कारण बतलाये।

"जिसका जन्म.........विनाश भी नियत ही है।" तुलना करो गीता २।२७

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"

पृष्ठ ५०८. प्लातोन् की प्रजनन् संख्या (Nuptial Number of Plato) एक समस्या है जिसकी व्याख्याएँ तो अनेक हैं परन्तु सन्तोषप्रद समाधान कोई नहीं है। इस अंश के अनुवाद को मक्षिका स्थाने मक्षिका अनुवाद समझना चाहिए। इमर्सन ने इस विषय में ठीक ही कहा है कि "प्लातोन् कभी कभी हमारी आँखों में गणित की धूल झोंक देता है।"

पृष्ठ ५०९. मुसायें अथवा म्यूज़ेज कलाओं और विद्याओं की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं (१) कल्लियॉपी (महाकाव्य की देवी), (२) क्लियो (इतिहास की देवी), (३) यूतर्पी (वंशीवादन की देवी), (४) मैल्पौमैनी (त्रागैदी की देवी), (५) तैर्प्सीकोरी (नृत्य की देवी), (६) ऐरातो (वीणावादन की देवी), (७) पॉलीहिम्निया (धार्मिककाव्य और गीतों की देवी), (८) यूरानिया

(ज्यौतिष शास्त्र की देवी), (९) औथालिया (कॉमेदी की देवी)।

पृष्ठ ५०९-१०. प्रथम प्रकार का विकृतविधान सम्मानशाही विधान है। ग्रीक भाषा में आदर और सम्मान को सूचित करने वाला शब्द 'तीमे' है। अतएव सामन्तशाही के लिए तिमोक्रातिया अथवा तिमार्खिया नाम दिया गया है।

पृष्ठ ५१७. आलिगार्खिया शब्द का मूल अर्थ तो थोड़े से लोगों का शासन होता है। व्यवहार में इसका अर्थ थोड़े धनपति कुलों का शासन होता है।

पृष्ठ ५१८. निर्यामक=नौका अथवा पोत का दिङ निर्देश करने वाला। देखो पाली निय्यामक।

पृष्ठ ५१९. आलिगार्क=अल्पसंख्यक

पृष्ठ ५२४ ग्रीक पौराणिक कथाओं में धन का देवता प्लूतस् अन्धा है।

पृष्ठ ५३०. इस पृष्ठ के समग्र विवेचन की तुलना करो वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड से

"द्वेष्यं भवत्यर्थं परो हि लोके"

पृष्ठ ५३१. "और जिस प्रकार......सुन्दर समझेंगे" प्लातोन् का भाव यह है कि लड़के लड़कियों के समान अपरिपक्व बुद्धि वाले मनुष्य ही जनतन्त्र शासन को सुन्दर समझेंगे।

पृष्ठ ५३८. कुमुदभक्षक=एक शांतिप्रिय निरुद्यमी लोगों की जाति जो किरैनाइका प्रदेश के समुद्रतट पर बसी हुई थी। यहाँ निरुद्यमी साथियों से तात्पर्य है। मूल में लौतौफागस् शब्द आया है जिसका अंग्रेजी अनुवाद Lotus Eaters जो कि टेनीसन् की इसी नाम वाली कविता द्वारा विख्यात हो गया है।

"विनम्रता को मूढ़ता......खदेड़ देते हैं।" कादम्बरी में शुकनास

के उपदेश में बहुत कुछ बातें इससे मिलती जुलती प्राप्त होती हैं।

पृष्ठ ५४१. सुन्दरतम शासन प्रणाली......सुन्दरतम नागरिक ....इत्यादि। यहाँ सुन्दरतम शब्द का प्रयोग दोनों ही स्थानों पर व्यंग्य के रूप में हुआ है।

पृष्ठ ५४४. "पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है...इत्यादि—यह शिकायत प्रायः सर्वत्र ही जनतन्त्र समाजों में सुनने में आती है। लगभग यही बात अध्यापकों और विद्यार्थियों के विषय में भी लागू होती है।

अयस्खिलम् का यह वाक्य उसके किसी विलुप्त नाटक में से लिया गया है।

पृष्ठ ५४६. "और सच तो यह है....लागू होती है।" यह वाक्य तो हीगल् और मार्क्स की डाइलैक्टिस का पूर्वाभास जैसा प्रतीत होता है। प्रत्येक थीसिस् (स्थिति अति को पहुँच कर एण्टीथीसिस् (प्रतिस्थिति) को उत्पन्न करती है इत्यादि।

पृष्ठ ५५०. अर्कदिया पैलौपोनैसस् का मध्य भाग है। इसी प्रदेश के मध्य में लीकायेआ पर्वत द्यौस् का जन्म स्थान कहा जाता है। द्यौस् से संबंध रखनेवाली संकेतित कथा तो प्लातोन् ने स्वयं दे दी है।

पृष्ठ ५५२. क्रोइसस् द्वारा सुनी गयी देववाणी हीरोदौतस् के इतिहास में १।५५ में दी हुई है।

"सबल और दूरक्षिप्त अंगों के साथ" देखो इलियड् १६।७७६।

पृष्ठ ५५३. "युद्ध की छेड़छाड़"—मुसोलिनी और हिटलर की जीवनचर्या से तुलना करो।

पृष्ठ ५५४. "ऐसे सब व्यक्तियों का सफ़ाया" आधुनिक ताना-शाही की भाषा में Purge पर्ज कहलाता है। प्राचीन भाषा में इसको 'कंटकशोधन' कहा जाता था।

पृष्ठ ५५५. दास अंगरक्षकों की पद्धति को मुसलमान सम्राटों ने

एक कला के रूप में विकसित किया था। इसका विशेष विवरण जानने के लिये ट्टॉयन्बी की सुविख्यात पुस्तक स्टडी आफ हिस्ट्री के इस विषय वाले अध्याय पढ़ने चाहिये।

पृष्ठ ५५६. यूरीपिदीस् का उल्लेख यहाँ पर व्यंगात्मक है। यहाँ जो यूरीपिदीस की उक्ति दी गयी है वह अन्य कई लेखकों की रचनाओं में भी उपलब्ध होती है।

तानाशाही का समर्थन कवियों के आदर्शनगर से बहिष्कृत किये जाने का एक और कारण है।

नवीं पुस्तक

पृष्ठ ५६०. इच्छाओं के विवेचन के द्वारा प्लातोन् इच्छाओं और स्वप्नों के संबंध में मनोविज्ञान संबंधी विचारों को प्रस्तुत कर रहा है।

पृष्ठ ५६१. स्वप्न के लिये मूल में 'हिप्नौस' शब्द आया है जो कि संस्कृत स्वप्न शब्द का सजातीय है। पर यह ध्यान में रखने की बात है कि यहाँ इस शब्द का अर्थ स्वप्न शब्द के प्राथमिक अर्थ 'सोने' से अधिक साम्य रखता है। पौराणिक कल्पना इसको मृत्यु का भाई मानती थी।

पृष्ठ ५६२. उद्भासन शब्द प्रकाशन के अथवा display के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पृष्ठ ५६३. चतुर एवं परिष्कृत के लिये मूल में 'कॉम्प्सौतरॉस्' शब्द आया है जिसका अर्थ चतुर छैल होता है।

'भयानक मगी' का संकेत उस मगी की ओर है जिसने झूठे स्मैर्दिस् की स्थापना की थी तथा जिसका विवरण हीरोदोतस के इतिहास की तीसरी पुस्तक में आया है।

पृष्ठ ५६९. "सबसे महान् और प्रबलतम तानाशाह" मनोज जिसके लिए मूल ग्रीक भाषा में 'ऐरौस्' शब्द आया है। तानाशाह के लिये

?क भाषा का शब्द 'तिरान्त' है जिसको अंग्रेजी में 'टाइरैण्ट' कहने लगे है। गीता में भी काम को ही 'महापाप्मन्' कहा गया है।

पृष्ठ ५७०. क्रीती द्वीप के निवासी अपने देश को मातृभूमि कहते थे।

श्रद्धा विरहित के लिये मूलग्रीक भाषा में 'अपिस्तॉस्' शब्द आया है।

पृष्ठ ५७८. 'परतन्त्र' के लिये मूल में 'दूलॉस्' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ दास होता है।

पृष्ठ ५८२. तीनों गुणों और उनके आनन्दों की तुलना गीता के अंतिम अध्याय में वर्णित त्रिगुण प्रकरण से करो।

पृष्ठ ५८८. ऑलिम्पिक द्यौस् को त्राता माना जाता था और तीसरा मदिरा का प्याला सर्वदा उसी को समर्पित किया जाता था।

५९२. "वास्तव में सर्वोपरि स्थान तो उसने देखा ही नहीं" अतएव वह अपने उस निचले स्थान से, जहाँ से उसको लाया गया है, अपने को ऊपर ही समझेगा। यदि उसने वास्तव में सर्वोपरि स्थान को देखा हो तो वह अपने को निचले से ऊपर और वास्तविक सर्वोपरि स्थान से नीचे समझता।

पृष्ठ ५९६. स्तेसिकौरस् का कथन है कि वास्तविक हैलन तो ईजिप्त में रही, त्राय में तो उसकी छाया मात्र हरण करके ले जायी गयी थी। यह कथा सीता की कथा से मिलती जुलती है। रावण छायारूपिणी सीता का हरण करके लंका को ले गया था।

पृष्ठ ५९९. ७२९ संख्या ९ का घन करने से प्राप्त होती है।

"दिन, रात, महीने वर्ष" क्योंकि वर्ष में दिन रात की संख्या लगभग ७२९ होती है।

पृष्ठ ६०१ खिमइरा, स्किला कर्बरस। खिमइरा का शिर सिंह

का, शरीर बकरे का और पूछ सर्प की होती है। स्किला पहले एक सुन्दरी थी पर पीछे इन्द्रजाल के प्रभाव से दानवाकृति बन गयी थी। कर्बेरस का वर्णन हेदीस् के संबंध में दिया जा चुका है। संस्कृत 'कर्बुर' अथवा 'शबल' से तुलना करो।

पृष्ठ ६०४. ऐरिफिली अम्फियारौस् की पत्नी थी। उसने पॉलि-नैइकीस् से एक रत्नमाला की घूँस इसलिये स्वीकार की थी वह अपने पति को समझा बुझाकर सातवीरों के थीबाय् के अभियान में भेजदे। अम्फियरौस् को दिव्यदृष्टि प्राप्त थी और वह यह जानता था कि इस युद्ध से वह जीवित नहीं लौटेगा। तथापि उसको अपनी पत्नि के आग्रह पर जाना ही पड़ा और वहाँ उसकी मृत्यु हो गयी। अतएव इस माला को ग्रहण करना विनाशक हुआ। इसके पश्चात् स्वयं उसके पुत्र ने ही ऐरीफिली को भी मार डाला।

पृष्ठ ६०८. अपने नगर में=आदर्श-न्याय-राज्य में जिसकी रूप रेखा इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है।

पितृभूमि=वह नगर जिसने उसको जन्म दिया है।

"स्वर्ग (अथवा वरुण लोक) में" मूल में स्वर्ग के लिये 'उरानस्' शब्द का प्रयोग हुआ है जो भाषाशास्त्र के अनुसार वरुण का सजातीय है।

पृष्ठ ६०९. प्लातोन् बाल्यकाल से होमेर एवं अन्य कवियों से प्रेम करता था और स्वयं भी स्वभाव से कवि था अतएव कवियों का विरोध करने में उसको झिझक का अनुभव होना स्वाभाविक ही है।

पृष्ठ ६१०. "हमको सत्य से अधिक किसी का सम्मान नहीं करना चाहिये" यह वाक्य सॉक्रातीस् और प्लातोन् के जीवन का मूलसूत्र प्रतीत होता है।

पृष्ठ ६१५. 'राजा तथा सत्य से' उस राजा तथा तत्संबंधी सत्य घटना से जिसका विवरण वह अपने नाटक में प्रस्तुत करता है। अथवा दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है सर्वश्रेष्ठ सत्य (राजसत्य) से तीसरे स्थान पर है।

पृष्ठ ६२० लिकरगॉस् स्पार्टा का विधान निर्माता था।

खरौन्दॉस और सॉलौन् भी विधान निर्माता थे।

थालीस् के लिये भूमिका देखो।

अनाखर्सिस् ने जहाज़ के लंगर और कुम्हार के चाक का आविष्कार किया था, ऐसा कहा जाता है।

पृष्ठ ६२१. कैयौफिलस् एक महाकाव्य लेखक था ऐसी प्रसिद्धि है।

प्रोतागोरास् और प्रॉडिकस् प्रसिद्ध सौफिस्त थे।

पृष्ठ ६२६. इयाम्ब छन्द में लिखी जाने वाली कविता प्रारंभ में हास्य रस की होती थी, तत्पश्चात् यही छन्द नाटकीय संवादों में काम में आने लगा।

वीरछंद का प्रयोग महाकाव्य में होता था।

पृष्ठ ६३८. कविता और दर्शन शास्त्र के पुरातन द्वन्द्व के विषय में जो पंक्तियाँ वहाँ उद्धृत की गयी हैं वह अनुमानतः सौफ्रॉन नामक कवि की रचनाओं में से ली गयी हैं।

प्लातौन् स्वयं काव्य से यहाँ तक प्रभावित है कि उसको निर्वासित करके भी उसके लिये नगर का द्वार खुला छोड़ देता है और उसका आदेश है कि कविता, यदि संभव हो तो उपयोगिता की युक्ति पर आरूढ़ होकर नगर में प्रवेश कर सकती है।

पृष्ठ ६४७. ग्लौकस् मूलतः एक मछुआ था जो एक अद्भुत बूटी के प्रभाव से अमर होकर एक समुद्रिक देवता बन गया। कालान्तर में इसके शरीर में इतनी अन्य वस्तुयें चिपट गयीं कि इसका पहचानना कठिन हो गया। यही दशा इस समय मानवात्मा की है।

पृष्ठ ६४८. गीगेस की अँगूठी की कथा पहले आ चुकी है।

हेदीस् के शिरोवर्म की कथा इलियड् ५।८४५ में मिलती है।

तात्पर्य यह है कि चाहे तो न्याय का अनुसरण करते हुए आत्मा को अपने को छिपाने का उपाय उपलब्ध हो या न हो और चाहे उसको परि-त्राण भी मिले या न मिले, तथापि उसको न्याय को नहीं त्यागना चाहिये ।

पृष्ठ ६५०. "पूर्वकृत पापों के परिणाम" यहाँ बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के विचारों से इस विचार की समता स्पष्ट है ।

"यह सभी वस्तुयें......भली ही सिद्ध होंगी ।" तुलना करो गीता

न हि कल्याण कृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।

पृष्ठ ६५३. अल्किनूस् एक सामुद्रिक जाति का राजा था । ओडि-सियस् इसके यहाँ जा पहुँचा था और उसने इस राजा को अद्भुत कहानियाँ सुनायी थीं । इसका वर्णन ओडिसी काव्य की ९-१२ तक पुस्तकों में है ।

एर् अथवा ईर् की यह कथा प्लातोन् की कथाओं में अत्यंत महत्वपूण स्थान रखती है ।

पृष्ठ ६५६. तलातल के स्थान पर मूल में 'तारतारस्' शब्द है । संस्कृत के तलातल से इसकी समानता होने के कारण अनुवाद में इस शब्द का प्रयोग किया गया है । तारतारस् अधःलोक का वह भाग है जहाँ देवताओं के प्रति अपराध करनेवालों को दण्ड दिया जाता है ।

पृष्ठ ६५८. देवादेशसूचक के लिये मूल में प्रॉफीतीस् शब्द है जिससे अंग्रेज़ी का प्रौफ़ेट=पैग़म्बर शब्द निकला है ।

भागों=भाग्यों ।

पृष्ठ ६६३. आर्फ़ीयस्—एक पुरातन संगीतवेत्ता और कवि । प्रौ०उर्वीक (जो कि प्लातोन् पर भारतीय प्रभाव का विशेष अध्ययन कर चुके हैं) ने बतलाया है कि आर्फ़ीयस् ने हंस का जीवन इसलिये चुना कि हंस (भारतीय धर्म में) अमरता एवं मोक्ष का प्रतीक है और आर्फ़ीयस स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होकर जन्म और मरण के चक्र से छूटकारा पाना चाहता था ।

थामीरास् भी एक गायक था । उसने संगीत में मुसाओं (कला की

देवियों) के साथ विवाद किया था। इन देवियों ने रुष्ट होकर उससे गान-विद्या और नेत्रशक्ति दोनों को ही छीन लिया।

आयास या (अजाक्ष) त्राय युद्ध का एक वीर पुरुष था।

अखिल्लीस् त्राय के युद्ध में सबसे प्रमुख योद्धा था।

अगामैम्नौन् त्राय के युद्ध में आक्रमणकारियों का अधिनायक था।

अतलान्ती दौड़ने और आखेट करने में अत्यंत प्रसिद्ध थी। दौड़ने में उसको कोई नहीं जीत सकता था। उसकी प्रतिज्ञा थी कि वह उसके साथ विवाह करेगी जो उसको दौड़ने में हरा देगा। हारनेवाले को मार डाला जाता था। हिप्पौमैनीस् ने उसको चालाकी से जीत लिया।

पृष्ठ ६६५. "कुशलतापूर्वक विस्मृति की नदी को पार कर सकते हैं।" विस्मृति मनुष्य के श्रेयस् के मार्ग में बाधक है। इसलिये गीता के अन्त में अर्जुन ने भी कहा है:—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।"

प्लातोन और पौलितेइया विषयक साहित्य

१—वर्त्तमान अनुवाद इत्यादि के लिए प्रयुक्त पुस्तकें

क. मूल पुस्तक

१. बैक्कर का बेर्लिन वाला संस्करण (१८१७)
२. बेटर का लंदन और स्टुटगार्ट वाला संस्करण (१८९७)
३. लोएब् क्लासीकल लायब्रेरी का संस्करण (दो जिल्द) (१९३७–१९३५)

ख. अनुवाद

१. जौवैट का अनुवाद
२. वॉन् और डैवीस् का अनुवाद
३. स्पैन्स का अनुवाद
४. जार्ज बैल की लायब्रेरी का अनुवाद
५. कार्नफोर्ड का अनुवाद

(१–५: अंग्रेजी भाषा में)

६. डा० जाकिर हुसेन का उर्दू अनुवाद (रियासत)
७. प्रो० विश्वनाथ पाठक का गुजराती अनुवाद (उत्तरार्द्ध) प्लेटोनुं आदर्श नगर
८. शोरी का अनुवाद अंग्रेजी में (क ३ के साथ)

ग. आलोचना इत्यादि

१. Zeller: A History of Greek Philosophy.
Part I 2 Vols.
Part II 2 Vols.

२. Gomperz: Greek Thinkers. 2nd Vol. only.
३. Burnet: Early Greek Philosophy (From Thales to Plato)
४. Taylor: Plato, the man and his work.
५. Ritter: The Essence of Plato's Philosophy.
६. Lowes Dickensen: Dialogues of Plato.
७. Leon Robin: Greek Thought.
८. Thomson: Plato and Aristotle.
९. Sir Ernest Barker: Greek Political Theory—Plato and his Predecessors.
१०. Gilbert Murray: Ancient Greek Literature.
११. uller and Donaldson: History of Greek Literature.
१२. Norwood: Writers of Greece.
१३. C. M. Bowra: Greek Literature.
१४. Grote: History of Greece
१५. Paul Harvey: Oxford Companion of Classical Literature.
१६. Gow: A Companion to School Classics.
१७. तामसकर: अफ़लातून का सामाजिक व्यवस्था
१८. बेनीप्रसाद: सुकरात
१९. Nettleship: Lectures on Plato's Republic.
२०. Will Durant: Story of Philosophy.
२१. Field The Philosophy of Plato.

२२. Bhandari and Sethi: Studies in Plato and Aristotle.

२३. Oxford Book of Greek Verse.

२४- Bosanpuet : A Companion to Plato's Republic

घ. अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें

१. Paul Shorey: What Plato Said.

२. Paul Shorey: Unity of Plato's Thought.

३. Ritter: Platon, Sein Leben, sein Schriften, sein Lehre (German) इसके अतिरिक्त और भी कई ग्रंथ

४. Fowllce: La Philosophie de Platon. (French)

५. Grote: Plato and the other Companions of Soctates.

६. Lutoslawski: The Origin and Growth of Plato's Logic etc.

७. Natrop: Plntons Ideenlehre (German)

८. Raeder: Platons Philosophische Entwicklung (German)

९. Willamowitz: Platon (German) 2 vols.

१०. Bonitz: Platonische Studien.

११. Robin: कई पुस्तकें (In French)

१२. More: Platonism.

१३. Urwick : Message of Plato.

१४. Burnet: Platonism.

१५. Friedlander: Platon, Eidos, Paideia, Dialogos.

१६. Stenzel: Platon der Erzieher.

१७. Fied : Plato & his Contemporaries.
१८. Stewart: The Myths of Plato.
१९. Crossman: Plato Today.
२०. Cornford: अनेक पुस्तकें (English)
२१. Adam Fox : Plato for Pleasure
२२. Jaeger: Paideia Vol II & III.
२३. Grube: Plato's Thought.
२४. Foster: Masters of Political Thougt.
२५. Lodge: The Great Thinkers.
२६. Walter Pater : Plato and Platonism

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२०	व्यक्तियों	व्यक्तित्वों
८	१६	स्तेसरिवोरस्	स्तेसीखोरस्
९	१४	रंगस्थलि	रंगस्थली
१२	१२	मत	मत में
,,	१५	र ते	रखते
१३	२२	दार्शकि	दार्शनिक
१४	८	प्रमेथ	प्रमेय
,,	१०	उत्पन्न	उपपन्न
१७	२०	अब्दैश	अब्दैरा
१८	१०	चाहिय	चाहिये
१९	५	है	है जो
,,	२५	देना	देते थे
२०	२०	कारण तो	कारण
,,	,,	प्रथम	प्रथम तो
२१	१५	जिकास	जिसका
,,	२१	क्रातीस	सॉक्रातीस
२२	१०	पौर	और
२३	४	सॉक्रातीस	सॉक्रातीस ने
,,	२३	बड़े बड़े	बड़े से बड़े
२४	४	स्वप्न	स्वप्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	१४	सॉक्रातीस	सांक्रातीस ने
२५	२०	समय	समय की
२६	१६	रूप	रूप से
"	२२	अपने	अपने को
२७	३	सब से	सब से प्रथम
२८	२	मुख्य	मुख्य दो
"	३	विनगमनर्तक	विनिगमनतर्क
"	५	definiation	definition
"	१९	से ही	से
२९	८	शक्ति	शक्ति को
"	२१	१ कीदिदीस्	थूकीदिदीस
"	२२	इतिहास	इतिहास है
३०	२३	उसन	उसने
३१	१०	सिराकज्	सिराकूज्
"	१६	लगभग ४००००	लगभग ४०००
"	२५	थे	था
३३	७	ग्रीका	ग्रीक
"	८	सिराकज्	सिराकूज्
३५	२१	ौन्	कौन्
३९	१०	काय	कार्य
"	१७	यूल्केद	यूक्लेद
४०	१२	दियौनोसियस्	दियौनीसियस्
४१	११	प्रस्तुत ।	प्रस्तुत
४२	४	सॉक्रातीस्	इसॉक्रातीस्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	९	स्थान	स्थान पर
४६	१	भूमिका	भूमि
४७	१५	Legib	Legibus
४८	१६	पजनीतिक	राजनीतिक
५१	"	यूसिप्पस्	स्प्यूसिप्पस्
"	१८	उसके	उसकी
५२	६	daoken	danken
५५	१	ने	टेलर् ने
५५	२२	सॉक्रातीसे	सॉक्रातीस्
५६	२१	यूथीदीयस्	यूथीदीमस्
५७	२१	तथापि इसके	तथापि उसके
"	२३	सिराकज्	सिराकूज्
५८	५	की दृष्टि	को दृष्टि
"	१५	सिराकस	सिराकूज्
६०	१८	गो-स्वरूप है	गो-स्वरूप वह हैं
६४	१२	राजनीतिक	राजनीति
६६	४	एकता	एकता का
६८	६	ईश्वर	ईश्वर ने
"	१२	प्लातोन	प्लातोन ने
"	१५	तर्के योजयेत्	तर्केण योजयेत्
६९	२४	अथीमा	अथीना
७१	६	दिकाएपस्	दिकाएयस्
७२	२३	सॉक्रातीस्	सॉक्रातीस् ने
८१	१८	दूसरे	दूसरों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	२४	वहाँ	×
८२	२१	का	को
८३	५	स्वस्थ्य	स्वस्थ
९१	९	अवस्था	अवस्था में
९५	११	मैं कहा	मैं ने कहा
११३	२२	थ्रासीमाकस्,	थ्रासीमाकस्—
११७	१४	उनकी	उसकी
१४१	१८	कसी	किसी
१४६	१५	एर्वं	एवं
"	२०	अयस् कलस्	अयस्कलस्
१५५	२२	अन्या	अन्याय
१५८	१५	को	की
१७४	२५	मृदुलास्वभाव	मृदुलस्वभाव
१८१	१६	सौगन्ध	सौगंद
१८९	५	पड़	पड़े
"	९	विश्वास	विश्वास पैदा
१९२	११	वह कि	कि वह
१९४	५	अल्पोतपादक	अल्पोत्पादक
१९६	१६	स्त्रियें	स्त्रियों
"	२३	मूँह	मुँह
२०२	२	तथा गृहागमन	गृहागमन
"	९	ऑगसि्	ऑगसि्
२१२	११	न करने	करने
"	२१	लोगों से	लोगों का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	२३	के....होते ह	का....होता है
२१५	७	सामग्रयेण	सामग्र्येण
"	११	में म	में मैं
२१७	११	ह्रम	हम
२२१	१३	अनजमाने	अनजाने
२२३	२३	व्योंर्तक	कर्तव्यों
२२५	४	लाभान्चित	लाभान्वित
२२७	४	सुष्टु	सुष्ठु
"	६	सचेतसे	सचेतस्
२३६	२४	धनवानों	धनवान
२३९	३	अपौले	अपौलो
२४२	२५	न	ने
२४३	२४	भो	भी
२४४	२	व्वास्थित	व्यवस्थित
२४५	२	ह	है
"	५,७	झूँझला-ए	झुँझला-ए
२५१	१	आनंदोपभोगों म	आनन्दोपभोगों में
"	"	वालों को	वालों का
२५२	८	वर्णित	पणिक-
२५३	१७	अन्याय	अन्यान्य
२६१	८	समाने	सामने
२६३	१६	"मैंने कहा धन	"धन
२६४	१८	घुंसेबाज़ी	घूंसेबाज़ी
२६७	२५	चाल	चाल्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७२	१	अपन	अपने
२७५	४	क ीं	कहीं
२७८	११	सामग्रयेण	सामग्र्येण
२८१	१०	कोई	किसी
२८४	५	दिखालाई	दिखलाई
२८७	२४	संयैम	संयम
२९०	७	वर्गीं	वर्गों
२९७	२५	ह	है
२९९	१०	तात्पर्यय ह	तात्पर्य यह
”	१३	है तो	इनको १२ पंक्ति के आरंभ में पढ़िये
३००	१	रखन	रखने
”	२१	ही वस्तु	एक ही वस्तु
३०४	१	कव	कर
३०७	१७	येक	प्रत्येक
”	१८	कारण	कारण ही
३१२	२	शीरर	शरीर
३१४	७	अभिप्राय	अभिप्राय क्या
३१५	२२	के समग्र	के एक समग्र
३२२	१२	होना	होना है
३२६	१६	प्रक्तपुरुष	प्रकृति पुरुष
३३५	२४	करवाएं	करवाते हो
३३७	४	व्यवहा	व्यवहार
३४६	६	हमन	हमने
३४७	१८	लोप नहीं हो	लोप हो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४८	२२	कहौं	कहीं
३५०	३	इस	इन
३५९	२०	र "मेरी	"मेरी
३६४	२५	लाग	लागू
३६६	१८	नदिश	निर्देश
३७०	१०	पतिता	पीतता
३७२	" (अन्यत्र भी)	फिलाँसफर	फिलॉसफर
३७३	११	और	ओर
३८१	१४	गुणों की	गुणों को
३८२	१६	ज्ञन	ज्ञान
३८३	१९	वस्तूओं	वस्तुओं
३८६	१६	सामग्येण	सामग्र्येण
"	१८	समाहृत, असमाहृत	समादृत असमादृत
३९८	२४	ह	हैं
४०१	१	ठीक	ठीक है
४०४	१६	कोई राष्ट्र	कोई
४०५	८	करन	करने
४०७	१७	म उसका दशन	में उसको दर्शन
४०९	२३	सयात्	स्यात्
४१०	२४	किए बिना ही	किये
४११	२१	व्यव था	व्यवस्था
४१२	२	भूमि गुणों	भूमि के गुणों
४१३	१७	संलगन	संलग्न
"	२०	आदश	आदर्श

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१४	८	जेससे	जिससे
४१५	१	हीन	ही न या नहीं
४१८	८	निश्च	निश्चय
३२४	५	ोन ा	होना
४२८	१	एव	एवं
"	४	चिन्तन करना	चिन्तन नहीं करना
४२९	८	तम	तुम
"	९	(प्रय का)....ह	(प्रिय को)....है
४३१	१८	विषय क	विषय का
४३३	१३	मैंने उत्तर	मैंने उत्तर दिया
४३४	३	ज	जा
"	४	बात ै	बात है
"	५,२४	दश्य	दृश्य
४३८	५	एक एक	किसी एक
४४२	१	वस्तुओं क	वस्तुओं के
"	१७	सदृशक्कति	सदृशाक्कति
४४४	९	जोड़ म	जोड़ में
४४६	"	वास्तविकता	वास्तविक
४४९	३	लगाने म	लगाने में
४५१	५	म	में
"	१४	मनोगन	मनोगत
४५२	८	उर्द्धव्धाम	ऊर्द्ध्वधाम
४५६	८	मल्य	मूल्य
४५७	१६	नगर म	नगर में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५७	२४	ह	है
४६१	१६	क्षेण	क्षेत्र
४६३	१३	तर्शित	दर्शित
४६४	२२	बतलाता	बतलाती
४६८	१३	परिवत्तनमय	परिवर्त्तनमय
”	२३	वं	एवं
४७३	१६	बढ़ा	बड़ा
४७६	८	तुमन	तुमने
४७८	२	कछ	कुछ
४८०	५	भो	भी
”	१६	वस्तुओं	वस्तुओं का
४८९	२५	सर्वाथेन	सर्वांशेन
४९३	७	किया	किया था
”	१७	छटें	छूटें
४९४	२	प्रार्थमिक	प्राथमिक
४९५	१३	होन	होने
४९६	२४	स्वयश	स्ववश
४९६	१५	छोट	छोटे
”	२१	करन	करने
४९९	४	लिय	लिये
५०१	२१	पालपोसेंगे	पालेपोसेंगे
”	२५	पादन	संपादन
५०२	४	अनरूप	अनुरूप
५०९	६	क्यों वे	क्योंकि वे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१६	१८	जितनी	जितना
५१८	२४	कोई सी	कोई
५२२	९	मेंघ सीट	में घसीट
५२३	१	विवक	विवेक
"	७	महत्त्वाकाँक्षी	महत्त्वाकांक्षी
५२४	१०	मान मंडली के	गायन मंडली के
"	११	को	×
"	१४	भी आदतें	सी आदतें
५२६	२	उसकी	उनकी
५२७	२२	वंचित	वंचित
५२८	११	सद्धृत्ति	सद्वृत्ति
५३०	१०	म	में
"	१८	जनतन्त्रत्मक	जनतन्त्रात्मक
५३८	११	लगती है	लगती हैं
५३९	५	आत्म	आत्मा
५४४	२१	ो	तो
५४५	१३	वे वे	वे
५४९	५	क्याइ नको	क्या इनको
"	"	क्या ?	क्या
"	१८	ऑलीगार्की	ऑलीगार्क
५५०	५	दीमाँस्	दीमॉस्
५५६	४	दासों के	दासों को
५५७	१७	उतना	उतनी
५५८	२३	सहसचरों	सहचरों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५९	२२	दिया ?	दिया गया ?
५६२	१	से उसने	से अपने
५६६	१८	उसमें	उसने
५६८	२२	निग्रह)	निग्रह से)
५७३	७	इन	इस
५७४	१३	क	कह
५७५	६	म	में
५७९	१	दख	देख
५८०	१६	पूर्णावापेक्षा	पूर्वापेक्षा
,,	१७	और	×
,,	२३	का	चुका
५८३	४	कहते	कहते हैं
५८५	७	संयुक्ति	सयुक्ति
५९०	१२	अभाव	अभाव को
५९४	२	ऐसी	ऐसे
,,	,,	स्वभाव	पदार्थ
५९६	२	उस	उन
,,	२५	लोलप	लोलुप
५९७	३	करेगी	करेंगी
६०३	,,	सख	सुख
,,	११,१३	है	हैं
६०४	८	ग्लैकोन	ग्लौकोन
६०५	२४	सके	सकें
६०६	११	अस्थायी	अन्यायी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०७	१७	सगीत	संगीत
६०८	७	बनाएगे	बनाएंगे
६०९	२३	बोलन	बोलने
६१६	१	करते	करने
६१८	२३	कांमये	कामये
६२०	६	है	हैं
६२१	२४	उसके	उनके
६२६	७	अनकरण	अनुकरण
६३०	५	उपेक्षा	अपेक्षा
६३५	१	रंगस्थल	रंगस्थल में
६३८	३	उपक्त	उपर्युक्त
"	१९	बात की	बात को
६४२	२१	वास्नव	वास्तव में
"	"	धे	वे
"	२५	हए	हुए
६४३	१	आत्मा	आत्मा का
६४६	१६	उसकी	उनकी
६४७	२	इस प्रकार पढ़िये—किन्तु श्रेष्ठ प्रकार से मिश्रित न हो तो उसके लिए ऐसा अमर होना सरल	
६४८	२०	बिना ही	बिना
"	२१	हीसियाँड्	हीसियॉड्
६५२	७	तूम्हारे	तुम्हारे
६५३	८	तो गया	गया तो
"	१२	आंकाश	आकाश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५७	२४	सामग्रयेण	सामग्र्येण
"	२५	वत्त	वृत्त
६५९	५	मरणधर्म	मरणधर्मा
"	७	प्रत्येत	प्रत्युत
"	११	आर्थत्व	आर्यत्व
६६१	१	प्रनन्नमतित्व	प्रत्युत्पन्नमतित्व
"	७	वह	×
६६२	२१	म	में
६३७	२०	पर परिवार	परिवार पर
६६८	२४	द्योस	द्यौस्
६७२	१	उस	उनके
"	८	है	×
"	१५	अह-	अइ-
६७३	२४	थौलिस्	पौलिस्
६७४	७	Thymocides	Thymoeides
"	२५	ह	है
६७५	१५	करना	करना था
६७९	१८	नेता	नेता था
६८२	२४	जोड़ता	जोड़ते
६८४	१	थ्रकिया	थ्राकिया
६८५	२३	क्रतु	ऋतु
६८७	३	न	ने
६९१	१५	प्लातोन	प्लातोन ने
"	१७	जैनेसेऔस्	गैनेसेऔस्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९३	१	Wiselom	Wisdom
७०१	२३	जो कि	×
७०४	१	(प्रथम शब्द)	ग्रीक
७०७	२२	आर्फीयस्	आर्फ़ीयस्
७१०	२०	का	की
७११	४	Bosanpuet	Bosanquet
"	१०	Fowllce	Fouillee
७१२	१	Fied	Field